ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

अथ प्रथमं मण्डलम्

अथ प्रथमाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः

[११३] त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उषा का प्रादुर्भाव

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥ १॥

१. **इदम्**=यह **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम **ज्योतिषां ज्योतिः**=ज्योतियों में उत्तम ज्योति **आगात्**=आई है। यह उषा का प्रकाश **चित्रः**=अद्भुत है, **प्रकेतः**=प्रकृष्ट निवास को देनेवाला तथा रोगों को दूर भगानेवाला है (कित निवासे रोगापनयने च)। यह उषा का प्रकाश **विभ्वा**=उस विभु परमात्मा के साथ **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत होता है, अर्थात् यह प्रकाश प्रभु के ध्यान की ओर प्रेरित करता हुआ हमें प्रभु के समीप ले-जानेवाला होता है। इस समय को इसी दृष्टिकोण से 'ब्राह्ममुहूर्त'—यह नाम दिया जाता है। इस समय वायुमण्डल में ओज़ोन की मात्रा अधिक होती है, इसी से यह समय 'प्रकेतम्' निवास (चेतना=बौद्धिक विकास) को उत्तम बनानेवाला कहा गया है। २. **यथा**=जिस प्रकार **प्रसूता**=उत्पन्न हुई-हुई यह उषा **सवितुः सवायँ**=सूर्य के आगमन के लिए अपने स्थान को रिक्त कर देती है **एव**=इसी प्रकार **रात्रि**=रात **उषसे**=उषा के लिए **योनिम् आरैक्**=स्थान खाली कर देती है। रात्रि जाती है और उषा आती है। उषा जाती है और सूर्य उसका स्थान लेकर अपने मार्ग का आक्रमण करने लगता है।

भावार्थ—उषा का प्रकाश श्रेष्ठतम है—न शीतल न उष्ण, न अस्पष्ट और न अत्यन्त प्रचण्ड। यह ओज़ोन गैस की अधिकता के कारण हमारे निवास को उत्तम बनाता है और रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः, उत्तरार्धस्य रात्रिरपि। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रात्रि व उषा का चक्र

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥ २॥

१. यह उषा **रुशद्वत्सा**=देदीप्यमान सूर्यरूप वत्सवाली है। सूर्य मानो उषा का पुत्र है। उषा के पश्चात् ही तो सूर्य आता है तथा ओसकणों के रूप में उषा के दुग्ध को यह सूर्य पीता है। **उ**=निश्चय ही **रुशती**=यह देदीप्यमान है, अपने अद्भुत प्रकाश से **श्वेत्या**=श्वेतवर्णवाली यह उषा **आगात्**=आती है। **कृष्णा**=अन्धकार के कारण कृष्णवर्णवाली रात्रि **अस्याः सदनानि**=इस

उषा के स्थानों को **आरैक्**=खाली कर देती है, रात्रि का स्थान उषा लेती है। २. ये दोनों **समानबन्धू**=समान रूप से सूर्य के साथ सम्बद्ध हैं। अस्त होते हुए सूर्य के साथ रात्रि का सम्बन्ध है तो उदय होते हुए सूर्य के साथ उषा का। एक ओर सूर्य रात्रि से सम्बद्ध है, दूसरी ओर उषा से। **अमृते**=ये रात्रि और उषा दोनों अमृत हैं—प्रवाहरूप से सदा चलनेवाली हैं। प्रत्येक उषा व प्रत्येक रात्रि तो समाप्त होती है, परन्तु इनका यह चक्र चलता रहता है। **अनूची**=(अनु अञ्चु गतिपूजनयोः) ये एक-दूसरे के पीछे आनेवाली हैं। रात्रि के पश्चात् उषा और उषा के बाद रात्रि। यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता। ये दोनों **वर्णम्**=एक-दूसरे के वर्ण को **आमिनाने**=हिंसित करती हुई **द्यावा चरत**=आकाश में गति करती हैं। उषा रात्रि के कृष्णवर्ण को समाप्त करती है और रात्रि दिन के श्वेतवर्ण को समाप्त कर देती है—अथवा ये दोनों उषा व रात्रि प्राणियों के वर्ण को समाप्त करती हुईं आकाश में गति करती हैं। उषा और रात्रि की गति से आयुष्य का क्षय होकर जीर्णता आती है और इस प्रकार तेजस्विता का रूप मन्द होता जाता है।

भावार्थ—उषा आती है, रात्रि उसके लिए स्थान खाली कर देती है। एक-दूसरे के पश्चात् निरन्तर आती हुईं ये उषा और रात्रि आकाश में गति करती हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'विरूप पर समनस्'

समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥ ३॥

१. उषा और रात्रि परस्पर स्वसा (बहिने) हैं (सु+अस्)। इन दोनों के कारण हमारी स्थिति उत्तम होती है। उषा अद्भुत प्रकाश व ओज़ोन गैस के प्राचुर्य के द्वारा हमारी स्थिति को अच्छा बनाती है। 'रात्रि' विश्राम देते हुए सब थकावट दूर करती है और हमें फिर से तरोताज़ा (प्रफुल्ल) कर देती है। इस प्रकार ये दोनों 'स्वसा' हैं। इन **स्वस्रोः**=स्वसाओं का **अध्वा**=मार्ग **समानः**=समान है—दोनों ही अन्तरिक्ष-मार्ग से गति करती हैं। यह मार्ग **अनन्तः**=अनन्त है। 'कभी इस मार्ग का अन्त आ जाएगा और उषा व रात्रि न होंगी'—ऐसी बात नहीं है। **तम्**=उस मार्ग पर **अन्यान्या**=एक-एक करके, बारी-बारी **चरतः**=ये चलती हैं। रात्रि आती है, उसके बाद उषा आती है, फिर रात्रि, फिर उषा और यह क्रम चलता ही रहता है। २. ये रात्रि और उषा **देवशिष्टे**=उस देव के अनुशासन में चल रही हैं। प्रभु के अनुशासन में सारा ब्रह्माण्ड ही चलता है, उषा व रात्रि भी उसी से शिष्ट होकर अपने मार्ग पर चल रही हैं। प्रभु के अनुशासन में चलने के कारण **न मेथेते**=ये टकरा नहीं जातीं, किसी की हिंसा का कारण नहीं बनतीं, **न तस्थतुः**=रुकती भी नहीं। इनकी गति का अवसान नहीं हो जाता। **सु-मेके**=अत्युत्तम निर्माण-(Make formation)-वाली ये हैं। हमारे जीवनों का भी ये उत्तम निर्माण करती हैं। ये **नक्तोषासा**=रात्रि व उषा **विरूपे**=भिन्न-भिन्न व विरुद्ध रूपवाली हैं, रात्रि 'कृष्णा' है तो उषा 'श्वेत्या' है, परन्तु विरुद्ध रूपवाली होती हुई भी ये उषा व रात्रि **समनसा**=समान मनवाली हैं। दोनों मिलकर सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होती हैं। इस प्राणिहित के कार्य में ये एक-दूसरे की पूर्ति करनेवाली हैं। एवं रूप में विरुद्ध, कार्य में एक।

भावार्थ—रात्रि व उषा प्रभु के शासन में चलती हुई रूप में विरुद्ध होती हुई भी कार्य में एक हैं। ये सब प्राणियों के लिए हितकर हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रकाशमयी उषा

भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः।
प्रार्प्या जगद्व्यु नो रायो अख्यदुषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ४॥

१. यह उषा **भास्वती**=प्रकाशवाली है, **सूनृतानाम्**=प्रिय, सत्यवाणियों की **नेत्री**=प्रणयन करनेवाली है। इस उषा में पशु-पक्षियों के कलरव तो होते ही हैं, भक्तों की प्रभुस्तवन की वाणियों का उच्चारण भी इसी समय होता है। यह उषा **चित्रा**=(चायनीया—सा०) अद्भुत व पूजनीय **अचेति**=जानी जाती है। उषा स्वयं स्तुत्य है, परन्तु प्रभुस्तवन का सर्वोत्तम काल होने से भी यह चित्रा कहलाती है। यह उषा **नः**=हमारे **दुरः**=इन्द्रिय-द्वारों को **वि आवः**=खोल देती है। रात्रि के समय सब इन्द्रियों ने कार्य करना बन्द कर दिया था, अब यह उषा उन सब इन्द्रियों को कार्यप्रवृत्त कर देती है—मानो सब द्वारों को खोल देती है। २. **उ**=और यह उषा **जगत् प्रार्प्या**=सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश प्राप्त कराके **नः रायः**=हमारे धनों को **वि अख्यत्**=विशेष रूप से प्रकट करती है। उषाकाल में ही प्रबुद्ध होकर हम ऐश्वर्यार्जन के योग्य बनते हैं, इसी समय हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का प्रकाश होता है। ३. वस्तुतः **उषा**=उषा **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों व प्राणियों को **अजीगः**=फिर से उद्गीर्ण करती है। रात्रि ने सब भुवनों को अन्धकार से आवृत करके निगल-सा लिया था, उषा में वे सब भुवन पुनः प्रकट हो जाते हैं। उषा उन लोकों को प्रकाश में लाकर मानो फिर से उत्पन्न कर देती है।

भावार्थ—यह उषाकाल प्रिय एवं सत्य वाणियों के उच्चारण का समय है। सर्वत्र प्रकाश करती हुई यह उषा सब भुवनों को नवजीवन देती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

मघोनी ऊषा का आगमन

जिह्मश्ये३ चरितवे मघोन्याभोगय इष्टये राय उ त्वम्।
दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ५॥

१. यह **मघोनी**=ऐश्वर्यवाली उषा **जिह्मश्ये**=(जिह्मं वक्रं शयानाय—सा०) कुछ मुड़-तुड़कर सोये हुए मनुष्य के लिए **चरितवे**=स्वापेक्षित वस्तु के प्रति जाने के लिए होती है। **त्वं आभोगये**=किसी एक (त्व—एक) के प्रति शब्दादि विषयों के भोग के लिए होती है, **इष्टये**=किसी दूसरे के प्रति यह यज्ञ के लिए होती है **उ**=और किसी अन्य के लिए **राये**=यह ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए होती है। इस उषा में जागकर कोई भोगों की ओर झुकता है, कोई यज्ञों की ओर और कोई धनों की ओर। २. रात्रि के अन्धकार में **दभ्रम्**=बहुत ही अल्प **पश्यद्भ्यः**=देखनेवालों के लिए यह **उर्विया**=खूब विस्तार से **विचक्षे**=विशिष्ट प्रकाश व दर्शन के लिए होती है। रात्रि के अन्धकार में दृष्टि कुछ ही पगों तक जाती थी, अब उषा होने पर इस उषा के प्रकाश में दृष्टि दूर तक जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि उषा ने उन **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को फिर से **अजीगः**=उद्गीर्ण कर दिया है, जिन्हें रात्रि का अन्धकार निगल गया था।

भावार्थ—उषा आती है और सभी को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करती है, कोई भोग भोगने में लगता है, कोई यज्ञ में और कोई धन-प्राप्ति के कार्यों में।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

विसदृश जीवनों का दर्शन

क्ष॒त्राय॑ त्वं॒ श्रव॑से त्वं म॑ही॒या इ॒ष्टये॑ त्व॒मर्थ॑मिव त्व॒मि॒त्यै।
विस॑दृशा जीवि॒ताभि॒प्रच॒क्ष॑ उ॒षा अ॑जीग॒र्भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥ ६॥

१. यह उषा **त्वम्**=किसी एक के प्रति **क्षत्राय**=बल-सम्पादनरूप कार्य के लिए प्रकट होती है, **त्वम्**=किसी एक के प्रति **श्रवसे**=ज्ञान सम्पादन कार्य के लिए **महीया**=किसी एक के प्रति प्रभुपूजारूप कार्य के लिए (मह पूजायाम्) और **त्वम्**=किसी एक के प्रति **इष्टये**=यज्ञ में प्रवृत्त होने के लिए तथा **त्वम्**=किसी एक के लिए तो **अर्थम् इत्यै इव**=धन के प्रति जाने के लिए ही इसका आविर्भाव होता है। २. वस्तुतः यह उषा **विसदृशा**=भिन्न-भिन्न, विविध **जीविता**=जीवनों को **अभिप्रचक्षे**=प्रकट करने के लिए आती है। इसके आने पर विविध उपायों से लोग अपनी जीविका के सम्पादन में प्रवृत्त होते हैं और **उषा**=यह उषा उन **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को **अजीगः**=फिर से प्रकट कर देती है, जिन भुवनों को रात्रि के अन्धकार ने निगल-सा लिया था। रात्रि में लोक अति छोटा-सा हो गया था। उषा के होते ही वह अपने विशाल रूप को धारण करता है और लोग अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। कितने ही विसदृश जीवनों को यह प्रकट करनेवाली है।

भावार्थ—उषा के प्रकट होते ही क्षत्रिय बल-संचय के कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो ब्राह्मण ज्ञान-अर्जन में, भक्त पूजा में तो कर्मकाण्डी याज्ञिक यज्ञों में। इसी समय वैश्य धन-प्राप्ति के कार्यों में लगते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुभग उषा

ए॒षा दि॒वो दु॑हि॒ता प्रत्य॑दर्शि व्यु॒च्छन्ती॑ युव॒तिः शु॒क्रवा॑साः।
विश्व॒स्येशा॑ना॒ पार्थि॑वस्य॒ वस्व॒ उषो॑ अ॒द्येह सु॑भगे॒ व्यु॑च्छ॥ ७॥

१. **एषा**=यह **दिवः दुहिता**=द्युलोक की पुत्री अथवा प्रकाश का पूरण करनेवाली (**दिव्**=प्रकाश, दुह प्रपूरणे) **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **प्रत्यदर्शि**=प्रतिदिन प्रत्येक प्राणी से देखी जाती है। यह **युवतिः**=नित्य यौवन से युक्त है, अमृत है, 'कभी नष्ट हो जाएगी'—ऐसी बात नहीं अथवा '**यु मिश्रणामिश्रणयोः**' अन्धकार का यह अमिश्रण करनेवाली व प्रकाश का मिश्रण करनेवाली है, **शुक्रवासाः**=प्रकाशरूप निर्मल वस्त्रोंवाली है। २. यह उषा **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **पार्थिवस्य वस्वः**=पृथिवी-सम्बन्धी धन की **ईशाना**=ईश है। इस पार्थिव शरीर के निवास को उत्तम बनाने के लिए जिन तत्त्वों की उपयोगिता है, यह उषा उन सबसे सम्पन्न है, इसीलिए देव उषर्बुध होते हैं। ३. हे **सुभगे**=सब उत्तम भोगों से सम्पन्न—सब ऐश्वर्यों की आधारभूत **उषः**=उषो देवते! **अद्य**=आज **इह**=हमारे जीवन में **व्युच्छ**=तू विशेषरूप से अन्धकार को दूर करनेवाली हो। उषा हमारे जीवन में प्रकाश लानेवाली हो। यह हमें उचित प्रेरणा प्राप्त कराके ज्ञान व निर्मलता की प्राप्ति कराती है।

भावार्थ—उषा उदित हो, यह प्रकाश का पूरण करती है, निर्मलता को धारण कराती है। सब पार्थिव धनों की ईशान होती हुई हमारे जीवनों में सुभग को उदित करती है, इसके सेवन से हमारे जीवन की सब क्रियाएँ सुन्दर होती हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**=पञ्चमः।

अनन्त उषाएँ

परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम्।
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती॥८॥

१. **परायतीनाम्**=दूर जाती हुई, अर्थात् बीतती हुई उषाओं के **पाथः**=अन्तरिक्ष लक्षण मार्ग के **अनु एति**=पीछे यह आती है तथा **आयतीनाम्**=आनेवाली **शश्वतीनाम्**=बहुत अथवा अनन्त उषाओं के यह **प्रथमा**=आगे होनेवाली है। अनन्त उषाकाल बीत चुके, अनन्त उषाकाल आगे आएँगे, दोनों के बीच में यह आज का **उषाः**=उषाकाल है। यह **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **जीवम्**=प्राणिमात्र को **उदीरयन्ती**=बिछौने से उठ खड़ा होने के लिए प्रेरित करती हुई, **मृतम्**=शयनावस्था में सब इन्द्रिय-व्यापारों के रुक जाने से मृत के समान पड़े हुए **कं चन**=किसी भाग्यशाली या व्रतधर्मा पुरुष को **बोधयन्ती**=फिर से उद्बुद्ध कर देती है। २. रात्रि में सम्पूर्ण जगत् प्रसुप्त-सा—मृत-सा लगता है। उषा के होते ही संसार फिर जी-सा उठता है, चहल-पहल होने लगती है और जीवन के सब चिह्न व्यक्त हो उठते हैं। ये उषाएँ अनादिकाल से चली आ रही हैं और अनन्तकाल तक चलती चलेंगी। यह आज की उषा भूतकाल की उषाओं के पीछे आनेवाली हैं तो भविष्यत् की उषाओं की प्रथम भाविनी है।

भावार्थ—उषा आये और हममें नित्य नूतन जीवन का सञ्चार करे।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भद्र कर्म

उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य।
यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः॥९॥

१. हे **उषः**=उषा देवता! (क) **यत्**=जो **अग्निम्**=अग्नि को **समिधे**=दीप्त करने के लिए **चकर्थ**=तू करती है, अर्थात् तेरे होने पर अग्निहोत्र की अग्नियों का दीपन होता है और (ख) **यत्**=जो तू **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्षसा**=प्रकाश से **वि आवः**=जगत् को विशेषरूप से प्रकट करती है—अन्धकार से वियुक्त करती है तथा (ग) **यत्**=जो तू **यक्ष्यमाणान्**=जो समीप भविष्य में यज्ञ करेंगे ऐसे **मानुषान्**=मनुष्यों को **अजीगः**=प्रकट करती है, **तत्**=वह तू **देवेषु**=देवों में **भद्रम् अप्नः**=बड़े शुभ कर्म को **चकृषे**=करती है। २. उषा के तीन कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—सबसे प्रथम, देववृत्तिवाले पुरुष इस उषाकाल में विविध यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं, दूसरा, ये देववृत्ति के पुरुष अपने मस्तिष्क को ज्ञान से उसी प्रकार उज्ज्वल करने का प्रयत्न करते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से द्युलोक चमक उठता है, तीसरा, ये देववृत्ति के पुरुष इस उषाकाल में यज्ञात्मक कर्मों को करने के लिए यत्नशील होते हैं—ये इन कर्मों को ही प्रथम धर्म मानकर चलते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष उषाकाल में (क) अग्निहोत्र करते हैं, (ख) ज्ञान-सूर्य के उदय के लिए यत्नशील होते हैं, (ग) यज्ञात्मक कर्मों से प्रभु का उपासन करते हैं। देवों के इन त्रिविध भद्र कर्मों को उषा प्रकट करती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सामर्थ्य व प्रकाश

कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान्।
अनु पूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति॥१०॥

१. **याः**=जो उषाएँ **व्यूषुः**=हो चुकी हैं—अन्धकार-निवारण के कार्य को कर चुकी हैं **च याः**=और जो **नूनम्**=निश्चय से **व्युच्छान्**=अन्धकार-निवारण के कार्य को करेंगी वे **कियती समया**=कितने समय तक **आभवाती**=सब प्रकार से हमारे साथ होती हैं, अर्थात् बहुत थोड़ी-सी देर के लिए ही हमारे साथ होती हैं, परन्तु **यत्**=यह जो प्रस्तुत उषाकाल है वह **पूर्वाः अनु**=पहले उषाकालों के अनुसार ही **कृपते**=(कृपू सामर्थ्ये) हमें सामर्थ्य व शक्ति देनेवाला होता है। २. यह उषा **वावशाना**=हमारे हित को चाहती हुई तथा **प्रदीध्याना**=प्रकृष्ट दीप्ति करती हुई **अन्याभिः**=अन्य आनेवाली उषाओं के साथ **जोषम्**=प्रीति को **एति**=प्राप्त होती है। बड़े स्नेह के साथ यह आती है और हमें सामर्थ्य व प्रकाश, शक्ति व ज्ञान देती है।

भावार्थ—उषा का समय थोड़ा-सा होता है, परन्तु वह थोड़ा-सा समय भी हममें सामर्थ्य व प्रकाश का सञ्चार करता है, अतः जीवनोत्थान के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**=भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

भूत, वर्तमान व भावी उषाकाल

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः ।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्॥ ११॥

१. **ये मर्तासः**=जो मनुष्य **पूर्वतराम्**=सबसे प्रथम होनेवाली **व्युच्छन्तीम्**=अन्धकार को दूर करती हुई **उषसम्**=उषा को **अपश्यन्**=देखते थे **ते ईयुः**=वे अब जा चुके। सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर के जो मानस पुत्र हुए उन्होंने सर्वप्रथम उषा को देखा, परन्तु अब वे उषाकाल भूत की वस्तु हो गये और वे द्रष्टा भी अब जा चुके। **नु**=अब **उ**=निश्चय से **अस्माभिः**=हमारे द्वारा यह वर्तमान उषा **प्रतिचक्ष्या**=देखने योग्य **अभूत्**=हुई है। **ते**=वे व्यक्ति भी **उ**=अवश्य **आयन्ति**=समीप भविष्य में आ ही रहे हैं **ये**=जो **अपरीषु**=(भाविनीषु=सा०) आगे आनेवाली रात्रियों में **पश्यान्**=उदय होते हुए इन उषाकालों को देखेंगे।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ से ये उषाकाल चल रहे हैं। कितने ही उषाकाल बीत चुके। वर्तमान में उषाकाल हमारे सामर्थ्य व प्रकाश को बढ़ा ही रहे हैं और भविष्य में आनेवाले उषाकाल उस समय के व्यक्तियों से देखे जाएँगे।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रेष्ठतमा उषा

यावयद् द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती।
सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥ १२॥

१. यह उषा **यावयत् द्वेषाः**—सब प्रकार के द्वेषों को हमसे पृथक् करनेवाली है। शान्त उषाकाल की प्रेरणा हमें शान्ति का पाठ पढ़ाती है—द्वेष की वृत्तियाँ हमसे दूर होती हैं। **ऋतपाः**=यह ऋत का पालन करनेवाली है। उषा हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करती है। वस्तुतः **ऋतेजाः**=इसका तो प्रादुर्भाव ही ऋत के लिए हुआ है। उषा होने पर ऋत, अर्थात् यज्ञों का प्रवर्तन होता है। २. **सुम्नावरी**=यह उषा **सुम्नो**=प्रभु के स्तोत्रों-(Hymns)-वाली है। इस समय ही प्रभुभक्तों के मुखों से प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण होता है। **सूनृताः ईरयन्ती**=यह सूनृत वाणियों को प्रेरित करती हुई उषा **सुमङ्गली**=उत्तम मङ्गलवाणियों का ही हमसे उच्चारण कराती है। ३. हे **उषः**=उषा **देववीतिम्**=देवों के प्रति गमन को (वी गतौ), अर्थात् देवों के साथ सम्पर्क को **बिभ्रती**=धारण करती हुई तू **इह**=हमारे जीवनों में **अद्य**=आज **श्रेष्ठतमा**=अत्यन्त

प्रशस्त रूपवाली होकर **व्युच्छ**=उदित हो—अन्धकार को दूर करनेवाली हो।

भावार्थ—उषा हमें 'निर्द्वेषता, ऋत के पालन, प्रभु-स्तवन, सुनृता-सुमङ्गली वाणियों के उच्चारण तथा देव-सम्पर्क' की प्रेरणा देनेवाली हो। इस प्रकार यह हमारे लिए श्रेष्ठतमा हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**=निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'अजरा-अमरा' उषा

शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥ १३॥

१. यह **उषाः**=उषा **पुरा**=पहले **शश्वत्**=सनातनकाल से **व्युवास**=(व्यौच्छत्-सा०) अन्धकार का निवारण करती आयी है। **अथ उ**=अब निश्चय से **देवी**=यह प्रकाशमयी उषा **मघोनी**=ऐश्वर्यवाली होती हुई **अद्य**=आज **इदम्**=इस रात्रि के समय अन्धकारावृत जगत् को **व्यावः**=अन्धकार के आवरण से रहित करनेवाली है। **अथ उ**=और निश्चय से **उत्तरान् द्यून्**=आगे आनेवाले दिनों का अनुलक्ष्य करके **व्युच्छात्**=यह अन्धकार को दूर करेगी ही। २. भूत, वर्तमान, भविष्यत् में अन्धकार को दूर करती हुई यह उषा **अजरा-अमृता**=अजर और अमर है। यह कभी जीर्ण नहीं होती, कभी मृत नहीं होती। वस्तुतः यह अपने स्वागत करनेवाले भक्तों को भी स्वास्थ्य व शान्ति प्रदान करती हुई उन्हें जीर्ण व मृत नहीं होने देती। यह उषा **स्वधाभिः**=अपनी धारण-शक्तियों के साथ **चरति**=निरन्तर गति करती है। इसके साथ सम्बद्ध होकर हम भी इन धारण-शक्तियों के द्वारा अपने जीवन को उत्तमता से धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उषा सनातनकाल से प्रकाश व ऐश्वर्य को प्राप्त करा रही है (देवी, मघोनी)। यह हमें अजर व अमर करे, अपनी धारणशक्तियों से हमारा धारण करे।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**=निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रबोधयन्ती उषा

व्य१ञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः।
प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन॥ १४॥

१. यह **देवी**=द्योतनशील उषा **दिवः आतासु**=द्युलोक-सम्बन्धी इन दिशाओं में **व्यञ्जिभिः**=अपने प्रकाशक तेजों से **अद्यौत्**=दीप्त होती है। दीप्त होती हुई यह उषा **कृष्णां निर्णिजम्**=रात्रि के अन्धकारावृत होने से उसके कृष्ण रूप को **अप आवः**=अपावृत कर देती है—प्रकाश के द्वारा तिरस्कृत कर देती है। रात्रि का वह काला रूप उषा के आते ही समाप्त हो जाता है। २. यह **उषाः**=उषा **अरुणेभिः**=अव्यक्त लालिमावाले **अश्वैः**=किरणरूप अश्वों से **सुयुजा**=उत्तम रीति से युक्त **रथेन**=रथ से **आयाति**=आती है और **प्रबोधयन्ती**=सबको प्रबुद्ध करती है। उषा होने पर सब जाग जाते हैं। यह उषा सभी को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने को कहती है। इसका प्रकाश सबको जगानेवाला होता है।

भावार्थ—उषा आती है, रात्रि के कृष्ण रूप को समाप्त करती है, सभी को जगाती है और स्व-स्व कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः=भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

पोषक तत्त्वोंवाली उषा

आवहन्ती पोष्या वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनां विभातीनां प्रथमोषा व्यश्वैत्॥ १५॥

१. **उषाः**=उषा **वार्याणि**=वरणीय, उत्कृष्ट चाहने योग्य **पोष्या**=पोषण के लिए उत्तम पदार्थों को **आवहन्ती**=प्राप्त कराती हुई **चित्रं केतुं कृणुते**=अद्भुत प्रकाश करती है। उषा के प्रकाश की सर्वमहान् विचित्रता यही है कि इसमें प्रकाश होते हुए भी सन्ताप नहीं है। यह अपनी अरुण वर्ण की किरणों में प्राणादि सब तत्त्वों को धारण किये हुए आती है। **चेकिताना**=यह सब मनुष्यों को 'प्रज्ञापयन्ती' चेतना देती हुई आती है। २. **शश्वतीनाम्**=सनातनकाल से **ईयुषीणाम्**=आनेवाली उषाओं की **उपमा**=यह उपमानभूत है। अनादिकाल से आती हुई उषाओं के समान ही यह उषा है। **विभातीनाम्**=भविष्य में चमकनेवाली उषाओं की **प्रथमा**=यह पहली है। भूतकाल की उषाओं के पीछे, भविष्यत् की उषाओं के आगे विद्यमान यह उषा **व्यश्वैत्**=विशिष्ट रूप से तेज के द्वारा प्रवृद्ध है (श्वि गतिवृद्ध्योः)।

भावार्थ—उषा की अरुण किरणों में सब पोषक व प्राणदायी तत्त्व विद्यमान होते हैं। अनादि काल से ये आ रही हैं, अनन्तकाल तक चलती चलेंगी।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

जीवः जीवन देनेवाला प्राणदायी तत्त्व असुः

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ १६॥

१. हे रात्रि में सोनेवाले पुरुषो! **उत् ईर्ध्वम्**=उठो और बिस्तरों को छोड़कर गतिशील होओ। यह उषा क्या आयी है, **नः**=हमारे लिए **जीवः असुः**=जीवन देनेवाला प्राणदायी तत्त्व ही **आगात्**=आ गया है। उषा की किरणों में पोषण के लिए आवश्यक सब तत्त्व विद्यमान हैं। **तमः अप प्रागात्**=अन्धकार दूर चला गया है और **आ**=चारों ओर **ज्योतिः एति**=अब प्रकाश आ रहा है। २. यह उषा भी **सूर्याय यातवे**=सूर्य की गति के लिए **पन्थाम्**=मार्ग को **आरैक्**=खाली करती है। उषा-हटती है और सूर्य उसका स्थान लेता है। हम भी **अगन्म**=उस सूर्य की किरणों में चलने का प्रयत्न करें। यथासम्भव सूर्य के प्रकाश में दिन के कार्यों को करें, **यत्र**=जहाँ **आयुः प्रतरन्त**=लोग अपने आयुष्य को बढ़ानेवाले होते हैं। सूर्य के सम्पर्क में रोग का उद्भव नहीं होता, शरीर स्वस्थ व दीर्घजीवी बने रहते हैं।

भावार्थ—उषा क्या आती है, जीवन देनेवाली प्राणशक्ति ही आ जाती है। इसके बाद सूर्य आता है, जो हमारे आयुष्य का वर्धन करनेवाला होता है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः=निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रजावत् आयुः

स्यूमना वाच उदियर्ति वह्निः स्तवानो रेभ उषसो विभातीः।
अद्या तदुच्छ गृणते मघोन्यस्मे आयुर्नि दिदीहि प्रजावत्॥ १७॥

१. **वह्निः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला अथवा स्तुतिवचनों का वहन करनेवाला **रेभः**=स्तोता **विभातीः उषसः**=इन देदीप्यमान उषाकालों की **स्तवानः**=स्तुति करता हुआ

स्यूमना वाचः=(षिव्+मनिन् बन्धनयुक्तानि—सा०) एक-दूसरे से जुड़ी हुई सन्तत स्तुतिवाणियों का **उदियर्ति**=(उद्गमयति, उच्चारयति—सा०) उच्चारण करता है। यह उषा के प्रकाश को देखता है, उससे प्रेरणा प्राप्त करता है, उस प्रकाश का स्तवन करता है और उसे अपने में धारण करता है। हे **मघोनि**=प्रकाशरूप ऐश्वर्यवाली उषः! तू **अद्य**=आज **गृणते**=इस स्तोता के लिए **तदुच्छ**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो और **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत्**=उत्तम सन्तानोंवाले व उत्तम विकासवाले **आयुः**=जीवन को **निदिदीहि**=नितरां (अच्छी प्रकार, उत्तमता से) प्रकाशित कर, अर्थात् दे। उषा का प्रकाश हमारे जीवनों को भी प्रकाशमय बनाये हम जीवन में सब शक्तियों का विकास करनेवाले हों और उत्तम सन्तानों से युक्त हों।

भावार्थ—उषा का स्तवन करते हुए हम भी उषा की भाँति अपने जीवन को प्रकाश व विकासमय बना पाएँ।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'गोमती सर्ववीरा' उषा

या गोमतीरुषसः सर्ववीरा व्युच्छन्ति दाशुषे मर्त्याय।
वायोरिव सूनृतानामुदर्के ता अश्वदा अश्नवत्सोमसुत्वा॥ १८॥

१. **दाशुषे मर्त्याय**=दाश्वान् मनुष्य के लिए—त्याग की वृत्तिवाले और परिणामतः प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **उषसः**=उषाएँ **व्युच्छन्ति**=सब प्रकार के अन्धकार को दूर करती हैं। **याः**=वे उषाएँ जोकि **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली हैं और **सर्ववीराः**=सब अङ्गों में वीरता का सञ्चार करनेवाली हैं। उषा आती है, अपने प्रकाश से यह ज्ञान की प्रेरणा देती है और अपनी दोषों के दहन की शक्ति से यह सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शक्ति का सञ्चार करती है। इस प्रकार यह उषा ज्ञान की प्रेरणा देती हुई 'गोमती' है और शक्ति का सञ्चार करती हुई 'सर्ववीरा' है। २. **वायोः इव**=वायु की भाँति—वायु क्रियाशीलता का प्रतीक है **सूनृतानाम्**=स्तुतिरूप वाणियों के **उदर्के**=उत्तरफल के रूप में (उदर्कः फलमुत्तरम्) **ताः**=वे उषाएँ **अश्वदाः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को देनेवाली हैं। हम उषा का स्तवन करें। उषा की प्रेरणा को मूर्तरूप देने के लिए क्रियाशील हों। परिणामतः हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष व दीप्त होंगी। ऐसी उत्तम इन्द्रियाश्वों को देनेवाली उषाओं को **सोमसुत्वा**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाला, सोमशक्ति का रक्षण करनेवाला **अश्नवत्**=व्याप्त करता है, प्राप्त होता है, एवं, इन्द्रियों की उत्तमता के लिए उषा से प्रेरणा तो प्राप्त करता ही है, साथ ही क्रियाशील बनता है और सोम को शरीर में सुरक्षित करता है।

भावार्थ—उषा हमें ज्ञान के प्रकाश व वीरता का सन्देश देती है। यह हमारे इन्द्रियरूप अश्वों को बड़ा उत्तम बनाती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'विश्ववारा' उषा

माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि।
प्रशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे॥ १९॥

१. हे **विश्ववारे**=सबसे वरण करने योग्य उषे! तू **देवानां माता**=हमारे जीवनों में दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली है। उषा का समय ही पवित्रता का सञ्चार करनेवाला है। 'प्रातः-प्रातः यह क्या करने लग गये'—यह वाक्य ही प्रातः समय अशुभ से दूर रहने के भाव को

सर्वलोक-विदित रूप में प्रकट कर रहा है। २. **अदितेः अनीकम्**=यह उषा अदिति का मुख है, अदिति, अर्थात् स्वास्थ्य का मुख्य कारण है। इस समय के वायु में ओज़ोन गैस का प्राचुर्य स्वास्थ्यवृद्धि का हेतु बनता है। ३. **यज्ञस्य केतुः**=यह उषा यज्ञों की प्रकाशिका है। उषाकाल में ही यज्ञशील पुरुषों के यज्ञ चलते हैं। इस प्रकार यह उषा **बृहती**=यज्ञों के द्वारा वृद्धि का कारण बनती है। यज्ञों से ही हम फूलते-फलते हैं—'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। ऐसी हे उषे! तू **विभाहि**=हमारे लिए विशिष्ट दीप्तिवाली हो। ४. **प्रशस्तिकृत्**=सब अच्छाइयों को जन्म देनेवाली हे उषे! तू **नः**=हमारे **ब्रह्मणे**=ज्ञान के लिए **व्युच्छ**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो और **नः जने**=हमारे लोगों में **जनय**=शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाली हो। उषा का समय वह समय है जब हम अपने-आपको अधिक-से-अधिक प्रफुल्लित पाते हैं।

भावार्थ—उषा दिव्यगुणों, शक्ति, यज्ञ की भावनाओं और सब अच्छाइयों को हमें देनेवाली होती है। इसलिए यह 'विश्ववारा' है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ईजान व शशमान पुरुष

यच्चित्रमप्न॑ उषसो॒ वह॑न्तीजा॒नाय॑ शशमा॒नाय॑ भ॒द्रम् ।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑ति॒ः सिन्धु॑ः पृथि॒वी उ॒त द्यौः ॥ २० ॥

१. **यत्**=जो **उषसः**=उषाएँ **ईजानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **चित्रम् अप्नः**=अद्भुत धन को अथवा (चित्+र) ज्ञानयुक्त धन को **वहन्ति**=प्राप्त कराती हैं। यज्ञशील बनने से, वृत्ति की पवित्रता के कारण ज्ञान भी बढ़ता है और धन भी बढ़ता है। यज्ञशीलता के अभाव में बढ़ा हुआ धन हमारे पतन का कारण बनता है, हमें अधिकाधिक गिरावट में ले-जाता है। २. ये उषाएँ **शशमानाय**=(शश प्लुतगतौ) खूब क्रियाशील पुरुष के लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख प्राप्त कराती हैं। एवं, हम क्रियाशील बनें और कल्याण का साधन करें। **नः तत्**=हमारे इस सङ्कल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता, **सिन्धुः**=शरीर में रेतःकणों के रूप में रहनेवाले जल, **पृथिवी**=दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, सोमरक्षण, स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क—ये हमें यज्ञशील व अत्यन्त क्रियाशील बनाएँ।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष को उषा ज्ञानयुक्त धन प्राप्त कराती है तथा क्रियाशील बनाकर सुख और कल्याण प्रदान करती है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि उषा का प्रकाश श्रेष्ठतम है (१)। यह ईजान और शशमान का कल्याण करता है (२०)। अकर्मण्य को उषा भी सुखी नहीं कर सकती। यह शशमान रुद्र का आराधक बनता है और प्रार्थना करता है—

[११४] चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

शान्त, पुष्ट व अनातुर

इ॒मा रु॒द्राय॑ त॒वसे॑ कप॒र्दिने॑ क्ष॒यद्वी॑राय॒ प्र भ॑रामहे म॒तीः ।
यथा॒ शमस॑द् द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे॒ विश्वं॑ पु॒ष्टं ग्रामे॑ अ॒स्मिन्न॑नातु॒रम् ॥ १ ॥

१. **इमाः मतीः**=इन बुद्धियों को—विचारपूर्वक किये जानेवाले स्तोत्रों को **रुद्राय**=सृष्टि के आरम्भ में हृदयस्थरूपेण ज्ञान (रुत्) देने-(द)-वाले प्रभु के लिए **प्रभरामहे**=प्रकर्षेण धारण करते हैं—'तद्बुद्धयस्तदात्मानः तन्निष्ठास्तत्परायणः'—उसी में बुद्धियों व मन को धारण करते हुए तन्निष्ठ व तत्परायण बनने का प्रयत्न करते हैं। उस रुद्र के लिए जो **तवसे**=अत्यन्त प्रवृद्ध हैं। प्रभु क्या ज्ञान, क्या शक्ति—सभी दृष्टिकोणों से बढ़े हुए हैं। ज्ञान की वे चरमसीमा हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं। उस रुद्र के लिए जो **कपर्दिने**=(क=सुख, पद्=पूर्ति, द=देना) आनन्द की पूर्ति देनेवाले हैं। प्रभु रसमय हैं। उन्हें प्राप्त करके उपासक एक अद्वितीय रस का अनुभव करता है। **क्षयद्वीराय**=वीरों में वे प्रभु निवास करनेवाले हैं (क्षि निवासे)। इस प्रभु के लिए हम अपनी बुद्धियों व स्तुतियों को धारण करते हैं। २. ऐसा हम इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे **द्विपदे चतुष्पदे**=मनुष्यादि व गवादि के लिए **शम्**=शान्ति **असत्**=हो। प्रभु में स्थित बुद्धिवाला होने पर मनुष्य का जीवन ठीक बना रहता है, वह पाप की ओर नहीं झुकता। परिणामतः वायुमण्डल में निष्पापता होने पर सबका जीवन शान्तिवाला होता है। इसी बात का यह भी परिणाम है कि **अस्मिन् ग्रामे**=इस ग्राम में **विश्वम्**=सब **पुष्टम्**=ठीक पोषणवाले व **अनातुरम्**=नीरोग **असत्**=हों। शान्ति व नीरोगता के लिए निष्पापता चाहिए, निष्पापता के लिए प्रभुशरण चाहिए।

भावार्थ—प्रभुभक्त बनते हुए हम शान्त, पुष्ट व अनातुर हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

शान्ति व निर्ममता

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥ २॥

१. हे **रुद्र**=ज्ञान देकर हमारी शत्रुभूत सब वासनाओं को रुलानेवाले प्रभो! **नः मृळ**=वासनानाश के द्वारा हमारे जीवनों को सुखी कीजिए। **उत**=और **नः**=हमारे लिए **मयः कृधि**=तृप्ति (Satisfaction) कीजिए। आपकी कृपा से हम वासनाओं को जीतकर आत्मतुष्ट बन पाएँ। २. **क्षयद्वीराय**=वीरों में निवास करनेवाले **ते**=आपके लिए **नमसा**=नमन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करें। वस्तुतः वीर बनकर हम अपने को प्रभु का निवास-स्थान बनाएँ। उस वीरता को भी 'बलं बलवतां चाहम्', 'तेजस्तेजस्विनामहम्' इन वाक्यों के अनुसार हम प्रभु की ही विभूतियाँ समझें। यह नमन है, नम्रता है जो हमें प्रभु के समीप पहुँचाती है। ३. **मनुः**=वह ज्ञानपुञ्ज **पिता**=सर्वरक्षक प्रभु **यत्**=जिस **शं च**=शान्ति को **योः च**=और भयों के यावन (दूरीकरण) को **आयेजे**=हमारे साथ सर्वथा सङ्गत करते हैं, **तत्**=उस शान्ति व भयों के पृथक्करण को हम हे **रुद्र**=ज्ञानप्रद प्रभो! **तव प्रणीतिषु**=आपके प्रणयनों में—आपकी प्रेरणा के अनुसार चलने में **अश्याम**=प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलने से जीवन में शान्ति व निर्भयता आती है।

भावार्थ—प्रभु-उपासना में ही सुख व तृप्ति है। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलने पर शान्ति व निर्भयता प्राप्त होती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराट्जगती। **स्वरः**—निषादः।

देवयज्ञ से सुमति-लाभ

अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः।
सुम्नायन्निद्विशो अस्माकमा चरारिष्टवीरा जुहवाम ते हविः॥ ३॥

१. हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले! **मीढ्वः**=ज्ञान के द्वारा सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! हम

ते-आपके **देवयज्यया**-उपदिष्ट देवयज्ञ के द्वारा **क्षयद्वीरस्य** वीरों में निवास करनेवाले **तव** आपकी **सुमतिम्** कल्याणी मति को **अश्याम** प्राप्त करें। देवयज्ञ से सौमनस्य प्राप्त होता है, बुद्धि स्वस्थ होकर प्रभु की ज्ञानवाणियों को ठीक से ग्रहण करनेवाली बनती है। 'देवयज्या' शब्द का अर्थ 'देववृत्ति के विद्वानों के साथ सम्पर्क' भी है। इन विद्वानों के सम्पर्क से हम प्रभु की वेदोपदिष्ट सुमति को प्राप्त करते हैं। २. हे प्रभो! आप ज्ञान प्राप्त कराने के द्वारा **इत्**-निश्चय से **सुम्नायन्**-हमारे सुख को चाहते हुए ही **अस्माकं विशः**-हमारी इन सब प्रजाओं में **आचर**-विचरण कीजिए। हे प्रभो! आपकी विद्यमानता में **अरिष्टवीराः**-अहिंसित वीरोंवाले होते हुए हम **ते हवि जुहवाम**-आपके प्रति हवि अर्पण करनेवाले हों। वस्तुतः हवि के द्वारा ही तो आपका पूजन होता है। दानपूर्वक अदन यज्ञशेष का सेवन ही हवि है। यही प्रभु-पूजा का प्रकार है।

भावार्थ—देवयज्ञ के द्वारा हम प्रभु की सुमति को प्राप्त करें, दानपूर्वक अदन से प्रभुपूजन करनेवाले बनें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दैव्य हेड का दूर करना

त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वङ्कुं कविमवसे नि ह्वयामहे।
आरे अस्मद्दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिमिद्वयमस्या वृणीमहे॥ ४॥

१. **वयम्** हम **रुद्रम्** ज्ञानदाता प्रभु को **अवसे** रक्षण के लिए **निह्वयामहे**-निश्चितरूप से पुकारते हैं। वे **त्वेषम्**-दीप्त हैं, तेज व ज्ञान के पुञ्ज हैं। **यज्ञसाधम्** हमारे सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। **वङ्कुम्** (वंक—to go) वे प्रभु स्वाभाविक रूप से क्रियावाले हैं और **कविम्**-क्रान्तदर्शी व ज्ञानी हैं। २. इस प्रकार उस रुद्र की उपासना 'त्वेष, यज्ञसाध, वंकु व कवि' के रूप में करते हुए हम भी 'दीप्त, यज्ञशील, क्रिया व ज्ञानवाले' बनने का प्रयत्न करते हैं और यह प्रार्थना करने योग्य बनते हैं कि **दैव्यं हेडः** देव सम्बन्धी क्रोध प्राकृतिक देवों के क्रोध जलवायु में परिवर्तन व प्रकृति द्वारा किया गया अपना समायोजन **अस्मत्**-हमसे **आरे**-दूर **अस्यतु**=फेंका जाए। जब पाप अधिक बढ़ जाते हैं प्रकृति से छेड़छाड़ तब आधिदैविक Global warning, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अवृष्टि आदि कष्ट आया करते हैं। हम अपने समाज को पवित्र बनाकर इन आधिदैविक कष्टों से अपने को बचानेवाले हों। ३. इसी विचार से **वयम्**-हम **अस्य**-इस प्रकार की **सुमतिं इत्**-कल्याणी मति को ही **आवृणीमहे** सर्वथा वरते हैं। प्रभु की इस कल्याणी मति में चलते हुए हम देवों के कोपभाजन नहीं होते। हमारे आधिदैविक कष्ट तभी दूर होंगे जब हम इस सुमति को अपनाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की सुमति का वरण करके हम आधिदैविक कष्टों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शर्म-वर्म-छर्दि

दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद्भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्॥ ५॥

१. हम **नमसा** नमन के द्वारा—नम्रतापूर्वक उच्चारण किये गये स्तुतिवचनों के द्वारा उस प्रभु को **निह्वयामहे** निश्चितरूप से अपने हृदयों (नि—In) में पुकारते हैं, जो प्रभु **दिवः वराहम्**-ज्ञान के द्वारा 'वरमाहन्ति' उत्कृष्ट पदार्थों को प्राप्त कराते हैं (हन् गतौ)। ज्ञान देकर प्रभु हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम पवित्र व उत्तम कर्मों को ही करनेवाले बनते हैं। ज्ञान हममें

पवित्रता का सञ्चार करता है। २. जो प्रभु **अरुषम्**=आरोचमान हैं—जिनका ज्ञान सर्वतः दीप्त है, **कपर्दिनम्**=वे प्रभु सुख की पूर्ति को देनेवाले हैं। ज्ञान के अनुपात में ही तो सुख होता है; जितना ज्ञान अधिक उतना ही सुख अधिक; **त्वेषम्**=वे प्रभु तेजस्विता से दीप्त हैं—तेज ही हैं, **रूपम्**=(रूपयति) लोक-लोकान्तरों को रूप देनेवाले हैं अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में ही ज्ञान का निरूपण करनेवाले हैं। ३. वे प्रभु **हस्ते**=हाथ में **वार्याणि भेषजानि**=वरणीय व रोगों का निवारण करनेवाली ओषधियों को **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शर्म**=आरोग्यजनित सुख दें, वासनाओं के आक्रमण से बचाने के लिए **वर्म**=कवच **यंसत्**=दें। प्रभु हमारे कवच हों और हमें वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न होने दें (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्)। वे प्रभु **छर्दिः**=घर **यंसत्**=दें। हम प्रभु की शरण हों, हमारे रक्षक हों। 'हाथ में भेषजों के धारण करने' का अभिप्राय यह है कि यदि हम कर्मशील बने रहें (इन् गतौ) तो अस्वस्थ भी न हों और वासनाओं से आक्रान्त भी न हों। हाथ में रोगों का भी औषध है, वासनाओं का भी। अकर्मण्य व्यक्ति ही रोगी बनता है और विकारयुक्त मनवाला होता है। 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'—प्रभु ने कर्म के लिए ही तो हाथ दिये हैं। कर्म ही सर्वमहान् औषध है—व्याधियों की भी, आधियों की भी।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त ज्ञान के अनुसार हम हाथों से कर्म करनेवाले बनें। यही नीरोगता, निर्मलता व आत्मरक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

मर्तभोजन की प्राप्ति

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्।
रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ॥ ६॥

१. 'मरुत्' प्राण हैं। प्रभु सबसे प्रथम प्राण को ही उत्पन्न करते हैं—'स प्राणमसृजत्'। इस प्रकार वे प्रभु मरुतों के पिता हैं। **मरुतां पित्रे**=प्राणों के जनक व रक्षक उस प्रभु के लिए **इदम्**=यह **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु—अत्यन्त स्वादिष्ठ, एक अनिर्वचनीय आनन्द देनेवाला **वचः**=स्तुतिवचन **उच्यते**=हमारे द्वारा उच्चारित किया जाता है। यह स्तुतिवचन **रुद्राय वर्धनम्**=ज्ञानदाता प्रभु के गुणों का वर्धन करनेवाला है। प्रभु के गुणों का प्रकाश करता हुआ यह वचन हमारे जीवनों के उत्थान का भी कारण होता है। २. हे **अमृत**=हे अविनाशी प्रभो! **नः**=हमारे लिए **मर्तभोजनम्**=मनुष्य का पालन करनेवाला भोजन **रास्व**=दीजिए। हमें उतना धन प्राप्त कराइए जितना कि इस मर्त शरीर के पालन के लिए आवश्यक हो। इस प्रकार पोषण के लिए पर्याप्त धन देकर **त्मने**=हमारे लिए **तोकाय**=हमारे पुत्रों के लिए तथा **तनयाय**=हमारे पौत्रों के लिए **मृड**=सुख कीजिए। निर्धनता ही संसार में कष्ट का कारण बनती है। निर्धनता को दूर करके आप हमारे कष्टों को दूर कीजिए। धन से ही सन्तानों का पालन-पोषण व शिक्षण होगा और इस प्रकार उनका जीवन सुखी बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के लिए स्तुतिवचनों का उच्चारण करें और प्रभु से पालन-पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अ-वध

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पर्याप्त धन होने पर घर में सभी का रक्षण ठीक से होता है, अतः कहते हैं कि **नः**-हमारे **महान्तम्**-बड़े को **मा वधीः**-नष्ट मत कीजिए। **उत**-और **नः**-हमारे **अर्भकम्**-छोटे को भी **मा**-मत हिंसित होने दीजिए। क्या बड़े क्या छोटे सब सुरक्षित हों। **नः**-हमारे उस युवक को जो गृहस्थ में प्रवेश कर सन्तान-निर्माण के लिए **उक्षन्तम्**=वीर्य का सेचन करनेवाला है **मा**-मत नष्ट कीजिए **उत**-और **नः**=हमारे **उक्षितम्** सिक्त सन्तान को—गर्भस्थ सन्तान को **मा**-मत नष्ट कीजिए। **नः**-हमारे **पितरम्**-पिता को **मा वधीः**=मत मारिए और **मातरम्**=माता को भी **मा**=मत नष्ट कीजिए। **नः**-हमारे इन **प्रियाः तन्वः**-प्रिय शरीरों को भी हे **रुद्र**-सब वासनाओं का विलय करनेवाले प्रभो! **मा रीरिषः**-मत हिंसित होने दीजिए। २. प्रभु के रक्षण में चलते हुए हम हिंसित न हों। बड़े-छोटे, युवक-युवति, माता-पिता—घर के ये सभी सभ्य सुरक्षित हों। हमारे शरीर भी रोगों व वासनाओं का शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—हमें आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो। घर में सब आवश्यक वस्तुएँ होने से किसी की भी असमय में मृत्यु न हो। सभी दीर्घजीवी व स्वस्थ शरीर हों।

सूचना—यहाँ 'उक्षन्तं' और 'उक्षितं' शब्दों का प्रयोग सन्तानोत्पत्ति के लिए ही वीर्य सेचन का संकेत कर रहा है। यही शरीर को हिंसित न होने देने का प्रकार है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

हविष्मान् की आराधना

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ ८॥

१. हे **रुद्र**=प्रलय के द्वारा रुलानेवाले प्रभो! **नः**-हमारे **तोके**-पुत्रों के विषय में तथा **तनये**=पौत्रों के विषय में **मा**-मत **रीरिषः**-हिंसा कीजिए। हमारे पुत्र-पौत्र अहिंसित हों। २. **नः**=हमारे **आयौ**-अन्य मनुष्यों के विषय में भी **मा**=मत हिंसा होने दीजिए। **नः**=हमारी **गोषु**-गौओं के विषय में **मा**-मत हिंसा होने दीजिए तथा **नः**=हमारे **अश्वेषु**=घोड़ों के विषय में भी **मा रीरिषः**-हिंसा मत होने दीजिए। हे रुद्र! **भामितः**-क्रुद्ध हुए हुए आप **नः वीरान् मा वधीः**=हमारे वीरों को मत नष्ट कीजिए। हमारे कर्म इस प्रकार के हों कि हम सदा आपकी कृपा के पात्र बने रहें। ३. **हविष्मन्तः**=हविवाले होते हुए, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन करते हुए **सदम् इत्**=सदा ही **त्वा**-आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। वस्तुतः हविष्मान् ही प्रार्थना का अधिकारी है। अपने ही मुख में आहुति देते हुए हम प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी नहीं होते।

भावार्थ—हविष्मान् बनकर हम प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी होते हैं, तभी प्रभु हम सबका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराट्जगती। **स्वरः**—निषादः।

मृडयतमा सुमतिः

उप ते स्तोमान्पशुपाइवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे।
भद्रा हि ते सुमतिर्मृळयत्तमाथा वयमव इत्ते वृणीमहे॥ ९॥

१. हे प्रभो! **पशुपाः इव**-जैसे पशु रक्षक ग्वाला सायंकाल पशुओं को स्वामी के प्रति सौंपता है, उसी प्रकार **ते स्तोमान्**=आप द्वारा दिये हुए इन स्तोत्रों को **उप आकरम्**=फिर आपके समीप प्राप्त कराता हूँ। मैं प्रतिदिन इन स्तोत्रों के द्वारा आपका स्तवन करता हूँ। २. हे

मरुतां पितः=हमारे प्राणों के उत्पन्न व रक्षण करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **सुम्नम्**=सुख **रास्व**=दीजिए। वस्तुतः इन प्राणों की शक्ति के ठीक होने पर ही आरोग्य-सुख का निर्भर है। प्राणशक्ति ठीक होगी तो शरीर नीरोग व सुखी बना रहेगा। ३. हे प्रभो! **हि**=निश्चय से **ते सुमतिः**=आपकी कल्याणी मति **भद्रा**=हमारा कल्याण करती है और **मृळयत्तमा**=हमें अधिक-से-अधिक सुख देनेवाली है। **अथ**=अब, इस मति के अनुसार चलते हुए **वयम्**=हम **ते**=आपके **अव**-रक्षण को **इत्**=निश्चय से **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। हमें आपका रक्षण क्यों न प्राप्त होगा जब हम आपकी दी हुई सुमति के अनुसार चलेंगे?

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें, प्रभु की सुमति के अनुसार चलें और सुख के भागी हों। प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अभ्युदय+निःश्रेयस

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।
मृळा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः॥ १०॥

१. हे **क्षयद्वीर**-वीर पुरुषों में निवास करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **गोघ्नम्**=हमारी इन्द्रियों का (गावः=इन्द्रियाणि) नाशक अस्त्र **आरे**=हमसे दूर ही रहे **उत**=और **पूरुषम्**=पौरुष को नष्ट करनेवाला अस्त्र भी हमसे दूर रहे। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करने की क्षमतावाली हों और हमारे पौरुष में किसी प्रकार की न्यूनता न आये। २. इसी उद्देश्य से **ते सुम्नम्**-आपका स्तोत्र **अस्मे अस्तु**=हमारे लिए हो। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले हों। आपका यह स्तवन ही हमें विषयों में फँसने से बचाएगा और परिणामतः हमारी इन्द्रियाँ ठीक रहेंगी तथा हमारे पौरुष में कमी न आएगी। ३. हे **देव**-ज्ञान का प्रकाश देनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिए **मृड**=आप अवश्य सुख दीजिए **च**=और **अधिब्रूहि**=हमें ज्ञान का खूब उपदेश दीजिए। **अध च**=और इस ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यच्छ**=दीजिए। आप हमारे लिए **द्विबर्हाः**=अभ्युदय और निःश्रेयस—दोनों का वर्धन करनेवाले होओ। हम आपके ज्ञान के द्वारा इहलोक व परलोक दोनों का साधन करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ व पौरुष ठीक बना रहे। प्रभु के ज्ञान के अनुसार चलने से हम अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नमउक्तिं विधेम

अवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः शृणोतु नो हवं रुद्रो मरुत्वान्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ११॥

१. **अवस्यवः**=रक्षण की कामना करते हुए हम **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **नमः अवोचाम**=नमन की उक्तियों को कहते हैं, अर्थात् नतमस्तक होकर प्रभु के प्रति स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं। इन स्तुतिवचनों से ही हमें प्रभु के गुणों के धारण की लक्ष्यदृष्टि प्राप्त होती है। उन गुणों को धारण करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। २. वह **मरुत्वान्**=प्रशस्त **मरुतों**=प्राणोंवाला **रुद्रः**=प्राणों के द्वारा वासनाओं का विलय करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार को **शृणोतु**=सुने। हमारी प्रार्थना प्रभु से सुनी जाए। हम प्राणसाधना में निरन्तर प्रवृत्त होंगे तभी प्रभु के प्रिय बनेंगे और तभी हमारी प्रार्थना का कुछ महत्त्व होगा। ३. **नः तत्**=हमारे उस

प्राणसाधना के सङ्कल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=रेत:कणों के रूप में बहनेवाले जल, **पृथिवी**=यह शरीर **उत**=और **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। 'स्नेह व निर्द्वेषता' आदि के द्वारा मैं प्राणसाधना के मार्ग पर आगे बढ़ूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति नमनवाले हों। प्राणसाधना के द्वारा अपने को इस योग्य बनाएँ कि हमारी प्रार्थना सुनी जाए।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ रुद्र से 'शान्ति, पुष्टि व अनातुरता' की प्रार्थना से हुआ है (१)। समाप्ति पर भी उसी रुद्र से रक्षण की कामना की गई है (११)। ये रुद्र सूर्य द्वारा हमारा रक्षण करते हैं, अतः अगला सूक्त सूर्य-देवता का ही है—

[११५] पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अद्भुत सूर्यमण्डल

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १॥

१. **देवानाम्**=(दीव्यन्तीति देवा, रश्मयः) रश्मियों का **अनीकम्**=तेज:समूहरूप **चित्रम्**=आश्चर्यकर सूर्यमण्डल **उदगात्**=उदय हुआ है। यह सूर्यमण्डल **मित्रस्य**=द्युलोकस्थ किरणों द्वारा रोगनाशक और मृत्यु से बचानेवाले देव (सूर्य) का, **वरुणस्य**=अन्तरिक्षलोकस्थ दुःखनिवारक चन्द्र का, **अग्नेः**=अग्रगति के साधक पृथिवीलोकस्थ अग्नि का **चक्षुः**=प्रकाशक है। सूर्यमण्डल सूर्य का, अर्थात् स्वयं अपना तो प्रकाशक है ही, चन्द्र व अग्नि को भी वह प्रकाश देनेवाला है। २. यह सूर्यप्रकाश **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=पूर्णरूपेण व्याप्त किये हुए है। सूर्य का प्रकाश त्रिलोकी में फैल जाता है। **सूर्यः**=यह सूर्य—इस सूर्य का अधिष्ठातृदेव प्रभु **जगतः तस्थुषः च**=जंगम और स्थावरस्वरूप जगत् का **आत्मा**=आत्मा है—'योऽसावादित्ये पुरुषः'—सूर्यमण्डलान्तवर्ती, अधिष्ठातृरूपेण स्थित प्रभु सारे जंगम-स्थावर पदार्थों के अन्दर स्थित होता हुआ उन सब पदार्थों को 'विभूति, श्री व ऊर्जा' प्राप्त करा रहा है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश हमें मृत्यु से बचानेवाला है (मित्र)। यह हमारे रोगों का निवारण करनेवाला है (वरुण)। यह हमारी उन्नति का साधक है (अग्नि)।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उषा के पीछे आता हुआ सूर्य

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ २॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **रोचमानाम्**=चमकती हुई **देवीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा के **पश्चात्**=पीछे **अभ्येति**=उसी प्रकार आता है **न**=जैसेकि **मर्यः**=मनुष्य **योषाम्**=पत्नी के पीछे आता है। उषा मानो पत्नी है, सूर्य उसका पति। ये पति-पत्नी जब आते हैं तब हमें इनके स्वागत के लिए तैयार रहना चाहिए। उस समय लेटे रहना या व्यर्थ की प्रवृत्तियों में लगना तो इनका निरादर ही है। २. यह समय वह होता है **यत्र**=जिसमें **देवयन्तः नरः**=अपने को देव बनाने की कामनावाले पुरुष **युगानि**=द्वन्द्वरूप में होकर, अर्थात् पति पत्नी मिलकर **भद्राय**=कल्याण व सुख की प्राप्ति

के लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख के साधक यज्ञ को **प्रतिवितन्वते**=प्रतिदिन विस्तृत करते हैं। इन यज्ञों से (क) उनकी वृत्ति दिव्य बनती है, (ख) उनका कल्याण होता है, (ग) वे उषा और सूर्य का सच्चा पूजन कर पाते हैं। सूर्य के सामने हाथ जोड़ना सूर्य का पूजन नहीं है। सूर्योदय के समय यज्ञादि करना ही सूर्य-पूजन है।

भावार्थ—उषा के पीछे आते हुए सूर्य का हमें स्वागत करना चाहिए। उस समय यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य के अश्व

भ॒द्रा अश्वा॑ ह॒रितः॒ सूर्य॑स्य चि॒त्रा एत॑ग्वा अनु॒माद्या॑सः।
न॒म॒स्यन्तो॑ दि॒व आ पृ॒ष्ठम॑स्थुः॒ परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी य॑न्ति स॒द्यः॥ ३॥

१. सूर्य की किरणें ही सूर्य के अश्व कहलाते हैं। ये **सूर्यस्य**=सूर्य की **अश्वाः**=सर्वत्र व्याप्त हो जानेवाली किरणें (आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) **भद्राः**=कल्याण करनेवाली हैं, **हरिताः**=ये रोगों का हरण करनेवाली हैं, **चित्राः**=अद्भुत हैं, अथवा चेतना को प्राप्त करानेवाली हैं। **एतग्वाः**=(एतं गच्छन्ति) गन्तव्य मार्ग पर चलानेवाली हैं, **अनुमाद्यासः**=अनुकूलता से हर्ष प्राप्त करानेवाली हैं। २. इन सूर्य-किरणों को **नमस्यन्तः**=पूजित करते हुए पुरुष—इनके उदय होने पर यज्ञ-यागादि में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष **दिवः पृष्ठम्**=द्युलोक के पृष्ठ पर **आतस्थुः**=सर्वथा स्थित होते हैं 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्'—इन वेदशब्दों के अनुसार द्युलोक स्वर्गलोक का पृष्ठ (floor) है, अतः यज्ञादि के द्वारा सूर्य-पूजन करनेवाले लोग स्वर्ग में स्थित होते हैं, अर्थात् सूर्योदय के समय यज्ञादि उत्तम कर्म करनेवाले लोग अपने घरों को स्वर्ग बनाने में समर्थ होते हैं। ३. ये सूर्य के किरणरूप अश्व **सद्यः**=शीघ्र ही **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **परियन्ति**=चारों ओर जानेवाले होते हैं। सर्वत्र इनका प्रकाश फैल जाता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणें कल्याण करनेवाली, नीरोगता देनेवाली व हर्ष की कारणभूत हैं। इनका यज्ञादि के द्वारा स्वागत हमें स्वर्ग-सुख विशेष में स्थित करता है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य का महत्त्व

तत्सूर्य॑स्य दे॒व॒त्वं तन्म॑हि॒त्वं म॒ध्या कर्तो॒र्वित॑तं॒ सं ज॑भार।
य॒देदयु॑क्त ह॒रितः॑ स॒धस्था॒दाद्रात्री॒ वास॑स्तनुते सि॒मस्मै॑॥ ४॥

१. **तत्**=वही **सूर्यस्य**=सूर्य का **देवत्वम्**=ईश्वरत्व है और **तत्**=वही **महित्वम्**=महत्त्व है कि **कर्तोः मध्या**=कर्मों के बीच में ही **विततम्**=सर्वत्र फैले अपने किरणसमूह को **संजभार**=संहत कर लेता है। सूर्य की किरणें संकुचित हुई और अन्धकार के कारण सब कार्य बीच में ही रुक जाते हैं। २. **यदा इत्**=जब ही यह सूर्य **सधस्थात्**=(सह-स्थ) सब प्राणियों के साथ ठहरनेवाले इस पार्थिव लोक से **हरितः**=अपनी किरणों को **अयुक्त**=लेकर अन्यत्र संगत करता है तो **आत्**=उसके अनन्तर **रात्री**=रात **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अपने अन्धकाररूप कृष्ण वस्त्र को **तनुते**=विस्तृत करती है। सूर्यकिरणें संकुचित हुई और सम्पूर्ण जगत् अन्धकार के वस्त्र से आवृत हुआ।

भावार्थ—सूर्य का महत्त्व तब ध्यान में आता है जब सूर्यकिरणें अस्त होती हैं। उस समय अन्धकार हो जाता है और सब काम बीच में ही रुक जाते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—सूर्यः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मित्र व वरुण का प्रकाश

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥५॥

१. **सूर्यः**-सूर्य **द्यौः उपस्थे**-द्युलोक की गोद में, अर्थात् द्युलोक में **रूपम्**-सबके निरूपक-प्रकाशक तेज को **कृणुते**=करता है। **तत्**-सूर्य का यह तेज **मित्रस्य वरुणस्य**=प्राण व उदानशक्ति के **अभिचक्षे**-प्रकाशन के लिए होता है। सूर्य के इस प्रकाशक तेज का परिणाम हमारे जीवनों में प्राण व उदानशक्ति के विकास के रूप में होता है। प्राणशक्ति के विकास से चक्षु, श्रोत्र, मुख व नासिका आदि के कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न होते हैं और उदानशक्ति कण्ठ के कार्य को ठीक प्रकार से करती है। २. **अस्य हरितः** इस सूर्य की किरणें **अनन्तम्**-अन्त से रहित **अन्यत्**-विलक्षण **रुशत्** उज्ज्वल **पाजः** बल को **संभरन्ति**=हमारे शरीरों में धारण करती हैं। यही बल प्राण है। यहाँ मन्त्र में इन्हें 'मित्र' शब्द से कहा गया है। इस सूर्य की किरणें **अन्यत्**=इस देदीप्यमान शक्ति से भिन्न **कृष्णम्**-उदान नामक शक्ति को, जोकि कण्ठ देश में रहती हुई रोगों को शरीर से बाहर ले-जाने (कृष्ण-खेंचना) का कार्य करती है, धारण करती हैं। दिन के साथ मित्र का सम्बन्ध है तो रात्रि के साथ वरुण का। रात्रि के समय अन्धकार हो जाने से भी इस तेज को 'कृष्ण' नाम दिया गया है।

भावार्थ—सूर्यकिरणें हमारे अन्दर प्राणोदान-शक्ति के विकास का कारण हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अंहस व अवद्य से दूर

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥६॥

१. हे **देवाः**-सूर्य की देदीप्यमान रश्मियों के समान ज्ञानरश्मियों से दीप्त देवपुरुषो! **अद्य**-आज **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होते ही **अंहसः**-पाप से **निः आ पिपृत**-हमें निश्चय से पार करो, **अवद्यात्**=निन्दनीय (अवाच्य) बातों से हमें पृथक् करो। सूर्य की रश्मियाँ जैसे अन्धकार को दूर करती हैं, उसी प्रकार इन देवों की ज्ञानरश्मियाँ हमारे पापान्धकार को दूर करनेवाली हों। २. **तत्**=हमारे इस पाप व अवद्य से ऊपर उठने के संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**-वरुण, **अदितिः**-स्वास्थ्य, **सिन्धुः** शरीर में स्थित रेतःकणरूप जल, **पृथिवी**-दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**-दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**-आदृत करें। 'स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, ऊर्ध्वरेतस्कता, दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क'—ये सब मिलकर हमारे जीवन को 'अंहस व अवद्य' से ऊपर उठानेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रातर्वेला में देवों से ज्ञान प्राप्त करके पाप व निन्दनीय बातों से दूर हों।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि यह सूर्य का प्रकाश 'मित्र, वरुण व अग्नि' का प्रकाशक है (१)। पाँचवें मन्त्र में इसी बात पर पुनः बल देकर छठे मन्त्र में कहा है कि यह प्रकाश हमें पाप व निन्दनीय बातों से दूर करे (६)। इस प्रकार यह 'कुत्स आङ्गिरस' ऋषि उन्नति के लिए कटिबद्ध होने के कारण 'कक्षीवान्' कहलाता है। अगले सूक्त का ऋषि यह कक्षीवान् ही है। यह 'अश्विनौ' (प्राणापान) का स्तवन करता है—

अथ सप्तदशोऽनुवाकः

[११६] षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विमद के लिए जाया की प्राप्ति

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः।
याववर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन॥ १॥

१. कक्षीवान् संकल्प करता है कि **नासत्याभ्याम्**=प्राणापान की साधना करता हुआ इनके द्वारा **बर्हिः इव**=घास की भाँति **प्रवृञ्जे**=अवाञ्छनीय वासनाओं को काट गिराता हूँ। जैसे खेत में से अवाञ्छनीय घास-फूस को उखाड़ देते हैं, इसी प्रकार हृदय-क्षेत्र में से वासनाओं को उखाड़ने के लिए इन अश्विनीदेवों (प्राणापान) की आराधना करता हूँ। २. **इव**=जैसे **वातः**=वायु **अभ्रिया**=मेघस्थ जलों को प्रेरित करता है, उसी प्रकार मैं प्राणापान के द्वारा **स्तोमान्**=स्तोमों को **इयर्मि**-प्रेरित करता हूँ। प्राणसाधना के द्वारा मुझमें स्तुति का भाव जागरित होता है। ३. ये प्राणापान वे हैं **यौ**=जो **सेनाजुवा**=काम-क्रोधादि शत्रुसैन्य को दूर प्रेरित करनेवाले **रथेन**=शरीर-रथ से **अर्भगाय**=(अर्भः सन् गच्छति) (विनीत) छोटा होकर चलनेवाले के लिए, अपने को बड़ा न माननेवाले के लिए **विमदाय**=मदशून्य पुरुष के लिए **जायाम्**=विकास की कारणभूत वेदवाणीरूप पत्नी को **न्यूहतुः**=निश्चय से प्राप्त कराते हैं। 'परि मे गामनेषत'—इस मन्त्र में इनके वेदवाणी से परिणय का उल्लेख है। यह वेदवाणी इन्हें धर्म-मार्ग से विचलित होने से इसी प्रकार बचाती है, जैसे कि पत्नी पति को।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वासनाएँ उच्छिन्न हो जाती हैं, (ख) स्तुति की भावना जागरित होती है, (ग) वेदवाणी प्राप्त होती है, जो हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यम का प्रधान संग्राम

वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना।
तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय॥ २॥

१. हे प्राणापानो! आप **वीळुपत्मभिः**=दृढ़ गतिवाले **वा**=तथा **आशुहेमभिः**=शीघ्र गतिवाले **वा देवानां जूतिभिः**=और देवों की प्रेरणाओंवाले अश्वों से **शाशदाना**=(शद् शातने) काम-क्रोधादि शत्रुओं का शातन=संहार करनेवाले हो। प्राणापानों की साधना से कर्मेन्द्रियरूप अश्व दृढ़ व शीघ्र गतिवाले होते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व देवों की प्रेरणावाले होते हैं। कर्मेन्द्रियाँ क्रियाशील व ज्ञानेन्द्रियाँ दिव्य प्रेरणावाली होती हैं तो वासनाओं का संहार हो ही जाता है। २. हे **नासत्या**=प्राणापानो! **तत्**=तब **रासभः**=(रेभः) स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाला यह स्तोता **यमस्य प्रधने आजा**=संयम के प्रकृष्ट धन की प्राप्ति के कारणभूत इस संग्राम में **सहस्रं जिगाय**=अनेक वासनाओं को जीतनेवाला होता है। प्राणसाधना के साथ प्रभुस्तवन होने पर मनुष्य वासनाओं पर विजय पाता ही है। यह वासनाओं के साथ होनेवाला संग्राम यहाँ 'यम'—संयम का संग्राम कहा गया है। यह संयम-संग्राम ही प्रकृष्ट धन प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) कर्मेन्द्रियाँ दृढ़ व शीघ्र गतिवाली होती हैं, (ख) ज्ञानेन्द्रियाँ दिव्य प्रेरणावाली बनती हैं, (ग) स्तवन की वृत्ति वासनारूप शत्रुओं का पराजय करती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तुग्र द्वारा भुज्यु का त्याग

तुग्रो॑ ह भु॒ज्युम॑श्विनोदमे॒घे र॒यिं न कश्चि॑न्ममृ॒वाँ अवा॑हाः।
तमू॑हथुर्नौ॒भिरा॑त्म॒न्वती॑भिरन्तरिक्ष॒प्रुद्भि॒रपो॑दकाभिः ॥ ३ ॥

१. **न**=जैसे **कश्चित्**-कोई **ममृवान्**-मरण-संकट में पड़ा हुआ मनुष्य **रयिम्**=धन को **अव अहाः**=सुदूर त्याग देता है, उसी प्रकार **ह**-निश्चय से हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तुग्रः**=वासनाओं से अपने को हिंसित होता हुआ देखनेवाला पुरुष **उदमेघे**-इस विषय जल के वर्षणवाले संसार-समुद्र में **भुज्युम्**=भोगवृत्ति को अब अहाः=परित्यक्त कर देता है। धन प्रिय होता है, परन्तु मृत्यु सामने होने पर उसे छोड़ा ही जाता है। इसी प्रकार संसार के भोग बड़े प्रिय हैं, परन्तु इनसे होनेवाले नाश के दिखने पर इन्हें छोड़ना ही होता है, अन्यथा ये भोग इस संसार-समुद्र में हमें डुबा ही देते हैं। २. **तम्**-उस भुज्यु को—भोग को प्राणापान **नौभिः**=शरीररूपी नाव से **ऊहथुः**=सुरक्षितरूप में धारण करते हैं। कैसी शरीररूप नाव से? (क) **आत्मन्वतीभिः**=प्रशस्त मनवाली। इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करके भोगों का ग्रहण होने पर वह संसार-समुद्र में डुबोनेवाला नहीं रहता, (ख) **अन्तरिक्षप्रुद्भिः**=अन्तरिक्ष (मध्यमार्ग, अन्तरा क्षि) में चलनेवाली नावों से। अति को छोड़कर मध्यमार्ग में चलने के द्वारा मनुष्य इन भोगों का शिकार होने से बच जाता है, (ग) **अपोदकाभिः**-जिनमें पानी प्रविष्ट नहीं हो सकता—ऐसी नौका से। जैसे वाटर-टाइट (water-tight) नाव में नदी का जल प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार उस नाव में से नाव का जल टपक भी नहीं सकता। इसी प्रकार इस शरीररूपी नाव में रेतःकणरूपी जल सुरक्षित रहता है, वह इससे निकलता नहीं। एवं, प्राणापान शरीररूप नाव को प्रशस्त मनवाला, मध्यमार्ग में चलनेवाला तथा सुरक्षित वीर्य-जलवाला बनाते हैं। ऐसी नाव से वे उचित भोगों को धारण करते हुए हमें हिंसित नहीं होने देते।

भावार्थ—प्राणसाधना से भोगवृत्ति हमारा नाश करनेवाली नहीं होती।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

समुद्रस्य धन्वन् आर्द्रस्य पारे

ति॒स्रः क्षप॒स्त्रिरहा॑ति॒व्रज॑द्भि॒र्नास॑त्या भु॒ज्युमू॑हथुः पत॒ङ्गैः।
स॒मु॒द्रस्य॒ धन्व॑न्ना॒र्द्रस्य॑ पा॒रे त्रि॒भी रथैः॑ श॒तप॑द्भिः॒ षळ॑श्वैः॥ ४ ॥

१. हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **तिस्रः क्षपः**=तीन रात्रियों व **त्रिः अहा**=तीन दिन में, अर्थात् जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायं में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में **भुज्युम्**=भोगवृत्ति को—भोगवृत्तिवाले पुरुष को **अतिव्रजद्भिः**=अतिशयेन चञ्चलता से इधर-उधर जानेवाले इन **पतङ्गैः**=इन्द्रियरूप अश्वों से **पारे ऊहथुः**=पार प्राप्त कराते हो। किसके पार? बाल्यकाल में **समुद्रस्य पारे**=ज्ञानसमुद्र के पार, यौवन में **धन्वन्** पारे-सुख-दुःख से परिपूर्ण होने के कारण शुष्क रेतीली भूमि के तुल्य इस गृहस्थ के कर्मों के पार तथा वार्धक्य में **आर्द्रस्य** पारे=प्रेम से आर्द्र हृदय में होनेवाली उपासना के पार। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति बाल्य में ज्ञान-प्राप्ति में तत्पर रहता है, इसका यौवन कर्मप्रधान होता है और वार्धक्य उपासनामय। २. प्राणापान—'ज्ञान, कर्म व उपासना' में साधक को पारंगत करते हैं। किनके द्वारा? **त्रिभिः रथैः**=तीन रथों के द्वारा—स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप तीन रथों के द्वारा। प्राणसाधक का स्थूलशरीर कर्मप्रधान है तो सूक्ष्मशरीर ज्ञानप्रधान और कारणशरीर उपासनाप्रधान। ये तीनों ही शरीर **शतपद्भिः**=सौ

वर्षों तक चलनेवाले हैं; **षट् अश्वैः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनरूप छठे अश्ववाले हैं। इनके द्वारा प्राणापान हमें ज्ञान, कर्म व उपासना में पारंगत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान (की साधना) के द्वारा हम भोगवृत्ति से ऊपर उठकर 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

समुद्र के पार—'घर में'

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥ ५॥

१. यह शरीर इस संसार-समुद्र को तैरने के लिए एक नाव के समान है। यह सौ वर्ष तक चलनेवाला होने के कारण यहाँ 'शतारित्रा नाव' के रूप में कहा गया है। इसपर आरूढ़ 'भुज्यु'—भोगप्रवण मनुष्य इस संसार-समुद्र में बहता जाता है। प्राणापान (साधना ही) इसे इस समुद्र में डूबने से बचाते हैं और उसे फिर अपने घर 'ब्रह्मलोक' में पहुँचाते हैं। इस संसार में प्राणापान ही हमारा आश्रय होते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **तत्**=वह **अवीरयेथाम्**=बड़ा वीरतापूर्ण कर्म करते हो **यत्**=कि इस **अनारम्भणे**=आरम्भण से रहित (A handle, आरम्भण जिससे पकड़ा जाए), **अनास्थाने**=स्थिति-स्थान से रहित, **अग्रभणे**=ग्रहण करने योग्य बाहु से रहित **समुद्रे**=संसार-समुद्र में डूबने से बचाकर **भुज्युम्**-इन भोगों से युक्त मनुष्य को **अस्तम्**=अपने ब्रह्मलोकरूप घर में **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो। उस भुज्यु को जो **शतारित्राम्**=सौ चप्पुओंवाली **नावम्**=इस शरीररूप नाव पर **आतस्थिवांसम्**=बैठा है। ३. इस संसार में धन व परिवार आदि कोई भी वस्तु अवलम्बन नहीं है, प्रभु ही वास्तविक सहारा है। प्रभु की ओर झुकाव प्राणापान की साधना से होता है, अतः प्राणापान ही आरम्भण हो जाते हैं। यह संसार अनस्थान है—यहाँ कहीं भी स्थिति नहीं हो पाती, मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। वह सदा अतृप्त-सा रहता है। प्रभु ही आधार हैं। प्रभु की प्राप्ति में ही आप्तकामतः है। कामों की प्राप्ति में तो सीमा आती ही नहीं। प्रभु की प्राप्ति में प्राणापान ही साधन बनते हैं। संसार की कोई भी वस्तु 'ग्रभण' ग्रहण करने योग्य नहीं है। प्रभु ही ग्राह्य हैं। उनकी प्राप्ति इन प्राणापानों की साधना से होती है। यह प्राणापान का ही महत्त्व है कि वे हमें प्रभु के समीप ले-चलते हैं और हम इस संसार-समुद्र में डूबने से बच जाते हैं। हम भुज्यु ही भुज्यु न रहकर उस प्रभु से योगवाले 'युज्यु' बनते हैं।

भावार्थ—यह संसार एक 'अनारम्भण, अनास्थान, अग्रभण' समुद्र है। इसें पार करने के लिए प्रभु ने हमें यह शरीररूप शतारित्रा नाव दी है। प्राणापान इस नाव के केवट बनते हैं और यह नाव हमें पार पहुँचानेवाली होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अघाश्व से श्वेताश्व की प्राप्ति

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥ ६॥

१. गतमन्त्र में 'भुज्यु' का वर्णन था, जो संसार के भोगों को भोगने में लगा था, अतः 'अघाश्व' पापमय इन्द्रियोंवाला हो गया था। 'इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्' इन्द्रियों के विषयों में सङ्ग से दोष प्राप्त होता ही है। प्राणापान की साधना से ये इन्द्रियदोष दूर होते हैं—

'तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्'—प्राणनिग्रह से इन्द्रियदोष नष्ट होकर इन्द्रियाँ शुद्ध व श्वेत हो जाती हैं, मानो प्राणायाम हमें 'श्वेत अश्व' देनेवाले बनते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यम्**-जिस **अघाश्वाय**-'अघाश्व' के लिए **श्वेतम् अश्वम्**=श्वेत अश्व को **ददथुः**-देते हो, यह बात **इत्**-निश्चय से **शश्वत्** सदा **स्वस्ति** कल्याण के लिए होती है। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं और इन्द्रियों की शुद्धि से कल्याण होता ही है। ३. हे प्राणापानो! **वाम्** आपका **तत् दात्रम्**=वह दान **महि कीर्तेन्यम्**-अत्यन्त कीर्तनीय **भूत्** होता है। प्राणापान इन्द्रियों की शुद्धि के द्वारा ही शरीर को स्वस्थ बनाते हैं और इस शुद्धि से ही बुद्धि भी अत्यन्त तीव्र बनती है। एवं, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं। ४. यह शुद्धेन्द्रियरूप अश्व **पैद्वः**-पेदु (गति) सम्बन्धी होता है, अर्थात् सतत गमनशील (पद गतौ) होता है, **वाजी**-बलवान् होता है। गमनशील है, इसीलिए बलवान् है। क्रिया में ही शक्ति है। यह अश्व **सदमित्**-सदा ही **हव्यः**-प्रार्थनीय है, पुकारे जाने योग्य है और **अर्यः**-शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाला है, अर्थात् अपने पर होनेवाले वासनाओं के आक्रमण से यह अपने को सुरक्षित रखता है—वासनारूप शत्रुओं को दूर भगाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ शुद्ध होंगी। अघाश्व से हम श्वेताश्व बन जाएँगे। ये इन्द्रियाँ गतिशील, शक्तिशाली व वासनाओं को सुदूर प्रेरित करनेवाली होंगी।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुरा=ऐश्वर्य सेचन

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम्।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः॥ ७॥

१. हे **नरा** (नृ नये) उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **युवम्**-आप **स्तुवते**=स्तवन करनेवाले के लिए **पज्रियाय**-(पद्-पज्, द को ज—दया०) गतिशील पुरुष के लिए (पज्रियाः-अङ्गिरसः—अगि गतौ—सा०) **कक्षीवते**=(प्रशस्तशासनयुक्ताय—द० कश=गति-शासनयोः) अपनी इन्द्रियों पर उत्तम शासन करनेवाले पुरुष के लिए **पुरन्धिम्**-पालक बुद्धि को **अरदतम्**=उत्तम मार्ग का प्रतिपादन करनेवाली बनाते हो (सन्मार्गादिकं विज्ञापयताम्—द०)। प्राणसाधना से वह शुद्ध बुद्धि प्राप्त होती है जो जीवन में सन्मार्ग का प्रदर्शन करनेवाली होती है। २. हे प्राणापानो! आप **वृष्णः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**-कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के **कारोतरात्**=(कारान् उत्तरति येन—द०) सब व्यवहारों को निश्चय से पूर्ण करने के साधनभूत **शफात्**=(शफ=root of a tree) शरीर-वृक्ष के मूलभूत-वीर्य से **शतम्**-सौ वर्ष तक **कुम्भान्**=इन शरीरघटों को **सुरायाः**=(सुर ऐश्वर्ये) ऐश्वर्य से **असिञ्चतम्**-सिक्त करते हो। हमारा यह शरीर जिन पञ्चकोशों से बना है, वे ही यहाँ कुम्भ हैं। उन पञ्चकोशों को ये प्राणापान ऐश्वर्य से परिपूर्ण करते हैं। इन सब ऐश्वर्यों का बीज वीर्य है। इस वीर्य को ही यहाँ शरीर वृक्ष का मूल होने से 'शफ' शब्द से कहा गया है। इस वीर्य के सुरक्षित होने पर हमारे सब व्यवहार सुचारुरूपेण सम्पन्न होते हैं, अतः यह 'कारोतर' है। इसकी सुरक्षा से हमारे शरीर के सब कोश अपने-अपने ऐश्वर्य से परिपूर्ण बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणापान उस मनुष्य को उत्तम बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो स्तुतिशील, गतिमय तथा जितेन्द्रिय होता है। प्राणापान वीर्यरक्षा के द्वारा शरीर के सब कोशों को ऐश्वर्य से परिपूर्ण रखते हैं।

सूचना—यहाँ सुरा का भाव शराब नहीं है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अन्नयुक्त रस की उत्पत्ति

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति॥ ८॥

१. शरीर में जो कार्य प्राण करता है वही कार्य बाह्य जगत् में वायु के द्वारा होता है। वायु ही प्राण का रूप धारण करके शरीर में निवास करता है। यह वायु न चले तो ग्रीष्म में दिन की गर्मी सब ओषधि व वनस्पतियों को भून ही डाले, अतः कहते हैं कि हे **अश्विना**=वायुदेव! तुम **हिमेन**=हिम के द्वारा, शीतलता के द्वारा **घ्रंसम् अग्निम्**=दिन के सन्ताप को **अवारयेथाम्**=दूर करते हो और **अस्मै**=हमारे लिए **पितुमतीम्**=अन्नवाले **ऊर्जम्**=रस को **अधत्तम्**=धारण करते हो। उस भून डालनेवाली सन्तापक अग्नि के न होने पर अन्न ठीक उत्पन्न होते हैं और पशुओं में दूध के रूप में रहनेवाले रस की कमी नहीं होती। अत्यधिक सन्तापक अग्नि के होने पर ओषधियाँ भी भुन जातीं, पशु भी दूध से सूख जाते। २. **ऋबीसे**= (अपगततेजस्के) अपगत तेजवाली इस पृथिवी में **अवनीतम्**=ओषधि-वनस्पति आदि के परिपाक के लिए अन्दर ले-जाई गई **अत्रिम्**=ओषधि-वनस्पति आदि के भक्षण करनेवाले अग्नि को **सर्वगणम्**=व्रीहि आदि ओषधिगण को **उत् निन्यथुः**=ओषधियों के रूप से ऊपर लाते हो ताकि **स्वस्ति**=सब प्राणियों का कल्याण हो। यदि पृथिवी में उचित सन्ताप न हो तो बीज अंकुरित ही न हो। पार्थिवाग्नि से परिपक्व व उदक से क्लिन्न (गीली) होकर ही ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

भावार्थ—वायु सन्तापक अग्नि का निवारण करता है और भूमि में वर्तमान अग्नि को ओषधि-वनस्पति आदि रूप में ऊपर लाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

धर्ममेघ समाधि में

परावतं नासत्यानुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य॥ ९॥

१. यह शरीर एक कूप के समान है—'अवत' है, अवस्तात् ततः=नीचे विस्तृत हुआ-हुआ है। हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो! प्राणापानो! आप इस **अवतम्**=शरीर-कूप को **परानुदेथाम्**=खूब उत्कृष्ट रूप में प्रेरित करते हो। इस शरीर-कूप को आप **उच्चाबुध्नम्**=उत्कृष्ट मूलवाला व **जिह्मबारम्**=टेढ़े द्वारवाला **चक्रथुः**=बनाते हो। सिर का उपरला भाग ही इसकी पैंदी-सी है और मुख ही इसका टेढ़ा द्वार है और गर्दन पर यह उलटा करके रखा हुआ है। २. प्राणसाधना होने पर जब प्राणों का संयम इस सिर में स्थित सहस्रारचक्र में होता है तो इस **तृष्यते**=(तृष्यतः) धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्दवृष्टि के जल के लिए प्यासे **गोतमस्य**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के **पायनाय**=पीने के लिए **आपः न**=जल के समान **सहस्राय राये**=आनन्दयुक्त ऐश्वर्य के लिए अथवा अनन्त ऐश्वर्य के लिए **क्षरन्**=आनन्दवृष्टि के जल टपकते हैं। धर्ममेघ समाधि में यह साधक एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। ३. अश्विनीदेव ही गर्भ में शरीर का निर्माण करते हैं। इन्होंने ही इस शरीर में मस्तिष्क को गर्दन पर इस रूप में रखा है कि पैंदी ऊपर है और मुख नीचे एवं मुख एक टेढ़े द्वार के रूप में है। इस मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में प्राणसंयम होने पर एक वृष्टि-सी होती है जो अद्भुत शान्ति देनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणापान एक अद्भुत आनन्द की वृष्टि करके प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष को प्रीणित करते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जरा का दूरीकरण व दीप्तिमयता

जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम्॥ १०॥

१. हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो! प्राणापानो! आप **जुजुरुषः**=जीर्ण होते हुए पुरुष से **उत**=और **वव्रिम्**=सम्पूर्ण शरीर को आवृत करके वर्तमान जरा को **प्रामुञ्चतम्**=इस प्रकार पृथक् करते हो **इव**=जैसेकि **च्यवानात्**=युद्ध से भागते हुए पुरुष से **द्रापिम्**=कवच को। जरा कवच-सा बना हुआ था, इस जरा को आप पृथक् कर देते हो, अर्थात् जीर्णाङ्ग पुरुष को आप फिर से युवा बना देते हो। २. उस वृद्ध की **आयुः**=आयु को जो **जहितस्य**=सब बन्धु-बान्धवों से परित्यक्त-सा हुआ-हुआ है **प्रातिरतम्**=आप बढ़ाते हो और हे **दस्रा**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप इस जहित को फिर से **आत् इत्**=शीघ्र ही **कनीनाम्**=दीप्तियों का **पतिम् अकृणुतम्**=पति बना देते हो। इसका वार्धक्य दूर होता है, जीवन दीर्घ बनता है और यह दीप्तिमय हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीर्णता के चिह्न दूर हो जाते हैं, झुर्रियाँ हट जाती हैं, जीवन दीर्घ होता है और त्वचा फिर से दीप्तिमय हो जाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अपगूढ़ निधि का दर्शन

तद्वां नरा शंस्यं राध्यं चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम्।
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्हमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय॥ ११॥

१. हे **नराः**=उत्कर्ष व आरोग्य के मार्ग पर ले-चलनेवाले **नासत्या**=जिनसे असत्य का नाश हो जाता है वे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह कार्य **शंस्यम्**=प्रशंसा के योग्य **राध्यम्**=आराधना के योग्य **च**=और **अभिष्टिमत्**=प्रार्थनावाला, **वरूथम्**=वरणीय—चाहने योग्य हुआ है **यत्**=कि **विद्वांसा**=ज्ञानयुक्त आपने **वन्दनाय**=स्तवन करनेवाले के लिए **दर्शतात्**=इस दर्शनीय शरीरकूप से **अपगूळं निधिम् इव**-छिपाकर रखे हुए एक कोश के समान उस आत्मा को **उदूपथुः**=(उदहार्ष्टम्) ऊपर प्रकट कर दिया। आत्मा का हृदय में निवास है। हृदयस्थित प्रभु कूप में छिपाकर रखे गये कोश के समान हैं। यहाँ शरीर ही कुँआ है। इसमें हृदयदेश में प्रभु गुप्तरूप से निवास कर रहे हैं। प्राणसाधना करनेवाला वन्दन तीव्र बुद्धि बनकर इस आत्मतत्त्व का दर्शन करता है। प्राणापान इस प्रभु को वन्दन के लिए प्रकट कर देते हैं। प्राणापान का यह कार्य सर्वमहत्त्वपूर्ण कार्य है। इससे अधिक प्रशंसनीय व वरणीय और कार्य हो ही क्या सकता है? ३. यह शरीर-कूप 'दर्शत' है=देखने योग्य है। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना अत्यन्त सुन्दर व रचयिता की महिमा को प्रकट करनेवाली है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें यहीं इस दर्शनीय रचनावाले शरीर में प्रभु का दर्शन होता है। प्राणसाधना का सर्वमहान् लाभ यही है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दध्यङ् द्वारा मधुविद्या का उपदेश

तद्वां नरा सनये दंसं उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच॥ १२॥

१. हे **नरा**=आरोग्य के प्रणेता अश्विनीदेवो! **सनये**=प्रभु-प्राप्ति के लिए किये जानेवाले **वाम्**=आपके **तत्**=उस **उग्रम्**=तेजस्वी व उत्कृष्ट **दंसः**=कर्म को **आविष्कृणोमि**=मैं उसी प्रकार प्रकट करता हूँ **न**=जैसे **तन्यतुः**=मेघगर्जना **वृष्टिम्**=वृष्टि को प्रकट करती है। २. अश्विनीदेवों का वह उग्र कर्म यह है **यत्**=कि **दध्यङ्**=(ध्यानं प्रत्यक्तः) एक ध्यानशील पुरुष **आथर्वणः**=अथर्वा का पुत्र होता हुआ—'**अ+थर्व्**=चरति' स्थिर वृत्तिवाला होता हुआ अथर्व 'अथ अर्वाङ्'=आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाला होता हुआ **ह**=निश्चय से **वाम्**=आप दोनों के, अर्थात् आपसे प्राप्त कराये हुए **अश्वस्य शीर्ष्णा**=ज्ञान में व्याप्त होनेवाले मस्तिष्क से **ईम्**=इस **मधु**=मधुविद्या को—ब्रह्मविद्या को—सब विद्याओं की सारभूत अध्यात्मविद्या को **यत्**=जब **प्र उवाच**=प्रकर्षेण—प्रतिपादित करता है। ३. प्राणसाधना से वह मस्तिष्क प्राप्त होता है जो सब विद्याओं का व्यापन करता हुआ—इन विद्याओं की चरम सीमारूप मधुविद्या व ब्रह्मविद्या को प्राप्त करता है और दूसरों के लिए इसका प्रवचन करनेवाला बनता है। प्राणसाधना ही वस्तुतः हमें 'दध्यङ् आथर्वण' बनाती है। चित्तवृत्ति का निरोध करके ही तो हम दध्यङ् बनेंगे। चित्तवृत्तिनिरोध का एकमात्र साधन प्राणायाम है। इससे हम अन्तर्दृष्टि बनते हैं और अन्तःस्थित प्रभु को देखते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें वह मस्तिष्क प्राप्त कराती है जो ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वध्रिमती को हिरण्यहस्त की प्राप्ति

अजोहवीन्नासत्या करा वां महे यामन्पुरुभुजा पुरन्धिः।
श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्॥ १३॥

१. हे **करा**=आरोग्य देनेवाले **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले **नासत्या**=जिनके कारण असत्य नहीं रहता, ऐसे अश्विनीदेवो! **पुरन्धिः**=पालक बुद्धिवाली यह **वध्रिमती**=इन्द्रियाश्वों को बाँधने के लिए उत्तम रज्जुवाली, अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाली वध्रिमती **वाम्**=आप दोनों को **महे यामन्**=इस महत्त्वपूर्ण जीवन-यात्रा में **अजोहवीत्**=पुकारती है। आपको ही तो उसके जीवन को सुन्दर बनाना है और आपकी कृपा से ही यह महत्त्वपूर्ण जीवन-यात्रा सफल होनी है। आप ही उसे नीरोग रखोगे, उसका पालन करोगे और उसके जीवन से असत्य को दूर करोगे। २. **वध्रिमत्याः**=वध्रिमती की **तत्**=उस पुकार को आप ऐसे **श्रुतम्**=सुनते हो **इव**=जैसे **शासुः**=आचार्य की पुकार को विद्यार्थी सुनता है। आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान को सच्छिष्य जिस प्रकार ध्यान से सुनता है, उसी प्रकार वध्रिमती की पुकार को अश्विनीदेव सुनते हैं। **अश्विनौ**=हे प्राणापानो! आप उस वध्रिमती के लिए **हिरण्यहस्तम्**=हितरमणीय हाथ को **अदत्तम्**=देते हो, प्राप्त कराते हो। इसके हाथ से सदा हितकर व रमणीय कार्य होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय बनते हैं और हमारे हाथों से हितकर व रमणीय कार्य ही होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृक के आस्य से वर्तिका की मुक्ति

आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके युवं नरा नासत्यामुमुक्तम्।
उतो कविं पुरुभुजा युवं ह कृपमाणमकृणुतं विचक्षे॥ १४॥

१. वर्तिका शब्द का अभिप्राय है—'अपने कर्त्तव्य कर्मों में वर्तना'। मनुष्य जब लोभ के वशीभूत हो जाता है तब वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को विस्मृत करके धन कमाने में ही लगा रहता है। यह लोभ 'वृक' है। वे सारे कर्त्तव्य मानो इस वृक के मुख में चले जाते हैं, वृक उन्हें निगल जाता है। 'वर्तिका' हमें कर्त्तव्य का ध्यान कराती है, वृक हमें कर्त्तव्य पथ से दूर करता है। एवं यह वृक व वर्तिका का संग्राम चलता है। इस **अभीके**-संग्राम में हे **नरा** स्वस्थवृत्ति को प्राप्त करानेवाले **नासत्या** प्राणापानो! **युवम्**=आप **वृकस्य आस्नः**-इस लोभरूप वृक के मुख से **वर्तिकाम्**=कर्त्तव्यपरायणतारूप वर्तिका को **अमुमुक्तम्**-छुड़ाते हो। प्राणसाधक लोभ के वशीभूत होकर अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद नहीं करता। २. **उत**-और हे **पुरुभुजा**-खूब ही पालन करनेवाले प्राणापानो! **युवं ह** आप निश्चय से इस कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति को **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ—अत्यधिक सूक्ष्मदर्शी बुद्धिवाला व **कृपमाणम्**-(कृप् सामर्थ्ये) सामर्थ्यवाला **अकृणुतम्**-करते हो। यह बुद्धिमान् सशक्त पुरुष **विचक्षे**-अपने कर्त्तव्यों को विशेषरूप से देखने के लिए होता है। सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखने के कारण यह ठीक मार्ग पर ही चलता है।

भावार्थ—लोभ के कारण हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों में किसी प्रकार का प्रमाद न करें। बुद्धिमान् व समझदार बनकर अपने कर्त्तव्य को देखें।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

आयसी जंघा का आधान

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥ १५॥

१. जिस समय मनुष्य विवेकपूर्वक नहीं चलता उस समय संसार की मौज-मस्ती में फँस जाता है। ऐसा व्यक्ति 'खेल' है। यह खेल विषयासक्त हो चरित्रभ्रष्ट हो जाता है। **आजा**=इस संसार-संग्राम में **परितक्म्यायाम्**-अज्ञान अन्धकारवाली रात्रि में **खेलस्य** विषयों में खेलने, रमण करनेवाले पुरुष का **चरित्रम्**-चरित्र **हि**-निश्चय से **अच्छेदि**-इस प्रकार छिन्न हो जाता है **इव**=जैसे **वेः**=पक्षी का **पर्णम्**-पंख कट जाता है। पंख कट जाने से पक्षी का आकाश में उड़ना सम्भव नहीं रहता। इसी प्रकार चरित्रभ्रंश से व्यक्ति के उत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। अज्ञान, मनुष्य की रुचि को विषय-प्रवण कर देता है। इस व्यक्ति के कार्य अपने वैषयिक सुखों की वृद्धि के लिए होते हैं। २. प्राणसाधना से बुद्धि निर्मल बनती है, अतः विषयों के दोषों को देखकर यह व्यक्ति उधर से निवृत्त होता है। इसकी क्रियाएँ अब लोकहित के दृष्टिकोण से होती हैं। अब यह 'खेल' न रहकर 'विश्पला'-(पल-to move) लोकहित के लिए गतिवाला हो जाता है। इसका चरित्र बड़ा दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार हे अश्विनीदेवो! आप **विश्पलायै**-प्रजाहित के लिए गति करनेवाले इस व्यक्ति के लिए **सद्यः**=शीघ्र **आयसीं जङ्घाम्**-लोहे की टाँग को, अर्थात् दृढ़ चरित्र को **प्रत्यधत्तम्**-प्रतिदिन धारण कराते हो जिससे वह **हिते, धने**=हितकर धन के निमित्त **सर्तवे**=गति के लिए होता है। यह पुरुषार्थ से ही धन कमाता है और उस धन को लोकहित के दृष्टिकोण से विनियुक्त करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान बढ़ता है। यह ज्ञान हमें विषयों में रुचिवाले 'खेल' से लोकहित के लिए गतिवाला 'विश्पला' बना देता है।

ऋषिः—कक्षीवान् **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अन्धे को फिर से आँखें मिलना

शतं मेषान्वृक्यै चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्॥ १६॥

१. 'ऋज्राश्व' वह व्यक्ति है जिसके इन्द्रियरूप अश्व केवल 'ऋज्'=अर्जन में ही (ऋज्-to earn) प्रवृत्त हैं। यह धनार्जन में इस प्रकार उलझ गया कि अपने अन्य शतशः कर्त्तव्यों को भूल ही गया। 'मिष्' धातु यहाँ व्यवहार की सूचक है—'आँख की पलक खोलना' मानो कर्म की इकाई है। ऋज्राश्व ने सैकड़ों कामों की, लोभ की वेदि पर बलि दे दी। लोभ 'वृकी' है। इस वृकी के लिए ऋज्राश्व ने मेषों=कर्मों को नष्ट कर दिया। **शतं मेषान्**=अपने शतशः कर्त्तव्य कर्मों को **वृक्ये**=लोभरूप वृकी के लिए **चक्षदानम्**=(छद्=to kill) हिंसित करनेवाले **तम्**=उस **ऋज्राश्वम्**=कमाने में लगाई हुई इन्द्रियोंवाले ऋज्राश्व को **पिता**=उसके पिता ने **अन्धं चकार**=अन्धा कर दिया। उसे समझाते हुए यह कहा कि धन कमाने के पीछे ऐसे क्या अन्धे हो गये हो कि अपने अन्य सब कर्त्तव्यों को ही तुम भूल गये? लोभ ने तो तुम्हारी आँखों पर पर्दा ही डाल दिया। इस लोभान्ध पुरुष ने पितादि के समझाने पर जब प्राणसाधना आरम्भ की तो हे **नासत्या**=असत्य को हमारे जीवन से दूर करनेवाले **दस्रा**=हमारे दोषों का उपक्षय करनेवाले **भिषजा**=रोगों का प्रतीकार करनेवाले प्राणापानो! आप **अनर्वन्**=अहिंसा के निमित्त—हिंसा न होने देने के लिए **तस्मै**=उस ऋज्राश्व के लिए **विचक्षे**=अपने कर्त्तव्यों को ठीक रूप में देख सकने के लिए **अक्षी**=आँखों को **आधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना से इस ऋज्राश्व का दृष्टिकोण ठीक हो जाता है। अब यह धन कमाने के पीछे अन्धा हुआ नहीं फिरता। अपने कर्त्तव्यों को ठीक से निभाता हुआ ही वह धनार्जन करता है।

भावार्थ—धन कमाने में आसक्त पुरुष अन्धा-सा हो जाता है। प्राणसाधना उसके दृष्टिकोण को ठीक कर देती है, मानो उसे फिर से आँखें प्राप्त करा देती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सूर्य-दुहिता का रथारोहण

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती।
विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे॥ १७॥

१. हे अश्विनीदेवो! **वाम्**=आप दोनों के **रथम्**=रथ पर **सूर्यस्य दुहिता**=सूर्य की दुहिता 'उषा' **आ अतिष्ठत्**=आरूढ़ होती है। वह सूर्य की दुहिता जो **अर्वता**=शत्रुओं के हिंसन के द्वारा **जयन्ती**=विजय को प्राप्त करती हुई है। 'उषा' प्रातःकाल के उस प्रकाश का प्रतीक है जिसमें किसी प्रकार का सन्ताप नहीं है। जिस समय हम प्राणसाधना में चलते हैं, उस समय हमारा यह शरीर-रथ अश्विनीदेवों का रथ कहलाता है—प्राणापान का तो वस्तुतः यह रथ है ही। प्राणसाधना से बुद्धि की निर्मलता के कारण यहाँ ज्ञान की उषा का प्रादुर्भाव होता है। इस उषा का प्रादुर्भाव होने पर वासनारूप अन्धकार का विलय हो जाता है। २. यह उषा रथ पर इस प्रकार आरूढ़ होती है **इव**=जैसे कि कोई भी योद्धा **कार्ष्म**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है। इस ज्ञान की उषा के शरीर-रथ पर आरूढ़ होने पर हम लक्ष्यस्थान पर क्यों न पहुँचेंगे? इसीलिए

विश्वेदेवाः=सब देव 'उषा के शरीर-रथ पर आरोहण' का **हृद्भिः**-हृदय से **अन्वमन्यन्त**=(अनुमन्=to honour) आदर करते हैं। उनकी यह प्रबल कामना होती है कि हमारे जीवन में इस उषा का अवश्य उदय हो। इस प्रकार हे **नासत्या**-प्राणापानो! आप **उ**=निश्चय से **श्रिया**=श्री से **संसचेथे**=सम्यक् मेलवाले होते हो, ज्ञान की शोभावाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान की उषा का प्रादुर्भाव होता है। इससे यह सारा शरीर श्री-सम्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दिवोदास भरद्वाज (शिंशुमार वृषभः)

यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्भरद्वाजायाश्विना हयन्ता।
रेवदुवाह सचनो रथो वां वृषभश्च शिंशुमारश्च युक्ता॥ १८॥

१. हे **अश्विना**-प्राणापानो! **हयन्ता**=(हय् to go) रेचक व पूरक के रूप में गति करते हुए आप **यत्**=जब **दिवोदासाय**=ज्ञान के भक्त के लिए तथा **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति भरनेवाले के लिए **वर्तिः**=उसके शरीर-गृह में **अयातम्**=प्राप्त होते हो, तब **वां सचनः**=आप दोनों का सेवन करनेवाला **रथः**=यह रथ **रेवत्**=धनयुक्त होकर **उवाह**-दिवोदास व भरद्वाज को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है। जिस समय प्राणसाधना चलती है उस समय शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर यह व्यक्ति 'भरद्वाज' तो बनता ही है, बुद्धि की सूक्ष्मता से ज्ञान का प्रकाश भी बढ़ता है और यह 'दिवोदास' बनता है। इसे जहाँ इस संसार-यात्रा की पूर्ति के लिए धनार्जन की क्षमता प्राप्त होती है, वहाँ यह उस धन में न उलझा हुआ लक्ष्यस्थान पर भी अवश्य पहुँचता है। २. इस रथ में **वृषभः च**=वृषभ और **शिंशुमारः**=शिंशुमार **युक्ता**-जुते हुए हैं। सामान्य भाषा में वृषभ बैल है और 'शिंशुमार' मगरमच्छ है। इनके रथ में जुते हुए होने का भाव तो स्पष्ट उपहासास्पद है। वस्तुतः 'वृषभ' शक्ति का संकेत करता है और 'शिंशुमार' (श्यति तनूकरोति धर्मम्) धर्मनाशक पापवृत्ति को मारनेवाला है। अश्विनीदेवों के रथ में वृषभ और शिंशुमार की नियुक्ति का भाव यही है कि प्राणसाधना होने पर शरीर शक्ति-सम्पन्न (भरद्वाज) बनता है और बुद्धि की सूक्ष्मता के कारण ज्ञान की वृद्धि होकर पापों का नाशक (दिवोदास) होता है। ज्ञान ही वस्तुतः 'शिंशुमार' है, शक्ति ही 'वृषभ' है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन को इस प्रकार उन्नत करती है कि हम ज्ञान के भक्त व शक्ति को अपने में भरनेवाले भरद्वाज एवं दिवोदास होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सुक्षत्र, स्वपत्य, सुवीर्य

रयिं सुक्षत्रं स्वपत्यमायुः सुवीर्यं नासत्या वहन्ता।
आ जह्नावीं समनसोप वाजैस्त्रिरह्नो भागं दधतीमयातम्॥ १९॥

१. हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो! प्राणापानो! आप **रयिम्**=धन को **सुक्षत्रम्**-उत्तमता से क्षतों (घावों, प्रहारों) से त्राण की शक्ति को, **स्वपत्यम्**=उत्तम सन्तान को, **आयुः**=दीर्घजीवन को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **वहन्ता**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से उल्लिखित सब वस्तुओं की प्राप्ति होती है। २. हे प्राणापानो! आप **समनसा**=समान मनवाले होकर, अर्थात् मिलकर कार्य करते हुए **जह्नावीम्**=(जहाति) प्राकृतिक भोगों का त्याग करनेवाली चित्तवृत्ति को (चित्तवृत्तिवाले पुरुष को) **वाजैः**=शक्तियों के साथ **उप अयातम्**=समीपता से प्राप्त होते हो। ऐसे पुरुष को

आप सब कोशों के ऐश्वर्यों को देनेवाले हो। अन्नमयकोश का तेज, प्राणमय-कोश का वीर्य, मनोमयकोश का ओज व बल, विज्ञानमयकोश का मन्यु तथा आनन्दमयकोश का सहस्—इस त्याग-वृत्तिवाले पुरुष को प्राणसाधना से प्राप्त होता है। ३. इस जह्नावी को आप वे वाज प्राप्त कराते हो जो **अह्नः त्रिः**=दिन में तीन बार **भागं दधीतम्**=सोमयाग के प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तनसवन को धारण कर रही है। सोमयाग अध्यात्म में सोमशक्ति का रक्षण ही है। जीवन के चौबीस वर्ष तक इस वीर्य का रक्षण ही इसका प्रात:सवन है, अगले चवालीस वर्ष तक रक्षण इसका माध्यन्दिनसवन है और अगले अड़तालीस वर्ष तक इसका रक्षण ही सायन्तनसवन है। इन सवनों को करनेवाली जह्नावी को प्राणापान वाज-(शक्ति)-सम्पन्न करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'धन, बल, सुसन्तान, आयु व सुवीर्य' प्राप्त होते हैं। त्याग-वृत्तिवाला पुरुष वाज-(बल)-युक्त बन जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विभिन्दु रथ

परिविष्टं जाहुषं विश्वतः सीं सुगेभिर्नक्तमूहथू रजोभिः।
विभिन्दुना नासत्या रथेन वि पर्वताँ अजरयू अयातम्॥ २०॥

१. हे **नासत्या**=असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **विश्वतः**=चारों ओर से **परिविष्टम्**=शत्रुओं से घिरे हुए **जाहुषम्**=इस त्यागशील पुरुष को **नक्तम्**=इस अन्धकारमयी रात्रितुल्य जगती में **सुगेभिः**=सुगमता से जाने योग्य **रजोभिः**=ज्योतियों से (रजः=ज्योतिः) **सीम्**=निश्चयपूर्वक **ऊहथुः**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हो। संसार प्रलोभनों से परिपूर्ण है। इसमें मनुष्य को मार्ग नहीं दिखता और वह भटक जाता है। चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है। रात्रि-ही-रात्रि लगती है। नियमपूर्वक प्राणसाधना होने पर हमें प्रकाश दिखता है। उस प्रकाश में हम मार्ग देखकर उसपर आगे बढ़ पाते हैं और क्रमशः लक्ष्यस्थान पर पहुँचनेवाले बनते हैं। २. हे **अजरयू**=जरा को हमारे साथ युक्त न होने देनेवाले प्राणापानो! आप **विभिन्दुना**=सब विघ्नों का विदारण करनेवाले **रथेन**=इस शरीर-रथ से **पर्वतान्**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवालों को, आत्मालोचन के द्वारा अपनी न्यूनताओं को देखकर उन्हें दूर करनेवालों को **वि-अयातम्**=विशेषरूप से प्राप्त होते हो। प्राणसाधक 'जीर्ण' न होकर वृद्ध होता है। यह इस प्राणसाधना के द्वारा अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। प्राणसाधना से शरीर नीरोग व दृढ़ बनकर उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अन्धकार दूर होकर प्रकाश हो जाता है। जीर्णता दूर होकर वृद्धता प्राप्त होती है। शरीररूप रथ सब विघ्नों को दूर करता हुआ आगे बढ़ता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुस्मरणयुक्त प्राणायाम

एकस्या वस्तोरावतं रणाय वशमश्विना सनये सहस्रा।
निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता पृथुश्रवसो वृषणावरातीः॥ २१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वशम्**=आपकी साधना के द्वारा इन्द्रियों को वश में करनेवाले को **एकस्याः वस्तोः**=एक-एक दिन **रणाय**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से संग्राम के लिए **आवतम्**=रक्षित करते हो। काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले युद्ध में इस 'वश' के ये प्राणापान ही मुख्य अस्त्र बनते हैं। इनके द्वारा ही यह इन्हें पराजित कर पाता है। २. हे प्राणापानो!

आप ही इस 'वश' के **सहस्रा सनये**-सहस्र संख्याक धनों की प्राप्ति के लिए होते हो। काम क्रोधादि का विजय करके यह उत्कृष्ट धनों का विजेता बनता है। ३. हे **वृषणौ** धनों व सुखों की वर्षा करनेवाले प्राणापानो! आप **इन्द्रवन्ता**-प्रभुवाले होकर, अर्थात् आपकी साधना के साथ प्रभुस्मरण के चलने पर **पृथुश्रवसः**-विस्तृत ज्ञानवाले इस पुरुष के **दुच्छुना**-(दुःखकर्तृन्—सा०) दुःख के कारणभूत **अरातीः**-शत्रुओं को (काम, क्रोध, लोभ, मोह व मत्सररूप शत्रुओं को) **निरहतम्**=निश्चय से नष्ट करते हो। जब प्राणायाम के साथ प्रभुनाम का जप चलता है तब कामादि सब शत्रुओं का नाश हो जाता है। इन शत्रुओं के नाश से हमारा ज्ञान विस्तृत होता है, हम 'पृथुश्रवस' बनते हैं। कामादि शत्रु ही हमारे सब दुःखों का कारण थे। इनके नष्ट होने पर दुःखों का भी अन्त हो जाता है। हम शतशः ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से युक्त प्राणायाम हमें विजयी बनाता है, ऐश्वर्य का लाभ कराता है और दुःख के कारणभूत शत्रुओं का नाश करता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जल की ऊर्ध्वगति व गौ का आप्यायन

शरस्य चिदार्चत्कस्यावतादा नीचादुच्चा चक्रथुः पातवे वाः।
शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम्॥ २२॥

१. शरीर में मूलाधारचक्र के समीप ही वीर्यकोश है। यह शरीर में नीचे होनेवाला एक कुँआ ही है। प्राणायाम के द्वारा इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है और इस वीर्य का शरीर में पान होता है। हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **शरस्य**-(शृ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले **आर्चत्कस्य**-प्रभु का अर्चन करनेवाले के **वाः**-वीर्यरूप जलों को **चित्** निश्चय से **पातवे**-पीने के लिए, शरीर के अन्दर ही पान करने के लिए (Imbibe) **नीचात् अवतात्**=नीचे वर्तमान कूपतुल्य वीर्यकोश से **उच्चा आ चक्रथुः**-ऊपर की ओर करते हो। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। २. इस प्रकार वीर्य की ऊर्ध्वगति के द्वारा इस **शयवे**=हृदयदेश में ही निवास करनेवाले (शी-Tranquility) शान्त स्वभाववाले पुरुष के लिए **जसुरये**-वासनाओं को अपने से दूर फेंकनेवाले के लिए **शचीभिः**=प्रज्ञाओं के द्वारा **चित्**-निश्चय से **स्तर्यं गाम्**=निवृत्त-प्रसवा—वन्ध्या गौ को **पिप्यथुः**=फिर से आप्यायित कर देते हो। यह गौ फिर से दोग्ध्री बन जाती है। यहाँ गौ वेदवाणी है। बुद्धि की मन्दता के कारण हम इसके अर्थ को नहीं समझते और इस प्रकार यह वेद-वाणीरूप गौ हमारे लिए वन्ध्या बन जाती है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर हम इस वाणी को फिर से समझने लगते हैं और यह वेदरूपी गौ हमारे लिए ज्ञान-दुग्ध देने लगती है।

भावार्थ—प्राणापान के द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर बुद्धि की तीव्रता होती है और इस प्रकार ज्ञान की वाणियाँ हमारे लिए सुबोध हो जाती हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विश्व को विष्णाप्व की प्राप्ति

अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः।
पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय॥ २३॥

१. **अवस्यते**=शरीर को रोगों से रक्षित करने की कामनावाले के लिए, **स्तुवते**-हृदय में प्रभु के नाम-स्मरण द्वारा प्रभुस्तवन करनेवाले के लिए **कृष्णियाय**-सब ओर से ज्ञान को अपनी

ओर आकृष्ट करनेवाले के लिए और **ऋजूयते**=ऋजु-मार्ग से—सरल-मार्ग से गति करनेवाले के लिए, हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **शचीभिः**=प्रज्ञाओं के द्वारा **नष्टमिव पशुं न**=अदृष्ट हुए-हुए पशु की भाँति उस प्रभु को **दर्शनाय**=पुनः दर्शन के लिए करते हो, अर्थात् जैसे पशु का स्वामी नष्ट हुए-हुए पशु को प्राप्त करके आनन्दित हो उठता है, इसी प्रकार यह प्राणसाधक भी हृदयस्थ होते हुए भी अदृष्ट प्रभु को बुद्धि की तीव्रता द्वारा फिर से देखनेवाला बनता है। २. यह प्रभु का द्रष्टा व्यापक मनोवृत्तिवाला बनता है—'विश्वक' होता है—यह सम्पूर्ण विश्व के हित की ही बात सोचता है। हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप इस **विश्वकाय**=वसुधा को कुटुम्ब समझनेवाले पुरुष के लिए **विष्णाप्वं ददथुः**=(विष्णानाप्नोति, विष् व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्तियों को या व्यापक कर्मों को देते हो। इसके कर्म व्यापकता को लिये हुए होते हैं। यह केवल अपने हित को ही देखता हुआ कर्मों को नहीं करता। विश्वहित के लिए कर्म करता हुआ यह सचमुच 'विश्वक' बनता है।

भावार्थ—हम शरीर को नीरोग बनाएँ, मन को स्तुति की भावना से भरें, मस्तिष्क में ज्ञान को आकृष्ट करें। ऋजु-मार्ग से सब कार्य करें। ऐसा होने पर हम तीव्रबुद्धि होकर प्रभु का दर्शन करेंगे और व्यापक मनोवृत्तिवाले होकर 'विश्वक' बनेंगे।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अश्मन्वती नदी का उत्तरण

दश रात्रीरशिवेना नव द्यूनवनद्धं श्नथितमप्स्व१न्तः।
विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्तमुन्निन्यथुः सोममिव स्रुवेण॥ २४॥

१. जीवन को दस दशकों में बाँटा जाए तो जीवन, एक-एक दशक को एक-एक दिन मानकर, दस दिन का बन जाता है। इन दस रात्रियों व दस दिनों में दसों की दस रात्रियाँ बीत जाती हैं, नौ दिन भी बीत चुके हैं। अब केवल दसवाँ दिन शेष रह गया है। १०×९=९० वर्ष तो बीत गए, १० ही वर्ष बचे हैं। **दश रात्रीः नव द्यून्**=दस रातों और नौ दिनों में **अशिवेन**=घर बनाने, कार खरीदने व पुत्र-पुत्रियों के सम्बन्ध स्थापित करने आदि अशिवेन=मोक्ष के असाधक, अतएव अमङ्गल कार्यों से ही **अवनद्धम्**=बुरी तरह जकड़े हुए **श्नथितम्**=काम-क्रोध-लोभ से हिंसित, **अप्सु अन्तः विप्रुतम्**=सांसारिक कार्यों में विविध दिशाओं में गति करते हुए, नाना चेष्टाओं को करते हुए **उदनि प्रवृक्तम्**=इस संसाररूपी अश्मन्वती नदी के जल में छोड़ दिये गये **रेभम्**=स्तोता को हे प्राणापानो! आप उसी प्रकार **उन्निन्यथुः**=जल से ऊपर प्राप्त कराते हो, **इव**=जिस प्रकार **स्रुवेण**=चमस् से **सोमम्**=सोम को। २. यज्ञ में पात्र में नीचे पड़े हुए सोम को चम्मच से ऊपर उठाते हैं, इसी प्रकार प्राणसाधना होने पर ये प्राण हमें संसार-नदी में डूबने से बचाते हैं। सामान्यतः मनुष्य जीवन-भर भौतिक प्रवृत्तियों से आन्दोलित होता हुआ उन्हीं में उलझा रहता है और इस संसार-नदी में डूब जाता है। 'मकान बनाना है, वस्तुएँ खरीदनी हैं, पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना है'—मनुष्य इन्हीं कार्यों में उलझा रहता है। सब कार्य अन्ततः मोक्ष के साधक न होने से अशिव हैं। प्राणसाधना से मनुष्य की प्रवृत्ति बदलती है। वह रेभ=प्रभु का स्तोता बनता है। अब वह संसार-नदी के जल में बहता नहीं चलता, इसे पार करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये प्राण इसे इस नदी में डूबने से बचाते हैं और इस नदी के जल से ऊपर उठा लेते हैं। जैसे चम्मच द्वारा उठाये गये सोम की आहुति यज्ञ में दी जाती है, उसी प्रकार यह भी अपने जीवन की आहुति यज्ञात्मक कर्मों में देता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम इस संसार-नदी में डूबते नहीं, अपितु अपने जीवन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुगवः, सुवीरः

प्र वां दंसांस्यश्विनाववोचमस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः।
उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्॥ २५॥

१. हे **अश्विनौ**-प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपके **दंसांसि**-पूर्वमन्त्रों में वर्णित अद्भुत कर्मों का **प्र अवोचम्**=प्रकर्षेण कथन करूँ। आपकी कृपा से मैं **अस्य**=इस शरीररूप गृह का **पतिः स्याम्** अधिपति होऊँ। शरीर पर मेरा पूर्ण प्रभुत्व हो, शरीर को बनानेवाले सब भूतों का मैं ईश्वर होऊँ, परिणामतः **सुगवः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ और **सुवीरः**=उत्तम वीर होऊँ, मेरी इन्द्रियों की शक्ति का विकास हो और मेरी वीरता में कमी न आये। शरीर पर आधिपत्य न होने से ही हम तुच्छ विषयों की ओर झुक जाते हैं और अपनी शक्तियों को क्षीण कर बैठते हैं। २. शरीर का अधिपति बनकर **उत**=और **पश्यन्**-आँखों से ठीक देखता हुआ, अर्थात् सब इन्द्रियों से उस-उस इन्द्रिय के कार्य को ठीक से करता हुआ **दीर्घम् आयुः अश्नुवन्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करता हुआ मैं अन्त में **जरिमाणम्**=वृद्धावस्था में **इत्**=ही **जगम्याम्**=इस प्रकार जाऊँ **इव**-जैसेकि कोई व्यक्ति **अस्तम्**=घर को जाता है। जिस प्रकार हम घर में प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार हम वार्धक्य में प्रवेश करते हुए भी प्रसन्नता का अनुभव करें। यह तभी हो सकता है जब हम क्षीणशक्ति न हो गये हों। प्राणसाधना हमारी शक्तियों को स्थिर रखती है और परिणामतः जीवन में उल्लास बना रहता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें उत्तम इन्द्रियोंवाला, वीर, दीर्घजीवी व सशक्त वार्धक्यवाला बनाती है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्राणसाधना द्वारा वासनाओं के उच्छेद से हुआ है (१)। समाप्ति पर भी यही कहा है कि हमारी इन्द्रियाँ स्वस्थ व सशक्त बनी रहती हैं, हमारा वार्धक्य भी जीर्ण शक्तिवाला नहीं हो जाता (२५)। अग्रिम सूक्त में भी कक्षीवान् प्राणसाधना द्वारा सोम-(वीर्य) पान का प्रयत्न करता है—

[११७] सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

इष और वाज

मध्वः सोमस्याश्विना मदाय प्रत्नो होता विवासते वाम्।
बर्हिष्मती रातिर्विश्रिता गीरिषा यातं नासत्योप वाजैः॥ १॥

१. **अश्विना**=हे प्राणापानो! **मध्वः सोमस्य**=माधुर्ययुक्त सोम-सम्बन्धी **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिए, शरीर में वीर्य के सुरक्षित रहने से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द-लाभ के लिए **वाम्**-आपका यह **प्रत्नः**=पुराना **होता**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला **विवासते**-आपकी परिचर्या करता है। सोम शरीर में सुरक्षित होकर स्वभाव के माधुर्य को उत्पन्न करता है, इसीलिए सोम को यहाँ मधु कहा गया है। प्राणसाधना के द्वारा ही इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, इसलिए कक्षीवान् प्राणसाधना के लिए कटिबद्ध होता है, वह मानो अपने को प्राणों के प्रति अर्पित ही कर देता है। २. हे प्राणापानो! आपका **रातिः**=दान **बर्हिष्मती**=सब प्रकार से हमारी वृद्धि का कारण बनता है (बृहि वृद्धौ)। प्राणसाधना से हमें जो कुछ प्राप्त होता

है, वह सब हमारी उन्नति का साधन होता है। इस साधना से शरीर स्वस्थ व सबल बनता है, मन व इन्द्रियाँ पवित्र व निर्दोष होती हैं, बुद्धि तीव्र होती है और **गीः**=ज्ञान की वाणी **विश्रिता**=विशेषरूप से हमारा आश्रय करती है। सूक्ष्म बुद्धि उन ज्ञान की वाणियों को अच्छी प्रकार ग्रहण करनेवाली होती है। ३. हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **इषा**=प्रभु-प्रेरणा के साथ तथा **वाजैः**=शक्तियों के साथ **उप आयातम्**=हमें समीपता से प्राप्त होओ। प्राणसाधना हृदय के आवरण को दूर करके हमें प्रभु-प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाती है और साथ ही यह साधना हमें वह शक्ति भी देती है जिससे कि हम उस प्रेरणा के अनुसार कार्य कर सकें।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। हम तीव्र बुद्धिवाले बनकर ज्ञान की वाणियों के आधार बनते हैं, प्रभु-प्रेरणा को सुन पाते हैं और उसे कार्यान्वित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मन से भी वेगवान् रथ

यो वामश्विना मनसो जवीयान्रथः स्वश्वो विश आजिगाति।
येन गच्छथः सुकृतो दुरोणं तेन नरा वर्तिरस्मभ्यं यातम्॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आपका **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् **रथः**=रथ है, जो **सु-अश्वः**=उत्तम अश्वोंवाला है, **विशः**=सब प्रजाओं को **आजिगाति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है, **येन**=जिस रथ से आप **सुकृतः**=पुण्यकृत लोगों के **दुरोणम्**=घर को, अर्थात् स्वर्ग को **गच्छथः**=जाते हो, **तेन**=उस रथ से हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए भी **वर्तिः यातम्**=गृह पर आओ, अर्थात् हमें भी प्राप्त होओ। २. यह शरीर ही प्राणापान का रथ है। प्राणों के होने पर ही अन्य चक्षु आदि देवों का यहाँ वास होता है। प्राण गये और सब देव भी गये, इसलिए इसे प्राणापान का रथ कहा है। यह रथ अत्यन्त वेगवान् है। प्राणसाधना होने पर यह हमें शीघ्रता से उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले-चलता है। प्राणसाधना से ही इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं और यह शरीर-रथ उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होकर 'स्वश्वः' कहलाता है। यह रथ सब मनुष्यों को जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए प्राप्त होता है। प्राणसाधना हमें उत्तम कर्मों में व्यापृत करके स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी बनाती है। पुण्यशाली लोगों के लोकों को हम प्राप्त करनेवाले होते हैं। हमें यही अश्विनीदेवों का रथ प्राप्त हो, जिससे सब कार्यों को उत्तमता से करते हुए हम आगे बढ़ पाएँ।

भावार्थ—यह शरीर-रथ प्राणापान का है। यह हमें पुण्यकृत लोगों के लोक को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अशिव दस्यु की माया का निवारण

ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता॥ ३॥

१. **नरौ**=हे उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! आप **पाञ्चजन्यम्**=प्राण, अपान, व्यान, उदान व समानरूप पाँचों प्राणों का विकास करनेवाले अथवा पाञ्चजनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) के हित में प्रवृत्त **ऋषिम्**=तत्त्वद्रष्टा **अत्रिम्**='काम, क्रोध, लोभ'—

इन तीनों मे रहित अत्रि को **गणेन**-कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के गणों के साथ—इन्द्रियगण के साथ **अंहसः**-पाप से **मुञ्चथः**-मुक्त करते हो और **ऋबीसात्**-(अपगतभासः) अत्यन्त अन्धकारमय असुर्यलोक से मुक्त करते हो। पाप से मुक्त होने पर असुर्यलोक से मुक्ति तो हो ही जाती है। पाप ही नरक व असुर्यलोक का कारण है। प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं और मनुष्य तत्त्वद्रष्टा (ऋषि), लोकहित में प्रवृत्त (पाञ्चजन्य) व काम क्रोध लोभ से अतीत (अत्रि) बनता है। ऐसा बनकर यह पापों से ऊपर उठता है और ऋबीस (Abyss) में पतन से छुटकारा पाता है। २. हे प्राणापानो! आप **अशिवस्य**-सदा अकल्याण करनेवाले **दस्योः**-उत्तमवृत्तियों का उपक्षय करनेवाले वृत्र-काम की **मायाः**-ज्ञान पर आवरण डालनेवाली वासनाओं को **मिनन्त**=हिंसित करते हो। प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश होता है और इस प्रकार वासनाओं का विनाश करते हुए **वृषणा**-सुखों का वर्षण करनेवाले अथवा शक्तिशाली प्राणापान **अनुपूर्वम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान के अनुसार **चोदयन्ता**=कर्मों में प्रेरित करते हैं। प्राणसाधना से हमारी अशुभवृत्ति दूर होती है, शुभवृत्ति जागती है और इस प्रकार हम वेदानुकूल कार्य करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से अशुभवृत्तियों का नाश होता है और हम 'पाञ्चजन्य, अत्रि व ऋषि' बन पाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दुःखों का नाश

अश्वं न गूळ्हमश्विना दुरेवैर्ऋषिं नरा वृषणा रेभमप्सु।
सं तं रिणीथो विप्रुतं दंसोभिर्न वां जूर्यन्ति पूर्व्या कृतानि॥ ४॥

१. हे **अश्विना**-प्राणापानो! आप **दुरेवैः**-दुष्ट चालों से **गूढम्**-संवृत्त **अश्वं न**=अश्व के समान, अर्थात् जिस अश्व को दुष्ट चालों की आदत पड़ गई है, उस अश्व के समान **विप्रुतम्**-विरुद्ध गतियों में पड़े हुए **तम्**-उस **ऋषिं रेभम्**-अपने ज्ञानी (स्तोता) भक्त को, हे **नरा**-उन्नति पथ पर ले-चलनेवाले **वृषणा**-शक्तिशाली प्राणापानो! आप **दंसोभिः**-अपने कर्मों से **अप्सु**-व्यापक कार्यों में **संरीणीथः**-धारण करते हो (समधत्तम्—सा०)। **वाम्**-आपके ये **पूर्व्या कृतानि**-पूर्णता के सम्पादक कर्म **न जूर्यन्ति**=जीर्ण नहीं होते। २. प्राणसाधना से पूर्व एक व्यक्ति के कर्मों में कितनी भी अपूर्णता हो, प्राणसाधना होने पर, दोषों के दग्ध हो जाने से कर्मों में पवित्रता आ जाती है। प्राणापान को 'नरा' इसलिए कहा गया है कि ये उन्नति पथ पर ले-चलनेवाले हैं, 'वृषणा' तो हैं ही। शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा ये साधक को शक्ति का पुञ्ज ही बना देते हैं। साधना से पूर्व विकृत चालवाले अश्व की भाँति हमारी जो भी विकृत क्रियाएँ थीं, वे सब दूर होकर हमारा आचरण ज्ञानीभक्त के आचरण के अनुरूप हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे कर्मों की विकृति को दूर करके हमें सुन्दर कर्मोंवाला बनाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य व स्वर्ण के समान

सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे सूर्यं न दस्रा तमसि क्षियन्तम्।
शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय॥ ५॥

१. **निर्ऋतेः उपस्थे**-दुराचार की गोद में **सुषुप्वांसं न**=सोये हुए-से पुरुष को हे

अश्विना=प्राणापानो! आप **वन्दनाय**=प्रभुस्तवन के लिए **उदूपथुः**=खड़ा करते हो। प्राणसाधना से सम्पूर्ण दुराचरण को छोड़कर यह पुरुष प्रभुस्तवन आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। २. हे **दस्रा**=सब बुराइयों का क्षय करनेवाले प्राणापानो! उस पुरुष को आप ऊपर उठाते हो जो **सूर्यं न**=सूर्य के समान था, परन्तु उस सूर्य के समान जो **तमसि क्षियन्तम्**=अन्धकार में निवास कर रहा हो। आकाश में चमकते हुए सूर्य को जब बादल ढक देते हैं, तब वह सूर्य अन्धकार में रह रहा होता है। बादल हटते हैं तो वह फिर से चमक उठता है। इसी प्रकार प्राणसाधना से वासना का आवरण हटता है और मनुष्य का निर्मल चरित्र चमक उठता है। ३. आप इस व्यक्ति को उन विपरीत कर्मों से इस प्रकार ऊपर उठा देते हो **न**=जैसे कि **दर्शतं रुक्मम्**=एक दर्शनीय चमकीले स्वर्ण को जो **निखातम्**=भूमि में गड़ा हुआ होता है। इस सोने को ऊपर उठाते हैं तो यह **शुभे**=शोभा के लिए होता है। इसी प्रकार व्यसनों में गढ़े हुए इस पुरुष को प्राणापान ऊपर उठाते हैं और वह वन्दनादि शुभकर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के बिना मनुष्य अशुभाचरणों में पड़ा रहता है। प्राणसाधना से वह वन्दनादि कर्मों में प्रवृत्त होता है और सूर्य व स्वर्ण के समान चमक उठता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कुम्भों का मधु से सेचन

तद्वां नरा शंस्यं पज्रियेण कक्षीवता नासत्या परिज्मन्।
शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्॥ ६॥

१. हे **नरा**=आगे ले-चलनेवाले! **नासत्या**=असत्य से दूर हटानेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह कार्य **पज्रियेण**=शक्तिशाली (powerful), **कक्षीवता**=दृढ़निश्चयी पुरुष से **परिज्मन्**=इस संसार-यात्रा में **शंस्यम्**=प्रशंसनीय होता है कि आप **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कार्यों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के **शफात्**=शरीरवृक्ष के मूल (root of a tree) से, मूलाधारचक्र के समीप होनेवाले वीर्यकोश से **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त, जीवन-भर **कुम्भान्**=इन शरीर-कलशों को, अन्नमयादि कोशों को **मधूनां असिञ्चतम्**=मधुओं से—सोम (वीर्य) से सिक्त कर देते हो। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है और वह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाता है। २. जीवनपर्यन्त ये शरीर-कलश सोमशक्ति से भरे रहते हैं और ये यथार्थतः कोश कहलाने के योग्य होते हैं। सोम को यहाँ मधु कहा गया है। जैसे मधु सब ओषधियों का सारभूत होता है, इसी प्रकार यह सोम अन्न का सारभूत होता है। वीर्यकोश में इसका सञ्चय होता है। प्राणापान इसे ऊर्ध्वगति देकर शरीर में व्याप्त करते हैं। यही शफ (root) से, मूल से मधु का ऊपर उठना है। ३. यह सोम का ऊपर उठना **जनाय**=सब प्रकार के विकासों के लिए होता है। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर ही हमारी सब प्रकार की उन्नतियाँ होती हैं। हमारे जीवन में अश्विनीदेवों का यह कार्य तभी होता है जब हम 'पज्रिय व कक्षीवान्' बनते हैं। हमें शक्तिशाली और दृढ़निश्चयी बनकर इस प्राणसाधना के कार्य में प्रवृत्त होना है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर हमारे अन्नादि कोश शतवर्षपर्यन्त अपने-अपने ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीर्ण घोषा को पति की प्राप्ति

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय।
घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्॥ ७॥

१. हे **नरा** हमें उन्नति पथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले **कृष्णियाय**-ज्ञान को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले (कृष् to increase), **विश्वकाय** व्यापक कर्मों में प्रवेश करनेवाले (विश्वस्यानुकम्पकाय—द०) के लिए **विष्णाप्वम्**-अधिक-से-अधिक लोगों के हितसाधक व्यापक कर्म को **ददथुः**-देते हो। प्राणसाधना से हममें प्रभु स्तवन की वृत्ति जागती है, हम ज्ञान को बढ़ा पाते हैं, हममें आर्त लोगों के प्रति करुणा की भावना होती है। इस स्थिति में हमारे कर्म व्यापकता को लिये हुए होते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **घोषायै**-सदा प्रभु-स्तोत्रों के आघोषवाली, **चित्**-निश्चय से **पितृषदे**=माता-पिता व आचार्यरूप पितरों के समीप निवास करनेवाली, **दुरोणे**=(दुर्=बुराई, ओण=अपनयन) बुराई को दूर करने में ही **जूर्यन्त्या**=जीर्ण हो गई—इस घोषा के लिए **पतिम्**=उस रक्षक प्रभुरूप पति को **अदत्तम्**-प्राप्त कराते हो। जीव पत्नी बनता है, प्रभु उसके पति होते हैं, परन्तु ये होते तो तभी हैं जब हम जीवनभर कल्याणमार्ग के पथिक बनते हैं और बुराई को दूर करने में लगे रहते हैं। इसी प्रयत्न में हम जरावस्था को प्राप्त करते हैं और सदा इस कार्य में लगे रहने पर हम प्रभुरूप पति को प्राप्त करते ही हैं। प्रयत्न का स्वरूप यही है कि—(क) हम स्तोत्रों का उच्चारण करें (घोषा), (ख) पितरों के समीप रहते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ (पितृषद्)।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारे कर्म व्यापक होते हैं और हमें प्रभुरूप पति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्री-तेजस्-ज्ञान

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय।
प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**-आप **श्यावाय**=(श्यै गतौ) गतिशील पुरुष के लिए **रुशतीम्**=चमकती हुई, शोभा की कारणभूत लक्ष्मी को **अदत्तम्**=देते हो। प्राणसाधना से मनुष्य की क्रियाशीलता बढ़ती है और यह आरोचमान लक्ष्मी को प्राप्त करनेवाला बनता है। एवं प्राणसाधना अभ्युदय का हेतु बनती है। २. हे प्राणापानो! आप **क्षोणस्य**=ज्ञान के निवासस्थानभूत आचार्य के **कण्वाय**-मेधावी शिष्य के लिए **महः**=तेजस्विता को देते हो। प्राणसाधना करनेवाला विद्यार्थी जहाँ आचार्य का प्रिय शिष्य बनकर ज्ञान का संग्रह करता है, वहाँ वह वीर्य की ऊर्ध्वगति से तथा वासनाओं से दूर रहकर वीर्यरक्षण से तेजस्वी भी बनता है। ३. हे **वृषणा**=शक्ति का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**-आपका **तत्**=वह **कृतम्**=कर्म **प्रवाच्यम्**=अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हुआ **यत्**=कि आपने **नार्षदाय**=नार्षद के लिए **श्रवः**=ज्ञान को **अधि+अधत्तम्**-आधिक्येन धारण किया। 'नार्षद' का अर्थ है 'नृ+षद्+पुत्र'। 'नृ' से अभिप्राय माता-पिता व आचार्य का है, जो हमें जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले-चलते हैं। उनके समीप रहनेवाला व्यक्ति 'नार्षद' है। यह जीवन में उत्तम चरित्र और शीलवाला बनकर ज्ञानी बनता ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से क्रियाशीलता में वृद्धि होकर लक्ष्मी प्राप्त होती है, तेजस्विता व ज्ञान का लाभ होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'आशु व तरुत्र' इन्द्रियाश्व

पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्।
सहस्रसां वाजिनमप्रतीतमहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **पुरू वर्पांसि**=पालक व पूरक रूपों को **दधाना**=धारण करते हुए **पेदवे**=(पद् गतौ) गतिशील पुरुष के लिए **अश्वम्**=उस इन्द्रियरूप अश्व को **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो जोकि **आशुम्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, अर्थात् प्राणसाधना से इन्द्रियों के मल दूर होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है। ये प्राण हमें तेजस्वी बनाते हैं। हमारा रूप ओजस्विता से पूर्ण प्रतीत होता है। २. प्राणसाधना उस इन्द्रियाश्व को प्राप्त कराती है जो **सहस्रसाम्**=हमें सहस्र संख्याक धनों का प्राप्त करानेवाला है, **वाजिनम्**=शक्तिशाली है, **अप्रतीतम्**=(अ प्रति इतम्) जो शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता, **अहिहनम्**=(आहन्ति) वासनाओं को नष्ट करनेवाला है, **श्रवस्यम्**=वासना-विनाश के द्वारा ज्ञान-साधन के लिए उत्तम है और **तरुत्रम्**=सब विघ्नों को तैर जानेवाला है। इस प्रकार के इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके हम जीवन-यात्रा को क्यों न पूर्ण कर सकेंगे!

भावार्थ—प्राणसाधना गतिशील को उत्तमरूप प्राप्त कराती है और इन्द्रियाश्वों को शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला तथा विघ्नों से तैर जानेवाला बनाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना के तीन लाभ

एतानि वां श्रवस्या सुदानू ब्रह्माङ्गूषं सदनं रोदस्योः।
यद्वां पज्रासो अश्विना हवन्ते यातमिषा च विदुषे च वाजम्॥ १०॥

हे **सुदानू**=(दाप् लवने, दैप शोधने) उत्तमता से बुराइयों का खण्डन और जीवन का शोधन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों के **एतानि**=ये **श्रवस्या**=प्रशंसनीय व कीर्तनीय कर्म हैं—(क) आपकी साधना चलने पर **ब्रह्म**=प्रभु का स्तोत्र **अङ्गूषम्**= (आघोषणीयम्) घोषणा के योग्य होता है, अर्थात् प्राणायाम के द्वारा प्राणों की साधना करने पर हमारी प्रकृति-प्रवणता समाप्त होती है और हम प्रभु-प्रवण बन पाते हैं। हममें स्वभावतः प्रभु-स्तोत्रों के उच्चारण की वृत्ति जागती है और हम इन स्तोत्रों में रस अनुभव करने लगते हैं। (ख) आपकी साधना का दूसरा परिणाम यह होता है कि **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का **सदनम्**=हममें निवास होता है। द्यावा, अर्थात् मस्तिष्क और पृथिवी, अर्थात् शरीर दोनों ही उत्तम बनते हैं। मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ब्रह्मज्ञान के सूर्य तथा विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है तो शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ होता है और (प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाला बनता है। २. उल्लिखित दो बातों के अतिरिक्त **यत्**=जब **वाम्**=आप दोनों को **पज्रासः**=(पद्-पज्=) गतिशील और गतिशीलता के कारण शक्तिशाली आङ्गिरस लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं तब आप **इषा**=प्रेरणा के साथ **यातम्**=उन्हें प्राप्त होते हो, अर्थात् प्राणायाम से हृदय के शुद्ध होने पर उन्हें प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है **च**=और **विदुषे**=उस ज्ञानी पुरुष के लिए **च वाजम्**=और शक्ति को आप प्राप्त करा देते हो। प्राणापान की साधना से जहाँ प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है, वहाँ उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए शक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के तीन लाभ हैं—(क) हम प्रभुस्तवन की प्रवृत्तिवाले बनते हैं, (ख) हमारा मस्तिष्क उज्ज्वल व शरीर दृढ़ होता है, (ग) प्रभु-प्रेरणा सुन पड़ती है और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने की शक्ति भी प्राप्त होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

शक्ति, ज्ञान व यज्ञ

सूनोर्मानेनाश्विना गृणाना वाजं विप्राय भुरणा रदन्ता।
अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना सं विश्पलां नासत्यारिणीतम्॥ ११॥

१. **सूनोः**-(षू प्रेरणे) प्रेरणा देनेवाले प्रभु के **मानेन**-(मानयति) ज्ञान प्राप्त करनेवाले पुरुष से **गृणाना**-स्तुति किये जाते हुए **अश्विना**-हे प्राणापानो! आप उस **विप्राय**-ज्ञानी पुरुष के लिए **भुरणा**-भरण व पोषण करनेवाले होते हो और **वाजं रदन्ता** शक्ति को सिद्ध करते हो (रदन्ता निष्पादयन्तौ)। प्रभु के ज्ञान की प्राप्ति की ओर झुकाववाला व्यक्ति प्राणसाधना करता है। इस प्राणसाधना से जहाँ उसका ठीक से भरण पोषण होता है, वहाँ उसे शक्ति प्राप्त होती है। २. **अगस्त्ये**=अगस्त्य में **ब्रह्मणा** ज्ञान के द्वारा आप **वावृधाना**-सब शक्तियों का वर्धन करनेवाले होते हो। 'तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे' इस ब्रह्मचर्यसूक्त के मन्त्रभाग में अत्यन्त बढ़े हुए ज्ञानवाले आचार्य को समुद्र कहा गया है। अगस्त्य वह है जो इस ज्ञान-समुद्र को पीने का प्रयत्न करता है, उसके मुख से निकलते हुए ज्ञान के शब्दों को पीता चलता है। इस ज्ञान के पान से ही वस्तुतः वह अगम्=पाँच पर्वोंवाले अविद्या पर्वत को अस्यति=अपने से दूर फेंकनेवाला होता है। ३. अब शक्ति और ज्ञान प्राप्त करके हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **विश्पलाम्**=प्रजाओं के पालन की वृत्ति को **सम् अरिणीतम्**=हमारे साथ संगत करते हो। इस शक्तिशाली ज्ञानी पुरुष की प्रवृत्ति लोकसंग्रहात्मक कर्मों की ओर होती है। यज्ञात्मक कर्मों में लगा हुआ यह प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु का ज्ञानीभक्त 'सर्वभूतहिते रतः' तो होता ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) शक्ति प्राप्त होती है, (ख) ज्ञान की वृद्धि होती है, और (ग) लोकसंग्रहात्मक कर्मों की ओर प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'काव्य' द्वारा अश्विनी-स्तवन

कुह यान्ता सुष्टुतिं काव्यस्य दिवो नपाता वृषणा शयुत्रा।
हिरण्यस्येव कलशं निखातमुदूपथुर्दशमे अश्विनाहन्॥ १२॥

१. हे प्राणापानो! आप **काव्यस्य**-कवि के पुत्र, अर्थात् अत्यन्त क्रान्तदर्शी मेरे द्वारा की जानेवाली **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति व आराधना को **कुह**=किस समय (कब) **यन्ता**=प्राप्त होओगे? कब मैं क्रान्तदर्शी बनकर, समझदार बनकर आपकी आराधना में लगूँगा? २. आप **दिवः न पाता**=ज्ञान के नष्ट न होने देनेवाले हो। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान-उन्नति होती है, ज्ञान में कमी नहीं आती। **वृषणा**-आप अपने साधक को शक्तिशाली बनाते हो, **शयुत्रा**=परमात्मा में निवास करनेवाले (शयु) का आप त्राण करते हो। प्राणसाधना से वृत्ति प्रभु-प्रवण बनती है और मनुष्य रोगों तथा पापों का शिकार होने से बचा रहता है। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **हिरण्यस्य**-सोने के **निखातम्**=गाढ़े हुए **कलशम् इव**-कलश की भाँति विषयों में फँसे हुए पुरुष को **दशमे अहन्**=दस दशकोंवाले जीवन के इस दसवें दिन में **उदूपथुः**=ऊपर प्राप्त कराते हो। जैसे स्वर्णकलश जब तक गढ़ा रहता है, चमकता नहीं, ऊपर आते ही चमकने लगता है, इसी प्रकार विषयों में आसक्त पुरुष अपनी श्री को खो बैठता है। प्राणसाधना इसे विषयों से ऊपर उठाती है और पुनः शोभा सम्पन्न बनाती है। प्राणसाधना जब नियमपूर्वक चलेगी तो मनुष्य अवश्य काम-क्रोधादि को जीतकर वैषयिक वृत्ति से ऊपर उठेगा और जीवन के दसवें दशक में भी शोभा-सम्पन्न बना रहेगा। इसकी शक्तियों का ह्रास नहीं होगा और श्री इसे अन्त तक न छोड़ेगी। ४. मनुष्य का यह शरीर हिरण्यकलश के समान है। जैसे भूमि में गाढ़ दिये जाने पर हिरण्यकलश अपनी शोभा खो बैठता है, इसी प्रकार हम विषय-वासनारूपी मिट्टी में गढ़ जाते हैं और अपनी शोभा खो बैठते हैं। प्राणसाधना हमें ऊपर उठाती

है और फिर से चमक प्राप्त कराती है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति प्राणसाधना करता है। इससे उसका ज्ञान नष्ट नहीं होता, शक्ति बनी रहती है, प्रभु-प्रवणता प्राप्त होती है और विषयासक्ति से ऊपर उठकर यह ९० या ९५ वर्ष में भी श्रीसम्पन्न बना रहता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जरन् को युवा बनाना

युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः।
युवो रथं दुहिता सूर्यस्य सह श्रिया नासत्यावृणीत॥ १३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **च्यवानम्**=जिसकी शक्ति क्षरित हो गई है (च्युतिर् क्षरणे), उस **जरन्तम्**=जीर्ण हो गये व्यक्ति को **पुनः**=फिर **शचीभिः**=प्रज्ञानों व शक्तियों से **युवानं चक्रथुः**=युवा कर देते हो। प्राणसाधना से शक्तियों का रक्षण होकर मनुष्य युवा बन जाता है। २. हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **युवोः रथम्**=आप दोनों के इस शरीर-रथ को **श्रिया सह**=श्री के साथ **सूर्यस्य दुहिता**=सूर्य की दुहिता **अवृणीत**=वरती है। जब हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना में चलते हैं तो हमारा यह शरीर-रथ प्राणापान का रथ कहलाता है। यह रथ श्रीसम्पन्न बनता है और उषा इस रथ का वरण करती है, अर्थात् इसे सब प्रकार के दोषों से शून्य (उष दाहे) कर देती है।

भावार्थ—प्राणसाधना जीर्ण को युवा बनाती है। शरीर रथ को श्रीसम्पन्न बनाती है और इसके दोषों का दहन कर देती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विषय-समुद्र से ऊपर

युवं तुग्राय पूर्व्येभिरेवैः पुनर्मन्यावभवतं युवाना।
युवं भुज्युमर्णसो निः समुद्राद्विभिरूहथुर्ऋज्रेभिरश्वैः॥ १४॥

१. हे **युवाना**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **तुग्राय**=(तुज हिंसायाम्) अपने भोग-साधनों की वृद्धि के लिए औरों का हिंसन करनेवाले तुग्र के लिए **पूर्व्येभिः**=पालन व पूरण करनेवाले, शरीर को रोगों से बचानेवाले तथा मन की न्यूनताओं को दूर करके उसका पूरण करनेवाले **एवैः**=कर्मों से **पुनर्मन्यौ**=पुनः ज्ञान देनेवाले **अभवतम्**=होते हो। मनुष्य की प्रवृत्ति तनिक विषयों की ओर झुकी और उसका ज्ञान नष्ट हुआ। वह औरों की हिंसा करके भी अपने भोग-साधनों को जुटानेवाला हो जाता है। यही तुग्र है। (तुज हिंसायाम्)। प्राणसाधना से यह फिर ज्ञान प्राप्त करता है और इसकी तुग्रता नष्ट हो जाती है। २. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **भुज्युम्**=इस भोगप्रवण व्यक्ति को **अर्णसः**=विषय-जल से परिपूर्ण **समुद्रात्**=इस भवसागर से **विभिः**=इन इन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा (वि=horse) **निः ऊहथुः**=पार उतारते हो—बाहर करते हो, उन इन्द्रियाश्वों के द्वारा जो **ऋज्रेभिः**=ऋजुमार्ग से चलनेवाले हैं तथा **अश्वैः**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले हैं। प्राणापान की साधना से इन्द्रियाँ सरल व कर्मव्याप्त बनती हैं। इन्द्रियों के ऐसा बनने पर मनुष्य विषय-समुद्र में डूबने से बचा रहता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे नष्ट ज्ञान को पुनः प्राप्त कराती है। हम भोगप्रवण न रहकर सरलतापूर्वक कर्मों को करनेवाले बनकर विषय-समुद्र से ऊपर ऊठ जाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तौग्र्य की प्राणसाधना

अजोहवीदश्विना तौग्र्यो वां प्रोळ्हः समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्।
निष्टमूहथुः सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति॥ १५॥

१. गतमन्त्र में 'तुग्र' का वर्णन था। यह तुग्र भोगमार्ग में ऐसा उलझा हुआ था कि औरों की हिंसा करके भी इसे भोग-साधन जुटाने का विचार हुआ। इसने अपने पुत्र को भी इस विषय-समुद्र में धकेला। तुग्र-पुत्र का सारा वातावरण विषय-वासनामय होना स्वाभाविक ही है, परन्तु यह **समुद्रं प्रोढः**=विषय-समुद्र में प्राप्त कराया हुआ **तौग्र्यः**=तुग्र का पुत्र, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम् अजोहवीत्**=आप दोनों को पुकारता था। इस तौग्र्य ने प्राणसाधना आरम्भ की। परिणामतः यह **अव्यथिः**=विषय-वासनाओं से पीड़ित होने से बच गया और **जगन्वान्**=अपनी यात्रा में उद्दिष्ट स्थल पर जानेवाला बना। २. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **तम्**=इस तौग्र्य को **सुयुजा**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से जुते हुए **मनोजवसा**=मन के समान वेगवाले **रथेन**=इस शरीर-रथ के द्वारा **निः ऊहथुः**=विषय-समुद्र से ऊपर उठाते ही हो और इस प्रकार **स्वस्ति**=उसका कल्याण ही-कल्याण होता है। पिता के अनुरूप पुत्र के होने की सम्भावना बहुत ही है, परन्तु यहाँ तुग्र-पुत्र प्राणसाधना में चलता है और परिणामतः तुग्रत्व से दूर होकर, उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर जीवन-यात्रा को पूर्ण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से विषयासक्त पिता का पुत्र भी वातावरण के प्रभाव से पीड़ित नहीं होता और उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर उद्दिष्ट स्थल की ओर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वृक के मुख से वर्तिका की मुक्ति

अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।
वि जयुषा ययथुः सान्वद्रेर्जातं विष्वाचो अहतं विषेण॥ १६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! जब **वर्तिका**=वर्तिका जीवनचर्या (वृत्ति) **वाम्**=आप दोनों की **अजोहवीत्**=प्रार्थना व आराधना करती है **यत्**=तब आप **वृकस्य**=वृक के **अस्नः**=मुख से इस वर्तिका को **सीम्**=निश्चयपूर्वक **अमुञ्चतम्**=मुक्त करते हैं। वर्तिका का अभिप्राय अपने दैनिक कार्यों में वर्तन है—'प्रातः उठना, नित्य कर्मों में लगना, स्वास्थ्य के लिए आवश्यक कर्मों के साथ सन्ध्या व स्वाध्याय आदि करना'—ये सब प्रतिदिन के नित्य कर्म कहाते हैं। इनमें प्रवृत्त होना ही 'वर्तिका' है, परन्तु जब मनुष्य लोभाभिभूत होकर धन कमाने में उलझ जाता है तब ये सब कार्य गौण हो जाते हैं। सन्ध्या और स्वाध्याय तो समाप्त ही हो जाते हैं। इस बात को काव्यमयी भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि इसकी वर्तिका को तो वृक ने (वृक आदाने)—धनग्रहण की वृत्ति ने निगल ही लिया। प्राणसाधना होने पर वृत्ति शुद्ध बनती है, मनुष्य लोभाभिभूत नहीं रहता, उसके सन्ध्या-स्वाध्याय आदि सब कार्य ठीक से होने लगते हैं। यही वृक के मुख से वर्तिका की मुक्ति है। २. इस प्रकार हे प्राणापानो! आप **जयुषा**=इस विजयशील रथ से **अद्रेः सानु**=उन्नति-पर्वत के शिखर पर **वियथुः**=जाते हो। प्राणसाधना से लोभादि की अशुभ वृत्तियाँ नष्ट होकर हमारे जीवन में शुभ वृत्तियाँ जागती हैं और हम दिन-प्रतिदिन उन्नति करते हुए उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचनेवाले बनते हैं। ३. हे प्राणापानो! इस प्रकार आप **विश्वाचः**=इस विविध गतियुक्त पुरुष के—सब दैनिक कार्यों को ठीक से करनेवाले पुरुष

के **जातम्**=विकास को **विषेण**=विषयरूप विष से **अहतम्**=नष्ट नहीं होने देते (न हतम्=अहतम्)। लोभाक्रान्त होने पर दैनिक कार्यक्रम विलुप्त हो जाता है और मनुष्य की उन्नति रुक जाती है। प्राणसाधना मनुष्य को इन प्रलोभनों से ऊपर उठाकर, अपने कार्यक्रम को ठीक प्रकार से करनेवाले पुरुष को उन्नति-पथ पर ले-जाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम लोभ में न फँसेंगे और अपने नियमित कार्यों को ठीक प्रकार करते हुए पूर्ण विकास को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आँख से पर्दे का दूर हटना

शतं मेषान्वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे॥ १७॥

१. गतमन्त्र में जो वर्तिका था, वही यहाँ मेष है। 'निमेषोन्मेष' ये कर्म की इकाई हैं। ऋज्राश्व वह व्यक्ति है जिसके इन्द्रियरूप अश्व अब केवल 'ऋज्'=अर्जन में ही प्रवृत्त हैं। धनार्जन में फँसकर इसने अपने सब कार्य ही छोड़ दिये। इस प्रकार पुत्र की स्थिति देखकर पिता की मानस स्थिति का अशिव=अकल्याणवाला होना स्वाभाविक ही है। उस मनोवृत्ति में पुत्र को कुछ झिड़कते हुए यह कहना भी स्वाभाविक है कि 'क्यों इस प्रकार अन्धकार में चले गये हो?' प्राणसाधना से ऋज्राश्व की आँख खुल जाती है और वह अपने कार्यों को पुनः ठीक प्रकार से करने लगता है। २. **शतं मेषान्**=अपने सैकड़ों कर्तव्यों को **वृक्ये**=लोभवृत्ति के लिए **मामहानम्**=भेंट करते हुए, अर्थात् लोभ के कारण सब आवश्यक कर्तव्यों को उपेक्षित करते हुए और अतएव **अशिवेन**=(नास्ति शिवं यस्य) दुःखी **पित्रा**=पिता से **तमः प्रणीतम्**=अन्धकार में प्राप्त कराये हुए को—अर्थात् 'अन्धे हो गये हो' ऐसा कहे गये 'ऋज्राश्व' को प्राणापान पुनः दर्शनशक्ति से युक्त करते हैं। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ऋज्राश्वे**=इस ऋज्राश्व में **अक्षी**=आँखों को **आ अधत्तम्**=फिर से स्थापित करते हो और **अन्धाय**=कर्तव्य-पथ को न देखनेवाले इस ऋज्राश्व के लिए **विचक्षे**=कर्तव्य-पथ को ठीक से देख सकने के लिए **ज्योतिः**=प्रकाश **चक्रथुः**=करते हो। प्राणसाधना के परिणामस्वरूप इसकी लोभवृत्ति नष्ट हो जाती है और यह ठीक मार्ग पर चलनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य की आँखों पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हो जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शुनं भरम्

शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।
जारः कनीनइव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्॥ १८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में लोभवृत्ति ही मानो अश्विनीदेवों से कहती है कि **ऋज्राश्वः**=अर्जन-ही-अर्जन में प्रवृत्त इन्द्रियाश्वोंवाले ऋज्राश्व ने **शतमेकं च**=अपने एक सौ एक, अर्थात् सब **मेषान्**=कर्तव्यों को **चक्षदानः**=उसी प्रकार टुकड़े-टुकड़े करके मेरे लिए दे दिया है **इव**=जैसे कि **कनीनः**=यौवन के सौन्दर्य से चमकनेवाला कोई **जारः**=पारदारिक (पर-पत्नी से प्रेम करनेवाला) पर-स्त्री के लिए अपना सब धन दे डालता है। यह तो अपने सब कर्तव्यों को भूल ही गया है। २. **सा वृकीः**=वह लोभवृत्ति ही इस **अन्धाय**=अन्धे बने हुए ऋज्राश्व के लिए

शुनम्-सुख और **भरम्** शरीर के उचित पोषण को **अह्वयत्** आपसे माँगती है. **इति** इस कारण से आपसे माँगती है कि आप **अश्विना**=इसे उचित कार्यों में व्याप्त करनेवाले हो (अशू व्याप्तौ), **वृषणा**-इसपर सुखों का वर्षण करनेवाले हो अथवा इसे शक्तिशाली बनानेवाले हो और **नरा**-(नृ नये) इसे उन्नति पथ पर ले चलनेवाले हो। ३. लोभवृत्ति को भी ऋज्राश्व की दुर्दशा पर करुणा आ जाती है और वह उसकी दुर्दशा को दूर करने के लिए अश्विनीदेवों से प्रार्थना करती है।

भावार्थ—ऋज्राश्व लोभ की बलिवेदी पर सब कर्तव्यों की भेंट चढ़ा बैठता है; प्राणसाधना उसे फिर से कर्तव्य-परायण बनाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मही, मयोभू, ऊति

म॒ही वा॑मू॒तिर॑श्विना मयो॒भूरु॒त स्रा॒मं धि॑ष्ण्या॒ सं रि॑णीथः।
अथा॑ यु॒वामिद॑ह्वयत्पुर॑न्धि॒राग॑च्छतं सीं वृषणा॒ववो॑भिः॥ १९॥

१. हे **अश्विना**-प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का **ऊतिः**-रक्षण **मही**-महान् है **उत**=और **मयोभूः**-कल्याणकारी है तथा हे **धिष्ण्या**-उत्तम बुद्धि को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप **स्रामम्**=व्याधित व विश्लिष्ट अङ्गोंवाले को **संरिणीथः**=संगत अवयववाला करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य को उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है और वह संसार के पदार्थों का ठीक प्रयोग करता हुआ विकृत अवयव नहीं बनता, उसके सब अङ्गों की शक्ति ठीक बनी रहती है। २. **अथ**= अब **पुरन्धिः**=पूरक व पालक बुद्धिवाली गृहिणी **युवाम् इत्**-आपको ही **अह्वयत्**-पुकारती है। एक उत्तम गृहिणी घर में सबके लिए प्राणसाधना का नियम बनाती है, जिससे सबकी बुद्धि ठीक रहे और सब अपने कार्यों को ठीकरूप से करनेवाले हों। ३. हे **वृषणौ**-शक्तिशाली प्राणापानो! आप **सीम्**=निश्चय से **अवोभिः**-रक्षणों के साथ **आगच्छतम्**-प्राप्त होओ। प्राणसाधना से शरीर में रोगों के आने की भी आशंका न रहेगी और सब व्यक्ति दीर्घजीवी होंगे। इस प्रकार प्राणापान से किया जानेवाला रक्षण सचमुच महान् और कल्याणकारक है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर सुरक्षित रहता है, इसमें विकृति नहीं आती। यह साधना बुद्धि को भी ठीक रखती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवताः**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'वेदवाणीरूप' गौ व जाया

अधे॑नुं दस्रा स्त॒र्यं॑१ विष॑क्ता॒मपि॑न्वतं श॒यवे॑ अश्विना॒ गाम्।
यु॒वं शची॑भिर्वि॒म॒दाय॑ जा॒यां न्यू॑हथुः पुरुमि॒त्रस्य॒ योषा॑म्॥ २०॥

१. जिस समय हमारी बुद्धि मन्द होती है, उस समय हम वेदवाणी को समझ नहीं पाते। यह वेदवाणी हमारे लिए एक वन्ध्या गौ के समान हो जाती है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। हे **दस्रा**=दोषों का उपक्षय करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शयवे**-शयु के लिए—हृदय में निवास करनेवाले के लिए—आत्मनिरीक्षण करनेवाले के लिए **अधेनुम्**=(धेनुः स्यात् नवसूतिका) उस वेदवाणीरूप गौ को जो अब अ-धेनु सी हो गई है, **स्तर्यम्**-जो बाँझ (sterile) है तथा **विषक्ताम्**-अत्यन्त कृश अवयवोंवाली है, उस **गाम्**=वेदवाणीरूप गौ को **अपिन्वतम्**-पुनः आप्यायित कर देते हो। यह वेदवाणीरूप गौ प्राणसाधक के लिए पुनः ज्ञानदुग्ध

देने लगती है। २. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **शचीभिः**=ज्ञानों से **विमदाय**=मदशून्य—विनीत पुरुष के लिए **जायां न्यूहथुः**-पत्नी को प्राप्त कराते हो जोकि **पुरुमित्रस्य योषाम्**=पुरुमित्र की कुमारी है। प्रभु पुरुमित्र हैं, सबका पालन करनेवाले मित्र हैं, प्रभु को किसी से द्वेष नहीं। वेदवाणी प्रभु की पुत्री के समान है। यह विमद पुरुष को जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए पत्नी के रूप में प्राप्त होती है। पत्नी पति की पूरिका है। इसी प्रकार यह वेदवाणी विनीत पुरुष के जीवन का पूरण करती है। यह कार्य प्राणसाधना द्वारा होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वेदवाणीरूप गौ हमारे लिए बाँझ न रहकर प्रभूत ज्ञान-दुग्ध देनेवाली हो जाती है। प्रभु की पुत्रीरूप यह वेदवाणी प्राणसाधना द्वारा हमें पत्नी के रूप में प्राप्त होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्राणसाधक का अन्न 'यव'

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥ २१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वृकेण**=(लांगलेन—सा०) हल के द्वारा **यवम्**=जौ का **वपन्ता**=वपन करते हो। प्राणसाधना के अनुकूल यव का ही मुख्यरूप से प्रयोग करता है। 'यवे ह प्राण आहिता'। २. हे **दस्रा**=वासनाओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप **मानुषाय**=विचारशील पुरुष के लिए **इषम्**=प्रेरणा का **दुहन्ता**=दोहन करनेवाले होते हो। प्राणसाधना से हृदय की पवित्रता होकर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है। ३. इस प्रेरणा के अनुसार कर्म करनेवाले के लिए **दस्युम्**=दास्यव वृत्तियों को **बकुरेण**=भास्कर वज्र से **अभिधमन्ता**=आप नष्ट करते हो। प्रभु की प्रेरणा का प्रकाश ही वह वज्र बनता है, जो दास्यव वृत्तियों का नाशक होता है। ४. इस प्रकार दास्यव वृत्तियों का नाश करते हुए प्राणापान **आर्याय**=आर्यपुरुष के लिए **उरु ज्योतिः चक्रथुः**=विशाल ज्योति करनेवाले होते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता व हृदय की निर्मलता होकर प्रकाश का विस्तार होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक यवादि सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करता है, पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और दास्यव वृत्तियों का नाश करता हुआ विशाल ज्योति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**=विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अश्व्यं शिराः

आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।
स वां मधु प्र वोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्यं वाम्॥ २२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **आथर्वणाय**=(अथ अर्वाङ्=within) अन्तःनिरीक्षण करनेवाले अथवा हृदयस्थ प्रभु की ओर चलनेवाले **दधीचे**=ध्यानशील पुरुष के लिए **अश्व्यं शिरः**=(अशू व्याप्तौ) सब विषयों के व्यापन में उत्तम मस्तिष्क को **प्रत्यैरयतम्**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से ध्यानशील पुरुष को अत्यन्त तीव्र बुद्धि प्राप्त होती है। यह बुद्धि सभी विषयों का व्यापन करनेवाली होती है। **सः**=वह दध्यङ् आथर्वण **ऋतायन्**=अपने जीवन में ऋत का वर्धन करता हुआ—जीवन को बड़ा नियमित बनाता हुआ **वाम्**=आपके **मधु**=(अन्नं वै मधु—ताँ ११।१०।३) अन्न का **प्रवोचत्**=उपदेश करता है। यवादि सात्त्विक अन्न ही प्राणसाधक को

ग्रहण करने चाहिएँ, ऐसा उपदेश देता है। ३. इस मधु के उपदेश के साथ हे **दस्त्रौ**-वासना विनाशक प्राणापानो! **यत्**-जो **वाम्**=आपका, आपकी साधना से प्राप्त होनेवाला **त्वाष्ट्रम्**=संसार-निर्माता प्रभु-सम्बन्धी **अपिकक्ष्यम्**-अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान है, उसका भी उपदेश करता है।

भावार्थ—ध्यानी प्राणसाधक को सर्वविद्याओं का व्यापन करनेवाला मस्तिष्क प्राप्त होता है। वह प्राणसाधना के लिए अनुकूल अन्न का उपदेश देता हुआ प्रभु-सम्बन्धी रहस्यमय ज्ञान का भी प्रवचन करता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुमति' व 'श्रुत्य रयि'

सदा कवी सुमतिमा चके वां विश्वा धियो अश्विना प्रावतं मे।
अस्मे रयिं नासत्या बृहन्तमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथाम्॥ २३॥

१. **कवी**=क्रान्तदर्शी—तीव्र बुद्धिदाता प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपकी **सुमतिम्**-कल्याणी मति को **सदा**=सदा **आचके**=चाहता हूँ। प्राणसाधना के द्वारा मुझे कल्याणी मति प्राप्त हो, ऐसा मैं चाहता हूँ। २. हे **अश्विना**-प्राणापानो! आप **मे**-मेरी **विश्वा धियः**-सब बुद्धियों को **प्रावतम्**=सुरक्षित करो। प्राणसाधना से मेरी बुद्धि में कभी विकार न आये। ३. हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **अस्मे**-हमारे लिए **रयिम्**-उस ऐश्वर्य को **रराथाम्**=दीजिए जोकि **बृहन्तम्**-वृद्धि का कारणभूत है, **अपत्यसाचम्**=उत्तम सन्तानों से हमारा सम्बन्ध करनेवाला है और **श्रुत्यम्**=ज्ञान के लिए अनुकूल है। प्राणसाधक की सम्पत्ति उसकी उन्नति का ही कारण बनती है, यह कभी उसके ह्रास का कारण नहीं होती। इस सम्पत्ति से सन्तान विकृत आचरणवाली नहीं होती और यह सम्पत्ति हमारे ज्ञान पर पर्दा नहीं डालती।

भावार्थ—प्राणसाधना से सुमति व धी की प्राप्ति होती है। इस साधना के साथ सम्पत्ति अवनति का कारण नहीं बनती, हमारी सन्तानों को ठीक रखती है और ज्ञान के लिए उपयोगी होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'हिरण्यहस्त' पुत्र

हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरा वध्रिमत्या अदत्तम्।
त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू॥ २४॥

१. हे **रराणा**=(रमतेर्वा, रातेर्वा) शरीर को रमणीय बनानेवाले अथवा सब-कुछ देनेवाले **नरा**-हमें आगे ले चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वध्रिमत्या**=संयमी जीवनवाली गृहिणी के लिए, वध्री (रस्सी) के द्वारा जैसे पशु को बाँधा जाता है उसी प्रकार इन्द्रियाश्वों को संयम-रज्जु से बाँधनेवाली के लिए **हिरण्यहस्तम्**=हितरमणीय हाथोंवाले, अर्थात् हाथों से हितकर व रमणीय कार्यों को ही करनेवाले **पुत्रम्**=पुत्र को **अदत्तम्**=देते हो। जीवन के संयमी होने पर सन्तान सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। हे **सुदानू**=अच्छी प्रकार बुराई का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाले प्राणापानो! आप **ह**=निश्चय से **त्रिधा**-तीन प्रकार से **विकस्तम्**=असुरों से खण्डित शरीरवाले, अर्थात् काम-क्रोध-लोभ से क्रमशः इन्द्रिय, मन व बुद्धि पर आक्रमण किये गये **श्यावम्**=गतिशील पुरुष को **जीवसे**-उत्कृष्ट जीवन के लिए **उद् एरयतम्**-इन असुरों के आक्रमण से ऊपर उठाते हो। काम, क्रोध, लोभ हम पर निरन्तर आक्रमण करते हैं, प्राणसाधना से यह आक्रमण विफल हो जाता है और हम जीवन में ऊपर उठते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से संयमवाली-गृहिणी हितरमणीय कर्म करनेवाली सन्तान प्राप्त करती है। इस साधना से काम, क्रोध, लोभ का आक्रमण विफल होकर हमारा जीवन उन्नत होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ज्ञान, वीरता, यज्ञ

एतानि वामश्विना वीर्याणि प्र पूर्व्याण्यायवोऽवोचन्।
ब्रह्म कृण्वन्तो वृषणा युवभ्यां सुवीरासो विदथमा वदेम॥ २५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **एतानि**=इन—उपर्युक्त मन्त्रों में वर्णित **पूर्व्याणि**=पालन व पूरणात्मक **वीर्याणि**=वीरतायुक्त कर्मों को **आयवः**=गतिशील मनुष्य **प्र अवोचन्**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करते हैं। २. हे **वृषणा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **युवभ्याम्**=आपकी साधना के द्वारा **ब्रह्म कृण्वन्तः**=ज्ञान का सम्पादन करते हुए हम **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनकर अथवा उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **विदथम्**=ज्ञानपूर्वक स्तोत्रों का **आवदेम**=सदा उच्चारण करें। हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें अथवा (विदथ=यज्ञ) यज्ञमय जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा ज्ञान बढ़ता है, हम वीर बनते हैं और यज्ञमय जीवनवाले होते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्राणसाधना से हमें प्रभु प्रेरणा सुन पड़ती है और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए शक्ति मिलती है (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि इस साधना से हम ज्ञानी, वीर व यज्ञशील बनते हैं (२५)। 'इस साधना से हमरा शरीर-रथ बड़ा सुन्दर बनता है' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[११८] अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'श्येनपत्वी' रथः

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान्त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः॥ १॥

१. जब हम प्राणसाधना में चलते हैं तब हमारा यह शरीर प्राणापान का ही हो जाता है—तब यह अश्विनीदेवों का रथ कहलाता है। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां रथः**=आपका यह शरीररूप रथ **अर्वाङ् आयातु**=हमारे अभिमुख आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो। २. कैसा रथ? (क) **श्येनपत्वा**=शंसनीय गतिवाला, जिसके द्वारा सब कर्म प्रशंसनीय ही होते हैं, (ख) **सुमृडीकः**=प्रशंसनीय गतियों के कारण जो उत्तम सुखों को देनेवाला है, तथा (ग) **स्ववान्**=उत्तम धनैश्वर्योंवाला है। ३. हे **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! वह रथ हमें प्राप्त हो **यः**=जो **मर्त्यस्य मनसः**=मनुष्य के मन से भी **जवीयान्**=अधिक वेगवान है, **वातरंहाः**=वायु के समान वेगवाला है और **त्रिवन्धुरः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप तीन अधिष्ठानोंवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीररथ वेगवाला—शंसनीय गतिवाला व उत्तम ऐश्वर्योंवाला बनता है। इसमें इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि तीनों ही बड़े सुन्दर होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'त्रिवन्धुर' रथ

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्।
पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्विना वीरमस्मे॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **रथेन**-इस शरीररथ के द्वारा **अर्वाक् आयातम्**=(अस्मदभिमुखम्) हमारे सामने प्राप्त होओ। उस रथ से जो **त्रिवन्धुरेण**-वात-पित्त कफ—इन तीन तत्त्वों से बँधा है, **त्रिवृता**-जो मस्तिष्क के द्वारा ज्ञान में, हाथों के द्वारा कर्म में तथा हृदय के द्वारा उपासना में चलता है, **त्रिचक्रेण**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप तीन चक्रोंवाला है, **सुवृता**=जो बड़ी सुन्दरता से मार्ग पर आगे और आगे प्रवृत्त होता है। हे प्राणापानो! आप **गाः पिन्वतम्**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-दुग्ध से आप्यायित करो। **नः**-हमारे **अर्वतः**-कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **जिन्वतम्**-शक्ति से प्रीणित करो और **अस्मे**-हमारे लिए **वीरं वर्धयतम्**-वीरता का वर्धन करनेवाले होओ अथवा हमारे लिए वीर सन्तानों को प्राप्त कराओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीररूप रथ सुन्दर बने, ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ उत्तम बनें, हमारी सन्तान वीर हो।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुवृत्' रथ

प्रवद्यामना सुवृता रथेन दस्रविमं शृणुतं श्लोकमद्रेः।
किमङ्ग वां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठाहुर्विप्रासो अश्विना पुराजाः॥ ३॥

१. हे **दस्रौ**-प्राणसाधकों के मलों व दुःखों को क्षीण करनेवाले प्राणापानो! **अद्रेः**-आदर व स्तुति करनेवाले के **प्रवद्यामना**-प्रकृष्ट गमनवाले **सुवृता**-शोभन साधनों के साथ वर्तमान, उत्तम इन्द्रिय, मन व बुद्धिवाले **रथेन**=शरीर-रथ से **इमं श्लोकम्**-इस यशोगान को, स्तुति-लक्षणा वाणी को **शृणुतम्**=सुनिए। प्राणायाम करनेवाला व्यक्ति अपने मलों को दूर करके अपने शरीर-रथ को उत्कृष्ट गतिवाला बनाता है। यह कभी भी पाप-मार्ग में नहीं चलता। इसके इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप साधन भी बड़े सुन्दर हो जाते हैं, अतः उसका यह शरीर-रथ 'सुवृत्' कहलाता है। प्रभु का स्तवन करनेवाला होने से यह 'अद्रि' होता है। इस स्तवन के ही परिणामस्वरूप यह धर्ममार्ग से विचलित नहीं होता (अ+दृ) इस कारण से भी यह 'अद्रि' कहलाता है। इस अद्रि के प्रभुस्तवन को प्राणापान सुनें, अर्थात् यह अपने प्राणों को स्तवन के प्रति अर्पित करनेवाला बने, 'साम प्राणं प्रपद्ये'—इसका जीवन स्तवन के प्रति अर्पित हो। २. हे **अङ्ग**-प्रिय! **अश्विना**=प्राणापानो! **पुराजाः**=(पृ पालनपूरणयोः, अज गतिक्षेपणयोः) शरीर को दोषों से रक्षित व मन को **पूरित**=न्यूनतारहित करने के लिए गतिवाले **विप्रासः**-मेधावी लोग **वाम्**=आपको **अवर्तिं प्रति**-उस कुत्सित दारिद्र्य के प्रति—जिससे लोक-यात्रा का चलना (वर्तन) सम्भव नहीं **रहता गमिष्ठा**=अतिशयेन आक्रमण करनेवाला **आहुः**-कहते हैं। 'किम्' शब्द यहाँ कुत्सितवाची है। जैसे 'स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपम्' में। अवर्ति व दारिद्र्य कुत्सित हैं। ये सब पापों का कारण बन जाया करते हैं—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। प्राणसाधना से मनुष्य के सब साधन ठीक हो जाते हैं। उनसे प्रकृष्ट गतिवाला होता हुआ यह जहाँ प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाला बनकर अपने निःश्रेयस का साधन करता है, वहाँ उत्तम कर्मों में वर्तता हुआ यह दारिद्र्य को

दूर करके इहलौकिक अभ्युदय का भी साधन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से स्तुति की वृत्ति उत्पन्न होती है और दारिद्र्य दूर होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कैसे इन्द्रियाश्व? प्रयस् की ओर

आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु रथे युक्तास आशवः पतङ्गाः।
ये अप्तुरो दिव्यासो न गृध्रा अभि प्रयो नासत्या वहन्ति॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=सतत कर्मों में व्याप्त होनेवाले **नासत्या**=प्राणापानो! **वाम्**=आप **रथे युक्तासः**=इस शरीर-रथ में जुते हुए **श्येनासः**=शंसनीय गतिवाले **आशवः**=शीघ्रगामी **पतङ्गाः**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमें प्राप्त कराएँ। हमारी इन्द्रियों की सब चेष्टा ऐसी हों जोकि हमारे प्राणापान को बढ़ानेवाली हों। २. हे **नासत्या**=सब असत्यों को हमसे दूर करनेवाले प्राणापानो! **ये**=जो इन्द्रियाश्व **अप्तुरः**=कर्मों में त्वरा-(त्वर)-वाले हैं—कर्मों को शीघ्रता से करनेवाले हैं, अथवा कर्मों के द्वारा अशुभ का हिंसन करनेवाले हैं (तुर्व्), **दिव्यासः**=प्रकाशमय हैं, **न गृध्राः**=लोभ व लालच से रहित हैं, ऐसे ये इन्द्रियाश्व **प्रयः अभि**=प्रेयस् की ओर **वहन्ति**=ले-जाते हैं। 'अप्तुरः' होते हुए ये प्रयः=अन्न की ओर ले-चलते हैं, अन्न-(food)-प्राप्ति में हमें समर्थ करते हैं। 'दिव्यासः' दिव्य होते हुए हमें प्रयस् (delight, pleasure) आनन्द प्राप्त कराते हैं तथा 'न गृध्राः' होते हुए हमें प्रयस्=(Sacrifice) त्याग की ओर ले-जानेवाले होते हैं। यहाँ प्रयस् के तीन अर्थ हैं और उन (अन्न, आनन्द और त्याग) का क्रमशः अप्तुर, दिव्यासः व 'न गृध्राः' इन शब्दों के साथ सम्बन्ध है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियों की चेष्टाएँ प्राणापान की शक्ति को बढ़ानेवाली हों। ये इन्द्रियाश्व हमें अन्न, आनन्द व त्याग की ओर ले-चलें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रातः-जागरण (उषा का स्वागत)

आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य।
परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके॥ ५॥

१. **अत्र**=इस जीवन में हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **वां रथम्**=आपके इस रथ पर **सूर्यस्य दुहिता**=यह सूर्य की दुहिता 'उषा' जोकि **युवतिः**=सब अशुभों को दूर करने तथा शुभों को संयुक्त करनेवाली है, वह **जुष्ट्वी**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करनेवाली होकर **आतिष्ठत्**=स्थित हो। हम उषा के आगमन से पूर्व ही उठ खड़े हों। हमारा यह शरीर-रथ उषा के स्वागत के लिए तैयार हो। ऐसी स्थिति में यह उषा हमारे जीवन से अशुभ को दूर करके शुभ को हमारे साथ संयुक्त करती है। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके ये **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **वपुषः**=उत्तम रूपवाले होते हुए (वपुः रूप, मत्वर्थीय प्रत्यय का लोप है) **पतङ्गाः**=उत्पतन के साथ गतिवाले **वयः**=गमनशील **अरुषाः**=आरोचमान अथवा 'अ-रुषाः' क्रोध से रहित हों और **अभीके**=हमें ब्रह्मलोकरूप गृह के समीप **परिवहन्तु**=सर्वथा ले-जानेवाले हों। इन इन्द्रियाश्वों की क्रियाएँ हमें ब्रह्म के समीप प्राप्त करानेवाली हों। ब्रह्मलोक ही तो हमारा घर है।

भावार्थ—हम प्रातः उषा के आगमन से पूर्व ही उठ खड़े हों, उषा के स्वागत के लिए तैयार हों। हमारे इन्द्रियाश्व हमें ब्रह्मलोकरूप घर के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'वन्दन, रेभ, तौग्र्य, च्यवान'

उद्वन्दनमैरतं दंसनाभिरुद्रेभं दस्रा वृषणा शचीभिः।
निष्टौग्र्यं पारयथः समुद्रात् पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्॥ ६॥

१. हे **दस्रा**=दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **वन्दनम्**=वन्दना करनेवाले को **उदैरतम्**=विषयकूप से ऊपर प्रेरित करते हो, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला माता, पिता, आचार्य व अतिथियों का अभिवादन करता हुआ सदा उनसे प्रदर्शित सन्मार्ग पर चलता है और इस प्रकार विषयकूप में डूबने से बच जाता है। २. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **शचीभिः**=प्रज्ञानों व शक्तियों के द्वारा **रेभम्**=स्तोता को—प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले को **उत्+ऐरतम्**=संसार-समुद्र से ऊपर उठाते हो। प्रभुस्तवन करता हुआ यह व्यक्ति विषय-समुद्र में नहीं डूबता। प्राण-साधक प्रभु का स्तोता बनता है और प्रभुस्तवन उसे विषय-समुद्र में डूबने नहीं देता। ३. हे प्राणापानो! आप **तौग्र्यम्**=तुग्र-पुत्र भुज्यु को—अपने भोगों के लिए औरों की हिंसा करनेवाले भोग-प्रवण व्यक्ति को (तुज् हिंसायाम्) **समुद्रात्**=विषय-समुद्र से **निःपारयथः**=पार करते हो। आपकी कृपा से यह भोगों से ऊपर उठता है तथा औरों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता। ४. आजतक भोगों में फँसा होने के कारण **च्यवानम्**=क्षीणशक्ति होते हुए इस पुरुष को भोगप्रवणता से ऊपर उठाकर **पुनः**=फिर से **युवानं चक्रथुः**=युवा कर देते हो। प्राणसाधना का ही यह परिणाम होता है कि मनुष्य विषयभोगों से ऊपर उठता है और शक्ति के संयम के कारण सदा युवा बना रहता है।

भावार्थ—हम बड़ों का वन्दन करें, प्रभु का स्तवन करें। अपने सुख के लिए औरों का हिंसन न करें। शक्ति का सञ्चय करके सदा युवा बने रहें।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञानचक्षु का खुलना

युवमत्रयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम्।
युवं कण्वायापिरिप्ताय चक्षुः प्रत्यधत्तं सुष्टुतिं जुजुषाणा॥ ७॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **अत्रये**=(अ-त्रि) काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठे हुए **अवनीताय**=(अव=away, नीत) विषयों से दूर ले-जाए गये व्यक्ति के लिए **तप्तम्**=तप से पैदा किये गये, श्रम से उपार्जित (तपो जनितम्—द०) **ओमानम्**=रक्षक **ऊर्जम्**=अन्नरस को **अधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना करनेवाला (क) अत्रि व अवनीत बनता है, (ख) उसमें श्रम से उपार्जित अन्न-सेवन की वृत्ति उत्पन्न होती है, 'तप्तम्', (ग) यह इस बात का ध्यान रखता है कि इसके भोजन में रक्षक-तत्त्वों की प्रधानता हो (ओमानम्)। २. **युवम्**=आप **कण्वाय**=कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करनेवाले के लिए तथा **अपिरिप्ताय**=(रप्=to praise) प्रभु का शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए **सुष्टुतिं जुजुषाणा**=उस स्तोता की उत्तम स्तुति का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **चक्षुः**=ज्ञानचक्षु का **प्रत्यधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना से (क) मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है और वह कण-कण करके ज्ञान का संग्रह करनेवाला बनता है, (ख) इसका हृदय निर्मल होकर यह प्रभुस्तवन की ओर झुकाववाला होता है, (ग) इसके ज्ञानचक्षु उद्घाटित हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें श्रमजनित रक्षणात्मक भोजन के ग्रहण की वृत्तिवाला बनाती है और हमारे ज्ञान-चक्षुओं को खोल देती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शयु के लिए धेनु का आप्यायन

युवं धेनुं शयवे नाधितायापिन्वतमश्विना पूर्व्याय।
अमुञ्चतं वर्तिकामंहसो निः प्रति जङ्घां विश्पलाया अधत्तम्॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **शयवे**=अपने हृदय-क्षेत्र में ही शयन (निवास) करनेवाले, अर्थात् आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाले **नाधिताय**=उत्तम कामनाओंवाले (नाध्=आशीः), **पूर्व्याय**=अपना पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम पुरुष के लिए **धेनुम्**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौ को **अपिन्वतम्**=खूब पयस्विनी (ज्ञानदुग्ध देनेवाली) बना देते हो, अर्थात् यह शयु वेदवाणी को खूब समझनेवाला बनता है और वेदज्ञान से अपने को पूर्ण करता है। २. हे प्राणापानो! आप **वर्तिकाम्**=दैनिक कार्यों के वर्तन को **अंहसः**=लोभरूप पाप से **निः अमुञ्चतम्**=मुक्त करते हो। प्राणसाधना होने पर मनुष्य लोभ से ऊपर उठ जाता है, ऐसा नहीं होता कि लोभ के कारण यह अपने नैत्यिक कार्यक्रम को ही भूल जाए। ३. आप **विश्पलायै**=प्रजा का उत्तमता से पालन करनेवाली के लिए **जङ्घाम्**=जाँघ को **प्रत्यधत्तम्**=प्रतिदिन प्राप्त कराते हो। यह प्रजापालन की वृत्तिवाली गृहिणी (हन् हिंसागत्योः) विघ्नों को दूर करती हुई गतिशील बनी रहती है, अपने कार्यों में थकती नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें ज्ञान प्राप्त होता है। हमारा दैनिक कार्यक्रम लोभवश विपर्यस्त नहीं हो जाता और हम प्रजापालन करते हुए निर्विघ्न गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पेदु का अश्व

युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्।
जोहूत्रमर्यो अभिभूतिमुग्रं सहस्रसां वृषणं वीड्वङ्गम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **पेदवे**=(पद गतौ) गतिशील पुरुष के लिए **अश्वम्**=इन्द्रियरूप अश्व को **अदत्तम्**=देते हो, जो अश्व **श्वेतम्**=श्वेत है। प्राणसाधना से इन्द्रियों के मल दूर होते हैं और ये इन्द्रियाँ श्वेत व शुद्ध बनती हैं। **इन्द्रजूतम्**=ये इन्द्रियाश्व इन्द्र से प्रेरित होते हैं; प्रभु-प्रेरणा के अनुसार क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं; **अहिहनम्**=वासनारूप सर्प को नष्ट करनेवाले होते हैं, वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते; **जोहूत्रम्**=(संग्रामेष्वाह्वातारम्—सा०) संग्राम में शत्रुओं के साथ विजय की स्पर्धावाले होते हैं और **अर्यः**=शत्रुओं का **अभिभूतिम्**=अभिभव करनेवाले होते हैं; **उग्रम्**=तेजस्वी बनते हैं, **सहस्रसाम्**=शतशः धनों को प्राप्त करानेवाले हैं; **वृषणम्**=शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले हैं और **वीड्वङ्गम्**=दृढ़ अंगोंवाले हैं। २. प्राणसाधना करनेवाला पुरुष गतिशील बनता है, इस गतिशीलता के साथ उसके इन्द्रियाश्व बड़े सुन्दर बनते हैं। इन्द्रियों के मल दूर होकर जहाँ वे श्वेत बनते हैं, वहाँ शक्तिशाली व दृढ़ होते हैं। इनके द्वारा वासनाओं को जीतते हुए ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए हम आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम गतिशील बनकर उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वसुमान् रथ

ता वां नरा स्ववसे सुजाता हवामहे अश्विना नाधमानाः।
आ न उप वसुमता रथेन गिरो जुषाणा सुविताय यातम्॥ १०॥

१. हे **नरा**-उन्नति-पथ पर हमारा नेतृत्व करनेवाले **सुजाता**-उत्तम विकासवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **सु-अवसे नाधमाना:**=उत्तम रक्षण के लिए याचना करते हुए हम **ता वाम्**=उन आप दोनों को **हवामहे** पुकारते हैं। प्राणापान से हम उन्नति के मार्ग पर चलते हैं, हमारा उत्तम विकास होता है। ये प्राणापान हमारा बड़ी उत्तमता से रक्षण करते हैं—हमारे शरीरों में रोगों को नहीं आने देते और मनों में न्यूनताओं को नहीं आने देते। २. हे प्राणापानो! आप **नः**-हमारी **गिरः**=स्तुतिवाणियों का **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **वसुमता रथेन**-उत्तम वसुओंवाले रथ से **उप+आयातम्**=समीप प्राप्त होओ, ताकि **सुविताय**=हम दुरितों व दुःखों से दूर हों। प्राणसाधना के द्वारा हमारा यह शरीररथ वसुमान् बने—निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों से यह सम्पन्न हो। इस रथ को प्राप्त करके हम जीवन यात्रा में सुवित के मार्ग से ही चलें, दुरितों से दूर रहें। प्राणसाधना ही हमें दुरितों से दूर रखती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ वसुमान् हो और हम दुरितों से दूर होकर सुवित के मार्ग से चलें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

श्येन का नूतन जवस्

आ श्येनस्य जवसा नूतनेनास्मे यातं नासत्या सजोषाः।
हवे हि वामश्विना रातहव्यः शश्वत्तमाया उषसो व्युष्टौ॥ ११॥

१. हे **नासत्या**=जिनके कारण असत्य रहता ही नहीं ऐसे प्राणापानो! आप **सजोषाः**=(सजोषसौ, औ=सु) समान रूप से प्रीतिवाले होते हुए **श्येनस्य**=शंसनीय गतिवाले के **नूतनेन**=अत्यन्त स्तुत्य **जवसा**=वेग से **अस्मे**=हमारे लिए **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना से हम शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हों और हमारे कार्य स्तुत्य हों। हमारे जीवनों में असत्य न रह जाए। २. हे **अश्विना** प्राणापानो! **रातहव्यः**=हव्य को देनेवाले, अर्थात् यज्ञशील में **शश्वत्तमायाः**-अनादिकाल से गति करती हुई **उषसः**=इस उषा के **व्युष्टौ**=उदित होने पर मैं **हि**=निश्चय से **वाम्**-आप दोनों को **हवे**=पुकारता हूँ, अर्थात् उषा के आने पर जहाँ मैं अग्निहोत्र करता हूँ वहाँ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। ये दोनों कार्य मिलकर मेरे जीवन को असत्य से दूर करते हैं। मैं सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से मैं स्फूर्ति प्राप्त करता हूँ और त्याग की वृत्तिवाला बनता हूँ।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ शंसनीय गतिवाला बनता है (१)। समाप्ति पर भी यही कहते हैं कि यह श्येन=बाज़ की स्फूर्तिवाला होता है (११)। अगले सूक्त के प्रारम्भ में भी सुन्दर शरीर-रथ के लिए ही प्रार्थना है—

[११९] एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अद्भुत शरीर-रथ

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।
सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभि प्रयः॥ १॥

१. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके **रथम्**=इस शरीर-रथ को, अर्थात् जिस शरीर में प्राण-साधना चलती है, और इस प्राणसाधना के कारण यह शरीर प्राणापानों का ही कहलाता है,

जीवसे=उत्कृष्ट जीवन के लिए **आ हुवे**=पुकारता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे प्राणापानों का वह शरीररूप रथ प्राप्त हो जो (क) **पुरुमायम्**=(बह्वाश्चर्ययुक्तम्—सा०) अनेक आश्चर्यकारी रचनाओं से युक्त है अथवा बहुत माया=प्रज्ञावाला है, (ख) **मनोजुवम्**=मन के वेगवाला है, जिसमें मन बिलकुल अकाम होकर निष्क्रिय व जड़ नहीं हो गया है, अपितु, जिसमें मन में शतशः उत्तम संकल्प उठते हैं, (ग) **जीराश्वम्**-जवन व वेग से युक्त इन्द्रियाश्वोंवाला है, (घ) **यज्ञियम्**=जो यज्ञात्मक उत्तम कर्मों का साधन बनता है, (ङ) **सहस्त्रकेतुम्**=आनन्दयुक्त (स+हस्) व अपनीत रोगोंवाला (कित रोगापनयने) है, (च) **वनिनम्**=प्रभु-सम्भजन की वृत्तिवाला है, (छ) **शतद्वसुम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों (वसुओं) से सम्पन्न है—सौ वर्ष तक जिस शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं आती, (ज) **श्रुष्टीवानम्**-(सुखवन्तम्) जो सुख देनेवाला है, (झ) **वरिवोधाम्**=उचित सम्पत्ति का धारण करनेवाला है (ञ) **प्रयः अभि**=अन्त तक पाचन के ठीक रहने से जो अन्न की (प्रयस्=Food) ओर चलनेवाला है। पाचनशक्ति के ठीक न होने पर अन्न के प्रति अरुचि हो जाती है और शरीर में क्षीणता आ जाती है। स्वास्थ्य के कारण यह आनन्द (प्रयस्=Delight) की ओर अग्रसर होता है और साथ ही त्याग की वृत्तिवाला (प्रयस्=Sacrifice) बनता है।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ मन्त्रवर्णित दस बातों से युक्त हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उत्कृष्ट लक्ष्य अथवा शरीर-रथ पर शक्ति का आरोहण

ऊर्ध्वा धीतिः प्रत्यस्य प्रयामन्यधायि शस्मन्त्समयन्त आ दिशः।
स्वदामि घर्मं प्रति यन्त्यूतय आ वामूर्जानी रथमश्विनारुहत्॥ २॥

१. **अस्य**=इस शरीर-रथ के **प्रयामनि**=प्रकृष्ट मार्ग में चलने पर **ऊर्ध्वा धीतिः**=खूब ऊँची धारणा, खूब ऊँचा लक्ष्य **प्रति+अधायि**=प्रतिदिन दृष्टि के सामने रक्खा जाता है। जितना लक्ष्य ऊँचा होगा, उतना ही तो हम उन्नत हो पाएँगे। सर्वोच्च लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही है। हम जीवन-यात्रा का उद्देश्य प्रभु-प्राप्ति को ही समझें। २. **शस्मन्**=उस प्राप्ति के लक्ष्यभूत प्रभु का शंसन व स्तवन करने पर **दिशः**=उस प्रभु के आदेश **आसमयन्ते**=सब प्रकार से हमारे साथ संगत होते हैं। हमें हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाएँ सुनाई पड़ने लगती हैं। ३. इन प्रेरणाओं के अनुसार चलने पर मैं **घर्मं स्वदामि**=शरीर में शक्ति के रक्षण से उत्पन्न होनेवाली उचित गर्मी व उत्साह का आनन्द अनुभव करता हूँ, स्वाद लेता हूँ। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलनेवाले व्यक्ति को शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति की प्राप्ति से वह आन्तर सुख को प्राप्त होता है। ४. इस शक्ति के कारण मुझे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **ऊतयः**=रक्षण **प्रतियन्ति**=प्राप्त होते हैं, शरीर में रोग नहीं आते, सब अङ्ग सुन्दर बने रहते हैं और मन भी मलिन नहीं होता। ५. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप ऐसी कृपा करो कि **वां रथम्**=आपकी साधनावाले और अतएव आपके इस रथ पर **ऊर्जानी**=शक्ति **आरुहत्**=आरूढ़ हो। हमारा यह शरीर सशक्त हो, क्योंकि शक्ति ही सब उन्नतियों का मूल है।

भावार्थ—जीवन-यात्रा में हमारा लक्ष्य उच्च हो। प्रभुशंसन करते हुए हम प्रभु-प्रेरणा को सुनें। हमार शरीर शक्ति का अधिष्ठान हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्पर्धापूर्वक आगे बढ़ना

सं यन्मिथः पस्पृधानासो अग्मत शुभे मखा अमिता जायवो रणे।
युवोरह प्रवणे चेकिते रथो यदश्विना वहथः सूरिमा वरम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार लक्ष्य को ऊँचा बनाकर **यत्**=जब **मिथः**=आपस में **पस्पृधानासः**=आगे और आगे बढ़ जाने के लिए स्पर्धा करते हुए पुरुष **समगमत्**=सम्यक् व उत्तम गतिवाले होते हैं तब वे **शुभे**=शोभा के लिए होते हैं। एक-दूसरे से आगे बढ़ते हुए इन पुरुषों की शोभा दर्शनीय ही होती है। २. **मखाः**=ये पुरुष यज्ञशील जीवनवाले होते हैं, यज्ञ ही बन जाते हैं, **अमिताः**-अनन्त शक्तिवाले बनते हैं, इनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, सीमित होकर रुक नहीं जाती। ये पुरुषा **रणे**-संग्राम में **जायवः**=विजयशील होते हैं, अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध को जीतनेवाले होते हैं। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवोः**=आप दोनों का **रथः**=यह शरीररूप रथ **अह**=निश्चय से **प्रवणे**-प्रकृष्ट सम्भजनीय प्रदेश में (most desirable) **चेकिते**=जाना जाता है, **यत्**=जबकि आप **सूरिम्**=ज्ञानी पुरुष को **वरम्**=उस श्रेष्ठ वरणीय प्रभु को **आवहथः**=प्राप्त कराते हो। इस प्रकार जब यह शरीर-रथ प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहा होता है, उस समय यह अत्यन्त वाञ्छनीय मार्ग पर चलता हुआ समझा जाता है। यह अत्यन्त वाञ्छनीय मार्ग ही यहाँ 'प्रवण' शब्द से कहा गया है। 'वरम्' का अर्थ सायण ने धन किया है। प्रभु ही सर्वोत्तम धन है, जिसे प्राप्त करने के लिए ज्ञान की प्रबल कामना होती है।

भावार्थ—हम परस्पर स्पर्धा करते हुए उन्नति के मार्ग पर एक-दूसरे से आगे बढ़ें। हमारा शरीर-रथ प्रभु-प्राप्ति के उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाला हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्राणसाधना से पहले व प्राणसाधना के बाद

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ।
यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यं१ दिवोदासाय महि चेति वामवः॥ ४॥

१. प्राणसाधना करने से पहले एक व्यक्ति भोग-प्रवण होता है। वह भोजन से ही अपना मेल रखने के कारण 'भुज्यु' है। वह मानो खाने के लिए ही जीता हो। सदा अपने भरण-पोषण में ही लगे रहने से वह 'भुरमाण' है—भरण के स्वभाववाला। इसकी चेष्टाएँ (गतम्) पक्षियों के सदृश (विभिः) होती हैं। जैसे पक्षी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे-दूसरे वृक्ष पर पहुँचते हैं। वहाँ कोई फल खाया और तीसरे वृक्ष पर पहुँचे, इसी प्रकार यह व्यक्ति भी कभी किसी होटल में और कभी किसी होटल में भटकता फिरता है। प्राणसाधना का प्रारम्भ हुआ और इसके जीवन में भी परिवर्तन आया। अब यह पितरों के समीप उपस्थित होता है, उनसे ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। हे **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **भुज्युम्**=भोगप्रवण, **भुरमाणम्**-सदा भरण में ही लगे हुए, **विभिः गतम्**=पक्षियों के सदृश चेष्टावाले, खान-पान में व्यस्त इस पुरुष को **स्व-युक्तिभिः**=आत्मतत्त्व के साथ योगवाले इन्द्रियाश्वों के द्वारा, अर्थात् जो इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर कुछ अन्तर्मुख हुई हैं—उन इन्द्रियों के द्वारा **पितृभ्यः**=ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले पितरों के समीप **आ-निवहन्ता**=सब प्रकार से प्राप्त कराते हो। २. इन पितरों से ज्ञान प्राप्त करके 'भुरमाण-भुज्यु' अब पक्षियों की भाँति खाता ही नहीं रहता। यह ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का उपक्षय करनेवाला 'दिवोदास' बनता है। **दिवोदासाय**=इस दिवोदास के लिए हे प्राणापानो! आप **विजेन्यं वर्तिः**=विजयशील गृह **यासिष्टम्**=प्राप्त कराते हो। इस दिवोदास का यह शरीर-गृह कभी वासनाओं से पराजित नहीं होता। ३. इस प्रकार हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **महि चेति**=महान् जाना जाता है। इससे बढ़कर रक्षा और क्या हो सकती है कि भुज्यु का भुज्युत्व समाप्त होता है और वह

दिवोदास बन जाता है—भोगप्रवण पुरुष योगप्रवण हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से पूर्व हम भोगासक्त जीवनवाले थे। प्राणसाधना ने हमारे जीवन को भोगों से ऊपर उठाकर प्रकाशमय बना दिया है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदवाणी का प्राणापान को पतिरूप में वरना

युवोरश्विना वपुषे युवायुजं रथं वाणी येमतुरस्य शर्ध्यम्।
आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या युवां पती॥५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवोः**=आप दोनों के **वाणी**=(वननीयौ प्रशस्यौ) प्रशंसनीय ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **युवायुजम्**=आपसे जोते जाते हुए व युक्त होते हुए **रथम्**=शरीररूप रथ को **वपुषे**=(शोभनार्थम्—सा०) शोभा के लिए **अस्य शर्ध्यम्**=इस रथ के लक्ष्यस्थान पर **येमतुः**=प्राप्त कराते हैं अथवा लक्ष्यस्थान की ओर इसका संयम करते हैं—इसे उसी ओर चलाते हैं। अन्तिम लक्ष्यस्थान ब्रह्मलोक की प्राप्ति है, अतः इसे ब्रह्म की ओर ले-चलते हैं। २. इस समय हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **सख्याय**=मित्रता के लिए **आजग्मुषी**=आनेवाली **योषा**=प्रभु की कन्यारूप यह वेदवाणी **पतित्वम्**=आपके पतिभाव को **आवृणीत**=वरती है, आपको अपना पति बनाती है, अर्थात् प्राणसाधना से यह वेदवाणी हमें पत्नीरूप में प्राप्त होती है। **युवाम्**=आप दोनों को यह **पती**=पतिरूप में **जेन्या**=जीतनेवाली होती है। ऐसा होने पर यह सचमुच हमारे घर को बड़ा सुन्दर बनाती है, उसमें से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व शरीर-रथ को ब्रह्म की ओर ले-चलते हैं। इस ब्रह्म की कन्यारूप वेदवाणी हमारे प्राणापानों को पतिरूप में वरती है, परिणामतः हमारा जीवन निर्दोष व गुणों से मण्डित बनता है। यह वेदवाणी ब्रह्म की योषा है—(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से अलग करने तथा अच्छाइयों से मिलानेवाली।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

रेभ, अत्रि, शयु, वन्दन

युवं रेभं परिषूतेरुरुष्यथो हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये।
युवं शयोरवसं पिप्यथुर्गवि प्र दीर्घेण वन्दनस्तार्यायुषा॥६॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **रेभम्**=स्तोता को **परिषूते**=(obstruction) विघ्नों व उपद्रवों से **उरुष्यथः**=रक्षित करते हो। प्राणसाधना से ही वस्तुतः हमारी वृत्ति प्रभुप्रवण होती है। हम भोगों से ऊपर उठते हैं और भोगों से ऊपर उठने पर जीवन-यात्रा में आनेवाले विघ्नों से भी बच जाते हैं। २. वासनाओं के कारण **परितप्तम्**=खूब तपे हुए **घर्मम्**=इस शरीररूप कटाह (cauldron) को **अत्रये**=अत्रि के लिए **हिमेन**=हिम के समान शान्तवृत्ति के द्वारा **उरुष्यथः**=रक्षित करते हो। काम, क्रोध, लोभरूप वासनाएँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि को खूब सन्तप्त कर देती हैं; प्राणसाधना से ये वासनाएँ नष्ट होती हैं, शान्तभाव का उदय होता है और व्यक्ति सचमुच **अ-त्रि**=अविद्यमान काम, क्रोध, लोभवाला बन जाता है। प्राणसाधना से पूर्व तो (अद्यते त्रिभिः) यह काम, क्रोध, लोभ से खाया जाने के कारण 'अत्रि' था। ३. कामादि से ऊपर उठकर यह **शयु**=हृदय में निवास करनेवाला बनता है। **युवम्**=आप दोनों **शयोः**=इस शयु की **गवि**=वेदवाणीरूप गौ में **अवसम्**=रक्षण के साधनभूत ज्ञानदुग्ध को **पिप्यथुः**=खूब आप्यायित करते हो। प्राणसाधना

से पूर्व यह वेदवाणीरूप गौ हमारे लिए न समझने योग्य होने के कारण वन्ध्या-सी हो जाती है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है और इस वेदवाणी को हम खूब समझने लगते हैं। इसका ज्ञानदुग्ध हमारे लिए रक्षक बनता है। ४. हे प्राणापानो! आपके द्वारा **वन्दनः**-यह बड़ों का अभिवादन करनेवाला व्यक्ति **दीर्घेण आयुषा**=दीर्घ जीवन के द्वारा **प्रतारि**=खूब वृद्धि को प्राप्त कराया जाता है। प्राणसाधक बड़ों का आदर करता है, परिणामतः दीर्घायुष्यवाला होता है और खूब उन्नति को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'रेभ' प्रभु के स्तोता बनते हैं। काम, क्रोध, लोभ से ऊपर ऊठकर 'अत्रि' बनते हैं। वेद को समझनेवाले 'शयु' होते हैं और 'वन्दन' बनकर दीर्घायुष्यवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

जीर्णता का दूरीकरण

युवं वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया रथं न दस्रा करणा समिन्वथः।
क्षेत्रादा विप्रं जनथो विपन्यया प्र वामत्र विधते दंसना भुवत्॥ ७॥

१. हे **दस्रा**=अशुभों का क्षय करनेवाले **करणा**=शुभों के करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **जरण्यया**=बुढ़ापे से **निर्ऋतम्**=निःशेषेण प्राप्त हुए-हुए को, पूर्णरूप से घेर लिये गये को **वन्दनम्**=अभिवादन व स्तवन करनेवाले को **समिन्वथः**-इस प्रकार धारण करते हो, फिर युवा-सा कर देते हो **न**=जैसे कि **रथम्**=एक शिल्पी रथ को नया कर देता है। प्राणसाधना से बुढ़ापे का स्थान यौवन ले-लेता है। प्राणसाधना मनुष्य की शक्तियों की वृद्धि का कारण बनती है। २. हे प्राणापानो! आप **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा **क्षेत्रात्**-क्षेत्र से ही—जन्म से ही **विप्रम्**=ज्ञानी को **आजनथः**=उत्पन्न करते हो। गर्भस्थ बालक की माता प्राणसाधना में चलती है तो गर्भस्थ बालक जन्म से ही तीव्र बुद्धिवाला होता है। ३. हे प्राणापानो! **अत्र**-यहाँ, इस जीवन में **वां दंसना**=आपके कर्म **विधते**=**प्र भुवत्**-प्रभाव को पैदा करनेवाले होते हैं। प्राणसाधक को शक्ति प्राप्त होती है। प्राणसाधना से मलों का संहार होकर पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। यह स्वास्थ्य शक्तिवृद्धि का मूल बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीर्णता दूर होती है, ज्ञान व शक्ति की वृद्धि होती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

फिर पिता के पास

अगच्छतं कृपमाणं परावति पितुः स्वस्य त्यजसा निबाधितम्।
स्वर्वतीरित ऊतीर्युवोरह चित्रा अभीके अभवन्नभिष्टयः॥ ८॥

१. जब मनुष्य अपने पिता प्रभु को छोड़कर भटकता हुआ सुदूर विषय-समुद्र में पहुँचता है तो समयप्रवाह में, थोड़ी-सी चमक व चहल-पहल के बाद रोगादि से पीड़ित होकर परेशानी में हो जाता है। अब उसे अपने पिता का स्मरण होता है और यह प्रभुस्तवन की ओर झुकता है। उस समय ये प्राणापान उसके सहायक बनते हैं। प्राणसाधना से उसे फिर से प्रकाश प्राप्त होता है, रोगादि से मुक्ति मिलती है और यह पुनः अपने पिता के समीप पहुँचनेवाला बनता है। २. हे प्राणापानो! **स्वस्य**=अपने **पितुः**=रक्षक पिता परमात्मा के **त्यजसा**=त्याग से **परावति**-सुदूर विषय-समुद्र में **निबाधितम्**=पीड़ित हुए-हुए और अतएव **कृपमाणम्**=(कृपतिः स्तुतिकर्मा तौदादिकः) पुनः प्रभुस्तवन में प्रवृत्त हुए-हुए को **आगच्छतम्**=प्राप्त होते हो। मनुष्य कुछ देर

विषय-समुद्र में भटककर पीड़ित होने पर फिर प्रभु की ओर लौटता है। प्राणापान उसके लिए सहायक बनते हैं। हे प्राणापानो! **युवोः**=आपके **अभिष्टयः**=रोगादि पर होनेवाले आक्रमण **अह**=निश्चय से **स्वर्वतीः**=प्रकाश व सुखवाले होते हैं, **इतः ऊतीः**=इधर से—विषय-समुद्र से रक्षित करनेवाले होते हैं, **चित्राः**=अद्‌भुत होते हैं, और **अभीके अभवन्**=प्रभु के समीप पहुँचानेवाले होते हैं (अभीके=समीप)।

भावार्थ—प्राणसाधना से मलों व आवरणों का विक्षेप होकर जीवन प्रकाशमय बनता है। हम विषय-समुद्र में डूबने से बचते हैं और अन्त में प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मधुरता से प्रभुस्तवन

उत स्या वां मधुमन्मक्षिकारपन्मदे सोमस्यौशिजो हुवन्यति।
युवं दधीचो मन आ विवासथोऽथा शिरः प्रति वामश्व्यं वदत्॥ ९॥

१. **उत**=और हे प्राणापानो! **औशिजः**=मेधावी का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधासम्पन्न यह व्यक्ति **वाम्**=आपको **सोमस्य**=सोम के **मदे**=हर्ष में—वीर्यशक्ति की ऊर्ध्वगति के कारण स्वास्थ्य व प्रकाश के आनन्द में **मधुमत् हुवन्यति**=इस प्रकार माधुर्य से पुकारता है जैसे कि **स्या**=वह **मक्षिका**=मधुवाली मक्खी **अरपत्**=अव्यक्त मधुर शब्द करती है। प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है, जिससे जीवन में एक आनन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द में यह आराधना के मधुर शब्दों का उच्चारण करता है। २. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **दधीचः**=ध्यान में लगे हुए पुरुष के **मनः**=मन को **आविवासथः**=परिचर्यायुक्त करते हो। प्राणयाम के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध होकर मन प्रभु की परिचर्यावाला बनता है। ३. **अथ**=अब **अश्व्यं शिरः**=(अशू व्याप्तौ) सब विद्याओं का व्यापन करनेवाला मस्तिष्क **वां प्रति वदत्**=आपके लिए मधुविद्या का उपदेश देता है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है, ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और इस सृष्टि-रचना में प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाली बनती है। यही मधुविद्या का उपदेश है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होने पर मनुष्य प्रभुस्तवन करनेवाला बनता है, मन प्रभु-परिचर्यावाला होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

पेदु का चर्कृत्य अश्व

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥ १०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **पेदवे**=गतिशील पुरुष के लिए **श्वेतम्**=श्वेतवर्ण के अश्व (इन्द्रियाश्व) को **दुवस्यथः**=देते हो। कैसे इन्द्रियाश्व को? (क) **पुरुवारम्**=जो बहुतों से वरणीय है, चाहने योग्य है अथवा पालक और पूरक है तथा विघ्नों का निवारक है (पृ पालनपूरणयोः, **वार**=निवारक) (ख) **स्पृधां तरुतारम्**=संग्राम में स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को तैर जानेवाला है, (ग) **शर्यैः**=मलों के हिंसन के द्वारा **अभिद्युम्**=अभिगत दीप्तिवाला है। काम-क्रोधादि मल ही दीप्ति के नाश के कारण बनते हैं। इन मलों के हिंसन से ये इन्द्रियाश्व चमक उठते हैं, (घ) **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरम्**=कठिनता से तैरने योग्य हैं, संग्रामों में हारते नहीं, (ङ) **चर्कृत्यम्**=सब कार्यों में पुनः-पुनः प्रयोज्य हैं, (च) **इन्द्रम् इव चर्षणीसहम्**=इन्द्र की भाँति शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। इन्द्र जैसे सब असुरों का संहार करता है, उसी प्रकार

ये इन्द्रियाश्व भी सब शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व अत्यन्त निर्मल व श्वेत बनते हैं। इस प्रकार के इन्द्रियाश्व क्रियाशील पुरुष को प्राप्त होते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में दशगुणयुक्त रथ का वर्णन था (१)। यहाँ समाप्ति पर इसमें जुतनेवाले श्वेत इन्द्रियाश्व का उल्लेख है (१०)। ऐसा रथ व ऐसे अश्व प्राणसाधना से ही प्राप्त होते हैं, परन्तु प्राणापान की साधना के लाभों को न जानने से इस प्राणासाधना में विरल व्यक्ति ही प्रेरित होते हैं—

[१२०] विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

प्राणों का विरल उपासक

का रा॑धद्धोत्रा॑श्विना वां॒ को वां॒ जोष॑ उ॒भयोः॑। क॒था वि॑धा॒त्यप्र॑चेताः॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **का होत्रा**=कोई विरल वाणी ही **वां राधत्**=आपकी आराधना करती है, अर्थात् सामान्यतः लोग आपकी आराधना में प्रवृत्त नहीं होते। २. **वाम् उभयोः**=आप दोनों के **जोषे**=प्रीणन में **कः**=कोई विरल ही समर्थ होता है। ३. **अप्रचेताः**=एक नासमझ मूर्ख व्यक्ति **कथा विधाति**=कैसे आपकी परिचर्या कर सकता है! आपके लाभों को न समझने पर आपकी उपासना में किसी की प्रवृत्ति हो ही कैसे सकती है? किसी वस्तु की उपयोगिता को समझने पर ही उसमें प्रवृत्ति हुआ करती है। प्राणसाधना का भी लाभ समझेंगे तभी तो उधर प्रवृत्त होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना के लाभ का ज्ञान न होने से प्राणसाधना में प्रवृत्ति कम ही होती है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

वासनाओं से अनाक्रान्त

वि॒द्वांसा॒विद्दुरः॑ पृच्छे॒दवि॑द्वानि॒त्थाप॑रो अचे॒ताः। नू चि॒न्नु मर्ते॒ अक्रौ॥ २॥

१. **इत्था**=इस प्रकार **अचेताः**=प्राणापान-साधना के लाभों को अथवा प्राणाराधन के प्रकार को न जाननेवाला **अविद्वान्**=अज्ञ पुरुष **विद्वांसौ इत्**=ज्ञान देनेवाले अश्विदेवों से ही **दुरः**=प्राणाराधन के उपायों को (द्वारों को) **पृच्छेत्**=पूछे—जानने की इच्छा करे। **अपरः**=अश्विदेवों से भिन्न सर्वज्ञ भी अज्ञ ही होता है, अतः अश्विदेवों से ही पूछे। प्राणापान से ही प्राणाराधन के उपायों को पूछने का अभिप्राय यह है कि हम प्राणायाम में प्रवृत्त हों, अगला-अगला मार्ग स्वयं दिखेगा। जैसे वेद पढ़ने से वेद का अभिप्राय स्पष्ट होने लगता है, उसी प्रकार प्राणसाधना में लगने से अगला-अगला लक्ष्य स्वयं दिखने लगता है, २. ये प्राणापान **नू चित्**=शीघ्र ही **नु**=अब **मर्ते**=मनुष्य में **अक्रौ**=शत्रुओं से अनाक्रान्त होते हैं। प्राणसाधना करने से काम-क्रोधादि शत्रुओं का हमपर आक्रमण नहीं हो पाता। प्राणायाम हमें वासना-विजय के लिए सक्षम बनाता है। प्राणसाधना का सर्वमहान् लाभ यही है।

भावार्थ—प्राणायाम प्रारम्भ करने पर अगला मार्ग स्वयं दिखता है। 'योगेन योगो ज्ञातव्यः'—इस उक्ति का यही भाव है। प्राणसाधना का सर्वमहान् लाभ यह है कि साधक पर वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—स्वराट्ककुबुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

दयमानो युवाकुः

ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य। प्रार्चद्दयमानो युवाकुः॥ ३॥

१. **विद्वांसा ता वाम्**=ज्ञानी उन आप अश्विदेवों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्राणापान की साधना से मनुष्य की बुद्धि सूक्ष्म होकर उसका ज्ञान बढ़ता है, अतः प्राणापान को ही 'विद्वांस' इस रूप में कहा गया है। २. **ता विद्वांसा**=ज्ञानवृद्धि के साधनभूत हे प्राणापानो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे लिए **मन्म**=ज्ञातव्य स्तोत्र को **वोचेतम्**=उच्चारण करनेवाले होओ। प्राणसाधना के द्वारा जहाँ हम ज्ञानी बनें, वहाँ प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हों। ३. प्राणसाधना करनेवाला पुरुष **प्रार्चत्**=प्रभु की प्रकृष्ट अर्चना करता है, **दयमानः**=यह सब प्राणियों का रक्षण करनेवाला बनता है (देङ् रक्षणे) तथा **युवाकुः**=बुराइयों से अपना अमिश्रण करनेवाला तथा अच्छाइयों से अपने को मिलानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान व प्रभुस्तवन की प्रवृत्ति बढ़ती है। मनुष्य अर्चनावाला होता हुआ प्राणियों का रक्षक बनता है और अपने को श्रेष्ठ बनाता है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

भोजन-यज्ञ व प्राणों का सोमपान

वि पृच्छामि पाक्या३ न देवान्वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा।
पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः ॥ ४॥

१. हे प्राणापानो! **दस्रा**=आप ही सब दोषों का उपक्षय करनेवाले हो। आपसे मैं **विपृच्छामि**=विशेषरूप से यह कहने के लिए कहता हूँ कि **वषट्कृतस्य**=शरीर की वैश्वानर (जाठर) अग्नि में स्वाहाकृत—भोजन के समय आहुतिरूप में डाले गये **अद्भुतस्य**=आश्चर्यकर **सह्यसः**=सब रोगों का अभिभव करनेवाले सोम का **पातम्**=पान करो **च+च**=और **युवम्**=आप **नः**=हमें **रभ्यसः**=शक्तिशाली बनाओ। आपकी साधना से ही सोम का शरीर में रक्षण होगा, उस सोम का जोकि अद्भुत वस्तु है, सब रोगों का अभिभव करनेवाला है। इसके रक्षण से ही हम शक्तिशाली बनते हैं। २. मैं इस बात के लिए आपसे उसी प्रकार प्रार्थना करता हूँ **न**=जैसे कि **पाक्या देवान्**=परिपक्व बुद्धिवाले विद्वानों से विद्यार्थी प्रश्न किया करते हैं; उनसे प्रश्न करके वे अपना ज्ञान बढ़ा पाते हैं। आपसे प्रार्थना करके मैं अपनी शक्ति को बढ़ा पाऊँगा। भोजन को भी हम एक यज्ञ का रूप दें। सात्त्विक भोजन को ही जाठराग्नि में आहुत करें, उससे उत्पन्न सोम का आपकी साधना के द्वारा पान करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन के द्वारा उत्पन्न सोम को प्राणसाधना द्वारा शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

प्रैषयु विद्वान्

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम्। प्रैषयुर्न विद्वान्॥ ५॥

१. **या**=जो वेदवाणी **घोषे**=प्रभु के स्तोत्रों का घोषणा करनेवाले में **प्रयजति**=संगत होती है, **भृगवाणे**=जो वाणी अपना परिपाक करनेवाले में उसी प्रकार संगत होती है **न**=जैसे कि **शोभे**=उत्तम गुणों से अपने को शोभित करनेवाले में और **यया वाचा**=जिस वाणी से **पज्रियः**=शक्तिशाली पुरुष **वाम्**=आपका **यजति**=पूजन करता है, वही वाणी मुझमें **प्र**=(भवतु—

सा०) प्रभाव व शक्ति को उत्पन्न करनेवाली हो। वेदवाणी का सम्पर्क उन्हीं को प्राप्त होता है जो (क) प्रभु के नाम का उच्चारण करते हुए प्रभुभक्त बनते हैं, (ख) जो अपने को तपस्या वा ज्ञानाग्नि में तपाते हैं, (ग) सद्गुणों से अपने को शोभित करते हैं तथा (घ) जो शक्ति का सम्पादन करते हैं। २. प्राणसाधना के द्वारा अपने जीवन को इस प्रकार का बनाकर हम इस वाणी को अपने साथ संगत करें और **प्रैषयुः विद्वान् न**-उस विद्वान्—ज्ञानी पुरुष के समान बनें जोकि प्रकृष्ट प्रेरणाओं को औरों के लिए प्राप्त कराता है। हम स्वयं 'घोष, भृगवाण, शोभ व पज्रिय' बनकर वेदवाणी को अपने साथ संगत करें और उसकी प्रेरणा को सब तक पहुँचाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—हम साधना के द्वारा ज्ञानी बनकर औरों के लिए ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

ज्ञानचक्षुओं का उद्घाटन

श्रुतं गायत्रं तकवानस्याहं चिद्धि रिरेभाश्विना वाम्। आक्षी शुभस्पती दन्॥ ६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **तकवानस्य**=(तक=to rush upon) कामादि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले के **गायत्रम्**=गायत्रसाम के द्वारा निष्पाद्य स्तोम को—स्तुति को **श्रुतम्**=सुनते हो। कामादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाला पुरुष प्राणापान के महत्त्व को समझता हुआ उनका आराधन करता है। प्राणापान को वह 'गायत्र' गायन करनेवाले का रक्षक समझता है, गायत्री छन्द के मन्त्रों द्वारा ही वह इनका स्तवन करता है। **अहं चित् हि**=मैं भी निश्चय से **वाम्**=आपका **रिरेभ**=स्तवन करता हूँ। प्राणापान का स्तवन यही है कि हम प्राणायाम के द्वारा उनकी उपयोगिता को क्रियात्मक रूप में देखनेवाले बनें। २. हे **शुभस्पती**=सब शुभों का रक्षण करनेवाले प्राणापानो! मैं आपसे **अक्षी**=आँखों को **आदन्**=(आददानाः) ग्रहण करनेवाला होता हूँ। आपकी साधना से मेरे ज्ञानचक्षुः खुल जाते हैं और मैं शुभ कर्मों में ही प्रवृत्त होता हूँ। प्राणसाधना से पूर्व हम इस प्रलोभनपूर्ण संसार में अन्धे-से बन गये थे—उलटे मार्ग पर ही चल पड़े थे। इस साधना के परिणामस्वरूप हमारी आँखें खुल गईं और हम सुमार्ग पर चलते हुए शुभों को प्राप्त करनेवाले बने।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे ज्ञानचक्षुओं को खोलनेवाली होती है और हमारे जीवन में शुभों का रक्षण करती है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वृक से रक्षण

युवं ह्यास्तं महो रन् युवं वा यन्निरततंसतम्।
ता नो वसू सुगोपा स्यातं पातं नो वृकादघायोः॥ ७॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **हि**=निश्चय से **महः**=महनीय धन के अथवा तेजस्विता के **रन्**=(दातारौ—सा०) देनेवाले **आस्तम्**=हैं, **यत्**=जब कि **युवम्**=आप ही **वा**=निश्चय से **निरततं-सतम्**=हमारे जीवनों को सब शुभ गुणों से अलकृंत करते हो। तेजस्विता को तथा यात्रा के लिए आवश्यक धनों को देकर प्राणापान हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करते हैं। २. **ता**=वे आप दोनों प्राण व अपान **नः**=हमारे लिए **वसू**=उत्तम निवास देनेवाले होओ तथा **सुगोपा**=आप हमारी उत्तमता से रक्षा करनेवाले **स्यातम्**=होओ और **नः**=हमें **अघायोः**=हमारे **अघ**=पाप व अशुभ की कामनावाले **वृकात्**-लोभरूप वृक से **पातम्**=सुरक्षित करो। प्राणसाधना

से हममें लोभवृत्ति का उन्मूलन हो जाए और लोभमूलक सब पाप विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें तेजस्विता प्राप्त कराके सद्गुणों से मण्डित करती है और ये प्राणापान ही हमारी लोभवृत्ति को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

प्राणसाधना वा गोरक्षण

मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः। स्तनाभुजो अशिश्वीः॥ ८॥

१. हे प्राणापानो! आप **नः**=हमें **कस्मै**=किसी भी **अमित्रिणे**=मित्रभाव से राहित्यवाले काम, क्रोध, लोभरूप शत्रु के लिए **मा**=मत **अभिधातम्**=सम्मुख स्थापित करो। आपकी कृपा से हम कामादि शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। २. इस प्राणसाधना के साथ **नः गृहेभ्यः**=हमारे घरों से **धेनवः**=गौएँ **अकुत्रा**=हमसे अगम्य किसी प्रदेश में **मा गुः**=मत जाएँ। वे गौएँ **स्तनाभुजः**=अपने स्तनों से दुग्ध द्वारा पालन न करनेवाली **मा**=न हों। **अशिश्वीः**=उत्तम वत्सों से रहित **मा**=न हों, अर्थात् जो गौएँ हमारे घरों में हों, वे खूब दूध देनेवाली हों और उत्तम बछड़ोंवाली हों। प्राणसाधना के साथ गोदुग्ध का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है, अतः प्राणसाधक के घर गौओं का होना आवश्यक है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में चलें और घर पर गौएँ अवश्य रक्खें।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

शक्तियुक्त धन

दुहीयन्मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै॥ ९॥

१. हे प्राणापानो! **युवाकु**=(युवाकवा—सा०) अपने से बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों से अपना सम्पर्क करनेवाले साधक लोग **मित्रधितये**=(प्रमीति से त्राण) रोग व मृत्यु तथा पापों से त्राण को धारण के लिए—मृत्यु व पापों से अपने बचाव के लिए **दुहीयन्**=आपको दूहते हैं—आपसे सब आवश्यक धनों को प्राप्त करते हैं। २. आप **नः**=हमें **वाजवत्यै**=शक्तिशाली **राये**=सम्पत्ति के लिए **मिमीतम्**=(कुरुतम्) कीजिए। **च+च**=तथा **धेनुमत्यै**=गौओंवाले **इषे**=अन्न के लिए **मिमीतम्**=कीजिए। आपकी साधना से हम उस धन को प्राप्त करें जो शक्ति से युक्त है तथा हमें अन्न व दुग्ध की कमी न हो। इस प्रकार यह प्राणसाधना हमारे जीवन को भौतिक दृष्टिकोण से भी बड़ा सुन्दर बनानेवाली हो।

भावार्थ—प्राणसाधना जहाँ हमें काम-क्रोध के आक्रमण से बचाती है वहाँ सम्पत्ति व शक्ति देती हुई अभ्युदय को भी प्राप्त कराती है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

अनश्व रथ

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भूरि चाकन॥ १०॥

१. मैं **वाजिनीवतोः**=शक्तियुक्त क्रियावाले (वाज=शक्ति, तद्युक्तक्रिया वाजिनी) **अश्विनोः**=अश्विनीदेवों के **अनश्वम्**=अश्वों के सादृश्यवाली इन्द्रियोंवाले **रथम्**=शरीररथ को **असनम्**=प्राप्त करूँ। प्राणसाधना करने से यह शरीर प्राणापान का रथ कहलाता है। इसमें इन्द्रियों को अश्व कहा गया है। ये अश्व तो नहीं हैं पर 'नञ्' से तत्सादृश्यता को प्रकट करते हुए इस रथ को अनश्व कहा गया है। हम इस प्राणापान के रथ को प्राप्त करें। २. यह रथ जब प्राणापान की

शक्तियुक्त क्रियाओंवाला होता है तब यह हमारी शोभा का कारण बनता है। **तेन**-उस रथ से **अहम्**=मैं **भूरि**=खूब ही **चाकन**-(कन् दीप्तौ) चमकूँ। प्राणसाधना से हमारी क्रियाशीलता में वृद्धि होती है। यह वृद्धि हमारी शोभा को बढ़ाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मेरा यह शरीर-रथ खूब क्रियावान् हो और मेरी दीप्ति का कारण बने।

सूचना—यहाँ 'अनश्वं रथम्' ये शब्द बिना घोड़ों से चलनेवाले रथों (कारों) का संकेत देते हैं।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याविराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

सुखो रथः

अयं समह मा तनूह्याते जनाँ अनु। सोमपेयं सुखो रथः॥ ११॥

१. हे **समह**=तेजस्विता से युक्त रथ (शरीररूप रथ)! तू **अयम्**=(अयमानम्—सा०) गतिशील मुझको **तनू**=विस्तृत शक्तिवाला कर। वस्तुतः गतिशीलता ही शक्तियों के विस्तार का कारण बनती है, आलसी पुरुष संसार में कभी चमकता नहीं। २. यह प्राणसाधना के द्वारा **सुखः**=(शोभनानि खानि यस्मिन्) उत्तम इन्द्रियोंवाला **रथः**=शरीररूप रथ अश्विनीदेवों के द्वारा **जनान् अनु**=(जन् प्रादुर्भाव) शक्तियों के विस्तार का लक्ष्य करके **सोमपेयम्**=सोमपान के लिए **उह्याते**=ले-जाया जाता है। प्राणापान से शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है। यह शरीर में सुरक्षित शक्ति ही सब इन्द्रियों व अङ्गों को शक्तिशाली बनाती है। सब अङ्गों के सशक्त होने पर ही विविध विकास सम्भव होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और उससे ही सब प्रकार का विकास सम्भव होता है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

तमस् व रजस् से ऊपर

अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवतः। उभा ता बस्त्रि नश्यतः॥ १२॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि 'अयं=अयमानं मा तनू'=गतिशील मुझे विस्तृत क्रियावाला कीजिए। गतिशील से विपरीत वह व्यक्ति है जो 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' में ही पड़ा रहता है यह कभी संसार में चमकता नहीं। इसकी शक्तियों का विकास नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **अध**=अब मैं **स्वप्नस्य**=नींद के पुतले बने हुए इस आलसी पुरुष के प्रति **निर्विदे**=निर्विण्ण हो गया हूँ। आलसी की उन्नति को मैं सम्भव नहीं देखता २. **च**=और इस **अभुञ्जतः**=किसी का भी पालन न करते हुए **रेवतः**=धनी पुरुष के प्रति भी **निर्विदे**=मैं उदासीन हूँ। रजोगुण के कारण अर्थसंग्रह में ही डूबे हुए इस रजोगुणी पुरुष की भी उन्नति सम्भव नहीं दिखती। ३. **उभा ता**-दोनों वे (क) तमोगुणप्रधान—सारे समय को सोने में बितानेवाला पुरुष तथा (ख) रजोगुणी पुरुष जो धन को जोड़ता ही है, उसे यज्ञों में विनियुक्त नहीं करता—ये दोनों **बस्त्रि**=शीघ्र ही **नश्यतः**=नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठें। इनसे ऊपर उठने पर ही सब प्रकार की उन्नति सम्भव है। सोनेवाला व लोभी पुरुष कभी उन्नति नहीं कर पाता।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि संसार में प्राणों के उपासक विरल ही

हैं (१)। समाप्ति पर कहा है कि प्राणोपासना के अभाव में तमस् व रजस् का प्राबल्य होता है और ये नाश का ही कारण बनते हैं (१२)। प्राणसाधना से कक्षीवान् सब दिव्यगुणों को अपनाता है, अतः अगले सूक्त का देवता 'इन्द्रो विश्वेदेवा' ही है। इन 'विश्वेदेवों' को अपनानेवाला इन्द्र को भी प्राप्त करता है—

अष्टादशोऽनुवाकः

[१२१] एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

ज्ञान की वाणियों को किसने सुना?

कदित्था नॄँः पात्रं देवयतां श्रवद् गिरो अङ्गिरसां तुरण्यन्।
प्र यदानड् विश आ हर्म्यस्योरु क्रंसते अध्वरे यजत्रः॥ १॥

१. **तुरण्यन्**=जीवन-यात्रा को शीघ्रता से पूर्ण करने की कामनावाला **कत्**=कब **इत्था**=सचमुच **नॄँः पात्रम्**=मनुष्यों के पालन की **देवयताम्**=(कामयमानानाम्—द० दिव्=कान्ति) कामनावाले **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले ज्ञानी पुरुषों की **गिरः**=वाणियों को **श्रवत्**=सुनता है। ज्ञानी पुरुषों के लिए यहाँ स्पष्ट संकेत है कि वे (क) लोकहित की कामनावाले हों और (ख) पूर्ण स्वस्थ हों। एक व्यक्ति जो इस प्रकार के ज्ञानी पुरुषों की वाणियों को नियम से सुनता हो तो उसके जीवन में भी एक आवश्यक परिवर्तन आना ही चाहिए। यदि वह परिवर्तन न हो तो यही कहा जाएगा कि इसने उनके ज्ञानोपदेश को ख़ाक सुना है! अतः यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि यह कब कहा जाए कि उसने इन ज्ञानोपदेशों को सुना है? २. उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **यत्**=जब **विशः**=प्रजाओं को **प्र+आनट्**=यह प्रकर्षेण प्राप्त होता है, अर्थात् यह स्वार्थमय जीवन न बिताता हुआ लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है और (ख) **हर्म्यस्य**=घर का **उरु**=खूब ही **आक्रंसते**=आक्रमण करता है, अर्थात् अन्यत्र भटकने की अपेक्षा अपने शरीररूप घर में ही विचरता है। अपने ही आलोचन में लगा हुआ अपने दोषों को देखता है और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। ३. **अध्वरे यजत्रः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में अपना सम्बन्ध करनेवाला होता है, सदा इन उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है। जिस व्यक्ति के जीवन में ये तीन बातें आ जाती हैं, वस्तुतः उसी ने ज्ञानियों की वाणियों को सुना है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष लोकहित की कामनावाले व स्वस्थ बनकर ज्ञान का प्रसार करते हैं। इनके उपदेशों को ग्रहण करनेवाले (क) स्वार्थ से ऊपर उठते हैं, (ख) आत्मलोचन की प्रवृत्तिवाले होते हैं और (ग) यज्ञिय कर्मों से अपने को सम्बद्ध करते हैं।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला कैसा बनता है?

स्तम्भीद्ध द्यां स धरुणं प्रुषायदृभुर्वाजाय द्रविणं नरो गोः।
अनु स्वजां महिषश्चक्षत व्रां मेनामश्वस्य परि मातरं गोः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानियों की वाणियों को सुननेवाला पुरुष **ह**=निश्चय से **द्याम्**=मस्तिष्क को **स्तम्भीत्**=थामता है, ज्ञान का धारण करता है अथवा स्थितप्रज्ञ बनता है। २. **सः**=वह **धरुणम्**=धारक तत्त्व को—रेतः रूप से शरीर में रहनेवाले जल को **प्रुषायत्**=अपने में सिक्त करता है, रेतःकणों को शरीर में ही सुरक्षित रखता है। ३. **ऋभुः**=(उरु भाति, ऋतेन भातीति

वा) खूब देदीप्यमान जीवनवाला होता है अथवा ऋत से, व्यवस्थित जीवन से दीप्त होता है। ४. **वाजाय**=शक्ति-प्राप्ति के लिए **नरः**-यह उन्नतिशील पुरुष **गोः द्रविणम्**-ज्ञानेन्द्रियों के धन को **प्रुषायत्**=अपने में सिक्त करता है। यह ज्ञान ही उसे विषयों से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न बनाता है। ५. यह **महिषः**=प्रभु की पूजा करनेवाला व्यक्ति **स्व-जाम्**=अपने अन्दर प्रादुर्भूत होनेवाली—हृदयस्थ प्रभु के द्वारा दी जानेवाली **व्राम्**-वरणीय अथवा दोषों का निवारण करनेवाली **मेनाम्**=आदरणीय वेदवाणी को **अनुचक्षत**=प्रतिदिन देखता है, प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करनेवाला बनता है, जो वेदवाणी **अश्वस्य**=कर्मेन्द्रियों की तथा **गोः**=ज्ञानेन्द्रियों की **परि मातरम्**=सब ओर से निर्माण करनेवाली है। इस वेदज्ञान से उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही उत्तम बनती हैं।

भावार्थ—हम स्थितप्रज्ञ बनें, शक्ति को शरीर में ही सिक्त करनेवाले हों। हम ज्ञान के द्वारा पवित्र बनकर शक्तिशाली बनें। वेदवाणी का अध्ययन करें जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को उत्तम बनाती है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नियुत वज्र का तक्षण

नक्षद्धवमरुणीः पूर्व्यं राट् तुरो विशामङ्गिरसामनु द्यून्।
तक्षद्वज्रं नियुतं तस्तम्भद् द्यां चतुष्पदे नर्याय द्विपादे॥ ३॥

१. ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला व्यक्ति **हवम्**=प्रभु की पुकार को **नक्षत्**-प्राप्त होता है। प्रभु प्रेरणा देते हैं और यह सुनता है, परिणामतः **अरुणीः**=आरोचमान ज्ञान की किरणों को (नक्षत्) प्राप्त होता है। इन प्रेरणाओं में इसे प्रकाश मिलता है। **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम (पृ पालनपूरणयोः) वेदज्ञान को (नक्षत्) प्राप्त करता है। २. इस वेदज्ञान को प्राप्त करके यह **राट्**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला होता है। **अङ्गिरसां विशाम्**-अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसमय जीवनवाली प्रजाओं में से यह **अनुद्यून्**=दिन-प्रतिदिन **तुरः**-काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाला बनता है। ३. अपने जीवन में यह **नियुतम्**=(नित्ययुक्तम्—द०) कभी भी पृथक् न होनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र का **तक्षत्**=निर्माण करता है। यह सतत क्रियाशील होता है। **चतुष्पदे**=पशुओं के लिए **नर्याय**=नरहित के कर्मों के लिए तथा **द्विपादे**-पक्षियों के लिए, एवं मनुष्यों व पशु-पक्षियों सभी के हित के लिए कर्म करने के उद्देश्य से **द्यां तस्तम्भत्**=ज्ञान को धारण करता है, स्थितप्रज्ञ बनता है, अपनी बुद्धि को डाँवाडोल नहीं होने देता।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणाओं को सुनें, आरोचमान ज्ञान की किरणों को प्राप्त करके सुन्दर यज्ञिय जीवनवाले हों।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

त्रि-ककुप्

अस्य मदे स्वर्यं दा ऋतायापीवृतमुस्त्रियाणामनीकम्।
यद्ध प्रसर्गे त्रिककुम्निवर्तदप द्रुहो मानुषस्य दुरो वः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब यह भक्त प्रभु की पुकार को सुनता है तब प्रभु उससे प्रसन्न होते हैं और **अस्य मदे**=इसके हर्ष में **अपीवृतम्**=आज से पहले वासनाओं से आनन्दित हुए-हुए इसे प्रभु **उस्त्रियाणां अनीकम्**=प्रकाश की किरणों के समूह को **दाः**=प्राप्त कराते हैं।

वासना का आवरण हटता है और यह अन्त:स्थित प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करता है। यह प्रकाश उसके लिए **स्वर्यम्**=सुख देनेवाला होता है और **ऋताय**=उसे यज्ञों में प्रवृत्त करने के लिए होता हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करके यह यज्ञशील बनता है और सुखी जीवनवाला होता है। २. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **प्रसर्गे**=यज्ञों के उत्पादन में—यज्ञ करने पर यह यज्ञशील पुरुष **त्रिककुप्**=तीन शिखाओंवाला **निवर्तत्**=बनता है। तीन दृष्टियों से यह शिखर पर पहुँचता है—स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यह शारीरिक उन्नति के शिखर पर होता है, पवित्रता के दृष्टिकोण से मानस उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और दीप्ति के दृष्टिकोण से बौद्धिक उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होता है। ३. यह **द्रुहः**=द्रोह की भावनाओं को **अप**=अपने से दूर (away) करता है, कभी किसी से द्रोह नहीं करता और **मानुषस्य**=मानव-हित के कार्यों के **दुरः**=द्वारों का **वः**=वरण करता है। द्रोह न करता हुआ यह सदा सबका भला करने में ही प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। यह शरीर, मन, बुद्धि की उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए यत्न करता है और मानवहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

राधः—सुरेतः=ज्ञानसम्पत्ति व शक्ति

तुभ्यं पयो यत्पितरावनीतां राधः सुरेतस्तुरणे भुरण्यू।
शुचि यत्ते रेक्ण आयजन्त सबर्दुघायाः पय उस्रियायाः॥ ५॥

१. **पितरौ**-द्युलोकरूप पिता तथा पृथिवीलोकरूप माता **तुभ्यम्**=तेरे लिए **यत्**=जो **पयः**=आप्यायन है—वृद्धि है, उसे **आनीताम्**=प्राप्त कराते हैं। द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क तुझे **राधः**=ज्ञानरूप सम्पत्ति प्राप्त कराता है तो यह शरीररूप पृथिवी तुझे **सुरेतः**=उत्तम शक्ति प्राप्त कराती है। ज्ञान के द्वारा ये **तुरणे**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं और **सुरेतस्**=उत्तम शक्ति के द्वारा ये **भुरण्यू**=शरीर का उत्तम पोषण करते हैं। २. इस प्रकार द्यु व पृथिवीलोकरूप पिता-माता जिनका ठीक से पोषण करते हैं **ते**=वे **यत् शुचि रेक्णः**=जो पवित्र धन है, उसे **आयजन्त**=अपने साथ संगत करते हैं। यह अर्थ की शुचिता इन्हें वास्तविक रूप में शुचि बनाती है। पवित्र धन के साथ ये **सबर्दुघायाः**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली **उस्रियायाः**=वेदवाणीरूप धेनु के **पयः**=ज्ञानदुग्ध को अपने साथ संगत करते हैं। वेदवाणीरूप गौ इन्हें अपने ज्ञानदुग्ध से पुष्ट करती है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता से हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त हो। हम पवित्र धन का ही अर्जन करें और ज्ञानदुग्ध का पान करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धन व ब्रह्म

अध प्र जज्ञे तरणिर्ममत्तु प्र रोच्यस्या उषसो न सूरः।
इन्दुर्येभिराष्ट स्वेदुहव्यैः स्रुवेण सिञ्चञ्जरणाभि धाम॥ ६॥

१. **अध**=अब, गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान-सम्पत्ति और उत्तम शक्ति को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **तरणिः**=सब वासनाओं को तैर जानेवाला **प्रजज्ञे**=होता है और **ममत्तु**=हर्ष का अनुभव करता है। यह **अस्याः**=इस **उषसः**=उषा के **सूरः न**=सूर्य के समान **प्र रोचि**=चमक उठता है। उषा का सूर्य चमकवाला तो है, परन्तु सन्ताप से रहित है। इसी प्रकार यह भी ज्ञान के प्रकाशवाला होता है, परन्तु उग्र कर्मों के सन्तापवाला नहीं होता। इसके कर्म परहित के लिए होते हैं, न

कि परद्रोह के लिए। २. यह **इन्दुः**-खूब ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुष **येभिः**=जिन **स्वेदुहव्यैः** (स्व+इदु+हव्यैः) अपने ऐश्वर्यों के हव्यों दानों के द्वारा **आष्ट**=अपने को व्याप्त करता है, उन हव्यों से यह प्राजापत्य यज्ञ में उसी प्रकार आहुति देता है, जैसे कि कोई पुरुष अग्नि में **स्त्रुवेण**-चम्मच से **सिञ्चन्**-घृत की आहुति देता है। ३. लोकहित के उद्देश्य से सम्पत्तियों का सेवन करता हुआ यह **जरणा**=स्तोतव्य **धाम**-अपने मूल स्थान ब्रह्मलोक की **अभि**=ओर आष्ट=प्राप्त होनेवाला होता है। यह सम्पत्तियों का त्याग व दान ही मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले जाता है। धन हमारे हृदय में बस जाता है तो वहाँ प्रभु का वास नहीं होता; धन का त्याग करते हैं तो प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति के द्वारा हम वासनाओं को तैर जाते हैं और प्रातः के सूर्य की भाँति चमक उठते हैं। धन का त्याग हमें ब्रह्म को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वे देवाइन्द्रश्च। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्विध्मा-वनधिति

स्विध्मा यद् वनधितिरपस्यात्सूरो अध्वरे परि रोधना गोः।
यद्ध प्रभासि कृत्व्याँ अनु द्यूनर्विशे पश्विषे तुराय॥ ७॥

१. **स्विध्मा**-(सु इध्मा) यह व्यक्ति उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाला होता है। आचार्य इसकी ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' की समिधाएँ डालता है। इन लोकों के पदार्थों के ज्ञान द्वारा इसकी ज्ञानदीप्ति बढ़ती है **यत्**=जब कि यह **वनधितिः**-उस उपासनीय प्रभु में अपने को धारण करता है (वन=उपासनीय)। इस प्रभु में अपने आपको धारण करता, अर्थात् प्रभु का उपासक बनता हुआ **सूरः**-यह ज्ञानी पुरुष **गोः**-इन्द्रियों के **रोधना**=निरोध का परिलक्ष्य करके **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में **अपस्यात्**=कर्मशील बनता है। कर्मों में लगे रहना ही इन्द्रियों के निरोध का साधन बनता है। अकर्मण्य पुरुष को ही वासनाएँ सताती हैं, इसी की इन्द्रियाँ विषयों में भटकती हैं। ३. प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जब तू **अनुद्यून**=प्रतिदिन **ह**=निश्चय से **कृत्व्यान्**=अपने कर्तव्यों को **प्रभासि**=दीप्त करता है, अर्थात् अपने कर्तव्यकर्मों को करनेवाला बनता है तो **अनर्विशे**-(अनसा विशति) इस शरीररूप शकट के द्वारा अपने लक्ष्यस्थान में प्रवेश के लिए होता है। प्रभु ही हमारा लक्ष्यस्थान है। प्रभु का सर्वोत्तम स्थान हमारा हृदय ही है। यहीं जीव को प्रभु का दर्शन होता है। हम शरीर-शकट के द्वारा हृदय की यात्रा करते हैं, यही अन्तर्मुख यात्रा है। इस अन्तर्मुख यात्रा में आत्मालोचन करते हुए हम **पश्विषे**=पशुओं को ढूँढने के लिए होते हैं।'कामः पशुः, क्रोधः पशुः'=काम-क्रोधरूप पशुओं को ढूँढनेवाले बनते हैं और **तुराय**-(तुर्वी हिंसायाम्) इन कामादि शत्रुओं के संहार के लिए प्रवृत्त होते हैं। कर्ममय जीवनवाला व्यक्ति आत्मालोचन करता है, अपने दोषों को ढूँढता है और उनका नाश करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता ही जितेन्द्रियता व पवित्रता का साधन है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इन्द्रियों का भोजन 'सोम'

अष्टा महो दिव आदो हरी इह द्युम्नासाहमभि योधान उत्सम्।
हरिं यत्ते मन्दिनं दुक्षन्वृधे गोरभसमद्रिभिर्वाताप्यम्॥ ८॥

१. गतमन्त्र के 'स्विध्मा' के लिए ही कहते हैं कि तू **इह**=इस जीवन में **महो दिवः**=महनीय ज्ञान के **अष्टा**=व्यापन करनेवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **आदः**-सोमरूप

भोजन करानेवाला होता है। इन्द्रियों का भोजन सोम है। यह हमारे द्वारा खाये गये भोजन से उत्पन्न होनेवाली अन्तिम धातु है। इसका शरीर में रक्षण करने पर यह धातु इन्द्रियों का भोजन बनती है और इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करती है। २. इस धातु का क्षय वासनाओं के कारण होता है, अतएव इसके रक्षण की कामनावाला **द्युम्नासाहम्**=ज्ञानज्योति का पराभव करनेवाले (द्युम्नं सहते) **उत्सम्**=(उत् स्नावयितारम्—सा०) शक्ति का बाहर प्रसरण करनेवाले कामरूप शत्रु को **अभियोधानः**=(युध सम्प्रहारे) सम्यक् प्रहत करनेवाला होता है। इस काम के संहार से ही यह सोम का रक्षण कर पाता है और इस सुरक्षित सोम को इन्द्रियों का भोजन बनाता है। २. इस सोम को वे इन्द्रियों का भोजन तब बनाते हैं **यत्**=जब **ते**=वे **अद्रिभिः**=प्रभु के उपासनों के द्वारा (अदृ=adore) **हरिम्**=दुःखों व रोगों को हरनेवाले **मन्दिनम्**=जीवन को उल्लासमय बनानेवाले **गोरभसम्**=इन्द्रियों को रभस् (बल) देनेवाले (robust बनानेवाले) **वाताप्यम्**=क्रियाशीलता को प्राप्त करानेवाले (वात=क्रियाशीलता, आप्=प्राप्ति) सोम को **वृधे**=सब प्रकार की वृद्धि के लिए **दुक्षन्**=अपने में प्रपूरित करते हैं। सोम का अपने अन्दर प्रपूरण ही सब प्रकार की उन्नतियों का साधन बनता है। इसके रक्षण के लिए 'प्रभु का उपासन' साधन बनता है। प्रभु-उपासना से वासना का क्षय होता है और वासनाक्षय सोमरक्षण का साधन है, रक्षित सोम इन्द्रियों का भोजन बनता है, इन्द्रियाँ उससे सबल होती हैं।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करके इसे इन्द्रियों का भोजन बनाएँ ताकि इन्द्रियाँ सशक्त हों।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर व बुद्धि का स्वास्थ्य

त्वमा॑य॒सं प्रति॑ वर्तयो॒ गोर्दि॒वो अश्मा॑न॒मुप॑नीत॒मृभ्वा॑।
कुत्सा॑य॒ यत्र॑ पुरुहूत व॒न्वञ्छुष्ण॑मन॒न्तैः प॑रि॒यासि॑ व॒धैः॥ ९॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! अथवा पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **गोः**=इस पृथिवी के तथा **दिवः**=द्युलोक के, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क के **अश्मानम्**=(अशू व्याप्तौ) व्यापन करनेवाले **ऋभ्वा उपनीतम्**='ऋभु ऋतेन भाति'=व्यवस्थित क्रियाओं के द्वारा चमकनेवाले से समीप प्राप्त कराये गये **आयसम्**=लोहनिर्मित वज्र को **प्रतिवर्तयः**=वासनारूप शत्रु के प्रति छोड़ते हो। प्रभुकृपा से हमें अनथक **श्रमशीलता**='आयस-वज्र' प्राप्त होता है। इसके द्वारा वासना का विनाश होता है। श्रमशील को वासना नहीं सताती। यह श्रमशीलता 'गौ व द्यौः' दोनों का व्यापन करनेवाली है। 'गौ' का अभिप्राय पृथिवी व शरीर है और 'द्यौ' का मस्तिष्क। शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं तथा मस्तिष्क-सम्बन्धी कार्यों में नियमपूर्वक (ऋत से) प्रवृत्त होनेवाला 'ऋभु' इस आयस-वज्र को प्राप्त करता है और इस वज्र से वासनारूप शत्रु को नष्ट करता है। २. **कुत्साय**=वासना-संहार (कुथ हिंसायाम्) में प्रवृत्त होनेवाले कुत्स के लिए **यत्र**=जहाँ हे **पुरुहूत**= प्रभो! आप **शुष्णम्**=शोषण कर देनेवाले—अनन्त बली वासनारूप असुर को **वन्वन्**=जीतने के हेतु से (वन्-win) **अनन्तैः वधैः**=निरन्तर प्रवृत्त वधों से **परियासि**=सर्वतः प्राप्त होते हैं, वहाँ ही इस वासना का विनाश होता है और वासना-विनाश से शरीर व बुद्धि की स्थिति उत्तम होती है। वासनाविनाश के लिए निरन्तर लगे ही रहना पड़ता है, क्योंकि इसके फिर-फिर जाग उठने की सम्भावना बनी ही रहती है। यही भाव यहाँ 'अनन्त वध' इन शब्दों से संकेतित हुआ है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से हम वासना का विनाश करें और शरीर व बुद्धि के स्वास्थ्य को सिद्ध करें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अन्धकारमग्न होने से पूर्व ही

पुरा यत्सूरस्तमसो अपीतेस्तमद्रिवः फलिगं हेतिमस्य।
शुष्णस्य चित्परिहितं यदोजो दिवस्परि सुग्रथितं तदादः॥ १०॥

१. हे **अद्रिवः**-वज्रवाले! **सूरः**=ज्ञानी तू **तमसः**-अन्धकार के **अपीतेः**=(अपि+इति=इ+ति) आक्रमण से **पुरा**=पहले ही **यत्**=जो **फलिगम्**-(ञिफला विशरणे) विशरण तक जानेवाला अर्थात् अन्धकार को पूर्णरूप से विशीर्ण करनेवाला **हेतिम्**-वज्र है, उसे **अस्य**=इस पर फेंक। कर्मशीलता के अभाव में वासनाओं का आक्रमण होता है। ये वासनाएँ ज्ञान को पूर्णरूप से आवृत्त करके जीवन को अन्धकारमय बना देती हैं। इस अन्धकार के आक्रमण से पूर्व ही वासना को विनष्ट करने का प्रयत्न करना है। इस वासना पर 'फलिग हेति' का प्रहार करना है। अन्धकार को पूर्ण विशीर्णता तक ले-जानेवाली यह हेति क्रियाशीलता ही है। २. **शुष्णस्य**= इस शोषक कामदेवरूप शत्रु का **चित्**-निश्चय से **परिहितम्**=सर्वतः वर्तमान **यत् ओजः**=जो बल है, जोकि **दिवः परि** ज्ञानरूप सूर्य के ऊपर (सूर्यस्योपरि—सा०) **सुग्रथितम्**-सम्यक् सक्त है, **तत्**-उसको **आदः**=उस फलिग हेति से सम्यक् विदीर्ण करते हो।

काम अत्यन्त प्रबल है। यह ज्ञान को ढक लेता है—पूर्णरूप से आच्छादित कर लेता है। इसका विदारण आवश्यक है। विदारण का साधन क्रियाशीलतारूप वज्र ही है। यदि इस वज्र का प्रयोग न किया जाए तो जीवन धीरे-धीरे अन्धकारमय होकर नष्टप्राय ही हो जाए, अतः अन्धकार के पूर्ण आक्रमण से पूर्व ही उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—क्रियाशीलता ही काम के वेग को शिथिल करती है और जीवन को अन्धकारमग्न होने से बचा लेती है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृत्र का स्वापन

अनु त्वा मही पाजसी अचक्रे द्यावाक्षामा मदतामिन्द्र कर्मन्।
त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम्॥ ११॥

त्वम्-**सिरासु**-(शिरासु) एक-एक नाड़ी में **आशयानम्**=व्याप्त होकर रहनेवाले **वृत्र**-वासनारूप शत्रु को जो **वराहुम्**=(वरम् आहन्ति) सब उत्तम भावों का नाश कर देती है, उसको **महो वज्रेण**=महनीय क्रियाशीलतारूप वज्र से **सिष्वपः**=सुला देता है। रणाङ्गण में इस शत्रु को भूमिशायी करके ही तो तू अपने शुभभावों का रक्षण करनेवाला होता है। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **कर्मन्**-इस वृत्र विनाशरूप कर्म में **त्वा**=तुझे **मही**=महनीय **पाजसी**=शक्तिशाली **अचक्रे**-(अचक्रमाणे) स्थिर **द्यावाक्षामा**-मस्तिष्क व शरीर **अनुमदताम्**=हर्षयुक्त करते हैं। मस्तिष्क की स्थिरता यही है कि बुद्धि डाँवाडोल न हो और शरीर की स्थिरता का भाव स्वास्थ्य का अखण्डित होना है। स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर के होने पर हम वासना-विजय के कार्य में आनन्द अनुभव करते हैं। निर्बल मस्तिष्क व निर्बल शरीर वासनाओं का शिकार हो जाता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों महनीय हों—'मह पूजायाम्' प्रभुपूजन की ओर झुकाववाले हों तो वासना का विनाश अवश्यम्भावी है।

भावार्थ—हमारे जीवन का महान् लक्ष्य प्रभुपूजन के साथ कर्मों में लगे रहने के द्वारा वासना का विनाश हो।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वह अद्भुत वज्र

त्वमिन्द्र नर्यों याँ अवो नृन्तिष्ठा वातस्य सुयुजो वहिष्ठान्।
यं ते काव्य उशना मन्दिनं दाद् वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम्॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वं नर्यः**=तू नर-हितकर कर्मों में लगनेवाला बनता है। इस प्रकार **यान्**=जिन **नृन्**=तुझे आगे ले-चलनेवाले **वातस्य सुयुजः**-वायु के उत्तम साथी, अर्थात् वायु के समान वेगवाले **वहिष्ठान्**-जीवन-यात्रा के लक्ष्य तक पहुँचानेवाले इन्द्रियाश्वों का **अवः**=तू रक्षण करता है, उनका **तिष्ठ**=तू अधिष्ठाता बन। उन इन्द्रियाश्वों को पूर्णरूप से वश में करके तू उन्नति-पथ पर आगे बढ़। २. **काव्यः**=वह तत्त्व-द्रष्टा **उशना**=तेरे हित की कामनावाला प्रभु **ते**=तेरे लिए **यम्**=जिस **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **दात्**=देता है, उसे तू **ततक्ष**=खूब तीव्र बना, तेज कर, अर्थात् अत्यन्त क्रियाशील बन। यह वज्र **ते**=तेरे लिए **मन्दिनम्**=हर्ष का देनेवाला है। अकर्मण्यता में आनन्द कहाँ? **वृत्रहणम्**=यह वज्र तेरे वासनारूप शत्रु का नाश करनेवाला है। क्रियाशील को वासना नहीं सताती। यह **पार्यम्**=(पारकर्म समाप्तौ) कर्मों को सफलता तक ले-जानेवालों में उत्तम है। क्रियाशील ही सफल होता है, अकर्मण्यता का परिणाम असफलता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता बनें। क्रियाशीलतारूप वज्र को 'हर्षकर, वासना-विनाशक व सफलता देनेवाला' जानें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कर्त्तव्यपरायणता

त्वं सूरो हरितो रामयो नृन्भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र।
प्रास्य पारं नवतिं नाव्यानामपि कर्तमवर्तयो ऽयज्यून्॥ १३॥

१. **त्वम्**=तू **सूरः**=ज्ञानी बनता है। **हरितः**=दुःखों का हरण करनेवाले **नृन्**=जीवन-यात्रा में आगे ले-चलनेवाले इन्द्रियाश्वों को **रामयः**=तू रमण कराता है। ये इन्द्रियाँ प्रत्येक कार्य को क्रीड़ा के रूप में करती हैं और कार्यों में आनन्द का अनुभव करती हैं। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयम्**=यह तू **एतशः न**=सूर्याश्व की भाँति **चक्रं भरत्**=चक्र का भरण करता है। सूर्याश्व जैसे निरन्तर अपनी यात्रा का आक्रमण कर रहा है, उसी प्रकार तू अपने दैनिक कार्यक्रम को करनेवाला बनता है। ३. इस निरन्तर कार्यक्रम में लगे रहने के कारण तू **अयज्यून्**=यज्ञ न करने की भावनाओं को **नाव्यानाम्**=नौका से तैरने योग्य, अर्थात् अत्यन्त गहरी विषय-जलपूर्ण नदियों के **नवतिम्**=नव्वे के **पारं प्रास्य**=पार फेंक। ये अयज्ञिय भावनाएँ नव्वे नदियों के पार फेंकी जाएँ, अर्थात् हमसे बहुत दूर हो जाएँ। इस प्रकार अयज्ञिय भावनाओं को दूर करके **कर्तम् अपि अवर्तयः**=तू कर्तव्य का पालन करनेवाला हो। अयज्ञिय भावनाएँ ही हमें कर्तव्य से विमुख करती हैं। इनको दूर करके हम अपने कर्तव्यों को करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कर्म करने में आनन्द का अनुभव करें, सूर्याश्व की भाँति हम दैनिक कार्यचक्र को चलाएँ, वासनाओं को दूर करके कर्त्तव्यपरायण बनें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दरिद्रता से दूर

त्वं नो अस्या इन्द्र दुर्हणायाः पाहि वज्रिवो दुरितादभीके।
प्र नो वाजान्रथ्यो३ अश्वबुध्यानिषे यन्धि श्रवसे सूनृतायै॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्** आप **नः**=हमें **अस्याः**=इस **दुर्हणायाः** दरिद्रता से **पाहि**-बचाइए। दरिद्रता के कारण हम अत्यन्त दुर्गति में न पहुँच जाएँ। २. हे **वज्रिवः**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! आप **अभीके**=इस संसार-संग्राम में **दुरितात्** दुरितों से—पापों से बचाइए। हम क्रियाशील बने रहकर पापों में फँसने से बच जाएँ। ३. आप **नः** हमें **रथ्यः**-शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाले **अश्वबुध्यान्**-इन्द्रियाश्वों को चेतनायुक्त करनेवाले **वाजान्**=बलों को **प्रयन्धि**-खूब ही दीजिए ताकि **इषे**=हम आपकी प्रेरणा से प्रेरित होनेवाले हों, **श्रवसे**=ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हों तथा **सूनृतायै**=प्रिय, सत्यवाणी के ही सदा बोलनेवाले हों। शरीर व इन्द्रियों की शक्ति के अभाव में न तो हम प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं, न ज्ञानप्राप्ति में समर्थ होते हैं और न ही हमारी वाणी में सत्य व माधुर्य होता है।

भावार्थ—हम दरिद्रता से दूर हों और शक्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धनासक्ति से ऊपर

मा सा ते॑ अ॒स्मत्सु॑म॒तिर्वि द॑स॒द्वाज॑प्रमहः॒ समिषो॑ वरन्त।
आ नो॑ भज मघव॒न्गोष्व॒र्यो मंहि॑ष्ठास्ते सध॒माद॑ः स्याम॥ १५॥

१. हे **वाजप्रमहः**=शक्तियों के कारण महनीय प्रभो! **ते**=आपकी **सा**=वह **सुमतिः**=कल्याणी मति **अस्मत्**=हमसे **मा विदसत्**=नष्ट न हो जाए। आपकी कल्याणी मति हमें सदा प्राप्त रहे। यह मति ही तो हमारे जीवनों को शुभकर्मों से युक्त रखेगी। २. **इषः**=आपकी प्रेरणाएँ **संवरन्त**=हमारा संवरण करें, अर्थात् हम सदा आपकी प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाले हों। इन प्रेरणाओं के द्वारा हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**-हमें **गोषु**=ज्ञान की वाणियों में **आभज**=सब प्रकार से भागीदार बनाइए। **अर्यः**-आप ही तो इन गौओं के स्वामी हो। सब ज्ञानवाणियों के पति आप ही हो। ३. **मंहिष्ठाः**-(दातृतमाः) खूब ही देनेवाले होकर हम **ते**=आपके **सधमादः**-साथ आनन्द को अनुभव करनेवाले **स्याम**-हों। धन से ऊपर उठकर ही एक व्यक्ति प्रभु प्राप्ति के आनन्द का भागी बनता है। धनासक्त इस आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता।

भावार्थ—हमें प्रभु की कल्याणी मति प्राप्त हो। प्रभु प्रेरणाएँ हमारा वरण करें। हम ज्ञानवाणियों में भागी बनें। धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि ज्ञान की वाणियों को सुननेवाले स्वार्थ से ऊपर उठते हैं (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि ये मंहिष्ठ बनकर, धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु-प्राप्ति का आनन्द अनुभव करते हैं (१५)। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए हम सात्त्विक अन्न व यज्ञ का भरण करें।

॥ इति प्रथमाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः ॥
॥ इति प्रथमोऽष्टकः ॥

अथ द्वितीयोऽष्टकः

अथ द्वितीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः

[१२२] द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रघुमन्यवः

प्र वः पान्तं रघुमन्यवोऽन्धो यज्ञं रुद्राय मीळ्हुषे भरध्वम्।
दिवो अस्तोष्यसुरस्य वीरैरिषुध्येव मरुतो रोदस्योः॥ १॥

१. हे **रघुमन्यवः**=(रघु=रंहतेर्गतिकर्मणः) गतिशील, खूब ही ज्ञान का व्यापन करनेवाली बुद्धिवालो! अथवा (रघु=लघु, मन्यु=क्रोध) अल्पक्रोधवाले पुरुषो! (ज्ञानी क्रोध से ऊपर उठ ही जाता है) **वः पान्तम्**=तुम्हारा रक्षण करनेवाले **अन्धः**=सात्त्विक अन्न को तथा **यज्ञम्**=यज्ञ को **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण अपने में भरनेवाले बनो। इस सात्त्विक अन्न व यज्ञशीलता को इसलिए अपने में धारण करो कि यह **रुद्राय**=रोगों को दूर करनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिए होंगे, जोकि **मीढुषे**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः 'रुद्र और मीढेवान्' शब्द सात्त्विक अन्न व यज्ञ के सेवन के लाभों का भी बड़े सुन्दर रूप में चित्रण कर रहे हैं। इनसे रोग दूर होते हैं और ये हम पर सुखों का वर्षण करते हैं। २. **वीरैः**=वीर पुरुषों से **इषुध्याः इव**=तरकश की भाँति **दिवः**=ज्ञान का **असुरस्य**=प्राणशक्ति देनेवाले प्रभु का **मरुतः**=प्राणों का तथा **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर का **अस्तोषि**=स्तवन किया जाता है। वीरों के लिए जो तरकश का महत्त्व है, वही इस अध्यात्म-साधना में ज्ञानादि का महत्त्व होता है। 'ज्ञान' वासना का विनाश करता है। प्रभु स्मरण कामदेव के भस्मीकरण के लिए आवश्यक है। प्राणसाधना से वासनाओं का विध्वंस उसी प्रकार होता है, जैसे कि पत्थर पर टकराकर मिट्टी के ढेले का। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला पुरुष ही ठीक मार्ग पर चल पाता है, एवं ये सब हमारे लक्ष्य की प्राप्ति के साधन बनते हैं। हम प्रयत्न करके ज्ञानादि के आराधन में प्रवृत्त होंगे तो अवश्य विजयी बनेंगे। ज्ञानादि हमारे तीर होंगे जोकि निश्चितरूप से हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे।

भावार्थ—हम रघुमन्यु बनकर सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए यज्ञशील बनें। हम वीर बनकर ज्ञान, उपासना व प्राणसाधना आदि को अपना तीर बनाकर वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पूर्वहूति का वर्धन

पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने।
स्तरीर्नात्कं व्युतं वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी हिरण्यैः॥ २॥

१. **इव**=जैसी **पत्नी**=पत्नी **पूर्वहूतिम्**=पति की पहली पुकार को **वावृधध्या**=बढ़ाने के लिए, अर्थात् पूर्ण करने के लिए होती है, उसी प्रकार **उषासानक्ता**=दिन और रात **पुरुधा**=नाना प्रकार से मेरी पुकार के वर्धनोपायों को **विदाने**=जाननेवाले हों, अर्थात् दिन और रात मेरी प्रातः की प्रथम प्रार्थना को पूर्ण करनेवाले हों। मैं प्रातः जो भी कामना करूँ, आयोजन बनाऊँ उसे

दिन और रात पूर्ण करनेवाले हों। मैं प्रातः जो निश्चय करूँ, अगले चौबीस घण्टों में उसे क्रियात्मक रूप दे पाऊँ। २. **स्तरीः न**-(स्तृञ्-आछादने) अपने प्रकाश से आच्छादित करनेवाले सूर्य के समान **अत्कम्** (अक्तम्—सा०) सन्तत, अविच्छिन्न **व्युतम्**-विशेषेण सम्बद्ध रूप को **वसाना**=धारण करती हुई **सूर्यस्य श्रिया**-सूर्य की श्री से **सुदृशी**-शोभन दर्शनवाली उषा **हिरण्यैः**-अपने हितरमणीय प्रकाशों से (वावृधध्या) हमारा वर्धन करनेवाली हो। ३. 'अत्कं' शब्द वेद में वस्त्र के लिए प्रयुक्त होता है, 'व्युत' उसका विशेषण है—जो उत्तमता से बुना गया है। उषा ने मानो प्रकाश के सुन्दर बुने हुए वस्त्र को धारण किया हुआ है। यह उषा अपने हितकर व रमणीय प्रकाशों से हमारा वर्धन करे।

भावार्थ—दिन-रात मेरी पुकार सुनें, अर्थात् मैं प्रातः बनाये हुए अपने आयोजन को दिन रात पूर्ण करने में ही व्यतीत करूँ। उषा का हितरमणीय प्रकाश मेरा वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

इन्द्रपर्वता (सूर्य व पर्जन्य)

म॒मत्तु॑ नः॒ परि॑ज्मा वस॒र्हा म॒मत्तु॒ वातो॑ अ॒पां वृष॑ण्वान्।
शि॒शी॒तमि॑न्द्रापर्वता यु॒वं न॒स्तन्नो॒ विश्वे॑ वरिवस्यन्तु दे॒वाः॥ ३॥

१. **वसर्हा**=(वस्+अर्ह) हमारे निवास को योग्य एवं उत्तम बनानेवाला **परिज्मा**-परितः गतिवाला सूर्य **नः**-हमें **ममत्तु**-(मादयतु) हर्षित करे। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा रोगकृमियों को नष्ट करता है और सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार करता है, इस प्रकार सूर्य हमारे निवास को उत्तम बनाता है। यह हमें स्वस्थ बनाकर आनन्दित करनेवाला हो। २. **अपां वृषण्वान्**-जलों का वर्षण करनेवाला **वातः**-वायु **ममत्तु**-हमारे जीवनों को आनन्दित करे। वृष्टि लानेवाली वायुएँ सन्ताप को तो दूर करती ही हैं, वे अन्न को उत्पन्न करके भी हमारे जीवन को आनन्दित करनेवाली होती हैं। ३. हे **इन्द्रापर्वता**-सूर्य व बादल (पर्वतः वृष्ट्यादिपूर्णवान् पर्जन्यः—सा०) **युवम्**=आप **नः**-हमारी **शिशीतम्**=शक्तियों को तीक्ष्ण करनेवाले होओ। सूर्य व बादलों की सम्मिलित क्रिया से हमारी सब शक्तियों का ठीक प्रकार से वर्धन हो। ४. **तत्**-तब, ऐसा होने पर **विश्वे**=सब **देवाः**-देव—प्राकृतिक शक्तियाँ **नः**=हमें **वरिवस्यन्तु**=उत्तम अन्नादि देनेवाली हों (समृद्धान्नप्रदानेन प्रीणयन्तु—सा०)। इन उत्तम अन्नों के सेवन से हमारी सब शक्तियों का ठीक प्रकार से विकास हो।

भावार्थ—सूर्य व वृष्टिव्रात हमारे जीवन को आनन्दित करें। सब प्राकृतिक शक्तियाँ समृद्ध अन्नप्रदान से हमारी शक्तियों का वर्धन करनेवाली हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्राणसाधना

उ॒त त्या मे॑ य॒शसा॑ श्वेत॒नायै॒ व्यन्ता॒ पान्तौ॑शि॒जो हु॒वध्यै॑।
प्र वो॒ नपा॑तम॒पां कृ॑णुध्वं॒ प्र मा॒तरा॑ रास्पि॒नस्या॒योः॥ ४॥

१. **उत**=और **त्या**=वे दोनों अश्विनीदेव—प्राणापान **मे**=मेरे **यशसा**=यश के हेतु से—मेरे यश को बढ़ाने के दृष्टिकोण से **श्वेतनायै**=मेरे जीवन की शुद्धि के लिए **व्यन्ता**-विशेषरूप से गति करते हुए तथा **पान्ता**=मुझमें सोम का पान करते हुए हैं। प्राणसाधना से जहाँ शरीर स्वस्थ होता है वहाँ मन निर्मल बनता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार प्राणापान हमारे जीवन को शुद्ध बनाकर हमें यशस्वी बनाते हैं। यह सब क्रिया वे शरीर में वीर्य के पान व रक्षण द्वारा

करते हैं। यही अश्विनीदेवों का सोमपान कहलाता है। २. **औशिजः**=मेधावी मैं—सदा हित की कामना करता हुआ **हुवध्यै**=इनको पुकारता हूँ—इनकी आराधना करता हूँ। आप दोनों **वः**=अपने **अपाम्**=इन रेतःकणरूप जलों के **नपातम्**=न गिरने देने के कार्य को **प्रकृणुध्वम्**=प्रकर्षेण करनेवाले बनो। प्राणापान के द्वारा शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर हमारा उत्तमता से रक्षण हो। ३. हे प्राणापानो! आप **रास्पिनस्य**=अपने स्तोता के **आयोः**=जीवन का **प्रमातरा**=प्रकर्षेण निर्माण करनेवाले हो। प्राणसाधना से मनुष्य बहिर्मुख न रहकर अन्तर्मुख बनता है। यह अन्तर्मुखी वृत्ति उसका कल्याण-ही-कल्याण करती है। इस प्रकार प्राणसाधना से जीवन का सुन्दर निर्माण होता है।

भावार्थ—प्राणायाम से जीवन शुद्ध व यशस्वी बनता है। ये प्राणापान शक्ति का क्षय नहीं होने देते। ये मनुष्य की वृत्ति को अन्तर्मुखी करके उसके जीवन को सुन्दर बनाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अर्जुन का नाश

आ वो रुवण्युमौशिजो हुवध्यै घोषेव शंसमर्जुनस्य नंशे।
प्र वः पूष्णे दावन आँ अच्छा वोचेय वसुतातिमग्नेः॥ ५॥

१. **औशिजः**=मेधावी का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी, सदा लोकहित की कामना करनेवाला (उशिक्=मेधावी, हितेच्छु) मैं हे प्राणापानो! **वः**=आपके **रुवण्युम्**=स्तोत्र को **आहुवध्यै**=उच्चारित करता हूँ। मैं आपका स्तवन करता हुआ आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ। मैं **घोषा इव**=स्तोत्रों का उच्चारण करनेवालों की भाँति **शंसम्**=प्राणापान का स्तवन करता हूँ ताकि **अर्जुनस्य नंशे**=(धवलोऽर्जुनः) शरीर पर आ जानेवाले श्वेत दागों को नष्ट कर सकूँ तथा अर्जुनस्य नंशे=(तृणमर्जुनम्) तृण के समान तुच्छ मनोवृत्ति को समाप्त कर सकूँ। एवं, प्राणसाधना के दो लाभ हैं—प्रथम तो यह कि शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले कुष्ठ आदि रोग नहीं होते; दूसरे, मन में तुच्छ वृत्तियों का उद्गम नहीं होता। शरीर भी स्वस्थ होता है और मन भी उत्तम बनता है। २. **वः**=आपके **पूष्णे**=पोषण के लिए तथा **दावने**=आपके उत्तम फलों को देने की क्रिया के लिए मैं **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु की **वसुतातिम्**=धनसमृद्धि को **अच्छ**=अच्छी प्रकार **प्र आवोचेय**=प्रकर्षरूप से सदा उच्चरित करूँ। मैं सदा प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य का स्मरण करूँ और यह न भूलूँ कि इस ऐश्वर्य के अंश को मुझे प्राणापान की साधना से ही प्राप्त करना है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर व मन स्वस्थ होते हैं, प्रभु के ऐश्वर्य के अंश को हम इसी साधना से पाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

शरीररूप क्षेत्र का जलों से सेचन

श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदने विश्वतः सीम्।
श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रा सिन्धुरद्भिः॥ ६॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! [प्राणापान की साधना हमें राग-द्वेष से ऊपर उठाकर सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष से ऊपर उठनेवाला बनाती है, अतः यहाँ प्राणापान को 'मित्रा-वरुणा' कहा है।] आप **मे**=मेरी **इमा**=इन **हवा**=पुकारों को **श्रुतम्**=सुनो **उत**=और **सदने**=इस मेरे गृह में **विश्वतः**=सब ओर **सीम्**=निश्चय से **श्रुतम्**=की जाती हुई अपनी आराधना को सुनो। मैं प्राणापान का स्तोता बनूँ, मेरे गृह में सर्वत्र प्राणापान का आराधन हो?

२. **श्रोतुरातिः**=श्रूयमान दानवाला, अर्थात् जिसके दान की सर्वत्र प्रसिद्धि है वह **नः** हमारी पुकार को **श्रोतु**-सुने। हमारी प्रार्थना को सुनकर जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धनों को देनेवाला हो। वह **सुश्रोतुः**=उत्तम श्रोता **सिन्धुः**=जलों की भाँति निरन्तर क्रिया-प्रवाहवाला प्रभु **अद्भिः**=(आपो रेतो भूत्वा) रेत:कणों के द्वारा **सुक्षेत्रा**=हमारे शरीररूप क्षेत्रों को उत्तम करनेवाला हो। रेत:कणों के रक्षण से ही शरीर की शक्तियाँ ठीक होती हैं। एक खेत के लिए जल का जो महत्त्व है वही महत्त्व रेत:कणों का शरीर-रूप क्षेत्र के लिए है। प्रभु के उपासन से और प्राणापान की साधना से रेत:कणों का शरीर में रक्षण होता है और शरीर की स्थिति उत्तम होती है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना और प्रभु का आराधन रेत:कणों के रक्षण के द्वारा हमारे शरीर-क्षेत्रों को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रुतरथ-प्रियरथ

स्तुषे सा वां वरुण मित्र रातिर्गवां शता पृक्षयामेषु पज्रे।
श्रुतरथे प्रियरथे दधानाः सद्यः पुष्टिं निरुन्धानासो अग्मन्॥ ७॥

१. हे **वरुण मित्र**=अपान व प्राण! **वाम्**=आप दोनों की **पृक्षयामेषु**=अन्नों का नियमन होने पर, अर्थात् सात्त्विक अन्न का ही सेवन करने पर और उसके परिणामरूप **पज्रे**=मुझ आङ्गिरस के विषय में **शता गवाम्**=ज्ञान की सैकड़ों वाणियों-सम्बन्धी **रातिः**=दान **स्तुषे**-मुझसे स्तुत होता है। जब हम सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हैं तब हमारी बुद्धि भी सात्त्विक बनती है। वैषयिक वृत्ति न होने से हम पज्र=आङ्गिरस बनते हैं। उस समय यह प्राणापान की साधना हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाली होती है। बुद्धि की तीव्रता से हम उन वाणियों को ग्रहण करनेवाले बनते हैं। प्राणापान का हमारे लिए यह शतशः ज्ञानवाणियों का दान वस्तुतः स्तुत्य है। २. **श्रुतरथे**=ज्ञानयुक्त है शरीर-रथ जिसका, उस श्रुतरथ में तथा **प्रियरथे**= स्वास्थ्य के कारण दर्शनीय है शरीर-रथ जिसका, उस प्रियरथ में **सद्यः**=शीघ्र ही **पुष्टिम्**=पोषण को **दधानाः**=स्थापित करते हुए और **निरुन्धानासः**=उस पुष्टि को वहीं स्थिर रखते हुए ये वरुण-मित्र आदि देव **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से ही हमारा ज्ञान बढ़ता है, इसी से हमारा स्वास्थ्य उत्तम बनता है, यही हमें पुष्टि देती है और उस पुष्टि को हममें स्थिर रखती है।

सूचना—यहाँ 'मित्र-वरुण' यह क्रम बदलकर 'वरुण-मित्र' ऐसा लिखना इस बात को संकेतिक करता है कि प्राण और अपान का समान महत्त्व है, किसी का अधिक नहीं, किसी का कम नहीं। 'प्राण' बल देता है और 'अपान' दोषों को दूर करता है। दोनों ही बातें आवश्यक हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धनों का मिलकर सेवन

अस्य स्तुषे महिमघस्य राधः सचा सनेम नहुषः सुवीराः।
जनो यः पज्रेभ्यो वाजिनीवानश्वावतो रथिनो मह्यं सूरिः॥ ८॥

१. **अस्य**=इस **महिमघस्य**=महत्त्वपूर्ण, महान् अथवा पूजा के योग्य ऐश्वर्यवाले प्रभु के **राधः**=ऐश्वर्य का **स्तुषे**=मैं स्तवन करता हूँ। उस प्रभु का ऐश्वर्य महान् है, अनन्त है। उसका ऐश्वर्य स्तुति के योग्य है। २. हम सब **नहुषः**=परस्पर प्रेम-सम्बन्ध में बँधे हुए **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **सचा**=मिलकर **सनेम**=इस ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले हों। वस्तुतः धनों का संविभागपूर्वक सेवन ही हमें नहुषः-परस्पर प्रीति-सम्बन्धवाला तथा सुवीर बनाता है। अन्यथा यह धन हमारे विलास का कारण बनता है और हमारी शक्तियों को जीर्ण कर देता है। २. **जनः यः**=सब शक्तियों का विकास करनेवाला वह प्रभु **पज्रेभ्यः**=आङ्गिरसों के लिए **वाजिनीवान्**=उत्तम अन्नयुक्त क्रियावाला होता है, अर्थात् प्रभु इन पज्रों को उत्तम अन्न प्राप्त कराते हैं। यह उत्तम सात्त्विक अन्न ही उनकी पज्रता का मूल है। यह प्रभु ही **अश्वावतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **रथिनः**=प्रशस्त शरीररूप रथवाले **मह्यम्**=मेरे लिए **सूरिः**=प्रेरक होता है। प्रभुकृपा से ही मेरा रथ ठीक मार्ग पर चलता है और मेरे इन्द्रियाश्व इस रथ को तीव्रता से लक्ष्य स्थान की ओर ले-चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के महनीय ऐश्वर्य का मिलकर सेवन करनेवाले हों। प्रभु ही हमें उत्तम अन्न प्राप्त कराते हैं और हमारे लिए उत्तम प्रेरणा देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना व दैनिक कार्यक्रम

जनो यो मित्रावरुणावभिध्रुगपो न वां सुनोत्यक्ष्णयाध्रुक्।
स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त आप यदीं होत्राभिर्ऋतावा॥ ९॥

१. **यः जनः**=जो मनुष्य **मित्रावरुणौ अभिध्रुक्**=प्राणापान के विषय में द्रोह करनेवाला होता है, अर्थात् जो प्राणसाधना को महत्त्व न देकर उपेक्षा करता है और जो **अक्ष्णयाध्रुक्**=दैनिक, कार्यचक्र का द्रोह करनेवाला—अपने दैनिक कार्यक्रम को ठीक से न करनेवाला (अक्ष्णया-going through) **वाम्**=आप प्राणापानों के लिए **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **न सुनोति**=नहीं उत्पन्न करता है, अर्थात् जो दैनिक कार्यचक्र में ठीक प्रकार से लगा रहकर इन सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करने का ध्यान नहीं करता **सः**=वह **स्वयम्**=अपने-आप **हृदये**=हृदय में **यक्ष्मम्**=रोग को **निधत्ते**=निश्चय से धारण करता है। प्राणसाधना न करनेवाला और दैनिक कार्यक्रम में ठीक से व्यस्त न रहनेवाला वीर्य-कणों का रक्षण नहीं कर पाता और फेफड़ों में विकार उत्पन्न करनेवाले राजयक्ष्मा आदि रोगों का शिकार हो जाता है। २. इसके विपरीत **यत्+ईम्**=यदि वह **होत्राभिः**=ज्ञान की वाणियों के अनुसार **ऋतावा**=ऋत का अवन=रक्षण करनेवाला होता है, अर्थात् वेदवाणियों के अनुसार कार्यक्रम को चलाता है तो **आपः**=लक्ष्य-स्थान को प्राप्त करनेवाला होता है। स्वस्थ रहकर यात्रा में आगे बढ़ता हुआ यह उद्दिष्ट स्थल पर पहुँच ही जाता है और प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना की उपेक्षा करने पर और दैनिक कार्यक्रम को पूरा न करने पर मनुष्य विनाश के मार्ग पर जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जितेन्द्रियता व शक्ति

स व्राधतो नहुषो दंसुजूतः शर्धस्तरो नरां गूर्तश्रवाः।
विसृष्टरातिर्याति बाळ्हसृत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः॥ १०॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहे गये 'वेदवाणी के अनुसार ऋत का पालन करनेवाला पुरुष लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है'—इन शब्दों के अनुसार चलनेवाला **सः**-वह पुरुष **दंसुजूतः**=दान्त—वशीभूत इन्द्रियों से सम्यक् प्रेरित हुआ-हुआ, अतएव **शर्धस्तरः**-अतिशयेन बलवान् **नराम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों में **गूर्तश्रवाः**-अत्यन्त उन्नत ज्ञान व यशवाला, **विसृष्टरातिः**=खूब दान देनेवाला यह **शूरः**-शत्रुओं का हिंसनवाला होकर **विश्वासु पृत्सु**-सब संग्रामों में **सदम् इत्**-सदा ही **व्राधतः नहुषः**=महान् हिंसक मनुष्यों के प्रति **बाढसृत्वा**-खूब गतिवाला होकर—अशंकित गमनवाला होकर **याति**-जाता है। आन्तर शत्रुओं को जीतकर यह बाह्य शत्रुओं को भी जीतनेवाला होता है। २. वैदिक जीवन की विशेषताएँ निम्न हैं—(क) इन्द्रियों को वशीभूत करके संसार-यात्रा में चलना, (ख) संयम के कारण खूब तेजस्वी बनना, (ग) यशस्वी जीवनवाला होना, (घ) दान की वृत्तिवाला होना, (ङ) कामादि शत्रुओं को जीतना और बाह्य शत्रुओं पर भी विजय पाना।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करके हम शक्तिशाली बनें और शत्रुओं पर विजय पाते हुए यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धन को प्रभु का समझना

अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरेः श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्राः।
नभोजुवो यन्निरवस्य राधः प्रशस्तये महिना रथवते॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाकर **अध**-अब **नहुषः**=यह मनुष्यों के प्रति **ग्मन्ता**-जानेवाला होता है, अर्थात् उनके हित के कर्मों में प्रवृत्त होकर सबके दुःखों को दूर करनेवाला होता है। २. साथ ही **सूरेः**=प्रेरक प्रभु की **हवं श्रोता**=पुकार को सुननेवाला होता है और उसी के अनुसार जीवन के कार्यक्रम को चलाता है। ३. इस प्रकार लोकहित के कार्यों में लगनेवाले और प्रभु की पुकार को सुननेवाले लोग—(क) **राजानः**=दीप्त जीवनवाले होते हैं (राजृ दीप्तौ) तथा व्यवस्थित जीवनवाले होते हैं (राज्-to regulate), (ख) **अमृतस्य**-नीरोगता के **मन्द्राः**=आनन्द को अनुभव करनेवाले होते हैं, (ग) **नभोजुवः**=ये अपने को नभस्-आकाश की ओर प्रेरित करनेवाले होते हैं। पृथिवीरूप शरीर और हृदयरूप अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठकर ये द्युलोकरूप मस्तिष्क की ओर चलनेवाले होते हैं। शरीर के स्वास्थ्य तथा मन के नैर्मल्य को सिद्ध करके मस्तिष्क के ज्ञान को ये अपना लक्ष्य बनाते हैं। ४. इस ज्ञान का ही यह परिणाम होता है **यत्**-कि **निरवस्य**=(निर् अव) 'जिसका कोई रक्षक नहीं, जो सबका रक्षक है, उस प्रभु का ही **राधः**=यह सब धन है'—ऐसा ये समझते हैं। सबसे ऊँचा ज्ञान यही है कि 'सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रभु की है'—ऐसा समझना। ऐसा समझकर अपने को उस धन का न्यासी (trustee) मात्र समझना। ऐसा समझने पर यह धन विलास में खर्च नहीं होता, अपितु **प्रशस्तये**-जीवन की प्रशस्ति के लिए होता है तथा **महिना**-(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति के द्वारा **रथवते**=हमें उत्तम शरीर-रथवाला बनाने के लिए होता है। धन को प्रभु का समझने से धन का कभी दुरुपयोग नहीं होता और यह धन हमारे जीवन को धन्य बनानेवाला होता है।

भावार्थ—लोकहित के कार्यों में लगने व प्रभु-प्रेरणा को सुनने से जीवन दीप्त व नीरोगता के आनन्दवाला होता है। धन को प्रभु का समझने से हम धन का दुरुपयोग नहीं करते और प्रशस्त जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शक्ति व धनों का यज्ञों में विनियोग

एतं शर्धं धाम यस्य सूरेरित्यवोचन् दशतयस्य नंशे।
द्युम्नानि येषु वसुताती रारन्विश्वे सन्वन्तु प्रभृथेषु वाजम्॥ १२॥

१. **यस्य सूरेः**=जिस प्रेरक प्रभु का **एतम्**=यह **शर्धम्**-शत्रुओं का प्रसहन करनेवाला **धाम**=तेज है, **इति**=इस प्रकार **अवोचम्**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं। उस प्रभु की 'तेजोऽसि' इत्यादि शब्दों से स्तुति करते हैं। इस स्तुति से ये **दशतयस्य नंशे**-दस प्रकार की शक्ति को प्राप्त करते हैं। दस इन्द्रियाँ हैं। एक-एक इन्द्रिय की शक्ति की प्राप्ति उस तेजःपुञ्ज प्रभु के सम्पर्क से प्राप्त होती है। २. **येषु**=जिनमें **द्युम्नानि**-(द्युम्न=Splendour, wealth) ज्योतिर्मय धन होते हैं, वे **वसुतातिः**=(वसुतातये) यज्ञों के लिए इन धनों को **रारन्**=देनेवाले होते हैं। ज्ञान के अभाव में धन अपने विलास में व्यय होता है। ज्ञान होने पर इनका विनियोग यज्ञों में होता है। 'धन प्रभु का है'—यही ज्ञान है। इस ज्ञान के होने पर धन का विनियोग प्रभु के कार्यों में ही तो होगा। ३. इस प्रकार **विश्वे**=औरों के जीवन में प्रवेश करनेवाले (विशन्ति) ये व्यक्ति **प्रभृथेषु**=प्रकृष्टभरणात्मक कार्यों के होने पर **वाजं सन्वन्तु**=शक्ति को सम्यक् प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञात्मक कार्यों में लगे रहने पर शक्ति मिलती है और भोगप्रवणता में शक्ति का ह्रास है।

भावार्थ—हम सब तेज को प्रभु का समझें, उससे सम्पर्क स्थापित करके सब इन्द्रियों की शक्ति को प्राप्त करें। धनों का यज्ञ में विनियोग करें ताकि हमारी शक्ति स्थिर रहे।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इष्टाश्व, इष्टरश्मि

मन्दामहे दशतयस्य धासेर्द्विर्यत्पञ्च बिभ्रतो यन्त्यन्ना।
किमिष्टाश्व इष्टरश्मिरेत ईशानासस्तरुष ऋञ्जते नॄन्॥ १३॥

१. **यत्**=जब ये सब प्राकृतिक देव **दशतयस्य**=दस प्रकार के **धासेः**=धारण के लिए **द्विः पञ्च**=दस **अन्ना**=अन्नों को **बिभ्रतः**=धारण करते हुए **यन्ति**=गति करते हैं तब **मन्दामहे**=हम उन देवों का स्तवन करते हैं। प्रकृति का बना हुआ यह संसार हमारी दस इन्द्रियों के धारण के लिए दस प्रकार के भोजनों को प्राप्त कराता है। यहाँ अन्नों का '**द्विः पञ्च**'='दो बार पाँच, अर्थात् दस' इस प्रकार इसलिए कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियों का अन्न अलग है और कर्मेन्द्रियों का अलग। इन इन्द्रियों को अपना भोजन ठीक प्राप्त होता रहे तो जीवन सुखी=उत्तम इन्द्रियोंवाला (सु+ख) बना रहता है। २. इन्द्रियाँ शरीर-रथ में घोड़े हैं, मन लगाम है। जब इन्हें ठीक भोजन प्राप्त होता रहता है तब ये सशक्त तो बनते ही हैं और यदि इन्हें हम ठीक मार्ग में प्रवृत्त रक्खें तो हम 'इष्टाश्व व इष्टरश्मि' होते हैं—वाञ्छनीय इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले व वाञ्छनीय मनरूप लगामवाले। यह **इष्टाश्वः इष्टरश्मिः**=इष्ट अश्व व रश्मियोंवाला **किम्**=क्या ही अद्भुत **ऋञ्जते**=अपने जीवन का प्रसाधन करता है! **एते**=ये इन्द्रियाश्व **ईशानासः**=बड़े प्रबल हैं। ये सब-कुछ करने में समर्थ हैं। ये **तरुषः**=वासनाओं को तैर जानेवाले **नॄन्**=मनुष्यों को **ऋञ्जते**=सद्गुणों से मण्डित कर देते हैं। अवशीभूत इन्द्रियाँ मनुष्य को कुचल देती हैं, वशीभूत हुई-हुई उसे तरा देती हैं। गीता के शब्दों में 'मन उसी का मित्र है, जिसने आत्मा द्वारा मन को जीता है—न जीता गया मन महान् शत्रु है।'

भावार्थ—यह प्राकृतिक संसार हमारी इन्द्रियों को उचित भोजन प्राप्त कराके सक्षम बनाये।

ये सशक्त पर वशीभूत इन्द्रियाँ हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'हिरण्यकर्ण-मणिग्रीव'

हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः।
अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरोस्राश्चाकन्तूभयेष्वस्मे॥ १४॥

१. **हिरण्यकर्णम्**='हिरण्यं वै ज्योतिः' (हिरण्यं कर्णे यस्य) जिसके कान में सदा ज्ञान के शब्द पड़ रहे हैं और **मणिग्रीवम्**=मणियुक्त ग्रीवावाले, अर्थात् जिसमें मणि—सोमशक्ति ऊर्ध्वगतिवाली होकर ग्रीवा का आभूषण बनती है **तत्** उस **अर्णः**=(अरणीयं रूपम्—सा०) प्राप्त करने योग्य रूप को **विश्वे देवाः** सब देव **परिवस्यन्तु**=(प्रयच्छन्तु) हमें दें, अर्थात् हमारे जीवन में दो बातें मुख्य हैं—(क) हम सदा ज्ञान की बातों का श्रवण करें तथा (ख) शरीर में उत्पन्न शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा इसे ग्रीवा का आभूषण बनाएँ। २. इस रूप की प्राप्ति के लिए **अर्यः**=उस निरन्तर गतिशील प्रभु की **गिरः**=ज्ञानवाणियाँ और **उस्राः**=गौएँ और उनसे प्राप्त होनेवाले दूधादि पदार्थ **सद्यः**=शीघ्र ही **आजग्मुषी**=हमारी ओर आनेवाले हों और **अस्मे**=हमारे **उभयेषु**=ऐहिक और आमुष्मिक लाभों के निमित्त **आचाकन्तु**=खूब ही कामनावाले हों। इन ज्ञानवाणियों और हव्य पदार्थों से हमें ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का लाभ हो। ये ज्ञानवाणियाँ ही तो हमें हिरण्यकर्ण व मणिग्रीव बनाएँगी।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानवाणियों को प्राप्त करके हम 'हिरण्यकर्ण व मणिग्रीव' बनें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

मशर्शार के चार व आयवस के तीन पुत्र

चत्वारो मा मशर्शारस्य शिश्वस्त्रयो राज्ञ आयवसस्य जिष्णोः।
रथो वां मित्रावरुणा दीर्घाप्साः स्यूमगभस्तिः सूरो नाद्यौत्॥ १५॥

१. **मशर्शारस्य**=मशर्शार के **चत्वारः**=चार **शिश्वः**=पुत्र **मा**=मुझे प्राप्त हों। 'मशर्' शब्द क्रोध (anger) का वाचक है। उसका शार—हिंसन करनेवाला मशर्शार है। क्रोध को नष्ट करनेवाला व्यक्ति ही धर्मकार्यों में प्रवृत्त हो सकता है, क्रोध की अवस्था में कोई भी धर्मकार्य सम्भव नहीं। क्रोधरहित व्यापारी ही व्यापार में सफल होकर अर्थ का अर्जन करता है। क्रोध की अवस्था में सांसारिक आनन्दों (काम) का भी सम्भव नहीं। क्रोध में भूख भी समाप्त हो जाती है और खाया हुआ अन्न विष ही पैदा करता है। क्रोध से मोक्ष भी सम्भव नहीं। क्रोध को शीर्ण करनेवाला ही 'धर्म-अर्थ-काम व मोक्षरूप' चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करता है। क्रोध को शीर्ण करनेवाले मशर्शार के ये ही चार पुत्र हैं। ये मुझे प्राप्त हों। २. **आयवसस्य**= (घासो, यवसम्) चारों ओर से ज्ञानरूप भोजन को प्राप्त करनेवाले, अतएव **जिष्णोः**=सदा कामादि शत्रुओं पर विजय पानेवाले **राज्ञः**=दीप्त जीवनवाले व्यक्ति के **त्रयः (शिश्वः)**='ज्ञान, कर्म, उपासना'-रूप तीन पुत्र भी मुझे प्राप्त हों। अथवा इस ज्ञानी के तीन **पुत्र**=प्रेम, करुणा और त्याग हैं, ये मुझे प्राप्त हों। ३. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **वां रथः**=यह आपका शरीररूप रथ मुझे प्राप्त हो। प्राणापान का रथ वह कहलाता है जिसमें प्राणसाधना चलती है। यह रथ **दीर्घाप्साः**=(दीर्घ+अप्स) विस्तृत रूपवाला है। इस साधक का शरीर मरियल-सा, दुबला-पतला नहीं होता। **स्यूमगभस्तिः**=सुखकर ज्ञानकिरणोंवाला यह रथ है। इन ज्ञानकिरणों से **सूरः न**=सूर्य की भाँति **अद्यौत्**=यह चमकता है। संक्षेप में भाव यह है कि मेरा यह शरीर बलिष्ठ,

ज्ञानसम्पन्न मस्तिष्कवाला व सूर्य की भाँति चमकनेवाला हो।

भावार्थ—क्रोध को जीतकर मैं 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' को सिद्ध करूँ। ज्ञान का संग्रह करता हुआ मैं 'प्रेम, करुणा व त्याग' को अपनाऊँ। मेरा शरीर स्वस्थ व ज्ञानसम्पन्न हो। इसमें शक्ति का समुच्चय हो।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम अल्पक्रोधवाले होकर सात्त्विक अन्नों का सेवन करें और यज्ञशील हों (१)। सूक्त की समाप्ति पर भी यही कहा है कि हम क्रोध को शीर्ण करनेवाले बनकर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को सिद्ध करें (१५)। अब उषा से सुन्दर जीवन के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

[१२३] त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

देव व अमृतों का उषा के रथ पर आरोहण

पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्या३ विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय॥ १॥

१. **दक्षिणायाः**=दोषों के दहनरूप अपने व्यापार में कुशल अथवा (दक्ष=to grow) उन्नति की कारणभूत उषा का **पृथुः**-विस्तृत **रथः**=रथ **अयोजि**=जोता गया है। **एनम्**=इस रथ पर **देवासः**=देव व **अमृतासः**=अमृत पुरुष **आ अस्थुः**=सब प्रकार से आरूढ़ होते हैं। इस रथ पर जो भी आरूढ़ होते हैं, वे देव व अमृत बनते हैं। मस्तिष्क में दीप्तिमय (दीपनात्) व मन में त्यागवृत्ति से युक्त (दानात्) पुरुष ही देव हैं। शरीर में रोगों से आक्रान्त न होनेवाले ही अमृत हैं। उषाकाल के आने से पूर्व ही जाग जानेवाले तथा उषाकाल के आने पर दैनिक कार्यक्रम के लिए समुद्यत हो जानेवाले पुरुष ही उषा के रथ पर आरूढ़ होते हैं। इस समय से पूर्व जाग जानेवाले ये पुरुष अपने शरीर-रथ को विस्तृत शक्तियोंवाला बना पाते हैं। २. यह **अर्या**=सब सुखों की स्वामिनी उषा **विहायाः**=विशिष्ट गतिवाली है अथवा महान् है (विहायः=यह्वः=महान्) **कृष्णात्**=कृष्ण वर्णवाले अन्धकार से **उद् अस्थात्**=ऊपर उठती है और **मानुषाय**=मनुष्य-सम्बन्धी **क्षयाय**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गति के लिए **चिकित्सन्ती**=सब रोगों व मलों का अपनयन करती है। उषाकाल में जागकर अपना शोधन, स्नान, सन्ध्या, हवन व स्वाध्याय करनेवाले व्यक्ति अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं। उषा सब दोषों का दहन करके जीवन को सुन्दर बना देती है।

भावार्थ—उषाकाल से पूर्व ही जागनेवाले बनकर हम 'देव व अमृत' बनें।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वाज-विजय, सनुत्री उषा

पूर्वा विश्वस्माद् भुवनादबोधि जयन्ती वाजं बृहती सनुत्री।
उच्चा व्यख्यद्युवतिः पुनर्भूरोषा अगन्प्रथमा पूर्वहूतौ॥ २॥

१. यह **उषा विश्वस्मात् भुवनात्**=सब लोगों से **पूर्वा**=पहले **अबोधि**=जागरित होती है। 'उषाकाल हुआ' ऐसा जानकर ही तो पीछे सब प्राणी प्रबुद्ध होते हैं। यह उषा जागनेवालों के लिए **वाजम्**=शक्ति व धन का **जयन्ती**=विजय करती है। इस समय सोये रह जानेवालों के बल को उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है—**'उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च**

आददे।' (अथर्व०)। **बृहती**-शक्ति व धन देकर यह उषा प्रबुद्ध पुरुषों का वर्धन करती है। **सनुत्री**=यह सब उत्तमताओं को देनेवाली है (सन्-सम्भक्तौ) २. **उच्चा**-आकाश में ऊँची उठती हुई यह **उषाः**-उषा **व्यख्यत्**= सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशमय कर देती है। **युवतिः**-यह अशुभों को दूर करनेवाली (यु-अमिश्रणे) तथा शुभों को प्राप्त करानेवाली (यु-मिश्रणे) है। **पुनर्भूः**-यह फिर-फिर, प्रतिदिन आनेवाली है, **पूर्वहूतौ**-प्रभु की सर्वप्रथम पुकार व आराधना के होने पर **प्रथमा**-आराधकों की शक्तियों का विस्तार करती हुई **आ अगन्**=यह सब ओर प्राप्त होती है। इस उषाकाल में यदि मनुष्य प्रभु के उपासन को छोड़कर व्यर्थ के अन्य कार्यों में नहीं लग जाता तो यह उषा उस आराधक की शक्तियों के विस्तार का कारण होती है। उषाकाल में हमें प्रभु आराधन के लिए तैयार होना चाहिए।

भावार्थ—उषा जागनेवालों के लिए शक्ति व धन का विजय करती है। इसमें जागकर हम प्रभु के उपासन में प्रवृत्त हों ताकि हमारी शक्तियों का विस्तार हो।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुजाता व मर्त्यत्रा' उषा

यद॒द्य भा॒गं वि॒भजा॑सि॒ नृभ्य॒ उषो॑ देवि मर्त्य॒त्रा सु॑जाते।
दे॒वो नो॒ अत्र॑ सवि॒ता दमू॑ना॒ अना॑गसो वोचति॒ सूर्या॑य॥ ३॥

१. हे **सुजाते**-उत्तमप्रकाश आदि के प्रादुर्भाववाली **उषः देवि**-दीप्यमान उषे! तू **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों का त्राण करनेवाली है। २. **यत्**=जब **अद्य**=आज **नृभ्यः**-उन्नति पथ पर आगे बढ़नेवाले मनुष्यों के लिए तू **भागम्**=सेवनीय धन को **विभजासि**-विभक्त करती है तो **देवः सविता**=सब दिव्य गुणों व द्युतियों का पुञ्ज, प्रेरक **दमूनाः**-सबका दमन करनेवाला प्रभु **नः**=हमें **अत्र**=इसी जीवन में **अनागसः**=निष्पाप बने हुओं को **वोचति**=उपदेश देता है। हृदय की निर्मलता होने पर प्रभु की वाणी स्पष्ट सुन पड़ती है। ३. यह प्रभु का उपदेश **सूर्याय**=हमें सूर्य बनाने के लिए होता है। उस उपदेश को सुनकर, अतन्द्रभाव से क्रियाओं को करते हुए हम सूर्य की भाँति चमकने लगते हैं। प्रभु की ज्योति भी सूर्य से उपमित है। हम भी सूर्य के समान बनते हुए प्रभु के ही छोटे रूप बन जाते हैं।

भावार्थ—उषा हमें सेवनीय धनों को प्राप्त कराए। हम निष्पाप बनकर प्रभु की वाणी को सुनें। उसके अनुसार चलते हुए सूर्य की भाँति चमकें।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अहना=दहना

गृ॒हंगृ॑हमह॒ना या॒त्यच्छा॑ दि॒वेदि॑वे॒ अधि॒ नामा॒ दधा॑ना।
सिषा॑सन्ती द्योत॒ना शश्व॒दागा॒दग्र॑मग्र॒मिद्भ॑जते॒ वसू॑नाम्॥ ४॥

१. 'उषा' शब्द 'उष दाहे' धातु से बनता है। 'दह' से दहना शब्द बनकर उषा का वाचक होता है। इसमें प्रथमाक्षर 'द्' का लोप होकर 'अहना' उषा का नाम प्रस्तुत मन्त्र में मिलता है। **अहना**=यह दोषों का दहन करनेवाली उषा **गृहं गृहम् अच्छ**-प्रत्येक घर की ओर **याति**-जाती है। प्रत्येक घर में उषा उपस्थित होती है और यह उषा **दिवेदिवे**-प्रतिदिन **नामा**-प्रभु के लक्षणों को (Mark, sign) **अधि दधाना**=खूब धारण करनेवाली होती है। जितने-जितने हमारे दोष दग्ध होते जाते हैं, उतना-उतना ही हम दिव्यता को धारण करनेवाले बनते हैं। २. यह **द्योतना**-सर्वत्र प्रकाश करनेवाली उषा **सिषासन्ती**-उत्तमताओं को हमारे साथ जोड़ने की

कामनावाली होती हुई **शश्वत्**=सदा **आगात्**=आती है और प्रतिदिन **वसूनाम्**=श्रेष्ठ पदार्थों के **अग्रं अग्रम् इत्**=अग्र-अग्र भाग को ही **भजते**=सेवित करती है। इस उषा में हम प्रतिदिन कुछ आगे-ही-आगे बढ़नेवाले होते हैं। उषाकाल में प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता हुआ उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता ही है।

भावार्थ—उषा आती है। यह हममें उत्तम गुणों को धारण करती है और वसुओं के दृष्टिकोण से हमें उत्तम ही बनाती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सूनृता' उषा

भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व।
पश्चा स दध्या यो अघस्य धाता जयेम तं दक्षिणया रथेन॥ ५॥

१. हे **सूनृते**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा ठीक समय पर आनेवाली (सु+ऊन्+ऋत्) **उषः**=उषे! तू **भगस्य**=ऐश्वर्य की **स्वसा**=बहिन है, ऐश्वर्य को उत्तम स्थिति में रखनेवाली है (सु+अस्) तथा **वरुणस्य जामिः**=श्रेष्ठता को जन्म देनेवाली है, सब देव तुझमें ही श्रेष्ठता को जन्म देते हैं (जनयन्ति अस्याम्)। ऐसी तू **प्रथमा जरस्व**=हमारे द्वारा सबसे पहले स्तुत की जाए। हम उषा के महत्त्व का स्मरण करते हुए ऐश्वर्य व श्रेष्ठता को प्राप्त करें। २. **यः**=जो **अघस्य**=पाप का **धाता**=धारण करनेवाला हो **सः**=वह **पश्चा**=पीछे **दध्या**=जानेवाला हो (दधिर्गत्यर्थः)। पापी इस उषा में कभी हमारे सामने न आये। **तम्**=इस पापी को **दक्षिणया**=हमारी उन्नति की कारणभूत तेरे द्वारा तथा **रथेन**=उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले शरीर-रथ के द्वारा **जयेम**=हम जीतें। 'दक्षिणया' शब्द का अर्थ दानवृत्ति के द्वारा भी हो सकता है। दान की वृत्ति के द्वारा हम पाप को पराजित करनेवाले होते हैं। हम प्रातः उठें और उस समय दान की भावना को अपने में जाग्रत् करें। यह त्यागभाव हमें अशुभ से बचानेवाला होगा।

भावार्थ—उषाकाल में जागना ऐश्वर्य व श्रेष्ठता का साधक है। यह अशुभवृत्ति को दूर करता है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विभातीः उषसः

उदीरतां सूनृता उत्पुरन्धीरुदग्नयः शुशुचानासो अस्थुः।
स्पार्हा वसूनि तमसापगूळ्हाविष्कृण्वन्त्युषसो विभातीः॥ ६॥

१. **सूनृताः**=प्रिय सत्य वाणियाँ **उदीरताम्**=उद्गत हों, अर्थात् हम उषाकाल में प्रिय-सत्य वाणियों का उच्चारण करनेवाले बनें। **पुरन्धीः**=पालक व पूरक प्रज्ञाएँ **उत्**=उद्गत हों, अर्थात् उषावेला में हममें पालनात्मक व पूरणात्मक विचार उत्पन्न हों। **शुशुचानासः**=खूब चमकती हुई **अग्नयः**=अग्नियाँ **उदस्थुः**=उत्थित हों, अर्थात् अग्निहोत्रादि क्रियाओं में अग्नियों का खूब प्रज्वलन हो। २. **विभातीः**=विशेषरूप से चमकती हुई **उषसः**=उषाएँ **तमसा अपगूढानि**=अन्धकार से आवृत्त हुए-हुए **स्पार्हा वसूनि**=स्पृहणीय धनों को **आविष्कृण्वन्ति**= फिर से प्रकट करती हैं। रात्रि के अन्धकार में स्पृहणीय धनों का अर्जन सम्भव नहीं होता। उषा हमें उन धनों के अर्जन के योग्य बनाती है।

भावार्थ—उषा-जागरण से (क) हमारी प्रवृत्ति सत्य बोलने की ओर होती है, (ख) हमारी प्रज्ञा पालन व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होती है, (ग) हम अग्निहोत्र करनेवाले होते

हैं तथा (घ) स्पृहणीय धनों का अर्जन कर पाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विषुरूपे अहनी

अपान्यदेत्यभ्य१न्यदेति विषुरूपे अहनी सं चरेते।
परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचता रथेन॥ ७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में दिन व रात दोनों को 'अहनी' इस द्विवचनान्त शब्द से कहा गया है। दिन का आरम्भ उषा से होता है। इस उषा के आने पर **अन्यत्**=दिन से भिन्न रात्रि **अप एति**=दूर चली जाती है और **अन्यत्**=रात्रि से भिन्न दिन **अभि एति** हमारी ओर आता है। ये दिन और रात दोनों **विषुरूपे**=भिन्न भिन्न परन्तु सुन्दर रूपोंवाले हैं। दिन का प्रकाशमय रूप तो सुन्दर प्रतीत होता ही है, रात्रि अन्धकारमयी होती हुई भी सुन्दर है, वह हमारी थकावट को दूर करके नवस्फूर्ति एवं उल्लास का कारण बनती है। ये भिन्न-भिन्न रूपोंवाले **अहनी**=दिन व रात **संचरेते**=सम्यक् मिलकर गतिवाले होते हैं। दिन के पीछे रात व रात के पीछे दिन सम्बद्ध हुए-हुए चले आते हैं। २. ये दिन रात हमारे जीवनों को क्षीण करते चलते हैं। **परिक्षितोः**=जीवन को एक एक दिन करके क्षीण करनेवाले (क्षि=क्षये) इन दिन व रात में **अन्या**=एक **तमः**=यह अन्धकाररूप रात्रि **गुहा अकः**=सब पदार्थों का संवरण करती है, छिपा लेती है। इसके विपरीत **उषाः**=उषा **शोशुचता रथेन**=अपने खूब दीप्त होते हुए रथ से **अद्यौत्**=चमकती है और सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करनेवाली होती है (प्रकाशते प्रकाशयति वा—सा०)।

भावार्थ—दिन-रात दोनों ही सुन्दर हैं। प्रकाशमय होने से दिन तो सुन्दर है ही, रात्रि भी शक्ति का सञ्चार करनेवाली होने से सुन्दर ही है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रज्ञा व कर्मशक्ति की प्राप्ति

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम।
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः॥ ८॥

१. उषाएँ **अद्य**=आज **सदृशीः**=गत उषाओं के समान ही हैं **उ**=और **इत्**=निश्चय से **श्वः**=कल भी **सदृशीः**=आज के समान ही होंगी। ये उषाएँ **वरुणस्य**=अन्धकार का निवारण व श्रेष्ठता को सिद्ध करनेवाले प्रभु के **दीर्घम्**=विस्तृत व अन्धकार-विदारक (दृ विदारणे) **धाम**=तेज को **सचन्ते**=सेवन करती हैं। प्रभु के तेज से ही उषाएँ तेज व दीप्तिवाली होती हैं—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. **अनवद्याः**=सब अवद्यों व अशुभों से रहित ये प्रशस्त उषाएँ **त्रिंशतं योजनानि**=सूर्य से तीस योजन आगे-आगे चलती हुई **एका एका**=एक-एक करके **सद्यः**=शीघ्र ही **क्रतुम्**=प्रज्ञा व कर्म को **परियन्ति**=सर्वतः प्राप्त होती हैं। इन उषाओं के द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान-प्राप्ति की शक्ति का आधान किया जाता है और कर्मेन्द्रियों में कर्मशक्ति का स्थापन होता है। सूर्योदय से कुछ पूर्व उषा का आगमन होता है। जो भी व्यक्ति इन उषाकालों में जागरित होकर सूर्य के स्वागत के लिए तैयार हो जाते हैं, उन्हें ये उषाएँ प्रभु के तेज से तेजस्वी बनाती हैं।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध व्यक्ति उषाओं के द्वारा प्रज्ञा व कर्मशक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ऋत का मिश्रण

जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची।
ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती॥ ९॥

१. **प्रथमस्य**=अत्यन्त विस्तृत **अह्नः**=दिन के कारणभूत सूर्य के **नाम**=नमन व आगमन (नमनमागमनम्—सा०) को **जानती**=(प्रज्ञापयन्ती—सा०) सूचित करती हुई **शुक्रा**=दीप्त उषा **कृष्णात्**=अन्धकारमयी कृष्णवर्णवाली रात्रि से **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत होती है। रात्रि के बाद आनेवाली होने से उषा रात्रि से उत्पन्न होती हुई प्रतीत होती है। २. कृष्णवर्णा रात्रि से उत्पन्न होती हुई भी यह **श्वितीची**=श्वैत्य को प्राप्त होनेवाली है। प्रकाशमयी होने से यह श्वेत-ही-श्वेत है। **ऋतस्य योषा**=यह उषा अपने आराधकों के जीवन में ऋत का मिश्रण करनेवाली है। उषा में जागरणशील व्यक्ति ऋतयुक्त जीवनवाले होते हैं। ये सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान में करनेवाले होते हैं। यह उषा **धाम**=इनके तेज को **न मिनाति**=नष्ट नहीं करती। ऋत-पालकों के तेज को यह बढ़ाती है और **अहः-अहः**=दिन-प्रतिदिन **निष्कृतं आचरन्ती**=(निष्कृतम्=removing, taking away, killing) यह उनके जीवन से दोषों को दूर करती है, शोधन करती हुई उनके जीवन को सद्गुणों से सुशोभित करनेवाली होती है।

भावार्थ—उषा स्वयं दीप्त है। यह अपने आराधकों के जीवनों को भी दीप्त बनाती है, उनके जीवन में ऋत का मिश्रण करती हुई उनके तेज को बढ़ाती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

संस्मयमाना युवतिः

कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥ १०॥

१. उषा **कन्या इव**=छोटी अवस्था की कमनीय कन्या की भाँति **तन्वा**=शरीर से **शाशदाना**=(शाशद्यमाना—नि० ६।१६) स्पष्टता को प्राप्त होती है। जैसे एक अप्रगल्भ कन्या अपने शरीर को छिपाने का प्रयत्न नहीं करती, उसी प्रकार उषा अपने को छिपाती नहीं। २. प्रगल्भता को प्राप्त होने पर एक युवति जैसे पति को प्राप्त करती है, इसी प्रकार हे **देवि**=द्योतनशीले उषे! तू भी **इयक्षमाणम्**=संगतिकरण को चाहते हुए **देवम्**=द्योतनशील सूर्य को **एषि**=प्राप्ति होती है। यहाँ प्रसङ्गवश विवाह-सम्बन्ध की दो बातों का संकेत है—(क) युवति देवी=ज्ञानज्योतिवाली हो, युवा पुरुष भी देव हो, (ख) युवा युवति को चाहता हो तभी यह सम्बन्ध हो। ३. अब हे उषे! तू **संस्मयमाना**=सदा मुस्कराती हुई-सी **युवतिः**=बुराइयों को अलग करने तथा अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली **पुरस्तात्**=आगे बढ़नेवाली हो। विवाहित पत्नी को भी सदा प्रसन्न रहना चाहिए तथा घर से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों की स्थापना करनेवाली बनना चाहिए। ४. अब प्रौढ़ावस्था में हे उषे! तू **विभाती**=विशेष रूप से चमकती हुई **वक्षांसि**=(वक्षस्=रूप—सा०) दीप्त रूपों को **आविः कृणुषे**=प्रकट करती है। गृहपत्नी का भी यह कर्तव्य होता है कि वह उत्तम स्वभाव को प्रकट करनेवाली हो। आयुवृद्धि के साथ वह अधिक दीप्त हो, नकि कर्कश स्वभाववाली बन जाए।

भावार्थ—एक गृहपत्नी की भाँति उषा मुस्कराती हुई आती है और बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मातृमृष्टा योषा इव

सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्।
भद्रा त्वमुषो वितरं व्युच्छ न तत्ते अन्या उषसो नशन्त॥ ११॥

१. हे उषे! तू **मातृमृष्टा**=माता से शुद्ध की गई **योषा इव**=कन्या की भाँति **सुसंकाशा**=खूब प्रकाशित होती हुई **तन्वम्**=अपने रूप को **कम्**-सुख के लिए (सुखं यथा भवति तथा—सा०) **दृशे आविः कृणुषे**=दर्शन के लिए प्रकट करती है। कन्या जैसे अपने दीप्त रूप को औरों को दिखाती है और उनके हर्ष का कारण बनती है, इसी प्रकार उषा के दीप्त रूप को देखकर सज्जन आनन्द का अनुभव करते हैं। २. हे **भद्रा**=कल्याण करनेवाली **उषः**=उषे! **त्वम्**-तू **वितरं व्युच्छ**=अन्धकार को अत्यन्त दूर भगानेवाली बन। तू अन्धकार को इस प्रकार दूर भागनेवाली हो कि **ते**-तेरे **तत्**=उस अन्धकार-निवारण के कार्य को **अन्या उषसः**=अन्य उषाएँ **न नशन्त**-व्याप्त करनेवाली न हों। अन्य उषाओं से तू अधिक ही दीप्त हो। प्रस्तुत उषा अन्य उषाओं से उत्तम ही लगे।

भावार्थ—अन्धकार को दूर करती हुई प्रत्येक उषा हमारे लिए गत उषाओं से उत्तम हो।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

विश्ववारा उषा

अश्वावतीर्गोमतीर्विश्ववारा यतमाना रश्मिभिः सूर्यस्य।
परा च यन्ति पुनरा च यन्ति भद्रा नाम वहमाना उषासः॥ १२॥

१. **अश्वावतीः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाली **गोमतीः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली और अतएव **विश्ववारा**=सबसे वरण करने, चाहने योग्य अथवा सब वरणीय वस्तुओं से युक्त उषाएँ **परा यन्ति च**=दूर चली जाती हैं। सूर्योदय होता है और ये कहीं दूर चली जाती हैं **च**=और अगले दिन **पुनः आयन्ति**=फिर आ जाती हैं। इस प्रकार उषा जाती है और अगले दिन फिर आती है। २. ये उषाएँ **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्यकिरणों के साथ **यतमानाः**=प्राणियों के जीवनों को उत्तम बनाने के लिए यत्नशील होती हैं। वस्तुतः इन उषाओं में सूर्य की ही प्रथम भाविनी किरण कार्य करती है। इन किरणों के द्वारा **उषासः**-ये उषाएँ **भद्रा नाम**=जो कुछ भद्र है, कल्याणकर है, उसे **वहमानाः**=प्राप्त करानेवाली होती हैं। उषा सन्ताप-रहित प्रकाश को प्राप्त कराती हुई कल्याण-ही-कल्याण करती है।

भावार्थ—उषा आती है और हमारे लिए उत्तम कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों और अन्य भद्र वस्तुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुहवा उषा

ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु रायो मघवत्सु च स्युः॥ १३॥

१. **ऋतस्य रश्मिम् अनुयच्छमाना**=ऋत की रश्मि का नियन्त्रण करती हुई हे **उषः**=उषे! तू **अस्मासु**=हममें **भद्रं भद्रम् क्रतुम्**=शुभ-ही-शुभ कर्म व प्रज्ञान को **धेहि**=धारण कर। ठीक समय व ठीक स्थान पर होनेवाले कर्म ऋत हैं। उषा इनको हममें ठीक प्रकार से प्रवृत्त करनेवाली

होती है। यही उषा का ऋत-रश्मि-नियमन है। जिसकी रश्मि=लगाम ठीक प्रकार कोचवान से काबू की जाती है, वह घोड़ा सदा ठीक मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसी प्रकार उषा हमारे जीवनों में 'ऋत-रश्मि-नियमन' के द्वारा उन्नति का कारण बनती है। २. हे **उषः**=उषे! **सुहवा**=सुगमता से पुकारने योग्य होकर अथवा उत्तमता से आराधित हुई-हुई तू **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज **व्युच्छ**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो **च**=और **अस्मासु**=हम **मघवत्सु** ऐश्वर्यवाले यज्ञशील पुरुषों में (मघ=ऐश्वर्य, यज्ञ) **रायः स्युः**=वे धन हों जिन्हें कि हम देनेवाले हों। हम यज्ञशील बनें, इन यज्ञों को सिद्ध करने के लिए ऐश्वर्यशाली हों।

भावार्थ—उषा हममें शुभ प्रज्ञान व शुभ कर्मों को स्थापित करे तथा हमें ऐश्वर्यशाली बनाए।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम उषाकाल से पूर्व ही जागनेवाले बनकर 'देव व अमृत' बनें (१)। समाप्ति पर उषा से यही प्रार्थना है कि वह हमें शुभ प्रज्ञानों, कर्मों व ऐश्वर्यों को देनेवाली हो (१५)। अगले सूक्त में भी उषा से ही प्रार्थना करते हैं—

[१२४] चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

क्रियाशीलता

उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्प्र चतुष्पदित्यै॥ १॥

१. **उषा उच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई उषा **नु**=अब **अग्नौ समिधाने**=अग्नियों के समिद्ध किये जाने पर, अर्थात् सज्जनों के अग्निहोत्रादि क्रियाओं में प्रवृत्त होने पर **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ यह सूर्य **उर्विया**=अत्यन्त विस्तार के साथ **ज्योतिः अश्रेत्**=प्रकाश का आश्रय करता है, चारों ओर ज्योति-ही-ज्योति का प्रसार हो जाता है। २. यह उदित हुआ-हुआ **सविता देवः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला दीप्यमान सूर्य **नः**=हमारे लिए **अत्र**=इस जीवन में **अर्थं प्रासावीत्**=धन उत्पन्न करे। अपनी प्रेरणा से हमें कर्मों में प्रवृत्त करके सब वाञ्छनीय वस्तुओं का (अर्थम्) देनेवाला हो। ३. इस सूर्य के उदित होने पर **द्विपत् चतुष्पत्**=सब पक्षी व पशु **प्र इत्यै**=प्रकर्षेण गति के लिए होते हैं। प्रभु-प्रदत्त वासना के अनुसार ये सूर्यप्रकाश में सदा गतिमय बने रहते हैं। सूर्य निकला और ये कर्मों में प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार हमें भी सूर्योदय के साथ ही कर्मों में प्रवृत्त हो जाना चाहिए और पुरुषार्थ के द्वारा अर्थों का उत्पादन करना चाहिए।

भावार्थ—सूर्योदय के साथ ही हम क्रियाशील बनें और अर्थों को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अमिनती प्रमिनती

अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनुष्या युगानि।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनामायतीनां प्रथमोषा व्यद्यौत्॥ २॥

१. **उषाः**=उषा **व्यद्यौत्**=विशेषरूप से चमकती है। वह उषा जो कि **दैव्यानि व्रतानि अमिनती**=दैव्य व्रतों को हिंसित नहीं करती। इस उषा में उन कर्मों की समाप्ति नहीं होती जो कर्म हमें उस देव को प्राप्त करानेवाले हैं। आसन, प्राणायाम, ध्यान व स्वाध्याय आदि कर्मों के

द्वारा हम उस प्रभु के समीप और समीप पहुँचते जाते हैं। २. यह उषा **मनुष्या युगानि**=मनुष्यों के आयुष्य-कालों को **प्रमिनती**-हिंसित करती है। एक एक उषा के आने के साथ हमारा आयुष्य एक-एक दिन कम होता चलता है। ३. यह उषा **शश्वतीनाम्**-सनातन काल से आ रही (नित्यानाम्—सा०) **ईयुषीणाम्**=जो आज तक आ चुकी हैं उन उषाओं की **उपमा**-(ताभिः सादृशी) उपमा है, उन जैसी है तथा **आयतीनाम्**-आगे आनेवाली उषाओं की यह **प्रथमा**=प्रथमभाविनी है। ऐसी यह उषा चमकती है और हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनाती है।

भावार्थ—हम उषा में प्रबुद्ध हों और दैव्य व्रतों का पालन करने में प्रवृत्त हो जाएँ।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्योतिर्वसाना

एषा दि॒वो दु॑हि॒ता प्रत्य॑दर्शि॒ ज्योति॒र्वसा॑ना स॒मना॑ पु॒रस्ता॑त्।
ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मन्वे॑ति सा॒धु प्र॑जान॒तीव॒ न दिशो॑ मिनाति॥ ३॥

१. **एषा**=यह उषा **दिवः दुहिता**-प्रकाश का चारों ओर पूरण करनेवाली है (दुह प्रपूरणे)। इसी रूप में यह प्रत्येक व्यक्ति से **प्रत्यदर्शि**=देखी जाती है। **ज्योतिः वसाना**=यह प्रकाश को आच्छादित करती हुई आती है। इसके आते ही सब दिशाएँ प्रकाशमय हो जाती हैं, प्रकाश करके यह उषा **समना**-सब प्राणियों के लिए सम्यक् (सम्) चेष्टयित्री (अन्) होती है। सभी इसके प्रकाश में अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। २. यह उषा **पुरस्तात्**=आगे आगे **ऋतस्य पन्थां अनु एति**=सूर्य के मार्ग का लक्ष्य करके चलती है (ऋत=सूर्य)। जिस मार्ग पर सूर्य को चलना होता है, यह उसपर उससे तीस योजन पूर्व चल रही होती है। (ऋ० १।१२३।८)। सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील होती हुई यह हमें भी गति की प्रेरणा देती है। यह **साधु**=उत्तमता से **प्रजानती इव**=जानती हुई-सी **दिशः न मिनाति**=अपनी गति की दिशाओं को हिंसित नहीं करती। यह ठीक ही मार्ग पर चलती है। हमें भी इस प्रकार ठीक मार्ग पर चलने का उपदेश करती है।

भावार्थ—ऋत के मार्ग पर चलती हुई, अपने मार्ग की दिशा का हिंसन न करती हुई उषा हमें भी ठीक मार्ग पर चलने का उपदेश करती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ससतो बोधयन्ती

उपो॑ अदर्शि शु॒न्ध्युवो॒ न वक्षो॑ नो॒धाइ॑वा॒विर॑कृत प्रि॒याणि॑।
अ॒द्म॒सन्न स॑स॒तो बो॒धय॑न्ती शश्वत्त॒मागा॒त्पुन॑रे॒युषी॑णाम्॥ ४॥

१. सारे संसार का शोधन कर देने से सूर्य 'शुन्ध्यु' कहलाता है। **शुन्ध्युवः वक्षः न**=सूर्य के वक्षःस्थल के समान यह उषा **उप उ**=समीप ही **अदर्शि**=प्रत्येक व्यक्ति से देखी जाती है। उषा क्या है? सूर्य का ही वक्षःस्थल है। सूर्य-पुत्री होने से सूर्य के हृदय से ही तो यह आविर्भूत हुई है—'हृदयादधिजायसे'। २. **नोधा इव**=(नवनं दधातीति नोधाः) स्तवन को धारण करनेवाले के समान यह **उषा प्रियाणि**=प्रियों को **आविः अकृत**=प्रकट करती है। स्तोता जैसे प्रिय स्तोत्रों का उच्चारण करता है, उसी प्रकार यह उषा हमारे लिए 'सन्तापशून्य प्रकाश तथा जीवनशक्ति से युक्त वायु' आदि को प्रकट करती है। इस उषाकाल के समय वायुमण्डल में ओज़ोन गैस का प्राचुर्य होता है। यह ओज़ोन प्रातः भ्रमणशील पुरुषों के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त

हितकर होती है। ३. **अद्मसत् न**=(अद्म=गृह) गृह में स्थित होनेवाली गृहिणी के समान **ससतः**=सोनेवालों को यह **बोधयन्ती**=जगानेवाली होती है। जैसे घर में माता सोये हुए बालकों को जागने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार यह उषा सोनेवालों को जगाती है, मानो उन्हें प्रेरणा देती है कि 'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत'=उठो, जागो, ज्ञानियों को प्राप्त करके ज्ञान का वर्धन करो। ४. इस प्रकार पुनः **एयुषीणाम्**-फिर आगे आनेवाली उषाओं की **शश्वत्तमा आगात्**=सनातन काल से आनेवाली यह उषा आई है। यह उषा सदा से चली आ रही है और आगे आती रहेगी।

भावार्थ—सूर्य के वक्ष:स्थल के समान दिखनेवाली यह उषा हमारे लिए प्रिय वस्तुओं को प्रकट करती है और माता के समान हमें जगाती हुई सदा से आ रही है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

आधे से पूरे की ओर

पूर्वे अर्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्र्यकृत प्र केतुम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीय ओभा पृणन्ती पित्रोरुपस्था॥ ५॥

१. **अप्त्यस्य**=सर्वत्र प्राप्त—व्यापक **रजसः**=इस अन्तरिक्षलोक के **पूर्वे अर्धे**=पूर्व के भाग में **गवां जनित्री**=अपनी रश्मियों को प्रादुर्भूत करनेवाली यह उषा **प्रकेतुं अकृत**=प्रकृष्ट ज्ञान को प्रकट करती है। पहले-पहले पूर्व दिशा में उषा की अरुण रश्मियाँ उदित होती हैं और ये आकाश के उस भाग को प्रकाशमय कर देती हैं। २. **उ**=और अब यह उषा **वितरम्**=खूब ही **वरीयः**=(उरुतरम्) अनन्त विस्तार के साथ **वि प्रथते**=विशेषरूप से फैलती है। इसका प्रकाश अधिक और अधिक फैलता जाता है और कुछ ही देर बाद यह **पित्रोः**=पिता और माता के रूप में विद्यमान द्यावापृथिवी की **उभा उपस्था**=दोनों गोदों को **आ पृणन्ती**=सब ओर भर रही होती है। द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य को यह अपने प्रकाश से पूर्ण कर देती है।

भावार्थ—पूर्वभाग में उदित होती हुई यह उषा अपने प्रकाश को सर्वत्र फैलानेवाली होती है। अपने आराधकों को भी यही प्रेरणा देती है कि वे अपने ज्ञान-दीपक को ज्ञान-सूर्य में परिवर्तित करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पुरुतमा उषा

एवेदेषा पुरुतमा दृशे कं नाजामिं न परि वृणक्ति जामिम्।
अरेपसा तन्वा३ शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती॥ ६॥

१. **एव**=पिछले मन्त्र में कहे प्रकार से **इत्**=निश्चयपूर्वक **एषा**=यह उषा **पुरुतमा**=अतिशयेन पालन व पूरण करनेवाली होती है। यह आराधकों को शरीर से नीरोग बनाती है तो मन के दृष्टिकोण से उन्हें न्यूनताओं से रहित करती है। यह **दृशे कम्**=सब पदार्थों के दर्शन के लिए सुख को प्राप्त कराती है, अर्थात् हमें सुखपूर्वक सब पदार्थों के दर्शन के योग्य बनाती है। यह **न**=न तो **अजामिम्**=अबन्धु को और **न जामिम्**=न ही बन्धु को **परिवृणक्ति**=इस प्रकाश प्राप्त कराने के कार्य में छोड़ती है। यह सभी को प्रकाश प्राप्त कराती है। देव इसके बन्धु हैं तो मनुष्यों के साथ बन्धुत्व न होते हुए भी यह देवलोक व इस मर्त्यलोक दोनों को समानरूप से प्रकाशित करती है। २. यह समान भाव ही इसे निर्दोष बनाता है। किसी के प्रति राग-द्वेषवाली न होती हुई यह उषा **अरेपसा**=निर्दोष **तन्वा**=शरीर से **शाशदाना**=निरन्तर गति करती हुई

और **विभाती**=विशेषरूप से चमकती हुई **न अर्भात् इषते**=न छोटे छोटे कणों से दूर होती है और **न महः**=न महान् पर्वतादि से दूर होती है। जैसे छोटे-छोटे कणों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार महान् पर्वतों को। जैसे यह दूर और समीप के सभी देशों को प्रकाशमय करती है, उसी प्रकार कणों व पर्वतादि सभी वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाली है।

भावार्थ—सभी को समानरूप से प्रकाश प्राप्त कराती हुई उषा निर्दोष रूपवाली है, आराधकों को भी इस समानता का पाठ पढ़ाती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'हस्त्रा' उषा

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव नि रिणीते अप्सः॥७॥

१. **अभ्राता**-बिना भाईवाली युवति **इव**-जैसी **प्रतीची पुंसः एति**-अपने पतिगृह से लौटती हुई पिता के प्रति जाती है, पिता से ही इष्ट आभूषणादि प्राप्त करती है, उसी प्रकार यह उषा भाई के न होने से पितृस्थानीय सूर्य से ही प्रकाश प्राप्त करने के लिए उपस्थित होती है। २. **इव**=जैसे कोई युवति **धनानां सनये**-अपने अंशभूत धनों को प्राप्त करने के लिए **गर्तारुक्**=(गर्तमारोहति) न्यायाधिष्ठान का आरोहण करती है, इसी प्रकार यह उषा प्रकाशरूप धन की प्राप्ति के लिए अपने पितृभूत सूर्य के गृह इस आकाश में आरूढ़ होती है (गर्त=गृह, न्यायाधिष्ठान)। ३. सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके **सुवासाः**=प्रकाशरूप उत्तम वस्त्रवाली यह उषा **हस्त्रा इव**-हँसती हुई-सी **अप्सः**=अपने उज्ज्वलरूप को **निरिणीते**=प्राप्त करती है, हमारे प्रति प्रकाशित करती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **उशती**=कामयमाना **जाया**-पत्नी **पत्ये**=पति के लिए रूप को प्रकट करती है।

भावार्थ—उषा सूर्य से प्रकाशरूप धन को प्राप्त करके अपने उज्ज्वलरूप को हमारे लिए व्यक्त करती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रात्रि का उषा के लिए स्थान रिक्त करना

स्वसा स्वस्त्रे ज्यायस्यै योनिमारैगपैत्यस्याः प्रतिचक्ष्येव।
व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगाइव व्राः॥८॥

१. एक ही अन्तरिक्ष में उत्पन्न होने से रात्रि और उषा बहिनें हैं। इनमें उषा से दिन के आरम्भ होने के कारण उषा को ज्येष्ठ बहिन कहा गया है (प्रातः=उषा, अहन्=सायं, रात्रि)। यही तो चौबीस घण्टों का क्रम है। इनमें **स्वसा**=छोटी बहिन अर्थात् रात्रि **ज्यायस्यै स्वस्त्रे**=अपनी बड़ी बहिन उषा के लिए **योनिम्**=स्थान को **आरैक्**=खाली कर देती है। उषा के आते ही रात्रि चली जाती है, मानो रात्रि उषा के लिए स्थान खाली कर देती है। **अस्याः**=इस उषा को **प्रतिचक्ष्य इव**=देख व जानकर ही **अप एति**=वह रात्रि दूर चली जाती है। बड़ी के आ जाने पर छोटी का वहाँ पड़े रहना ठीक भी तो नहीं। २. यह उषा **व्युच्छन्ती**-अन्धकार को दूर करती हुई **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की रश्मियों से **अञ्जि अङ्क्ते**=इस व्यक्त जगत् को प्रकाशित—अलंकृत करती है। रात्रि के समय यह सारा संसार 'तमोभूत, अप्रज्ञात व अलक्षण'-सा हो रहा था। उषा के आते ही अन्धकार दूर होता है, यह जगत् व्यक्त-सा होने लगता है और थोड़ी देर में सूर्य-प्रकाश से अलंकृत हो उठता है तथा प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणों से लक्षित होने लगती

है। ३. अब ये **व्राः**=आकाश को आच्छादित करनेवाली (वृ-आच्छादने) सूर्यकिरणें **समनगाः इव**=(सम्, अन्, गा) सम्यक् अनन—प्राणन के लिए ही मानो गतिशील होती हैं। सब लोग प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—उषा आती है। रात्रि इसके लिए स्थान रिक्त कर देती है। उषा जगत् को प्रकाश से अलंकृत कर देती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुदिना उषासः

आसां पूर्वासामहसु स्वसॄणामपरा पूर्वामभ्येति पश्चात्।
ताः प्रत्नवन्नव्यसीर्नूनमस्मे रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः॥ ९॥

१. सब उषाएँ परस्पर बहिनों के समान हैं। **आसाम्**=इन **पूर्वासां स्वसॄणां**=पुरातन बहिनों में **अहसु**=दिनों में **अपरा**=पिछले दिन में आनेवाली उषा **पूर्वाम्**=पहले दिन में आ चुकी उषा के **पश्चात्**=पीछे **अभ्येति**=आती है। इस प्रकार इनका क्रम चलता आ रहा है। २. **ताः**=वे **नव्यसीः**=नवीन उषाएँ भी **प्रत्नवत्**=पुरातन उषाओं की भाँति **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **अस्मे**=हमारे लिए **रेवत्**=धनवाली होकर **उच्छन्तु**=प्रकाशित हों। जिस प्रकार गत उषाएँ हमारे लिए वृद्धि का कारण बनीं, उसी प्रकार ये नवीन उषाएँ भी हमारे लिए ऐश्वर्य को देनेवाली हों। इस प्रकार ये सब **उषासः**-उषाएँ हमारे लिए **सुदिनाः**=शोभन दिनों का कारण बनें।

भावार्थ—उषाएँ हमारे लिए ऐश्वर्य को लानेवाली हों। ये हमारे लिए दिनों को शुभ बनाएँ।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पणयः ससन्तु

प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।
रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत्स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती॥ १०॥

१. हे **मघोनि**=ऐश्वर्यों से सम्पन्न **उषः**=उषे! **पृणतः**=देनेवालों को, अपने धन का यज्ञों में विनियोग करनेवालों को **प्रबोधय**=तू जागरित कर। ये देनेवाले यज्ञशील पुरुष उद्बुद्ध होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों, इसके विपरीत **पणयः**=व्यापार की वृत्तिवाले, अत्यागशील पुरुष **अबुध्यमानाः**=अप्रबुद्ध हुए-हुए **ससन्तु**=सोये रहें। ये दीर्घ निद्रा में ही चले जाएँ, अर्थात् मृत हो जाएँ (म्रियन्ताम्—सा०) २. हे **मघोनि**=ऐश्वर्यसम्पन्न उषे! तू इन **मघवद्भ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **रेवत्**=ऐश्वर्यवाली होकर **उच्छ**=अन्धकार को दूर कर। इनके लिए तू ऐश्वर्य देनेवाली हो। ३. हे **सूनृते**=(सु, ऊन्, ऋत) शोभने! दुःखों को दूर करनेवाली तथा ठीक समय पर आनेवाली उषे! **जारयन्ती**=सब अन्धकारों व दोषों को जीर्ण करती हुई तू **स्तोत्रे**=स्तोता के लिए—प्रभुस्तवन करनेवाले के लिए **रेवत्**=ऐश्वर्यवाली होकर उदित हो।

भावार्थ—दानशील (पृणतः) यज्ञशील (मघवद्भ्यः) स्तवन करनेवाले (स्तोत्रे) पुरुष उषाकाल में प्रबुद्ध हों। उषा इनके लिए ऐश्वर्यों को देनेवाली हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अग्निहोत्र

अवेयमश्वैद्युवतिः पुरस्ताद्युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
वि नूनमुच्छादसति प्र केतुर्गृहंगृहमुप तिष्ठाते अग्निः॥ ११॥

१. **इयम्**-यह **युवतिः**-अन्धकार को दूर करने व प्रकाश से मेल करानेवाली उषा **अव अश्वैत्**=अतिशयेन वृद्धि को प्राप्त करती है (श्वि-वृद्धि) अथवा तीव्र गतिवाली होती है (श्वि गतौ)। यह उषा **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **अरुणानाम्**=कुछ-कुछ लाल **गवाम्**=किरणों के **अनीकम्**= समूह को **युङ्क्ते**=अपने साथ जोड़ती है। इस युवति उषा के रथ की संचालक ये अरुण गौएँ ही तो हैं (अरुण्यः गावः उषसाम्)। २. यह उषा **नूनम्**=निश्चय से **वि उच्छात्**=अन्धकार को दूर करती है और **असति**-रात्रि के अन्धकार में किसी भी वस्तु के न दिखने से असत्प्राय इस अन्तरिक्ष में **प्रकेतुः**-प्रकर्षेण पदार्थों का ज्ञापन करनेवाली होती है। इस प्रकार प्रकाश में सब पदार्थों के दिखने के पश्चात् **गृहं गृहम्**-प्रत्येक घर में **अग्निः**=अग्नि **उपतिष्ठाते**=उपस्थित होती है, लोग अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और अग्निकुण्डों में अग्नि का आधान करते हैं। वस्तुतः उषाकाल में शोधन व स्नानादि कार्यों से निवृत्त होकर प्रत्येक दम्पती को इस अग्निहोत्र में प्रवृत्त होना चाहिए। यह घर की वायु की शुद्धि के लिए—उसके द्वारा नीरोगता के लिए व सौमनस्य के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—उषा की अरुण किरणों के आते ही सब असत्प्राय संसार सत् हो जाता है। इस सत्-संसार में सत्कार्यों को करते हुए अग्निहोत्र से दिन को प्रारम्भ करना चाहिए।

सूचना—वैदिक राज्यपद्धति में **राजा अग्निहोत्र न करनेवाले को भी वही दण्ड देता है जो चोर को।** अग्निहोत्र प्रत्येक घर में होना आवश्यक ही है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों में प्रवृत्ति

उत्ते वयश्चिद्वसतेरपप्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ।
अमा सते वहसि भूरि वाममुषो देवि दाशुषे मर्त्याय॥ १२॥

१. हे उषे! **ते व्युष्टौ**=तेरे निकलने पर, तेरे द्वारा अन्धकार के दूर किये जाने पर **वयः-चित्**=पक्षी भी **वसतेः**-अपने निवास-स्थानभूत घोंसलों से **उत् अपप्तन्**-निकलकर (उत्=out) उड़ने लगते हैं **च**-और **ये**-जो **पितुभाजः**-अन्नादि की प्राप्ति के लिए विविध कार्यों का सेवन करनेवाले **नरः**=मनुष्य हैं, वे भी अपने घरों से बाहर निकल पड़ते हैं; विविध कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए उन उन स्थानों की ओर चल देते हैं। २. हे **देवि उषः**=प्रकाशमय उषे! तू **अमा सते**=सदा प्रभु के साथ निवास करनेवाले सत्पुरुष के लिए—प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों को करनेवाले के लिए **भूरि**=पालन-पोषण के लिए पर्याप्त **वामम्**-सुन्दर धन को **वहसि**-प्राप्त कराती है। **दाशुषे**=देने की वृत्तिवाले **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए तू सुन्दर धन देती है। प्रभुभक्त पुरुषार्थ करता हुआ उस धन को प्राप्त करता है जो धन (क) पालन-पोषण के लिए पर्याप्त (भूरि) होता है, (ख) जो उत्तम साधनों से कमाया जाने के कारण उसके जीवन को सुन्दर (वामम्) बनाता है तथा (ग) जो धन-दानादि उत्तम कार्यों में विनियुक्त होता है (दाशुषे)। प्रभु से दूर रहनेवाला टेढ़े-मेढ़े साधनों से खूब धन जुटाता है। यह धन उसे विलास व विनाश की ओर ले जाता है, उसके जीवन को विकृत कर देता है और यह धन यज्ञ आदि में विनियुक्त नहीं होता।

भावार्थ—उषा के होते ही सब अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। प्रभुस्मरण करनेवाले पालन-पोषण के लिए पर्याप्त, सुन्दर व दान में विनियुक्त होनेवाले धन को प्राप्त करके 'देव' बनते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः । देवता—उषाः । छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

उषा का स्तवन

अस्तोढ्वं स्तोम्या ब्रह्मणा मेऽवीवृधध्वमुशतीरुषासः।
युष्माकं देवीरवसा सनेम सहस्रिणं च शतिनं च वाजम्॥ १३ ॥

१. हे **स्तोम्याः**=स्तुति के योग्य **उषासः**=उषाओ! तुम **ब्रह्मणा**=मेरे स्तोत्र—स्तुतिवचन से **अस्तोढ्वम्**=स्तुत होओ। इन उषाकालों में हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। उषाकालों में यही सबसे उत्तम करने योग्य कार्य है। यही उषा का आदर भी है। इस समय सोये रहना या उठकर झगड़ने आदि व्यर्थ के कार्यों में लगना—यह उषा का निरादर ही है। २. हे **उशतीः**=हमारे हित की कामना करनेवाली उषाओ! तुममें हमारे स्तवन आदि कार्यों से **अवीवृधध्वम्**=हमारा वर्धन करनेवाली होओ। उषाकाल में हम वृद्धि के साधनभूत कार्यों को ही करनेवाले हों। ३. हे **देवीः**=प्रकाशमयी उषाओ! **युष्माकं अवसा**=तुम्हारे रक्षण के द्वारा हम उस **वाजम्**=शक्ति व धन को **सनेम**=प्राप्त करें **सहस्रिणम्**=जो सदा उल्लास से युक्त (स+हस्) है **च+च**=तथा **शतिनम्**=सौ वर्ष तक चलनेवाला है। उषाकाल में प्रभुस्तवन व अन्य वृद्धि के कार्यों में लगने पर हमारी शक्ति शतवर्षपर्यन्त स्थिर रहती है और हमारा धन हमारे विनाश का कारण नहीं बनता। इस प्रकार उषा हमारा रक्षण करती है और उत्तम कार्यों में लगने के द्वारा हम उषा का आदर करते हैं।

भावार्थ—उषाकाल में उठकर 'प्रभुस्तवन करना, वृद्धि के कारणभूत कार्यों में लगना' यही उषा का स्तवन है। उषा हमें उस धन व शक्ति को प्राप्त कराती है जोकि हमारे उल्लास और दीर्घजीवन का कारण बनते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा गया है कि उषा के होते ही हम क्रियाशील बनें (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि हम प्रभुस्तवन व वृद्धि के कारणभूत कार्यों में प्रवृत्त हों (१३)। 'क्रियाशील पति-पत्नी ही रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करते हैं' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१२५] पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः । देवता—दम्पती । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्रातरित्वा

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या नि धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः॥ १ ॥

१. प्रस्तुत सूक्त का देवता 'दम्पती' पति-पत्नी हैं। जो भी पति-पत्नी **प्रातः इत्वा**=बहुत जल्दी उठकर क्रियाशील जीवन आरम्भ करते हैं, आलस्य को परे फेंककर अपने कर्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे **प्रातः**=इस प्रातःकाल में **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को **दधाति**=धारण करते हैं। २. **तं चिकित्वान्**=इन रमणीय वस्तुओं के महत्त्व को समझता हुआ व्यक्ति उन वस्तुओं को **आ प्रतिगृह्य**=एक-एक करके ग्रहण करता हुआ **निधत्ते**=अपने जीवन में पूर्णरूपेण स्थापित करता है। उषा के द्वारा प्राप्त कराये गये स्वास्थ्य को शरीर में धारण करता है तो प्रकाश को मस्तिष्क में। ३. **तेन**=इन रमणीय वस्तुओं के द्वारा **प्रजां वर्धयमानः**=अपनी सन्तानों का भी वर्धन करता हुआ **आयुः**=अपने जीवन को **रायस्पोषेण सचते**=धन के पोषण से समवेत करता है और **सुवीरः**=उत्तम वीर बनता है। वीर बनकर ही तो वह प्रभु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर क्रियाशील रहनेवाला व्यक्ति स्वास्थ्य व ज्ञान के प्रकाशरूप रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करता है। इससे जहाँ यह अपनी सन्तानों को उत्तम बना पाता है वहाँ दीर्घ जीवन व सम्पत्ति को प्राप्त करता हुआ वीर बनता है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुगुः, सुहिरण्यः, स्वश्वः

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रातः प्रबुद्ध होकर गतिशील होनेवाला व्यक्ति **सुगुः असत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं (इन्द्रियों)-वाला होता है। इन ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्रकाश करता हुआ यह **सुहिरण्यः**-उत्तम ज्ञानज्योतिवाला बनता है—'हिरण्यं वै ज्योतिः'। **स्वश्वः**=यह उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वोंवाला होता है और **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अस्मै**-इस प्रातरित्वा के लिए **बृहत् वयः**=(बृहि वृद्धौ) सब प्रकार से बढ़ी हुई शक्तियोंवाले आयुष्य को **दधाति**-धारण करता है। कर्मेन्द्रियों से उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही इस 'बृहत् वयः' की प्राप्त होती है। २. हे **प्रातरित्वः**=प्रातः प्रबुद्ध होकर कर्तव्यों में लगनेवाले जीव! ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **आयन्तम्**=(आ समन्तात्, इ गतौ) चारों ओर से कार्यों में व्यापृत होनेवाले **त्वा**-तुझे **वसुना**=सब वसुओं से—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों से **उत्सिनाति**-उत्कृष्ट रूप से बद्ध करते हैं, उसी प्रकार **इव**-जैसे कि **मुक्षीजया**=रज्जु से **पदिम्**=इधर-उधर गति करनेवाले पशु-पक्षी को बाँधते हैं। बद्ध पशु अपने स्वामी से दूर नहीं होता, इसी प्रकार वसुओं से बँधा हुआ यह प्रातरित्वा प्रभु से दूर नहीं जाता। प्रभु से दूर जाने की अपेक्षा यह प्रभु के अधिक समीप रहने का ध्यान करता है। यह प्रभु को ही सब वसुओं के निधान के रूप में देखता है।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभुपूजन आदि कर्मों में व्यापृत होनेवाला व्यक्ति (क) उत्तम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानी बनता है, (ख) उत्तम कर्मेन्द्रियों से उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, (ग) वसुओं को प्राप्त करता हुआ प्रभु के और अधिक निकट हो जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुकृत, इष्टि-पुत्र' प्रभु की ओर

आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्निष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन।
अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभिः॥ ३॥

१. प्रातरित्वा प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अद्य**-आज **प्रातः**=इस दिन के प्रारम्भ में **सुकृतम्**=इस सुन्दर संसार की रचना करनेवाले **इष्टेः**=यज्ञों के **पुत्रम्**=(पुरु त्रायते—नि०) खूब रक्षण करनेवाले आपको **इच्छन्**=चाहता हुआ, आपकी प्राप्ति की कामना करता हुआ मैं **वसुमता रथेन**=आपसे दिये हुए उत्तम वसुओं-(ऐश्वर्यों)-वाले इस शरीररूप रथ से **आयम्**=समन्तात् गतिवाला हुआ हूँ, अपने विविध कार्यों में व्यापृत हुआ हूँ। २. आप मुझे **मत्सरस्य**=(मद् सर) आनन्द का सञ्चार करनेवाले **अंशोः**=मुझे आपका ही अंश-(छोटा रूप) बनानेवाले सोमशक्ति के—वीर्यशक्ति के **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न अंश का **पायय**=पान कराइए। आपकी उपासना करता हुआ मैं सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर सकूँ। इस सोम के रक्षण से ही तो मैं सोमरूप आपको प्राप्त कर सकूँगा। ३. सोमरक्षण के द्वारा **क्षयद्वीरम्**=वीरता के निवासस्थानभूत मुझे **सूनृताभिः**-उत्तम, दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाली ऋतवाणियों से **वर्धय**=बढ़ाइए। सोमरक्षण

से वीर बनकर मैं सूनृत वाणियों का ही प्रयोग करूँ। यही तो वृद्धि का मार्ग है।

भावार्थ—'मैं शरीर को वसुमान बनाकर कर्तव्यपरायण बनूँ' यही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। सोम का रक्षण करता हुआ मैं वीर बनूँ और सूनृत वाणियों का ही उच्चारण करूँ। सच्चा प्रभुभक्त ऐसा ही करता है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

ईजान, यक्ष्यमाण, पृणत् व पपुरि

उप॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वो मयो॒भुव॑ ईजा॒नं च॑ य॒क्ष्यमा॑णं च धे॒नव॑ः।
पृ॒णन्तं॑ च॒ पपु॑रिं च श्रव॒स्यवो॑ घृ॒तस्य॒ धारा॒ उप॑ यन्ति वि॒श्वत॑ः॥ ४॥

१. **सिन्धवः**=स्यन्दनशील, बहने के स्वभाववाले, **मयोभुवः**=सुरक्षित होने पर कल्याण व नीरोगता को जन्म देनेवाले **धेनवः**=शरीर में सब शक्तियों का आप्यायन करके प्रीणित करनेवाले सोमकण—वीर्यशक्ति के कण **ईजानं च**=(यज् देवपूजा) सर्वशक्तिमान् देव का पूजन करनेवाले **यक्ष्यमाणं च**=और यज्ञादि उत्तम कर्म करनेवाले व्यक्ति को **उपक्षरन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं। वीर्यकणों को शरीर में ही सुरक्षित रखने का साधन यही है कि (क) हम प्रभु का पूजन करें, (ख) यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें। २. **पृणन्तं च**=सदा दान देनेवाले को **पपुरिं च**=और दान के द्वारा दूसरों का पालन व पोषण करनेवाले को **विश्वतः**=सब ओर से वे **घृतस्य धाराः**=घृत की, मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की धाराएँ—धारण-शक्तियाँ **उपयन्ति**=समीप्ता से प्राप्त होती हैं, जोकि **श्रवस्यवः**=उसके यश की कामना करनेवाली होती हैं, उसके यश को चारों ओर फैलानेवाली होती हैं। दान की वृत्ति से लोभ का नाश होकर सब व्यसनों का अन्त हो जाता है और इस पृणन्-पपुरि का यश चारों ओर फैलता है।

भावार्थ—प्रभुपूजन व उत्तम कर्मों में लगे रहने के द्वारा हम सोम का शरीर में संरक्षण करें और दान की वृत्ति को अपनाकर यशस्वी बनें।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

दान से देवत्व की प्राप्ति

नाक॑स्य पृ॒ष्ठे अधि॑ तिष्ठति श्रि॒तो यः पृ॒णाति॒ स ह॑ दे॒वेषु॑ गच्छति।
तस्मा॒ आपो॑ घृ॒तम॑र्षन्ति॒ सिन्ध॑व॒स्तस्मा॑ इ॒यं दक्षि॑णा पिन्वते॒ सदा॑॥ ५॥

१. **श्रितः**=(श्रितं अस्य अस्तीति) लोकसेवा की वृत्तिवाला **यः**=जो **पृणाति**=लोकहित के कार्यों के लिए सदा दान करता है वह **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गलोक के पृष्ठ पर **अधितिष्ठति**=अधिष्ठित होता है। लोकहित के लिए दान देनेवाला सुख-प्राप्ति का अधिकारी होता है तथा **सः**=वह **ह**=निश्चय से **देवेषु गच्छति**=मनुष्यों से ऊपर उठकर देवों में चला जाता है। सामान्य मनुष्य न रहकर वह देव बन जाता है। दान से अशुभ भावनाओं का नाश होकर शुभ भावनाओं का उदय होता है। ये शुभ भावनाएँ उसे देव बना देती हैं। २. **तस्मै**=इस देव के लिए **सिन्धवः**=ये बहनेवाले **आपः**=जल—शरीरस्थ सोमकण **घृतम्**=मलों के क्षरण व दीप्ति को **अर्षन्ति**=प्राप्त कराते हैं। दान की वृत्तिवाले में व्यसनों व वासनाओं के अंकुरित व विकसित न होने से सोम का रक्षण होता है और यह सोम जहाँ शरीरस्थ मलों को दूर करके शरीर को नीरोग बनाता है, वहाँ मस्तिष्क को ज्ञान की दीप्ति से युक्त करता है। **तस्मै**=उस दानशील पुरुष के लिए **इयम्**=यह **दक्षिणा**=दानशीलता सदा **पिन्वते**=सदा आप्यायन व प्रीणन का कारण बनती है। दान से मनुष्य का सब प्रकार से वर्धन ही होता है। दान से धन भी बढ़ता है, सन्तान भी उत्तम

बनती है और मनुष्य यशस्वी होता है। वासनाएँ दूर होकर जीवन तो सुन्दर बनता ही है।

भावार्थ—दानशीलता हमें सुख का अधिकारी बनाती है, हमें देव बनाती है, इससे हम स्वस्थ व ज्ञान दीप्तिवाले बनते हैं। यह सब प्रकार से हमारा वर्धन करती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दान का महत्त्व

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ ६॥

१. **दक्षिणावताम्**=दानशील पुरुषों के **इत्**=निश्चय से **इमानि**-ये लोक **चित्रा**-अद्भुत बनते हैं। ये इस लोक में आश्चर्यजनक उन्नति करते हैं और 'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'=इस दान को सप्तगुणित करके प्राप्त करते हुए ये अभ्युदय को सिद्ध करते हैं। २. **दक्षिणावताम्**=दान देनेवालों के ही **दिवि**-मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विज्ञान के **सूर्यासः**=सूर्य उदित होते हैं। कृपणवृत्तिवाले लोग तो धन के दास बनकर लक्ष्मी के वाहनभूत 'उल्लू' ही बन जाते हैं। ३. **दक्षिणावन्तः**-ये दानशील व्यक्ति **अमृतं भजन्ते**=नीरोगता को प्राप्त करते हैं। दान से वृत्ति यज्ञिय बनी रहती है। इनकी वृति भोगप्रवण (इन्द्रियों के विषयों में लिप्त) न होने से इन्हें रोग नहीं सताते और ये अमृत (दीर्घायु) बने रहते हैं। इस प्रकार ये **दक्षिणावन्तः**=दानशील पुरुष **आयुः प्रतिरन्त**=अपने आयुष्य को बढ़ाते हैं। दान से जीवन दीर्घ बनता है।

भावार्थ—दान से यह लोक अभ्युदय-सम्पन्न होता है। ज्ञान का विकास होता है, नीरोगता प्राप्त होती है और आयु दीर्घ होती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पृणन् व अपृणन् की तुलना

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः॥ ७॥

१. **पृणन्तः**-दान देनेवाले **दुरितम्**=दुर्गति व दुःख को तथा **एनः**-दुःख के कारणभूत पाप को **मा आरन्**-प्राप्त न हों। दान से व्यसन-वृक्ष के मूलभूत लोभ का ही विनाश हो जाता है। व्यसनों की समाप्ति से कष्ट भी समाप्त हो जाते हैं। २. इस प्रकार दुरित व एनस् से ऊपर उठनेवाले **सुव्रतासः**=उत्तम 'सत्य, यश, श्री' आदि की प्राप्ति के व्रतोंवाले **सूरयः**=ज्ञानीपुरुष **मा जारिषुः**=जीर्ण न हों। भोगों में फँसने से ही तो रोगों व जरा का भय होता है। भोगातीत जीवन जीर्णता से ऊपर उठा रहता है। ३. **तेषाम्**=उन सुव्रत, सूरि पुरुषों का **अन्यः**-वह विलक्षण **कश्चित्**=निश्चय से आनन्दस्वरूप प्रभु **परिधिः अस्तु**-सब ओर से धारण—रक्षण करनेवाला हो। ये सुव्रत पुरुष केन्द्र में निवास करते हैं, प्रभु परिधि होते हैं। इस परिधि से रक्षित होने से ये सुव्रत पुरुष दुरितों व पापों के शिकार नहीं होते। ४. इनके विपरीत **अपृणन्तम्**-दान न देनेवाले को **शोकाः अभि संयन्तु**-सब ओर से शोक प्राप्त होते हैं। ये ऐहिक ऐश्वर्य को भी नष्ट कर बैठते हैं, आमुष्मिक निःश्रेयस को तो इन्हें प्राप्त ही क्या करना?

भावार्थ—दान से दुरित दूर होते हैं, अदानवृत्ति शोक का कारण बनती है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रातः प्रबुद्ध होकर क्रियाशील होनेवाला व्यक्ति रत्नों को प्राप्त करता है (१)। समाप्ति पर कहा है कि दान से दुरित दूर होते हैं (७)। इस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाता हुआ 'कक्षीवान्' प्रभु का खूब ही स्मरण करता है ताकि

यह सुन्दरता स्थिर रहे—

[१२६] षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अहिंसित, दीप्त, यशस्वी' जीवन

अमन्दान्त्स्तोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः॥ १॥

१. कक्षीवान् (जीवन में उन्नति के लिए दृढ़निश्चयवाला पुरुष) व्रत लेता है कि मैं **सिन्धौ**=हृदय-देश में, मानस (सरोवर) में **अधिक्षियतः**=अधिष्ठातृरूपेण निवास करते हुए **भाव्यस्य**=(सर्वत्र भवतीति भाव्यः) सर्वव्यापक प्रभु को **अमन्दान्**=कालक्रम में शिथिल न पड़नेवाले, सर्वदा एकरूप में चलनेवाले **स्तोमान्**=स्तुतिसमूहों को **प्रभरे**=प्रकर्षेण धारण करता हूँ। सदा प्रभु का स्तवन करता हूँ, इसमें शैथिल्य नहीं आने देता। मेरा यह स्तवन **मनीषा**=बुद्धिपूर्वक होता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस योगसूत्र के अनुसार मैं प्रभु के नाम का जप अर्थ-चिन्तनपूर्वक करता हूँ। यह जप यान्त्रिक-सा नहीं हो जाता। २. यहाँ हृदय को सिन्धु कहा है, जैसे सिन्धु जलों का महान् आशय है, उसी प्रकार यह हृदय भी सम्पूर्ण रुधिर का आशय है। 'मानसरोवर में हँस तैरता है' इसका भाव भी यही है कि हृदय में उस आत्मा का निवास है। 'अत गतौ' से आत्मा शब्द बनता है और 'हन सातत्यगमने' से हंस। इस प्रकार आत्मा व हंस पर्यायवाची हैं। हृदय उस सर्वव्यापक प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवास-स्थान है, क्योंकि यहाँ 'आत्मा और परमात्मा' दोनों का निवास होने से आत्मा 'परमात्मा' का दर्शन करता है। ३. ये हृदयस्थ प्रभु वे हैं, **यः**=जो **मे**=मेरे **सहस्रम्**=हज़ारों **सवान्**=यज्ञों को **अमिमीत**=निर्मित करते हैं, सिद्ध करते हैं। प्रभुकृपा से ही तो सब यज्ञपूर्ण होते हैं। 'हमारे सब यज्ञ उस प्रभु की कृपा से पूर्ण होते हैं'—यह भावना हमें उन यज्ञों के अहंकार से ऊपर उठाती है। ४. वे प्रभु **अतूर्तः**=अहिंसित हैं। उन्हें कोई भी विहत नहीं कर सकता। प्रभु मेरे साथ होते हैं तो मेरे सब कार्य निर्विघ्नता से पूर्ण होते हैं। **राजा**=वे प्रभु शासक हैं, उन्हीं के शासन में यह सम्पूर्ण विश्व चलता है। **श्रवः इच्छमानः**=वे प्रभु सदा मेरे यश को चाहते हैं, मेरे जीवन को यशस्वी बनाते हैं। पिता पुत्र के यश को चाहता ही है। प्रभु के समीप होने से मेरा जीवन वासनाओं से अहिंसित (अतूर्त) दीप्त (राजा) व यशस्वी (श्रवः) बनता है।

भावार्थ—प्रभु का निरन्तर स्तवन मेरे जीवन को यज्ञमय बनाता है। इस स्तवन के कारण मैं वासनाओं से हिंसित नहीं होता, दीप्त जीवनवाला बनता हूँ और यशस्वी होता हूँ।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञों का साधन व यशस्वी जीवन

शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान्त्सद्य आदम्।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु मेरे जीवन में शतशः यज्ञों का साधन करते हैं। इन यज्ञों की पूर्ति के लिए वे प्रभु मुझे ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाते हैं। उस **नाधमानस्य**=(नाध=ऐश्वर्य) ऐश्वर्य-सम्पन्न **राज्ञः**=सम्पूर्ण विश्व के शासक प्रभु के **निष्कान्**=सुवर्णों को (निष्क=Gold) **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **आदम्**-ग्रहण करता हूँ। प्रभुकृपा से आजीवन मुझे वह धन प्राप्त होता रहता है, जिससे

कि मैं यज्ञों का साधन कर पाता हूँ। २. इस धन के साथ मैं **प्रयतान्** पवित्र **अश्वान्**-कर्मेन्द्रियों को (अश्नुते कर्मसु) भी **सद्यः**=शीघ्र ही **शतम्**-आजीवन आदम्=प्राप्त करता हूँ। इन कर्मेन्द्रियों से ही तो यज्ञादि उत्तम कर्मों का साधन होगा। ३. **कक्षीवान्**-जीवन को यज्ञों के लिए अर्पित करने के लिए दृढ़ निश्चयवाला मैं **असुरस्य**=(असु क्षेपणे) धनों को बिखेरनेवाले अर्थात् धन की वर्षा करनेवाले उस प्रभु की **गोनाम्**=(गमयन्ति अर्थान्) अर्थों का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों का **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त ग्रहण करनेवाला बनता हूँ। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान ही तो यज्ञों को पूर्ण करवाएगा। बिना ज्ञान के तो कर्म अधूरे व दूषित ही रह जाते हैं। ४. इस प्रकार प्रभु मुझे (क) यज्ञों के साधक धन देते हैं, (ख) इन धनों से यज्ञ कर सकने के लिए पवित्र कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं, (ग) पवित्रता के लिए साधनभूत ज्ञान की साधक ज्ञानेन्द्रियाँ देते हैं। इस प्रकार यज्ञों को मेरे जीवन से पूर्ण कराके **दिवि**=इस द्युलोक में **अजरं श्रवः**-न जीर्ण होनेवाले यश को **आततान**-विस्तृत करते हैं। इन यज्ञों से मेरा यश फैलता है।

भावार्थ—प्रभु मुझे 'धन, पवित्र कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ' प्राप्त कराते हैं। इन साधनों से मेरा जीवन यज्ञों को सिद्ध करता हुआ यशस्वी बनता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पहले साठ वर्ष

उप॑ मा श्या॒वाः स्व॒नये॑न द॒त्ता व॒धूम॑न्तो॒ दश॒ रथा॑सो अस्थुः।
ष॒ष्टिः स॒हस्र॒मनु॒ गव्य॒मागा॒त्सन॑त्क॒क्षीवाँ॑ अभिपि॒त्वे अह्ना॑म्॥ ३॥

१. जीव का नेतृत्व दूसरे के द्वारा होता है, यह पर-नेय है। इसे माता, पिता, आचार्य व अतिथि आगे-आगे ले-चलते हैं। प्रभु का नयन किसी और के द्वारा नहीं होता। प्रभु 'स्व-नय' हैं। वे स्वयं अपने को आगे प्राप्त कराये हुए हैं। प्रभु ने जीव को शरीररूप रथ दिया है। यह रथ एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से युक्त होता हुआ 'दस' हो गया है। इस रथ पर जीव तो आरूढ़ हुआ ही है। यह अपनी पत्नीरूपा बुद्धि के साथ इस पर आरूढ़ होता है। वस्तुतः यह बुद्धि ही इस रथ का सञ्चालन करती है 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'। २. इस जीवन को यदि एक दिन से उपमित करें तो जैसे दिन के पाँच प्रहर दिन कहलाते हैं और तीन प्रहर की रात्रि होती है, इसी प्रकार जीवन के प्रथम साठ वर्ष दिन के समान हैं और पिछले चालीस रात्रि के। साठ वर्ष प्रवृत्ति के हैं तो चालीस निवृत्ति के। **कक्षीवान्**=(कक्षण-रज्जु) संयमी अथवा दृढ़निश्चयी पुरुष **अह्नाम्**-जीवन के दिनों के **अभिपित्वे**-(अभिपित्वम्=Dawn) उषाकाल में **सनत्**=(सन्-सम्भक्तौ) अपने कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है और चाहता है कि **षष्टिः**=जीवन के प्रथम साठ वर्षों में **सहस्रम्**-(स+हस्) उल्लासमय **गव्यम्**=इन्द्रियों का समूह **अनु**=अनुकूलता से **आगात्**-मुझे प्राप्त होता है। इन्द्रियाँ सदा मेरे वश में होती हैं तभी तो यात्रा की पूर्ति सम्भव होती है। ३. इस कक्षीवान् की प्रार्थना यही है कि **मा**=मुझे **स्वनयेन**=उस अपर-प्रणीत प्रभु से **दत्ताः**=दिये हुए **श्यावाः**-गतिशील **वधूमन्तः**=बुद्धिरूप वधूवाले **दश**=दस इन्द्रियों से युक्त होने के कारण दस संख्यावाले **रथासः**-ये शरीर-रथ **उप अस्थुः**=समीपता से प्राप्त हों। इन रथों से मैं जीवनयात्रा में आगे बढ़नेवाला बनूँ। 'मेरे सब कर्तव्य ठीक से पूर्ण हो सकें' इसके लिए इस रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्व खूब गतिशील हों (श्यावाः)। मेरी बुद्धिरूपा पत्नी इस रथ का सञ्चालन सुन्दरता से करे। इस प्रकार मेरे विशिष्ट प्रवृत्ति के प्रथम साठ वर्ष ठीक प्रकार पूर्ण हों।

भावार्थ—मुझे जीवन के प्रारम्भ में सब प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए उत्तम इन्द्रियाँ, शरीर

व बुद्धि प्राप्त हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—विद्वांसः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

पिछले चालीस वर्ष

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः॥ ४॥

१. पिछले मन्त्र में 'दस रथों' का उल्लेख हुआ है। इस **सहस्रस्य**=उल्लासमय जीवनवाले **दशरथस्य**=दस इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त रथवाले दशरथ के **शोणाः**=तेजस्विता के कारण शोण (red) वर्णवाले इन्द्रियाश्व **चत्वारिंशत्**=जीवन के पिछले चालीस वर्षों में **अग्रे श्रेणिम्**=मानव-श्रेणी के अग्रभाग में—वानप्रस्थ व संन्यास में **नयन्ति**=प्राप्त कराते हैं। पहले साठ वर्षों में यह ब्रह्मचर्य व गृहस्थ को पूर्ण कर चुका है, अब ये चालीस वर्ष उसके वानप्रस्थ और संन्यास में व्यतीत होते हैं। २. **कक्षीवन्तः**=संयम-रज्जु से अपने को बाँधनेवाले और अतएव **पज्राः**=शक्तिशाली (powerful) पुरुष **अत्यान्**=अपने इन्द्रियाश्वों को **उदमृक्षन्त**=विषयपङ्क से ऊपर उठाकर शुद्ध कर डालते हैं। इनके **इन्द्रियाश्व मदच्युतः**=मद का क्षरण करनेवाले, अर्थात् शक्तिशाली व निरभिमान होते हैं तथा **कृशनावतः**=ये स्वर्णवाले—स्वर्ण के समान दीप्तिवाले (कृशन=gold) अथवा उत्तम आकृतिवाले (कृशन=form) हैं। अपने इन्द्रियाश्वों को ऐसा बनाकर ये जीवन के इन पिछले चालीस वर्षों को संसार से निवृत्ति का ध्यान करते हुए बिताते हैं। एवं, पहले साठ वर्ष प्रवृत्ति के थे तो ये चालीस वर्ष निवृत्ति के हो जाते हैं। इस निवृत्ति के द्वारा ही ये शिखर पर पहुँचते हैं।

भावार्थ—हम जीवन की रात्रि के आने पर इन्द्रियाश्वों को शुद्ध बनाकर सब विषयों से निवृत्त होने का ध्यान करें।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—विद्वांसः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रथमाश्रम की तपस्या

पूर्वामनु प्रयतिमा ददे वस्त्रीन् युक्ताँ अष्टावरिधायसो गाः।
सुबन्धवो ये विश्याइव व्रा अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः॥ ५॥

१. वेद की वाणियाँ 'गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै' (अथर्व० १९।२१।१) इस मन्त्र के अनुसार गायत्र्यादि सात छन्दों में हैं। इनमें गायत्री प्रमुख है। इनके तीन चरण हैं, प्रत्येक चरण आठ-आठ अक्षरों से युक्त है। इस प्रकार यह गायत्री चौबीस अक्षरोंवाली है। इन गायत्री आदि छन्दों को हम प्रथम आश्रम में ही ग्रहण करते हैं। ये सब छन्द गति देनेवाले प्रभु का धारण करते हैं। हे प्रभो! मैं **वः**=आपकी इन **गाः**=वाणियों को **पूर्वां प्रयतिम् अनु**=प्रथमाश्रम में होनेवाले प्रयत्न के अनुसार **आददे**=ग्रहण करता हूँ। जो वाणियाँ **त्रीन्**=तीन चरणों में हैं और **अष्टौ युक्तान्**=प्रत्येक चरण में आठ अक्षरों से युक्त हैं अथवा जो **त्रीन्**=प्रकृति, जीव, परमात्मा तीनों का प्रतिपादन करती हैं और **अष्टौ युक्तान्**='पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठों से युक्त हैं, इनका ज्ञान कराती हैं। इनका ज्ञान देती हुई ये वाणियाँ **अरिधायसः**=उस प्रथम गति देनेवाले प्रभु का धारण करती हैं। इन वाणियों को ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्वी जीवन से ही प्राप्त करता है। २. **ये**=जो **सुबन्धवः**=उत्तम बन्धुत्ववाले होते हैं, जिन्हें उत्तम माता, पिता व आचार्य प्राप्त होते हैं, **विश्याः इव**=जो प्रजाओं का हित करनेवाले-से हैं, जिनकी सब क्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं, **व्राः**=जो प्रभु का वरण करनेवाले हैं और इसलिए

अनस्वन्तः-उत्तम शरीर-शकटवाले हैं, **पज्राः**=शक्तिशाली हैं, वे **श्रवः एषन्त**=ज्ञान की कामना करते हैं। ज्ञान की कामनावालों को 'सुबन्धु, विश्या, व्रा, अनस्वान् व पज्र' बनना चाहिए। ऐसा बनना ही ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी होना है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम जितना श्रम करेंगे (studious होंगे) उतना ही वेदज्ञान को प्राप्त कर पाएँगे। यह ज्ञान ही हमें प्रभु के समीप ले-जाएगा।

ऋषिः—भावयव्यः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वेदवाणीरूप पत्नी

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणी **आगधिता**=सब प्रकार से ग्रहण की हुई, जहाँ से भी सम्भव हो वहाँ से ग्रहण की गई **परिगधिता**=सब ओर से ग्रहण की गई—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक भावनाओं से अध्ययन की हुई **जंगहे**=हमारा ग्रहण करती है, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि या **कशीका**=जो गोह होती है (सूतवत्सा नकुली—सा०) गोह एक स्थान को इतनी दृढ़ता से पकड़ लेती है कि तस्कर लोग दीवार आदि पर चढ़ने में इनका सहारा लेते हैं। हम वेदवाणी का ग्रहण करते हैं तो वेदवाणी हमारा ग्रहण करती है, पति पत्नी का तो पत्नी पति का। यह **यादुरी**=(बहु रेतोयुक्ता—सा०) हमें अत्यन्त तेजस्वी बनानेवाली, **भोज्या**=पालन करनेवालों में उत्तम **या**=जो वेदवाणी है वह **याशूनाम्** (अश=भोजने) भोज्य वस्तुओं के **शता**=सैकड़ों को **मह्यं ददाति**=मुझे देती है। वेदवाणी से तेजस्विता प्राप्त होती है और जीवन के लिए आवश्यक सब वस्तुओं की प्राप्ति की योग्यता मिलती है। ज्ञान तो होता ही वह है जोकि 'सह नौ भुनक्तु' हमें आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके हमारा पालन करता है तथा 'तेजस्विनावधीतमस्तु' हमें तेजस्वी बनाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनाते हैं तो वेदवाणी हमें अपनाती है। वह हमें तेजस्वी बनाती है और शतशः भोज्य वस्तुओं को देती है।

सूचना—सायण 'याशूनां' को एक ही पद रखते हैं, अर्थ में भेद नहीं है।

ऋषिः—रोमशा ब्रह्मवादिनी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

सर्वा रोमशा

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ ७॥

१. गतमन्त्र का ऋषि 'स्वनय भावयव्य' था जो अपना प्रणयन स्वयं करता है। वह इन्द्रियों व मन से सञ्चालित नहीं होता तथा भाव व चिन्तन को अपने साथ मिलानेवालों में (यु) उत्तम है (य)। उसने वेदवाणी का महत्त्व समझकर उसका ग्रहण करने का निश्चय किया। प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी कहती है कि हे स्वनय भावयव्य! **उप उप मे परामृश**=तू समीपता से मेरा आलिङ्गन कर। सूक्ष्मता से विचार करना ही इसका आलिङ्गन है (परामर्श-विचार)। जितनी सूक्ष्मता से इसका विचार किया जाए उतना ही उत्तम है। वेदवाणी कहती है **मा**=मत **मे**=मेरी **दभ्राणि**=अल्पता को **मन्यथाः**=मान और समझ। यह मत समझ कि मेरे शब्द कम अर्थवाले हैं। इनका अर्थ-गाम्भीर्य तो सूक्ष्म विचार से ही ज्ञात हो पाएगा। २. **अहम्**=मैं **सर्वा अस्मि**=पूर्ण हूँ, सब सत्यविद्याओं की प्रकाशिका हूँ। मुझमें **रोमशा**=ज्ञानजल का निवास है (रोमं=water)

और **गन्धारीणाम्**=वेदवाणी का धारण करनेवालों की मैं **अविका इव**=रक्षिका के समान हूँ। मुझसे रक्षित होकर व्यक्ति वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। ज्ञान का व्यसन अन्य सब व्यसनों से बचाने का साधन हो जाता है। ३. इस रोमशा वेदवाणी का अध्ययन करनेवाली ब्रह्मवादिनी का नाम भी रोमशा हो गया है। यही इस मन्त्र की ऋषिका है।

भावार्थ—जितनी सूक्ष्मता से हम विचार करेंगे, उतना ही वेदार्थ की गूढ़ता को समझ पाएँगे। यह वेदवाणी सब सत्यविद्याओं की प्रकाशिका है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभुस्तवन से मैं वासनाओं से अहिंसित जीवनवाला बनता हूँ (१)। समाप्ति पर कहा है कि प्रभु से दी गई यह वेदवाणी अपने धारण करनवालों का रक्षण करती है (७)। इस वेदज्ञान के देनेवाले प्रभु का मनन करता हुआ **दैवोदासः**=उस देव का अनन्यभक्त **परुच्छेप**=पर्व-पर्व में निर्माणात्मक शक्ति का सञ्चार करनेवाला बनकर प्रार्थना करता है—

एकोनविंशोऽनुवाकः

[१२७] सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

अग्नि-मनन

अ॒ग्निं होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसुं॑ सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम्।
य ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा　।
घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑　॥ १ ॥

१. मैं **अग्निम्**=उस **सर्वाग्रणी**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभु का **मन्ये**=मनन व विचार करता हूँ जो प्रभु **होतारम्**=सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं, **दास्वन्तम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **वसुम्**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त कराके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। २. मैं उस प्रभु का मनन करता हूँ जो **सहसः सूनुम्**=शक्ति के पुञ्ज हैं तथा **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ हैं। शक्ति व ज्ञान की पराकाष्ठा उस प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं भी शक्ति व ज्ञान के उपार्जन के लिए यत्नशील होता हूँ। ३. उस प्रभु का मैं इस प्रकार **मन्ये**=आदर करता हूँ **न**=जैसे कि **जातवेदसं विप्रम्**=ज्ञानी ब्राह्मण का आदर करता हूँ। इन ज्ञानी ब्राह्मणों का सम्पर्क ही मुझे उस सर्वज्ञ प्रभु के समीप पहुँचानेवाला होता है। ४. प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **स्वध्वरः**=उत्तम अहिंसात्मक यज्ञोंवाले **देवः**=प्रकाशमय होते हुए **ऊर्ध्वया**=अत्यन्त उन्नत **देवाच्या**=(देवान् अञ्चति) देवों को प्राप्त होनेवाले कृपा सामर्थ्य से (कृप् सामर्थ्ये) हमारे जीवनों में **घृतस्य विभ्राष्टिम्**=ज्ञानदीप्ति की ज्योति के **अनु**=पश्चात् **शोचिषा**=मन की शुचिता के साथ **आजुह्वानस्य सर्पिषः**=आहुति दिये जाते हुए घृत की **वष्टि**=कामना करते हैं। प्रभु हमारे जीवन में तीन बातें चाहते हैं—(क) ज्ञान की दीप्ति, (ख) हृदय की पवित्रता, (ग) हाथों से यज्ञों का प्रवर्तन। ये सब बातें हमारे जीवन में प्रभु कृपा से ही आती हैं। यह प्रभु कृपा देवों को प्राप्त होती है। देव बनने का यत्न करते हुए ही हम उस कृपा के अधिकारी बनते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि, होता, दास्वान्, वसु, सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ' हैं। उनसे सामर्थ्य

प्राप्त करके हम मस्तिष्क में ज्ञान-दीप्तिवाले, हृदय में पवित्रतावाले और हाथों में यज्ञवाले बनें।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

यजिष्ठ का आराधन

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र
मन्मभिः। परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥ २ ॥

१. हे **विप्र**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले! **शुक्र**=अत्यन्त शुद्ध, उज्ज्वल रूपवाले प्रभो! **यजिष्ठम्**-सर्वाधिक पूज्य, संगतिकरण के योग्य तथा महान् दाता **त्वा**=आपको **यजमानाः**=यज्ञशील बनकर हम **हुवेम**=पुकारते हैं। आप **अङ्गिरसां ज्येष्ठम्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवालों में ज्येष्ठ हैं। आप तो हैं ही 'रस'। २. हम आपकी आराधना **मन्मभिः**=मनन साधनों से और **विप्रेभिः मन्मभिः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले स्तोत्रों से करते हैं। प्रभु-स्तवन हमारे सामने जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्य को उपस्थित करता है। उस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए हम अपने जीवन को पूरण करनेवाले होते हैं। इससे ये 'मन्म' 'विप्र' हो जाते हैं। ये स्तोत्र हमारा पूरण करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **परिज्मानम्**=चारों ओर गति करनेवाले—प्रकाश के द्वारा सर्वत्र व्याप्त होनेवाले **द्याम् इव**-सूर्य के समान हैं—'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः', 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'। **चर्षणीनां होतारम्**-श्रमशील मनुष्यों को सब-कुछ देनेवाले हैं, **शोचिष्केशम्**=दीप्तज्ञान-रश्मियोंवाले हैं (केश=ray of light), **वृषणम्**=शक्तिशाली व सब पर सुखवृष्टि करनेवाले हैं। आप वे हैं **यम्**=जिनको **इमाः विशः विशः**=ये संसार में प्रविष्ट प्रजाएँ **जूतये**=स्वर्गादि इष्ट-फलों की प्राप्ति के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण प्रीणित करनेवाली हों। पुत्र के उत्तम कर्मों से प्रसन्न पिता जैसे पुत्र के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने के लिए उद्यत होता है, इसी प्रकार प्रभु हमारे उत्तम कर्मों से प्रीणित होने पर हमें सब इष्ट-फलों को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम यजिष्ठ प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु के स्तोत्र हमारे जीवन का पूरण करते हैं। हम भी 'शोचिष्केश व वृषा' बनते हैं—दीप्तज्ञान-रश्मियोंवाले तथा शक्तिशाली।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

द्रुहन्त का अ-पलायन

स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः।
वीळु चिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम् ।
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥ ३ ॥

१. **सः**=वह अग्नि (गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन से 'शोचिष्केश व वृषण' बननेवाला) **हि**=निश्चय से **विरुक्मता**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले **ओजसा**=ओज से **पुरुचित्**=अत्यधिक **दीद्यानः**=चमकता हुआ **द्रुहन्तरः**=हमारी जिघांसावाले काम-क्रोधादि शत्रुओं को तैर जानेवाला **भवति**=होता है। **न**=जैसे **परशुः**=एक कुल्हाड़ा वृक्षों का छेदन करनेवाला होता है, इसी प्रकार यह अग्नि **द्रुहन्तरः**=इन जिघांसुओं को समाप्त करनेवाला होता है। २. यह अग्नि वह है **यस्य**=जिसका **समृतौ**=आक्रमण होनेपर **वीळुचित्**=दृढ़-से-दृढ़ वासनाएँ भी **श्रुवत्**=शीर्ण हो जाती हैं। **वना इव**=वनों की भाँति **यत् स्थिरम्**=जो दृढ़मूल भी वासनाएँ

हैं उन्हें **निः षहमाणः**=पूर्णरूप से पराभूत करता हुआ **यमते**=यह उन वासनाओं का नियमन करता है अथवा उनका उच्छेद करता हुआ क्रीड़ा करता है (यम्=उपरम=क्रीड़ा), **न अयते**=(न पलायते) यह इस संग्राम में पराजित होकर भागता नहीं। **धन्वासहा न**=एक धनुर्धारी की भाँति **अयते**=यह संग्राम में गति करता है। एक धनुर्धर लक्ष्यवेध करता हुआ संग्राम में इधर-उधर गतिवाला होता है, इसी प्रकार यह अग्नि भी कामादि शत्रुओं का संहार करता हुआ गति करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक देदीप्यमान तेज से चमकता हुआ कामादि का पराजय करता है, इनसे संग्राम करता हुआ कभी कायर नहीं बनता, अपितु युद्ध-क्रीड़ा में वीरता के साथ इनका नियमन करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

तेजिष्ठ अरणियों के द्वारा

दृळहा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्ट्यवसेऽग्नये दाष्ट्यवसे।
प्र यः पुरूणि गाहते तक्षद्वनेव शोचिषा ।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा ॥४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **अस्मै**=इस अग्नि के लिए (जो कामादि का विनाश करके) यथा **विदे**=यथार्थ ज्ञानी बना है **चित्**=निश्चय से **दृढा**=दृढ़ बलों को **अनुदुः**-सब देव अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं। यथार्थ ज्ञान होने पर यह सब वस्तुओं का ठीक ही प्रयोग करता है और परिणामतः सब देव इसके अनुकूल होते हुए उसकी शक्ति का वर्धन करते हैं। २. यह **तेजिष्ठाभिः**=अत्यन्त तेजस्वी **अरणिभिः**=श्रद्धा व ज्ञानरूप अरणियों के द्वारा **अवसे**=रक्षण के लिए **दाष्टि**=अपने को दे डालता है। किसके लिए? **अग्नये दाष्टि अवसे**=यह अपने रक्षण के लिए अग्निस्वरूप प्रभु के लिए अपने को दे डालता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए श्रद्धा व ज्ञान ही दो अरणियाँ हैं—इनकी रगड़ से प्रभुरूप अग्नि का प्रकाश होता है। केवल मस्तिष्क व केवल हृदय प्रभु का दर्शन नहीं कर पाता। 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्'—इसीलिए अथर्वा मस्तिष्क व हृदय को परस्पर सीकर (मिलाकर) चलता है। एवं ज्ञान व श्रद्धा से प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके हम वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। ३. प्रभु के द्वारा रक्षित हुआ-हुआ **यः**=जो अग्नि (प्रगतिशील जीव) है, वह **पुरूणि**=बहुत भी शत्रुओं का **गाहते**=आलोडन करता है, उनमें प्रविष्ट होता है और **तक्षत्**=उनको विनष्ट करता है, **इव**=जैसे अग्नि **शोचिषा**=अपनी दीप्ति से **वना**=वनों में प्रविष्ट होकर उनका ध्वंस करता है। ३. **ओजसा**=(हेतौ तृतीया) इस शत्रुविध्वंस करनेवाले ओज के हेतु से यह **चित्**=निश्चयपूर्वक **स्थिरा अन्ना**=स्थिर सारवान् अन्नों के प्रति **निरिणाति**=जाता है। ये स्थिर सात्त्विक अन्न (रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः-गीता) इसे वे सात्त्विक शक्ति प्रदान करते हैं, जिससे यह कामादि शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता है। यह **ओजसा**=इस ओजस्विता के हेतु **स्थिराणि**=इन स्थिर अन्नों को **चित्**=निश्चय से **प्र नि**=(रिणाति)=प्राप्त करता ही है। वस्तुतः इन स्थिर अन्नों से ही यह जीवन में उस सत्त्व को प्राप्त करता है जिसके कारण यह विजयी बनता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्नों के सेवन से सत्त्वगुण का वर्धन होकर हम ओजस्वी बनते हैं। श्रद्धा व ज्ञान के उत्कर्ष से प्रभु का प्रकाश प्राप्त करके कामादि शत्रुओं का ध्वंस कर डालते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—अग्निः । छन्दः—अत्यष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

दिन की अपेक्षा रात्रि में सुदर्शनतर प्रभु

तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि नक्तं यः सुदर्शतरो दिवातरादप्रायुषे दिवातरात्।
आदस्यायुर्ग्रभणवद्वीळु शर्म न सूनवे ।
भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः ॥ ५ ॥

१. **तम्**-उस **अस्य**=इस प्रभु के **पृक्षम्**-अन्न को **उपरासु**-यज्ञवेदिरूप भूमियों में **धीमहि**-धारण करते हैं, अर्थात् यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनते हैं। सम्पूर्ण अन्न प्रभु का दिया हुआ है। उस प्रभुप्रदत्त अन्न को प्रथम उस महादेव के अधीनस्थ इन देवों के लिए देकर हम बचे हुए अन्न का सेवन करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**-जो **नक्तम्**=रात्रि के समय **दिवातरात् सुदर्शतरः**-दिन के समय की अपेक्षा अधिक सुन्दरता से व सुगमता से देखने योग्य होते हैं। (क) यह भौतिक अग्नि तो दिन की अपेक्षा रात्रि में अधिक चमकती ही है, प्रभु भी दिन की अपेक्षा रात्रि में सुगमता से दिखते हैं। दिन के समय चित्तवृत्ति इधर-उधर भटकती रहती है, रात्रि में दिन की अपेक्षा एकाग्रता होने से प्रभु 'स्वप्नधीगम्य'—(मनु) होते हैं। प्रभु-प्राप्ति का यह उपाय भी कहा गया है कि स्वप्न में अचानक प्रभु का दर्शन हो तो 'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा' (योगदर्शन) उस स्वप्नज्ञान को ग्रहण करने का यत्न करना, (ख) इसका भाव यह भी है कि 'दिन' प्रकाश व सुख-समृद्धि का प्रतीक है तो 'रात्रि' अन्धकार के कष्टों का प्रतीक है। सुख-समृद्धि में प्रभु विस्मृत हो जाते हैं, कष्टों में उनका स्मरण हो ही आता है। ३. **अप्रायुषे**=(अ प्र आयुषे) निकृष्ट जीवनवाले के लिए तो वे प्रभु **दिवातरात्**=दिन की अपेक्षा रात्रि में ही अधिक सुदर्श होते हैं। उत्कृष्ट जीवनवाले व्यक्ति सुख में भी प्रभु का स्मरण करते हैं, निकृष्ट जीवनवाले तो कष्ट में ही उसका स्मरण करते हैं। ज्ञानीभक्त विरल ही होते हैं, प्रायः लोग आर्तभक्त ही बनते हैं। **आत्**-अब प्रभुभक्त बनने पर **अस्य आयुः**=इसका जीवन **ग्रभणवत्**=ग्रहणवाला होता है, इसका जीवन प्रभु का धारण करनेवाला होता है। वे प्रभु इसके लिए इस प्रकार होते हैं **न**-जैसे कि **सूनवे**=पुत्र के लिए पिता का **वीडु शर्म**=दृढ़ गृह होता है। यह गृह जिस प्रकार पुत्र के लिए सुखदायक होता है, उसी प्रकार इसके लिए प्रभु सुखदायक होते हैं। प्रभु इसके लिए घर बन जाते हैं, यह प्रभु में निवास करता है। ४. प्रभु **भक्तम्**=अपने उत्कृष्ट ज्ञानीभक्त को तथा **अभक्तम्**=इस आर्त ईषद् भक्त को भी **अवः**=रक्षित करते हैं। प्रभु के रक्षण में चलते हुए ये ईषद् भक्त भी धीरे-धीरे **व्यन्तः**=हविर्भक्षण की वृत्तिवाले बनकर **अजराः**=अजीर्ण (अ-क्षरित) शक्तियोंवाले होते हैं। ये **अग्नयः**=प्रगतिशील होते हैं और **व्यन्तः**=यज्ञशेष का ही सेवन करते हुए **अजराः**= अ-जीर्णशक्ति बनते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा यज्ञशेष का सेवन करता हुआ अजर बनता है। प्रभु के ज्ञानीभक्त कम होते हैं, आर्तभक्त अधिक। प्रभु इन सबका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—अग्निः । छन्दः—अत्यष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

ज्ञानीभक्त का अनुकरणीय जीवन

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः ।
आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा ।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित अग्नि का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **सः हि**-वह निश्चय

से **मारुतं शर्धः न**=वायु के वेग व बल के समान होता है। वायु की भाँति स्फूर्ति के साथ निरन्तर क्रियाओं को करनेवाला होता है। **तुविष्वणिः**=यह महान् स्वप्नवाला होता है, खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। २. इसकी **अप्नस्वतीषु**=उत्तम कर्मोंवाली **उर्वरासु**=नये-नये विचारों के चिन्तन के लिए उपजाऊ बुद्धियों में वह प्रभु **इष्टनिः**=यष्टव्य होते हैं, अर्थात् यह प्रभु का ज्ञानी भक्त बनता है। इसकी बुद्धि प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखती है और प्रभु के आदेशों के अनुसार चलनेवाली होती है। अकर्मण्य व निर्बुद्धि पुरुष प्रभु का पूजन नहीं कर पाता। **आर्तनासु इष्टनिः**=पीड़ाओं में तो वे प्रभु यष्टव्य होते ही हैं। एक बुद्धिमान् पुरुष प्रभुस्मरण से शक्ति पाकर इन पीड़ाओं को सरलता से सह लेता है। ३. यह (क) **हव्यानि आदत्**=हव्य पदार्थों को खाता है, यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करता है, (ख) **यज्ञस्य आददिः**=यज्ञ का खूब ही ग्रहण करनेवाला होता है, (ग) **अर्हणा**=योग्यता के कारण **केतुः**=यह प्रज्ञापक बनता है, स्वयं योग्य बनकर औरों को उपदेश देनेवाला होता है। ४. **अध**=अब **स्म**=निश्चय से **अस्य हर्षतः**=इस प्रसन्नवृत्तिवाले के **हृषीवतः**=औरों को हर्षित करनेवाले के **पन्थाम्**=मार्ग का **विश्वे जुषन्त**=सब सेवन करते हैं। इसके मार्ग पर सब चलना चाहते हैं। **न**=उसी प्रकार इसके जीवन-मार्ग का अनुसरण करते हैं जैसे कि **नरः**=उन्नतिशील लोग **शुभे**=शोभा के लिए **पन्थाम्**=मार्ग को अपनाते हैं। 'मार्ग पर चलने से ही शुभ होता है'—यह समझकर लोग मार्ग को अपनाते हैं, मार्ग वही है जिस पर यह स्वयं प्रसन्न तथा औरों को प्रसन्न करनेवाला 'अग्नि' चल रहा है। इसका जीवन औरों के लिए मार्गदर्शक हो जाता है। इसका अनुसरण करते हुए वे भी (क) सात्त्विक (हव्य) पदार्थों का सेवन करते हैं, (ख) यज्ञशील होते हैं, (ग) योग्य बनकर औरों को ज्ञान देते हैं, (घ) प्रसन्न रहते हैं तथा औरों की प्रसन्नता का कारण बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी भक्त का जीवन खूब क्रियाशील व प्रभु स्मरणवाला होता है, अतएव यह जीवन अनुकरणीय बन जाता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

नम्र व पवित्र

द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो नमस्यन्त उपवोचन्त
भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः　　।
अग्निरीशे वसूनां शुचिर्यो धर्णिरेषाम्　　।
प्रियाँ अपिधींर्वनिषीष्ट मेधिर आ वनिषीष्ट मेधिरः　　॥७॥

१. **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **द्विता**=दो प्रकार से—प्रातः-सायं **कीस्तासः**=प्रभु का कीर्तन करनेवाले होते हैं, वे (क) **अभिद्यवः**=दोनों ओर दीप्तिवाले होते हैं। प्रकृति और आत्मा दोनों के दृष्टिकोण से ये ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करते हैं। प्रकृतिविद्या और आत्मविद्या दोनों में निपुण होते हुए 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' इस उपनिषद्-वाक्य को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं, (ख) **नमस्यन्तः**=सदा नमस्वाले होते हैं। ये प्रभु के प्रति तो नमन करते ही हैं, सबके प्रति भी नम्रता के भाववाले होते हैं, (ग) **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) ये अपने जीवन को परिपक्व करनेवाले हैं, (घ) **मथ्नन्तः**=कामादि शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं, (ङ) **दाशाः**=अपने को प्रभु के प्रति दे डालते हैं। ऐसे **भृगवः**=तपस्वी लोग **उपवोचन्त**=प्रभु की उपासना में स्थिर होकर प्रभु के गुणों का प्रवचन करते हैं। २. **अग्निः**='अभिद्यु' आदि शब्दों से वर्णित व्यक्ति अग्रणी

बनता है, अपने को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाला होता है। **वसूनाम् ईशे**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों का यह ईश बनता है, इसी से इसका निवास बड़ा उत्तम होता है। **शुचिः**=धन के दृष्टिकोण से यह पवित्र होता है—'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः' (मनु०) यह अग्नि वह है **यः**=जो कि **एषाम्**=इन लोकों का **धर्णिः**=धारण करनेवाला बनता है। यह धनों का विनियोग अपनी मौज के लिए ही नहीं करता रहता, अपितु इनका विनियोग लोकहित में करता है। ३. इसी का परिणाम है कि प्रभु इसे खूब ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। यह **मेधिरः**=मेधावी पुरुष उन **प्रियान्**=प्रिय वस्तुओं को **अपिधीन्**=तृप्तिपर्यन्त प्रदत्त की गई, अर्थात् यथेष्ट प्राप्त कराई हुइयों का **वनिषीष्ट**=सेवन करता है। यह **मेधिरः**=मेधासम्पन्न व्यक्ति **आवनिषीष्ट**=सब ओर से इनको प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—दोनों कालों में प्रभु का उपासना करनेवाला दीप्त जीवन प्राप्त करता है। यह पवित्र व लोकधारक होता है। प्रभु इसे खूब ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। यह मेधावी होता हुआ उन ऐश्वर्यों को लोकहित में विनियुक्त करता है। यह स्वस्थ जीवनवाला बनकर नम्रता से भूषित जीवनवाला होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उपासना

विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे सर्वासां समानं दम्पतिं
भुजे सत्यगिर्वाहसं भुजे ।
अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया ।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवेष्वा वयः ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि 'अभिद्यु' आदि प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हैं। उपासना का स्वरूप यह होता है कि (क) **विश्वासाम्**=सब **विशाम्**=प्रजाओं के **पतिम्**=स्वामी **त्वा**=तुझको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्रभु को सब प्रजाओं के रक्षक के रूप में स्मरण करते हुए ये स्वयं भी सबकी रक्षा में प्रवृत्त होते हैं, (ख) **सर्वासां समानम्**=सब प्रजाओं के प्रति समानरूप से वर्तनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु का किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं, वे समानरूप से सबके पिता व माता हैं। यह भक्त भी सबके प्रति समभाव को धारण करने का प्रयत्न करता है, (ग) **दम्पतिम्**=(दम=गृह) घर के रक्षक प्रभु को पुकारते हैं। अपने घर का रक्षण करता हुआ यह भक्त रक्षण का गर्व नहीं करता—प्रभु को ही यह रक्षक मानता है, अपने को उसका निमित्तमात्र जानता है, (घ) **भुजे**=सब प्रजाओं के पालन के लिए **सत्यगिर्वाहसम्**=सत्यवाणी को धारण करनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। इस सत्यवाणी के द्वारा ही **भुजे**=वे हमारा पालन करते हैं और हमें भोजन प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराते हैं (भुज पालनाभ्यवहारयोः)। इन शब्दों में उपासना करता हुआ उपासक भी सत्यवाणी का ग्रहण करता है और उसका प्रचार करता है। भक्त उस प्रभु की उपासना करते हैं जो **मानुषाणाम्**= मानवहित में तत्पर व्यक्तियों को **अतिथिम्**=निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **पितुः न**=पिता के समान **यस्य**=जिसकी **आसया**=उपासना से **अमी**=वे **विश्वे**=सब उत्तम पुरुष **अमृतासः**=नीरोग बनते हैं **च**=और **आवयः**=जीवनपर्यन्त **हव्या**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करते हैं, **देवेषु**=देवों में **आवयः**=जीवनपर्यन्त ये उत्कृष्ट पदार्थ उपस्थित होते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो सब प्रजाओं का रक्षक होता है, सबके प्रति समभाव से वर्तता है, घर का पूर्ण रक्षण करता है, सबके पालन के लिए सत्यवाणी का

प्रकाश करता है। जीवन भर हव्य पदार्थों का ही सेवन करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु को सर्वत्र समरूप से रक्षण करते हुए देखता है और स्वयं वैसा ही बनने का प्रयत्न करता है। इस वृत्ति की उत्तमता के लिए ही वह हव्य पदार्थों का सेवन करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सहन्तमः शुष्मिन्तमः

त्वम॑ग्ने सह॑सा सह॑न्तमः शुष्मिन्त॑मो जायसे देवता॑तये र॒यिर्न देवता॑तये।
शुष्मिन्त॑मो हि ते मदो॑ द्युम्निन्त॑म उ॒त क्रतुः॑ ।
अध॑ स्मा ते परि॑ चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो॒ नाज॑र ॥ ९ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सहसा सहन्तमः**=सहस् के द्वारा सर्वाधिक सहस्वाले हैं। 'सहस्' शब्द शक्ति के उस स्वरूप का वाचक है, जिसका सम्बन्ध हमारे जीवन में आनन्दमयकोश से है। वे प्रभु 'सहन्तम' हैं, इसी से आनन्दस्वरूप हैं। यह शक्ति ही हमें सहनशील बनाती है। हे प्रभो! आप **शुष्मिन्तमः**=सर्वाधिक शत्रुबल-शोषक हैं। आपकी कृपा व शक्ति से ही हम भी कामादि शत्रुओं का पराजय कर पाते हैं। आप **देवतातये जायसे**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए होते हैं। **न**=जिस प्रकार **रयिः**=धन **देवतातये**=दिव्यगुणों व यज्ञादि के लिए सहायक होता है उसी प्रकार प्रभु स्मरण देवताति के लिए आवश्यक है। वस्तुतः प्रभु के बिना धन भी हमें यज्ञादि में ले-जाने के स्थान पर कुमार्ग में ले-जानेवाला बन जाता है। २. हे प्रभो! **ते मदः**=तेरे स्मरण से उत्पन्न हुआ-हुआ मद (नशा) **हि**=निश्चय से **शुष्मिन्तमः**=हमें अत्यधिक शक्तिशाली बनानेवाला है, **उत**=और **क्रतुः**=आपके कर्म **द्युम्निन्तमः**=अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं। आपकी प्राप्ति के लिए किये जानेवाले सभी कर्म हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं। हे **अजर**=जरा रहित, कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! **अध**=अब आपके स्मरण के नशे से 'शुष्मिन्तम' बनकर और आपकी प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्मों से 'द्युम्निन्तम' बने हुए **स्म**=ही हम लोग **ते श्रुष्टीवानः न**=आपके दूत से बने हुए, आपके सन्देश को सर्वत्र पहुँचाते हुए **परिचरन्ति**=आपकी परिचर्या व सेवा करते हैं। हे **अजर**=अ-जीर्णशक्तिवाले प्रभो! आपके ही वे सेवक होते हैं। प्रभु के सन्देशवाहक के लिए 'शुष्मिन्तम व द्युम्निन्तम' होना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु 'सहन्तम व शुष्मिन्तम' हैं। उनका उपासक भी ऐसा ही बनकर प्रभु के सन्देश को फैलाता हुआ प्रभु का सच्चा सेवक बनता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः।

होता ही सच्चा स्तोता है

प्र वो॑ म॒हे सह॑सा सह॑स्वत उष॒र्बुधे॑ पशुषे नाग्नये॒ स्तोमो॑ बभूत्व॒ग्नये॑।
प्रति॒ यदीं॑ ह॒विष्मा॑न् विश्वा॑सु क्षासु जोगु॑वे ।
अग्रे॑ रे॒भो न जर॑त ऋषूणां जूर्णि॒र्होत॑ ऋषूणाम् ॥ १० ॥

१. **वः**=तुम्हारा **स्तोमः**=स्तवन उस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **प्रबभूतु**=खूब ही हो जो **महे**=पूज्य हैं, **सहसा सहस्वते**=सहस् के द्वारा सहस्वाले हैं, सर्वाधिक बलवाले हैं, **उषर्बुधे**=उषाकाल में बोध देनेवाले हैं, उषाकाल में जागनेवालों को बोध व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। **पशुषे न**-उस प्रभु के लिए तुम्हारे स्तोत्र हों जो (पश्वान्—चतुर्थी) सदा तुम्हारा ध्यान

करनेवाले के समान हैं—(one who always looks after you) वस्तुतः **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **हविष्मान्**-हविवाला पुरुष, त्यागपूर्वक अदन करनेवाला पुरुष, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला पुरुष है वह **विश्वासु क्षासु**=निवास के लिए कारणभूत यज्ञवेदि की सब भूमियों के प्रति **प्रतिजोगुवे**=प्रतिदिन जानेवाला होता है। यही **रेभः न**=सच्चे स्तोता के समान **ऋषूणाम् अग्रे**=तत्त्वज्ञानियों के अग्रभाग में स्थित हुआ-हुआ **जरते**=प्रभु का स्तवन करता है। **होतः**=यह यज्ञशील पुरुष ही **ऋषूणाम्**=ज्ञानियों में **जूर्णिः**=प्रभु का सच्चा स्तोता है, यही स्तुति कुशल है, वास्तव में स्तुति करने का प्रकार तो इसी ने जाना।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा स्तोता वही है जो हविष्मान् बनकर प्रभु का ज्ञानीभक्त बनता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

स्वस्थ दृष्टिकोण व स्वस्थ शरीर

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भराग्ने देवेभिः सचनाः सुचेतुना महो रायः सुचेतुना।
महि शविष्ठ नस्कृधि सञ्चक्षे भुजे अस्यै ।
महि स्तोतृभ्यो मघवन्त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा ॥ ११ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे **नेदिष्ठम्**=अत्यन्त समीप (हृदयदेश में ही) **ददृशानः**=दिखते हुए **देवेभिः सचनाः**=देवों के साथ (षच् समवाये) समवेत होते हुए **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान से **आभर**=हमें सर्वथा पूरित कीजिए। हम आपकी उपासना करें, आपको हृदयदेश में देखने का प्रयत्न करें। अपने अन्दर दिव्यगुणों को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों, क्योंकि आप दिव्य गुणवालों में ही निवास करते हैं। आप **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ **महः रायः**=महनीय धनों को भी हमें आभर=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हम ज्ञानपूर्वक उत्तम मार्गों से चलते हुए प्रशस्त धनों का अर्जन करनेवाले बनें। २. हे **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा की भावना को भी **कृधि**=कीजिए। कुछ ऐसी प्रेरणा दीजिए कि हम आपको भूल न जाएँ। आपका स्मरण करते हुए **संचक्षे**=संसार को सम्यक् रूप में देखने वाले हों। हम स्वस्थ दृष्टिकोण से संसार को देखनेवाले हों, विकृत दृष्टिकोण से नहीं और **अस्यै भुजे**=इस आपके दिये हुए शरीर का ठीक से पालन करनेवाले हों। प्रभु पूजक का दृष्टिकोण स्वस्थ होता है, वह शरीर को अस्वस्थ नहीं होने देता ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=आपके स्तोताओं के लिए **महि सुवीर्यम्**=आदरणीय व महान् उत्तम शक्ति प्राप्त होती है। वस्तुतः ये उपासक आपकी शक्ति से ही शक्तिसम्पन्न बनते हैं। वस्तुतः इनके हृदयों में निवास करते हुए **उग्रः न**=अत्यन्त तेजस्वी के समान आप ही **शवसा**=अपनी शक्ति से **मथीः**-इन उपासकों के कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनकर ही ये उपासक काम-क्रोध को जीत पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदय में देखने के लिए देव बनने का यत्न करें। प्रभु हमें ज्ञानधन व पूजा की भावना प्राप्त कराएँगे। हम स्वस्थ दृष्टिकोण वाले बनकर शरीर को भी स्वस्थ रखेंगे और प्रभु शक्ति से सम्पन्न होकर काम-क्रोध का संहार करने वाले होंगे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में परुच्छेप ऋषि प्रभु के उपासक बनकर अङ्ग-अङ्ग में प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनने की प्रार्थना करते हैं। अगले सूक्त में भी परुच्छेप ऋषि प्रभु को हृदयासीन करने का संकल्प करते हैं—

[१२८] अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृदत्यष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

सखीयन् व श्रवस्यन्

अयं जायत मनुषो धरीमणि होता यजिष्ठ उशिजामनु व्रतमग्निः स्वमनु व्रतम्।
विश्वश्रुष्टिः सखीयते रयिरिव श्रवस्यते ।
अदब्धो होता नि षददिळस्पदे परिवीत इळस्पदे ॥ १ ॥

१. **अयम्**=यह **होता**=सब पदार्थों को देनेवाले **यजिष्ठः**=अत्यन्त पूज्य व सर्वाधिक दातृतम प्रभु **मनुषः**=विचारशील व्यक्ति के **धरीमणि**=धारण करने के कार्य में **जायत**=प्रादुर्भूत होते हैं। विचारशील पुरुष को तो प्रभु धारण करते ही हैं, परन्तु यह विचारशील पुरुष जब धारणात्मक कार्यों में व्यापृत होता है तब उसके कार्यों में भी ये प्रभु ही सहायक होते हैं, प्रभु की शक्ति ही उसके सब कार्यों में व्यक्त होती है। २. ये **अग्निः**=प्रभु **उशिजाम्**=मेधावी पुरुषों के **अनुव्रतम्**=(नियमः पुण्यकं व्रतम्) पुण्य कर्मों के अनुसार **विश्वश्रुष्टिः**=सम्पूर्ण अभ्युदय (श्रुष्टि=prosperity) व सहाय्य (श्रुष्टि=help) प्राप्त करानेवाले होते हैं। **स्वं व्रतम् अनु**='यथाकर्म यथाश्रुतम्'—'जिसका जैसा ज्ञान व कर्म होगा उसे वैसा ही फल दूँगा' इस अपने व्रत के अनुसार भी प्रभु उस मेधावी पुरुष को सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते हैं। ३. **सखीयते**=प्रभु की मित्रता की कामनावाले **श्रवस्यते**=ज्ञान संग्रह की इच्छावाले पुरुष के लिए ये प्रभु **रयिः इव**=ऐश्वर्य के समान होते हैं। जिस प्रकार धन से संसार के सभी कार्य सिद्ध किये जाते हैं, उसी प्रकार यह 'सखीयन्, श्रवस्यन्' पुरुष प्रभु के द्वारा अपने सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला होता है। प्रभु ही उसके धन बन जाते हैं। ४. इस सखीयन् व श्रवस्यन् पुरुष के हृदय में प्रभु **निषदत्**=आसीन होते हैं। वे प्रभु जो **अदब्धः**=अहिंसित हैं, **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। हृदय में प्रभु के आसीन होनेपर इस पुरुष को कामादि आक्रान्त नहीं कर पाते। इन्हें संसार में किसी आवश्यक वस्तु की कमी भी नहीं रहती। प्रभु इनके लिए होता है, देनेवाले हैं। ये प्रभु **इडस्पदे**=(इडा=वाणी) वाणी के स्थान में **परिवीतः**=सर्वतः प्राप्त होते हैं। ऋचाओं का अध्ययन करते हुए ज्ञानवान् पुरुष ही प्रभु को पानेवाला बनता है। **इडस्पदे**=(इडा=वेदि) वेदि के स्थान में प्रभु प्राप्त होते हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुष ही प्रभु की प्राप्ति का अधिकारी होता है और प्रभु की प्राप्ति से सब-कुछ पा लेनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु कर्मानुसार मेधावी पुरुषों को सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते हैं। मित्र बननेवाले ज्ञानी पुरुष के लिए वे ऐश्वर्य के समान हैं। वे अहिंसित होते हुए सब-कुछ देनेवाले हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—अग्निः । छन्दः—भुरिगष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

'यज्ञसाध' प्रभु का उपासन

तं यज्ञसाधमपि वातयामस्यृतस्य पथा नमसा हविष्मता देवताता हविष्मता।
स न ऊर्जामुपाभृत्यया कृपा न जूर्यति ।
यं मातरिश्वा मनवे परावतो देवं भाः परावतः ॥ २ ॥

१. **तं**=उस **यज्ञसाधम्**=हमारे सब यज्ञों को पूर्ण करनेवाले प्रभु को **अपि वातयामसि**=चित्त

की शान्ति के लिए सेवित करते हैं (वातः सुखसेवने)। प्रभु की उपासना से चित्त में एक अद्‌भुत आह्लाद का अनुभव होता है। उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है और हम विविध यज्ञों को सम्पन्न कर पाते हैं। २. यह प्रभु का उपासन (क) **ऋतस्य पथा**-ऋत के मार्ग से होता है। प्रत्येक क्रिया को ठीक समय पर करना ही ऋत है। प्रभु का उपासक सूर्य व चन्द्रमा की गति की भाँति प्रत्येक क्रिया को ठीक समय पर करनेवाला होता है, (ख) प्रभु का उपासन **नमसा**=नमन के द्वारा होता है। जितनी-जितनी नम्रता, उतना-उतना प्रभु के समीप; जितना अभिमान, उतना प्रभु से दूर; प्रभु का उपासन (ग) **हविष्मता**=हविवाले **देवताता**=यज्ञ के द्वारा होता है। **हविष्मता**= प्रशस्त हविवाले पुरुष के द्वारा इन हविष्मान् यज्ञों का विस्तार किया जाता है और इन यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन होता है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। हवि का भाव 'देकर यज्ञशेष का सेवन' है। प्रभु तो हविरूप ही हैं। वे सब-कुछ दे डालते हैं। हम भी जितना-जितना हवि को अपनाते हैं, उतना-उतना प्रभु का उपासन करनेवाले बनते हैं। ३. **सः**-वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **ऊर्जाम्**=बल व प्राणशक्तियों के **उपाभृति**=धारण करने में **अया कृपा**-इस अनुकम्पात्मक कार्य से **न जूर्यति**=कभी जीर्ण नहीं होते, अर्थात् प्रभु हमें सदा बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराते ही हैं। ४. प्रभु वे हैं **यम्**=जिस **देवम्**=प्रकाशमय को **परावतः**=सुदूर देश में स्थित **परावतः**=वस्तुतः सुदूर देश में स्थित हुए हुए को **मातरिश्वा**=वायु व प्राण **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **भाः**=दीप्त करते हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति निर्मल होती है और बुद्धि सूक्ष्म होती है। प्रभु-दर्शन के लिए ये दोनों ही बातें सहायक होती हैं। प्राणसाधना हमें प्रभु-दर्शन करानेवाली होती है, प्राणसाधना से रहित पुरुष के लिए प्रभु अत्यन्त दूर हैं, वह प्रभु-दर्शन नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'नियमितता, नम्रता व त्याग' से होती है। उपासित प्रभु हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु का निवास किन में?

एवेन सद्यः पर्येति पार्थिवं मुहुर्गी रेतो वृषभः कनिक्रदद्दधद्रेतः कनिक्रदत्।
शतं चक्षाणो अक्षभिर्देवो वनेषु तुर्वणिः ।
सदो दधान उपरेषु सानुष्वग्निः परेषु सानुषु ॥ ३ ॥

१. वह प्रभु **एवेन**=क्रियाशीलता के द्वारा **सद्यः**=शीघ्र **पार्थिवम्**=पार्थिव शरीरधारी मनुष्य को **पर्येति**=सर्वथा प्राप्त होता है। अकर्मण्य को कभी प्रभुदर्शन नहीं होता। इस क्रियाशीलता के लिए प्रभु **मुहुर्गीः**=बारम्बार प्रेरणात्मक वाणीवाले होते हैं, हृदयस्थ प्रभु इसे निरन्तर प्रेरणा देते हैं। **रेतः**=वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं और **वृषभः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। **कनिक्रदत्**='ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीन वाणियों का उच्चारण करते हुए प्रभु (तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्) **रेतः दधत्**=शक्ति को धारण करते हैं। हममें शक्ति के धारण के हेतु से वे प्रभु हमें तीन प्रेरणाएँ देते हैं—(क) मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करने का प्रयत्न करो, (ख) हृदय को उपासना में लीन करो तथा (ग) हाथों से यज्ञादि उत्तम कर्मों को सिद्ध करो। **कनिक्रदत्**=वे प्रभु बारम्बार यही गर्जना कर रहे हैं। २. **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **अक्षभिः**=इन्द्रियों से **चक्षाणः**=हमारे लिए जीवन-मार्ग को दिखानेवाले हैं और

वनेषु=उपासकों में **तुर्वणिः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं। प्रभु मार्ग दिखाते हैं, मार्ग पर चलनेवालों को शक्ति देते हैं और उनके क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करते हैं। ३. जिनके कामादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं, वे सदा यज्ञशील बनते हैं और जीवन में उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचते हैं। इन **उपरेषु**=(उपरमन्ते एषु अग्नयः) यज्ञशील पुरुषों के गृहों में **सानुषु**=जो उत्कृष्ट जीवनवाले बने हैं उनमें **सदः दधानः**=प्रभु स्थान ग्रहण करते हैं। इन्हीं के घरों में प्रभु का निवास होता है। वस्तुतः वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **परेषु**=उत्कृष्ट **सानुषु**=शिखर पर पहुँचनेवाले मनुष्यों में रहते हैं। ये अग्नि के उपासक ही तो उत्कृष्ट व शिखर पर पहुँचनेवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु क्रियाशील को प्राप्त होते हैं, उसी के लिए मार्गदर्शक होते हैं। इस मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति शिखर पर पहुँचता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'घृतश्री, अतिथि, वह्नि व वेधा' प्रभु का दर्शन

स सुक्रतुः पुरोहितो दमेदमेऽग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति क्रत्वा यज्ञस्य चेतति।
क्रत्वा वेधा इषूयते विश्वा जातानि पस्पशे ।
यतो घृतश्रीरतिथिरजायत वह्निर्वेधा अजायत ॥ ४॥

१. **सः**=वह प्रभु **सुक्रतुः**=शोभन कर्मोंवाले हैं। **पुरोहितः**=जीव के लिए उसके सामने (पुरः) आदर्श के रूप से स्थित (हित) हैं। जीव को अपने जीवन को प्रभु के गुणों के अनुकरण से ही तो दिव्यरूप देना है, प्रभु-जैसा ही दयालु व न्यायकारी उसे बनना है। **दमे दमे**=प्रत्येक गृह में वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी हैं। वे ही सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। **अध्वरस्य यज्ञस्य**=हिंसारहित श्रेष्ठतम कर्मों का **चेतति**=बोध देनेवाले हैं (चेतयति)। **क्रत्वा**=कर्मशीलता के साथ **यज्ञस्य चेतति**=यज्ञ का ज्ञान देते हैं। यज्ञ के ज्ञान द्वारा यज्ञ की प्रेरणा देते हैं तो साथ ही उन यज्ञों को कर सकने के लिए शक्ति भी प्राप्त कराते हैं। २. **वेधाः**= विविध फलों के देनेवाले प्रभु **इषूयते**=प्रभु के आगमन को (इषु=आगमनं, तदिच्छते) चाहनेवाले के लिए **क्रत्वा**=कर्मशक्ति के साथ **विश्वा जातानि**=सब उत्पन्न पदार्थों को **पस्पशे**=स्पर्श करता है—इन पदार्थों का निर्माण करता है। प्रभु ने सृष्टि का निर्माण व जीव को कर्मशक्ति इसीलिए तो दी है कि वह प्रभु की ओर चलता हुआ उसे प्राप्त करनेवाला बने। सब पदार्थ मनुष्य के लिए हैं और मनुष्य प्रभु-प्राप्ति के लिए है। ३. यह संसार वस्तुतः वह है **यतः**=जिससे **घृतश्रीः**=दीप्तज्ञान की शोभावाले **अतिथिः**=निरन्तर क्रियाशील वे प्रभु **अजायत**=हमारे हृदयों में आविर्भूत होते हैं। **वह्निः**=सम्पूर्ण संसार का वहन करनेवाले **वेधाः**=विविध फलों के देनेवाले वे प्रभु **अजायत**=प्रकट होते हैं। संसार की रचना आदि को देखकर प्रभु के विषय में यही विचार उठता है कि वे 'घृतश्री, अतिथि, वह्नि व वेधा हैं'।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें यज्ञ की प्रेरणा देते हैं। उपासक को यह सारा संसार प्रभु का दर्शन कराता है। प्रभु-दर्शन ही संसार-निर्माण का अन्तिम उद्देश्य है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

तीन व्रत

क्रत्वा यदस्य तविषीषु पृञ्चतेऽग्नेरवेण मरुतां न भोज्येषिराय न भोज्या।
स हि ष्मा दानमिन्वति वसूनां च मज्मना ।
स नस्त्रासते दुरितादभिह्रुतः शंसादघादभिह्रुतः ॥ ५॥

१. **यत्**=जो **क्रत्वा**-यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा **अस्य**=इस परमात्मा की **तविषीषु**-शक्तियों में **पृञ्चते**=सम्पर्क ग्रहण करता है और **अग्नेः अवेन**=प्रभु के रक्षण के द्वारा **न**-जैसे **मरुतां भोज्या**=प्राणों के भोज्य पदार्थों को अपने साथ संपृक्त करता है, **न**=और (न इति चार्थे) **इषिराय भोज्या**=गतिशील के लिए भोज्य पदार्थों को सम्पृक्त करता है, **सः हि ष्मा**=वह ही निश्चय से **दानम्**=(दाप् लवने, दैप् शोधने) अशुभों व पापों के विच्छेद को तथा जीवन के शोधन को **इन्वति**-व्याप्त करता है। जीवन को शुद्ध बनाने के लिए आवश्यक है कि (क) यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा यज्ञरूप प्रभु का उपासन करके हम प्रभु की शक्ति को प्राप्त करें, (ख) हमारा भोजन प्राणशक्ति की वृद्धि के दृष्टिकोण से हो, (ग) हम क्रियाशील होते हुए ही भोजन करें। 'श्रम तो न करें और भोजन ही करते रहें'—ऐसा न हो। २. उल्लिखित तीन बातों के पालन से हमारा जीवन उत्तम बनेगा। हमारे जीवन-विकास के लिए आवश्यक सब तत्त्व उपस्थित होंगे **च**=और **वसूनां मज्मना**=इन वसुओं के बल से (मज्मना इति बलनाम—नि० २।९) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दुरितात्**=अशुभाचरण से **अभिह्रुतः**=कुटिलता से **शंसात्**=हिंसा से तथा **अभिह्रुतः**-कुटिलतामय **अघात्**=औरों को कष्ट पहुँचानेवाले कार्यों से **त्रासते**=बचाते हैं। जीवन में पाप तभी आते हैं जब शारीरिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार की कमी होती है। अब्रह्मचर्य कितनी ही अशुभवृत्तियों का कारण बनता है। अस्वस्थ शरीर में मन व बुद्धि अस्वस्थ हो जाते हैं और मनुष्य का आचरण दूषित हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि शरीर में सब वसु ठीक से उपस्थित हों। इन वसुओं की ठीक स्थिति के लिए आवश्यक है कि (क) यज्ञात्मक कर्मों से हम प्रभु से अपना सम्बन्ध बनाएँ, (ख) प्राणपोषक भोजन ही करें, (ग) श्रमशील बनकर भोजन करें।

भावार्थ—(क) यज्ञात्मक कर्मों द्वारा प्रभु की शक्ति का अपने में सञ्चार करना, (ख) प्राणपोषण के दृष्टिकोण से भोज्य पदार्थों को लेना, (ग) श्रम के साथ भोजन—इन तीन व्रतों के पालन से जीवन शुद्ध होता है और निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों का ठीक से स्थापन होकर हमारी पापवृत्ति नष्ट हो जाती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'वारप्रायण' द्वारोद्घाटन

विश्वो विहाया अरतिर्वसुर्दधे हस्ते दक्षिणे तरणिर्न
शिश्रथच्छ्रवस्यया न शिश्रथत् ।
विश्वस्मा इदिषुध्यते देवत्रा हव्यमोहिषे ।
विश्वस्मा इत्सुकृते वारमृण्वत्यग्निर्द्वारा व्यृण्वति ॥ ६ ॥

१. वे प्रभु **विश्वः**=सर्वत्र प्रविष्ट—सर्वव्यापक हैं, **विहायाः**=महान् हैं, **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर क्रियाशील हैं और **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं। २. वे हमें **दक्षिणे हस्ते दधे**=दाहिने अथवा कुशल हाथ में धारण करते हैं। 'दक्षिण मार्ग' वाम से विपरीत अकुटिल मार्ग है। अकुटिल मार्ग पर चलनेवालों को प्रभुधारण करते हैं अथवा कुशलता से कार्य करनेवालों को प्रभु धारण करते हैं। ३. **तरणिः न**-सूर्य की भाँति **शिश्रथत्**=(to liberate, release) प्रभु हमें सब अशुभों से मुक्त करते हैं। सूर्य अपनी किरणों द्वारा रोगकृमियों का संहार करके हमें रोगमुक्त करता है, उसी प्रकार प्रभु हमें अपनी ज्ञानकिरणों द्वारा अशुभों से मुक्त करते हैं। वे प्रभु **श्रवस्यया**=ज्ञानप्राप्ति की कामना से **नः शिश्रथत्**=हमें अलग नहीं करते। ४. **इत्**=निश्चय

से **इषुध्यते**=(हविरात्मन इच्छते) हवि की कामनावाले के लिए **देवत्रा**=देवों में विद्यमान **विश्वस्मै हव्यम्**=सब हव्यों को **ओहिषे**=आप प्राप्त कराते हो। देव हविर्भुक् हैं, प्रभु इन शुभवृत्तिवालों को भी हव्य प्राप्त कराते हैं। **इत्**=निश्चय से **सुकृते**=शुभ कर्म करनेवाले के लिए **विश्वस्मै**=सब **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **ऋण्वति**=प्राप्त कराते हैं और **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **द्वारा**=स्वर्ग के सब द्वारों को **वि ऋण्वति**=खोल देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें अशुभों से मुक्त करते हैं, शुभों से युक्त करते हैं, हवि की वृत्तिवाला बनाते हैं, वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं और स्वर्गद्वारों को खोलते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

हव्य, इडा व कृत

स मानुषे वृजने शन्तमो हितो३ऽग्निर्यज्ञेषु जेन्यो न विश्पतिः प्रियो यज्ञेषु विश्पतिः। स हव्या मानुषाणामिळा कृतानि पत्यते ।
स नस्त्रासते वरुणस्य धूर्तेर्महो देवस्य धूर्तेः ॥ ७॥

१. **सः**=वे प्रभु **मानुषे वृजने**=मानवहितकारी तथा पाप को छोड़नेवाले व्यक्ति में **शन्तमः**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले हैं। ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **यज्ञेषु हितः**=यज्ञों में हितकर होते हैं, अर्थात् यज्ञों के द्वारा कल्याण करते हैं। **जेन्यः न**=विजयशील की भाँति **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के पालक हैं। ये **विश्पतिः**=प्रजाओं के पालक **यज्ञेषु प्रियः**=यज्ञों के होने पर हमारा प्रीणन करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **मानुषाणाम्**=मनुष्यमात्र का हित करनेवाले लोगों के **हव्या**=हव्य पदार्थों का, **इडा**=वेदवाणी का, **कृतानि**=उत्तम कर्मों का **पत्यते**=रक्षण करते हैं। प्रभुकृपा से ही इनकी (क) हव्य पदार्थों के खाने की वृत्ति, (ख) वेदाध्ययन की प्रवृत्ति तथा (ग) उत्तम कर्मों की कृति बनी रहती है। ३. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमें **वरुणस्य धूर्तेः**=द्वेषनिवारण के हिंसन से तथा **महो देवस्य धूर्तेः**=उस महान् देव के हिंसन से **त्रासते**=बचाते हैं, अर्थात् प्रभुकृपा से ही हमारी द्वेषनिवारण की वृत्ति तथा प्रभुपूजन की वृत्ति बनी रहती है।

भावार्थ—प्रभुकृपा होने पर मनुष्य (क) हव्य पदार्थों का सेवन करता है, (ख) वेदवाणी का अध्ययन करता है, (ग) शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, (घ) द्वेष से दूर रहता है और (ङ) प्रभु की उपासना को कभी नहीं छोड़ता। इस यज्ञशील व्यक्ति के लिए प्रभु उसी प्रकार रक्षक होते हैं, जैसे एक विजयशील राजा। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए सब शत्रुओं का पराजय करके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उपासना से पूर्ण जीवन की प्राप्ति

अग्निं होतारमीळते वसुधितिं प्रियं चेतिष्ठमरतिं न्येरिरे हव्यवाहं न्येरिरे।
विश्वायुं विश्ववेदसं होतारं यजतं कविम् ।
देवासो रण्वमवसे वसूयवो गीर्भी रण्वं वसूयवः ॥ ८॥

१. **वसूयवः**=सब वसुओं को प्राप्त कराने की कामनावाले **देवासः**=देववृत्ति के लोग **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु का **ईडते**=उपासन करते हैं, जो प्रभु **होतारम्**=सब इष्ट पदार्थों के देनेवाले हैं, **वसुधितम्**-निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को धारण करनेवाले हैं, **प्रियम्**=अपने भक्तों

का प्रीणन करनेवाले हैं, **चेतिष्ठम्**-अधिक-से-अधिक चेतना व ज्ञानवाले हैं और **अरतिम्**-क्रियाशील हैं। २. ये देव इस **हव्यवाहम्**-सब हव्यपदार्थों का वहन करनेवाले उस प्रभु को **नि एरिरे**=निश्चय से अपने में प्रेरित करते हैं **नि एरिरे**-और निश्चित कर्तव्य-मार्ग पर गति करनेवाले होते हैं। ये प्रभु का स्मरण करते हैं और कर्तव्य-मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। ३. ये उस प्रभु का स्मरण करते हैं जो **विश्वायुम्**-पूर्ण जीवन-प्रदाता हैं—'विश्वमायुर्यस्मात्', **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं, **होतारम्**=सब धनों के देनेवाले हैं, **यजतम्**=संगतिकरण के योग्य व उपास्य हैं, **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ हैं, तत्त्वद्रष्टा हैं। ४. **वसूयवः**-सब वसूयु **देवासः**-देव **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **रण्वम्**-उस रमणीय व **रण्वम्**-अतिरमणीय प्रभु का ही **गीर्भिः**=वेद-वाणियों से उपासन करते हैं (ईळते)।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से ही पूर्ण जीवन की प्राप्ति होती है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त की भावना यही है कि प्रभु ही धारण करनेवाले हैं (१) और पूर्ण जीवन देनेवाले हैं, (८)। 'ये प्रभु ही हमें उस शरीर-रथ को प्राप्त कराते हैं जो हमें लक्ष्यस्थान की ओर ले-चलता है'। इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१२९] एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

लक्ष्यस्थान की ओर

यं त्वं रथमिन्द्र मेधसातयेऽपाका सन्तमिषिर प्रणयसि प्रानवद्य नयसि।
सद्यश्चित्तमभिष्टये करो वशश्च वाजिनम् ।
सास्माकमनवद्य तूतुजान वेधसामिमां वाचं न वेधसाम् ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **इषिर**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **यं रथम्**=जिस शरीररूप रथ को **मेधसातये**-यज्ञों की प्राप्ति के लिए, लोकहितात्मक उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए **अपाका सन्तम्**=(अपाकः=अपक्तव्यप्रज्ञः—निरु०) अपक्तव्य प्रज्ञावाले, परिपक्व बुद्धिवाले श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए **प्रणयसि**=प्राप्त कराते हैं। हे **अनवद्य**=सब प्रकार की अप्रशस्तता से रहित प्रभो! **प्रनयसि**=आप ज्ञानी, श्रेष्ठ पुरुष के लिए उत्तम रथ प्राप्त कराते हो। **तम्**=उस रथ को आप **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **अभिष्टये करः**=(अभिमतप्राप्तये—सा०) अभिमत लक्ष्यस्थान की प्राप्ति के लिए करते हैं **च**=और उस श्रेष्ठ व्यक्ति को आप **वाजिनं वशः**=अत्यन्त शक्तिशाली बनाना चाहते हो। वस्तुतः प्रभु इस श्रेष्ठ शरीररथ को यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए प्रभु-प्राप्ति के लिए ही देते हैं। इसका उद्देश्य यही है। इस उद्देश्य की प्राप्ति से ज्ञानीपुरुष की शक्ति अतिशयेन प्रवृद्ध होती है। २. **सः**-वह 'आप' **अनवद्यः**-अत्यन्त प्रशस्त प्रभो! **तूतुजान**-निरन्तर प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**-हमारी **इमां वाचम्**=इस वाणी को **वेधसां न**=मेधावी पुरुषों की भाँति **वेधसाम्**=(विविधकर्मकर्तृणाम्) कर्तव्यकर्मों को करनेवालों की वाणी **वशः**=बनाने की कामना कीजिए। जिस प्रकार मेधावी पुरुष जो बोलते हैं, वैसा करते भी हैं, उसी प्रकार हम भी वाणी से जो बोलें, वैसा करनेवाले भी बनें, केवल पर-उपदेश कुशल ही न बनें रहें।

भावार्थ—हमारा यह शरीर-रथ सदा उत्तम मार्ग से चलता हुआ हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला हो। हमारी वाणी क्रिया में परिणत होनेवाली हो।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

संग्राम-विजय

स श्रुधि यः स्मा पृतनासु कासु चिद्दक्षाय्य इन्द्र भरहूतये नृभिरसि प्रतूर्तये नृभिः।
यः शूरैः स्वः सनिता यो विप्रैर्वाजं तरुता ।
तमीशानास इरधन्त वाजिनं पृक्षमत्यं न वाजिनम् ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यः**=जो आप **पृतनासु कासुचित्**=जिन किन्हीं भी संग्रामों में **दक्षाय्यः स्म**=हमारी वृद्धि करनेवाले हैं, **सः**=वे आप **श्रुधि**=हमारी पुकार को सुनिए। हे प्रभो! आप **नृभिः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले लोगों से **भरहूतये**=(भर=संग्राम—नि०) संग्राम में पुकारने के लिए **असि**=होते हैं। काम-क्रोधादि वासनाओं के साथ चलनेवाले संग्राम में प्रगतिशील पुरुष प्रभु को ही पुकारता है। प्रभु की सहायता से ही वह इन शत्रुओं को जीतनेवाला होता है। हे प्रभो! आप ही **नृभिः**=इन प्रगतिशाली पुरुषों द्वारा **प्रतूर्तये**=काम-क्रोधादि के संहार के लिए होते हैं। प्रभु की सहायता से ही ये काम-क्रोधादि को नष्ट कर पाते हैं। २. **यः**=जो प्रभु (क) **शूरैः**=शूरवीरों के द्वारा **स्वः**=स्वर्ग को **सनिता**=प्राप्त करानेवाले होते हैं, शूरवीरों से हममें शक्ति की भावना भरके हमें युद्धभीरुता से ऊपर उठाते हैं और युद्ध में अपराङ्मुखता के द्वारा हमें स्वर्ग प्राप्त कराते हैं, (ख) **यः**=जो प्रभु **विप्रैः**=ज्ञानियों के द्वारा **वाजं तरुता**=हमें शक्ति देनेवाले हैं ('वि'तरण=दान), ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्रकाश के द्वारा हमें विषयान्धकार से ऊपर उठाते हैं और हमें शक्ति को नष्ट करने से बचाकर शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं, **तम्**=उस शूर के द्वारा, स्वर्ग तथा ज्ञानियों के द्वारा शक्ति देनेवाले प्रभु को **ईशानासः**=अपनी इन्द्रियों व मन के स्वामी बननेवाले लोग ही **इरधन्त**=उपासित करते हैं। ईशान ही प्रभु का उपासक बनता है। ३. हम उस प्रभु को उपासते हैं जो **वाजिनम्**=प्रशस्त शक्तियोंवाले हैं, **पृक्षम्**=सबके साथ सम्पर्कवाले हैं, सर्वव्यापक हैं और **वाजिनं अत्यं न**=एक शक्तिशाली घोड़े के समान हैं। जैसे एक शक्तिशाली घोड़ा खूब गतिवाला होता हुआ हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार प्रभु का आश्रय करके एक भक्त सर्वत्र विजयी होता है।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से हम संग्रामों में विजयी हों। प्रभु ही हमें शूरता की भावना व शक्ति से भरते हैं। हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि के ईशान बनकर प्रभु के उपासक हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वृषण अररु

दस्मो हि ष्मा वृषणं पिन्वसि त्वचं कं चिद्यावीररुं शूर मर्त्यं परिवृणक्षि मर्त्यम्।
इन्द्रोत तुभ्यं तद्दिवे तद् रुद्राय स्वयशसे ।
मित्राय वोचं वरुणाय सप्रथः सुमृळीकाय सप्रथः ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **दस्मः**=शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले **स्म**=हैं। **वृषणम्**=शक्तिशाली पुरुष को, शक्ति के द्वारा औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले पुरुष को **पिन्वसि**=आप बढ़ाते हैं। आप उसे बढ़ाते हैं **कञ्चित् त्वचम्**=जो किसी को आच्छादित या सुरक्षित करनेवाला है (त्वच्=to cover)। यह ठीक है कि अल्प शक्तिवाला होने से जीव दुनियाभर का कल्याण नहीं कर सकता, परन्तु किसी एक-आध का कल्याण तो कर ही सकता है। ऐसी कल्याणकारी शक्ति हमें अपने अन्दर उत्पन्न करनी चाहिए, तभी हम प्रभु के प्रिय होंगे और तभी प्रभु हमारा वर्धन करेंगे। २. हे **शूर**-हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो!

अररुम्=न देनेवाले, सारे-का-सारा स्वयं खा जानेवाले, अत्यन्त स्वार्थी **मर्त्यम्**=मनुष्य को आप **यावीः**=अपने से पृथक् कर देते हो। इस **मर्त्यम्**=मनुष्य को तो आप **परिवृणक्षि**=(नक्ष=to kill) नष्ट ही कर देते हो। इस प्रकार के अदानशील व्यक्ति समाज के उत्त्थान में बड़े विघातक होते हैं। वेद में 'अपाररुं देवयजनाद् वध्यासम्'—इन शब्दों में इन अररु मनुष्यों के सामाजिक बहिष्कार का भी विधान है। राजा को तो इन्हें 'निष्टप्ता अरातयः'—दण्ड-सन्तप्त करना ही है। ३. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **दिवे**=प्रकाशमय के लिए **तत्**=उस **सप्रथः**=अत्यन्त विस्तारवाले—प्राणिमात्र के कल्याण की भावनावाले **वोचम्**=वचनों का उच्चारण करूँ। आपसे सर्वहित की प्रार्थना ही करूँ। मेरी प्रार्थना में अल्पता व स्वार्थ न हो। **रुद्राय**=ज्ञानोपदेश के द्वारा दुःखों को दूर करनेवाले आपके लिए **तत्**=उस **सप्रथः**=व्यापक प्रार्थनात्मक वचन बोलूँ। **स्वयशसे**=हे प्रभो! 'जिन आपकी महिमा किसी और से न होकर अपने से ही है' उन आपके लिए व्यापक वचनों को बोलूँ, **मित्राय**=सबके साथ स्नेह करनेवाले, **वरुणाय**=सब द्वेषों का निवारण करनेवाले तथा **सुमृळीकाय**=उत्तम सुखों को देनेवाले के लिए **सप्रथः**=व्यापक प्रार्थनात्मक **वोचम्**=वचनों को बोलूँ। ४. यहाँ 'दिव्, रुद्र, स्वयश, मित्र, वरुण व सुमृळीक' इन शब्दों से प्रभु का स्मरण यह प्रेरणा देता है कि (क) हम भी प्रकाशमय जीवनवाले बनें, (ख) औरों के लिए ज्ञान देकर उनके दुःखों को दूर करनेवाले हों, (ग) अपने कर्मों से यशस्वी बनें, (घ) सबके प्रति स्नेहवाले हों, (ङ) किसी से द्वेष न करें, (च) सभी के जीवन को सुखी बनाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर दुःखियों के लिए शरण (shelter) बनें, सदा देनेवाले बनें, स्नेह करें, द्वेष से दूर रहें, तभी हम प्रभु के प्रिय बनेंगे। हमारे कर्म ही हमें प्रभु का प्रिय बना सकते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वह अद्भुत मित्र

अस्माकं व इन्द्रमुश्मसीष्टये सखायं विश्वायुं प्रासहं युजं वाजेषु प्रासहं युजम्।
अस्माकं ब्रह्मोतयेऽवा पृत्सुषु कासु चित् ।
नहि त्वा शत्रुः स्तरते स्तृणोषि यं विश्वं शत्रुं स्तृणोषि यम् ॥ ४ ॥

१. **अस्माकम्**=हमारे और **वः**=तुम्हारे, अर्थात् सभी के **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **इष्टये**=अभिमत फलों की प्राप्ति के लिए अथवा यज्ञों में प्रवृत्ति बनाये रखने के लिए (इष्टि=याग), **उश्मसि**=कामना करते हैं। प्रभु की प्राप्ति हम इसलिए चाहते हैं कि वे प्रभु हमें सब इष्ट वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले होंगे और हमें यज्ञ की वृत्तिवाला बनाएँगे। प्रभु स्मरण से हमारी प्रवृत्ति अशुभ की ओर न होकर शुभकर्मों की ओर ही होती है। २. हम उस प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं जो (क) **सखायम्**=हमारे सच्चे मित्र हैं, कभी साथ न छोड़नेवाले सखा हैं, (ख) **विश्वायुम्**=हमारे जीवन को पूर्ण बनानेवाले हैं (विश्व=सम्पूर्ण); हमारी शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक उन्नति करनेवाले हैं, (ग) **प्रासहम्**=हमारे शत्रुओं का प्रकर्षेण पराभव करनेवाले हैं, (घ) **युजं वाजेषु**=(वाज=Battle, conflict) संग्रामों में सदा साथ देनेवाले हैं, **प्रासहं युजम्**-प्रभु वे साथी हैं जो युद्ध में शत्रुओं का मर्षण ही कर डालते हैं। ३. हे प्रभो! **कासुचित् पृत्सुषु**=जिन किन्हीं संग्रामों में **ऊतये**=रक्षण के लिए **अस्माकं ब्रह्म**=हमारे ज्ञान को **अव**=उत्तमता से रक्षित

कीजिए। ज्ञान के सुरक्षित होने पर ही हम इन अध्यात्म-संग्रामों में विजयी होंगे। ४. हे प्रभो! ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही तो **यं स्तृणोषि**=जिस शत्रु को आप हिंसित करते हो वह **शत्रुः**=शत्रु **त्वा**=आपको **न हि स्तरते**=हिंसित नहीं करता। **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें प्रविष्ट हो जानेवाले **यं शत्रुम्**=जिस शत्रु को आप **स्तृणोषि**=नष्ट करते हैं, वह हमारा नाश नहीं कर पाता। जब हम प्रभु को अपने हृदय में आसीन करते हैं तब ये काम-क्रोधादि सब अवाञ्छनीय वृत्तियाँ भस्म ही हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे सच्चे मित्र हैं, वे ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः।

निरभिमानिता

नि षू नमातिमतिं कयस्य चित्तेजिष्ठाभिररणिभिर्नोतिभिरुग्राभिरुग्रोतिभिः।
नेषि णो यथा पुरानेनाः शूर मन्यसे ।
विश्वानि पूरोरप पर्षि वह्निरासा वह्निर्नो अच्छ ॥ ५ ॥

१. हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **तेजिष्ठाभिः अरणिभिः**=अत्यन्त तेजस्विता से पूर्ण मार्गों के समान (अरणिः=path, way) **उग्राभिः ऊतिभिः**=उत्कृष्ट रक्षणों के द्वारा **ऊतिभिः**=अपने संरक्षण से **कयस्यचित्**=जिस किसी अपने भक्त की **अतिमतिम्**=अभिमानवृत्ति को **सु**-अच्छी प्रकार **नि नम**=झुकानेवाले होओ। प्रभु अपने भक्तों को ऐसे मार्गों से ले-चलते हैं, जो मार्ग उनकी शक्ति को क्षीण नहीं करते। साथ ही प्रभु उन्हें रोगों व पापों के आक्रमण से बचाते हैं। इस प्रकार उनके जीवन को अत्युत्तम बनाकर वे उन्हें निरभिमान भी रखते हैं। २. हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को नष्ट करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **यथा पुरा**=पहले की भाँति अब भी **नेषि**=उन्नति-पथ पर ले-चलिए। हे प्रभो! आप **अनेनाः**=अत्यन्त निष्पाप हैं और इसीलिए **मन्यसे**=ठीक ज्ञानवाले हैं। हमारे विषय में भी आपका ज्ञान ही ठीक है, अतः आप जैसे चाहें, हमें ले-चलें। **वह्निः**=हमें आगे ले-चलनेवाले आप **पूरोः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्य के **विश्वानि**=अन्दर घुस जानेवाले सभी काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अपपर्षि**=दूर करते हो। **वह्निः**=हमें आगे ले-जानेवाले आप **आसा**=मुख के द्वारा, ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः अच्छ**=हमारे अभिमुख प्राप्त होओ। आपसे उपदेश प्राप्त करके हम निरन्तर आगे बढ़ें।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट मार्ग व प्रभु के रक्षण हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाकर अभिमान की वृत्ति से ऊपर उठाते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

दुर्मति-दूरीकरण

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति।
स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् ।
अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत् ॥ ६ ॥

१. **भव्याय**=सर्वत्र भवनशील—सर्वव्यापक **इन्दवे**=(इन्द=to be powerful, इदि परमैश्वर्ये) शक्तिशाली व परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **तत्**=उन स्तुतिवचनों को **प्रवोचेयम्**=प्रकर्षेण उच्चारित करूँ। ये स्तुतिवचन मुझे भी 'भव्य व इन्दु' बनने की प्रेरणा देंगे। **हव्यः न**=वे प्रभु तो सदा पुकारने योग्य के समान हैं। जैसे एक छोटा बालक माता-पिता को पुकारता है, उसी

प्रकार ये प्रभु हमारे द्वारा आराधना करने के योग्य हैं। आपत्ति आई और हमने प्रभु को पुकारा। **यः**=जो प्रभु **इषवान्**-सदा उत्तम प्रेरणावाले हैं। हम प्रभु को पुकारते हैं और प्रभु हमें मार्ग दिखाते हैं, आपत्ति से ऊपर उठने के लिए उचित प्रेरणा देते हैं। **मन्म रेजति**=उस प्रेरणा से हमारा **इन्द्रः**=ज्ञान गतिमय होता है। वह **मन्म रेजति**=ज्ञान गतिमय होता है जो **रक्षोहा**=हमारी सब राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस कर देता है। २. इस प्रकार ज्ञान देता हुआ **सः**-वह प्रभु **स्वयम्**-अपने आप **अस्मत्**-हमसे **निदः**-निन्दनीय प्रवृत्तियों को तथा **दुर्मतिम्**=अशुभ विकारों को **वधैः**=चिन्तन आदि हनन-साधनों से **आ अजेत**=सर्वथा दूर कर दे। ३. इस हमारे समाज में **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला **अवतरम्**=बहुत ही नीचे **अवस्रवेत्**=टपक पड़े। **क्षुद्रम् इव**=एक अत्यन्त क्षुद्र वस्तु की भाँति **अवस्रवेत्**=नीचे ही-नीचे चला जाए। हमारे समाज में पाप के प्रशंसकों को ऊँचा स्थान प्राप्त न हो। वे क्षुद्र समझे जाएँ, तभी समाज में अघों की कमी होगी, लोग पाप की ओर न झुकेंगे। अघशंसकों को प्रधान स्थान प्राप्त होने पर मनुष्यों की प्रवृत्ति अघों=पापों की ओर ही जाएगी।

भावार्थ—हम प्रभु स्मरण करें, प्रभु हमें प्रेरणा देते हैं, हममें वासना-विनाश के ज्ञान को गतिमय करते हैं। समाज में अघशंसकों को ऊँचा स्थान न दिया जाए। इनको ऊँचा स्थान देने से औरों में भी दुर्मति उत्पन्न होने की आशंका होती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभुभजन—वरणीय धन

व॒नेम॒ तद्धोत्र॑या चि॒तन्त्या॑ व॒नेम॑ र॒यिं र॑यिवः सु॒वीर्यं॑ र॒ण्वं सन्तं॑ सु॒वीर्य॑म्।
दु॒र्मन्मा॑नं सु॒मन्तु॑भि॒रेमि॒षा पृ॑चीमहि ।
आ स॒त्याभि॒रिन्द्रं॑ द्यु॒म्नहू॑तिभि॒र्यज॑त्रं द्यु॒म्नहू॑तिभिः ॥ ७ ॥

१. **चितन्त्या**=प्रभु के गुणों का ज्ञापन करती हुई **तत् होत्रया**=उस प्रभु-प्रदत्त वेदवाणी से हम **वनेम**-प्रभु का संभजन करें। **रयिवः**=हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! हम **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्तिवाले **रण्वम्**=रमणीय **सन्तम्**-श्रेष्ठ और अतएव **सुवीर्यम्**=उत्तम सामर्थ्यवाले **रयिम्**=धन को **वनेम**=प्राप्त करें। हम वेदवाणी को समझें, उसके द्वारा प्रभु का स्तवन करें और उत्तम मार्ग से श्रेष्ठ धनों को प्राप्त करें, उस धन को जो हमें उत्तम सामर्थ्यवाला बनाता है। २. धन हमारे विलास का कारण न बन जाए, अतः हम **सुमन्तुभिः**-शोभन मनन-साधनभूत स्तवन-मन्त्रों से **दुर्मन्मानम्**=अत्यन्त कठिनता से मनन करने योग्य उस प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **इषा**=प्रेरणा के निमित्त **आपृचीमहि**=अपने साथ सम्पृक्त करते हैं। वेदमन्त्रों द्वारा प्रभु का गुणगान करते हुए प्रभु का उपासन करते हैं, उपासित प्रभु हमें वह उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं जो हमें भटकने से बचाती है। हम **सत्याभिः**=सत्य अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली **द्युम्नहूतिभिः**-ज्योतिर्मय पुकारों से **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **आ**-अपने साथ सम्पृक्त करते हैं। **यजत्रम्**=उस यष्टव्य पूज्य प्रभु को **द्युम्नहूतिभिः**=इन ज्योतिर्मय पुकारों से प्राप्त होते हैं। ज्योतिर्मय पुकार का अभिप्राय इतना ही है कि हम जिन मन्त्रों से प्रभु का आराधन करते हैं, उनके भाव को अच्छी प्रकार समझते हैं। ये विचारपूर्वक की गई प्रार्थनाएँ हमारे जीवन की दिशा को विकृत नहीं होने देंगी।

भावार्थ—हम अर्थमननपूर्वक मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करें और इस संसार में रमणीय श्रेष्ठ धनवाले हों, उस धनवाले जो हमें विलासता की ओर नहीं ले-जाता।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्शक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु का यशोगान व दुष्टों के जाल में न फँसना

प्रप्रा वो अस्मे स्वयंशोभिरूती परिवर्ग इन्द्रो दुर्मतीनां दरीमन्दुर्मतीनाम्।
स्वयं सा रिषयध्यै या न उपेषे अत्रैः ।
हुतेमसन्न वक्षति क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति ॥ ८ ॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभु **अस्मे**=हमारे लिए **वः**=तुम्हारे लिए, अर्थात् सबके लिए **स्वयशोभिः**=अपने यशों से युक्त **ऊती**=(ऊतिभिः) रक्षणों से **दुर्मतीनाम्**=दुष्ट बुद्धिवालों के **परिवर्गे**=दूर करने में, दूर ही क्या इन **दुर्मतीनाम्**=दुष्ट बुद्धिवालों के **दरीमन्**=विदारण करने में **प्र प्र**=खूब ही समर्थ होते हैं। प्रभु दुर्मति पुरुषों को हमसे दूर करते हैं और इस प्रकार वे हमारी रक्षा करते हैं। इन दुर्मति पुरुषों से बचने का उपाय '**स्वयशोभिः**'—इस शब्द से संकेतित हो रहा है। जब हम प्रभु के यशस्वी कार्यों का स्मरण करते हैं तब वह प्रभु का गुणगान ही हमें इन दुर्मति पुरुषों के आक्रमण से बचाता है। २. प्रभु का यशोगान करने पर **अत्रैः**=औरों का भक्षण करने के स्वभाववाले दुष्ट पुरुषों से **नः उपेषे**=हमें प्राप्त करने के लिए **या**=जो **जूर्णिः**=प्रतिपक्षियों को जीर्ण करनेवाली सेना **क्षिप्ता**=प्रेरित की जाती है **सा**=वह **स्वयम्**=अपने-आप **रिषयध्यै**=हिंसा के लिए होती है, नष्ट हो जाती है। वह **ईम्**=निश्चय से **हता असत्**=नष्ट हो जाती है और **न वक्षति**=हमें प्राप्त नहीं होती **न वक्षति**=सचमुच प्राप्त नहीं होती। प्रभु का गुणगान चलने पर दुष्टों के दुष्ट विचार व दुष्टाचार हम पर आक्रमण नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करने पर हम संसार में दुर्मति पुरुषों के जाल में फँसने से बच जाते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्शक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

सुपथ से धनार्जन

त्वं न इन्द्र राया परीणसा याहि पथाँ अनेहसा पुरो याह्यरक्षसा।
सचस्व नः पराक आ सचस्वास्तमीक आ ।
पाहि नो दूरादारादभिष्टिभिः सदा पाह्यभिष्टिभिः ॥ ९ ॥

१. **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **परीणसा**=(परितो नद्धेन=बहुना) सब दृष्टिकोणों से सुबद्ध—सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले पर्याप्त **राया**=धन के साथ **आयाहि**=प्राप्त होओ! आपके अनुग्रह से हम सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले धनों से युक्त हों परन्तु **अनेहसा पथा**=उस मार्ग से जो कि पापशून्य हो, **अरक्षसा**=जो मार्ग राक्षसी वृत्तियों से रहित हो, उसी मार्ग से हम धन कमाएँ। **पुरो याहि**=आप ही हमारे आगे चलनेवाले हों—पथ-प्रदर्शक हों। हृदयस्थ आप द्वारा प्रेरित मार्ग से ही हम धनों का संग्रह करें। २. **पराके**=दूर-से-दूर देश में **नः आ सचस्व**=आप हमें प्राप्त होओ, **अस्तमीके आसचस्व**=समीप-से-समीप हृदयदेश में आप हमें प्राप्त होओ। हृदय में तो हम आपका ध्यान करें ही, व्यापारादि के लिए दूर-से-दूर देश में विचरते हुए भी हम आपको भूल न जाएँ। आपको विस्मृत न करने पर ही हम सदा सुपथ से धनार्जन करनेवाले होंगे। ३. हे प्रभो! आप **दूरात्**=दूर से और **आरात्**=समीप से **अभिष्टिभिः**=अभ्यागमनों के द्वारा हमारे अन्तःस्थ काम-क्रोधादि शत्रुओं पर आक्रमण के द्वारा **नः**=हमें **पाहि**=बचाइए। **सदा**=सदा ही **अभिष्टिभिः**=इन शत्रुओं पर आक्रमण के द्वारा **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आपके रक्षण से हम काम-क्रोधादि के वशीभूत न

होते हुए आगे और आगे बढ़ें, अपने जीवन में उन्नत होते हुए आपको प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम निष्पाप व अराक्षसी मार्ग से आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन कमाएँ। सदा प्रभु का स्मरण करें और काम-क्रोधादि के वशीभूत न होते हुए आगे ही आगे बढ़नेवाले हों।

सूचना—'अरक्षा' शब्द इस बात का संकेत करता है कि हम अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले न हों।

ऋषिः परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

हिंसक का हिंसन

त्वं न इन्द्र राया तरूषसोग्रं चित्त्वा महिमा सक्षदवसे महे मित्रं नावसे।
ओजिष्ठ त्रातरविता रथं कं चिदमर्त्य ।
अन्यमस्मद्रिरिषेः कं चिदद्रिवो रिरिक्षन्तं चिदद्रिवः ॥ १० ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **तरूषसा**=सब आवश्यकताओं को तैरने—पूर्ण करने में समर्थ **राया**=धन से प्राप्त होते हैं। **उग्रं चित् त्वा**=अत्यन्त तेजस्वी आपको ही **महिमा**=सम्पूर्ण महत्त्व **सक्षत्**=सेवन करता है। आप ही महान् हो। हम आपको ही **महे अवसे**=अपने महान् रक्षण के लिए पुकारते हैं, **मित्रं न अवसे**=एक मित्र के समान रक्षण के लिए। आप ही वस्तुतः हमारे मित्र हो। संसार में अन्य सब सम्बन्धी कुछ दूर तक ही साथ देते हैं, अन्त तक तो आप ही हमारे साथ होते हो। आप ही सच्चे मित्र हो। आप ही आवश्यक धन देकर हमारी रक्षा करते हो। २. **ओजिष्ठ**=हे अत्यन्त तेजस्विन्! **त्रातः**=सर्वरक्षक प्रभो! **कञ्चित् रथम्**=इस विलक्षण शरीर-रथ को **अविता**=आप ही रक्षित करते हो। हे **अमर्त्य**=अविनाशी प्रभो! आप **अस्मत् अन्यं कञ्चित्**=हमसे भिन्न किसी दूसरे का ही **रिरिषेः**=नाश करते हो। हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! आप **चित्**=निश्चय से उसी का नाश करते हो जो **रिरिक्षन्तम्**=औरों की हिंसा की कामनावाला होता है। हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! आप हमारा रक्षण कीजिए और हिंसक का ही हिंसन कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें आवश्यक धन देते हैं, वे ही सच्चे मित्र हैं। वे अद्भुत महिमावाले प्रभु ही हमारे शरीर-रथ का रक्षण करते हैं। वे हिंसक का ही हिंसन करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

स्तुति व पवित्र जीवन

पाहि न इन्द्र सुष्टुत स्त्रिधोऽवयाता सदमिद्दुर्मतीनां देवः सन् दुर्मतीनाम्।
हन्ता पापस्य रक्षसस्त्राता विप्रस्य मावतः ।
अधा हि त्वा जनिता जीजनद्वसो रक्षोहणं त्वा जीजनद्वसो ॥ ११ ॥

१. हे **सुष्टुत**=उत्तमता से स्तुत हुए-हुए **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! आप **नः**=हमें **स्त्रिधः**=प्रत्येक कुत्सित व निन्दनीय पाप से **पाहि**=बचाइए, हमें अशुभ से सदा दूर रखिए। आप **सदम् इत्**=सदा ही **दुर्मतीनाम्**=दुष्ट विचारवाले पुरुषों को **अवयाता**=हमसे दूर करनेवाले हैं। **देवः सन्**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले होते हुए आप (देवो द्योतनाद्—निरु०) **दुर्मतीनाम् अवयाता**=दुष्ट विचारों को हमसे दूर करनेवाले हैं। २. दुष्ट विचारों को दूर करके आप **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तिवाले **पापस्य**=पापी के **हन्ता**=नष्ट करनेवाले हैं। दुष्ट विचारों को दूर

करके आप राक्षसीपन और पापवृत्ति को कुचल देते हैं। हे इन्द्र! आप **मा-वतः**=ज्ञानलक्ष्मी से सम्पन्न **विप्रस्य**=अपनी कमियों को दूर करके अपना पूरण करनेवाले का **त्राता**=त्राण करनेवाले हैं। ज्ञान बढ़ाकर आप हमारे जीवन को पवित्र करते हैं और इस प्रकार हमें पापों में फँसने से बचाते हैं। ३. हे **वसो**=हमारे जीवनों को उत्तम निवासवाला बनानेवाले प्रभो! **जनिता**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला जीव **त्वा**=आपको **अध हि**=पापवृत्तियों की समाप्ति के बाद ही **जीजनत्**=अपने हृदय में प्रकट करता है। हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **रक्षोहणं त्वा**=राक्षसी वृत्तियों का विनाश करनेवाला आपको **जीजनत्**=प्रकट करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु हमारी बुराइयों व दुर्विचारों को दूर करके हमें पवित्र जीवनवाला बनाते हैं।

विशेष—सारे सूक्त का भाव यही है कि हम लक्ष्यस्थान की ओर बढ़ें। इसके लिए जीवन को पवित्र बनाएँ। जीवन की पवित्रता के लिए प्रभु का स्तवन करें। इसी उद्देश्य से अब प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप हमें प्राप्त हूजिए और हमारा मार्गदर्शन कीजिए—

[१३०] त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

ब्रह्मलोकरूप घर की ओर

एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्तं राजेव सत्पतिः।
हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा ।
पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **नः**=हमें **परावतः**=दूर देश से **उप आ याहि**=समीपता से प्राप्त होओ ताकि हमें उसी प्रकार **अच्छ**=लक्ष्य-स्थान की ओर **नायम्**=ले-जाने के लिए होओ (नी), **इव**=जैसे कि **सत्पतिः**=सत्कर्मों का रक्षक व्यक्ति औरों को भी **विदथानि**=ज्ञानयज्ञों की ओर ले-चलनेवाला होता है, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि **सत्पतिः**=सज्जनों का रक्षक **राजा**=राजा **अस्तम्**=प्रत्येक भटके हुए व्यक्ति को घर की ओर ले-जानेवाला होता है। प्रभु भी अपने भक्तों को ब्रह्मलोकरूप गृह की ओर ले-जानेवाले होते हैं। २. हे प्रभो! **वयम्**=हम **सुते**=यज्ञों में **सचा**=मिलकर **प्रयस्वन्तः**=प्रकृष्ट हविरूप अन्नोंवाले होते हुए **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। घरों में मिलकर हम यज्ञ करते हैं। उन यज्ञों में हविरूप अन्नों को डालते हुए हम यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। इस प्रकार यह हमारा प्रभु का उपासन हो जाता है 'हविषा विधेम'। ३. हम **पुत्रासः न पितरम्**=जैसे पुत्र पिता को पुकारते हैं, उसी प्रकार **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए हे प्रभो! आपको पुकारते हैं। **मंहिष्ठम्**=अत्यन्त दातृतम आपको उसी प्रकार **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए आराधित करते हैं। पिता के सान्निध्य में पुत्र शक्ति का अनुभव करता है, इसी प्रकार आपके सान्निध्य में हम शक्ति प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले-चलते हैं। उत्तम हविवाले होकर हम प्रभु का उपासन करते हैं। जैसे पुत्र पिता के समीप, उसी प्रकार हम प्रभु के सान्निध्य में शक्ति का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

'सोमधारण' से सब कोशों का पूरण

पिबा सोममिन्द्र सुवानमद्रिभिः कोशेन सिक्तमवतं
न वंसगस्तातृषाणो न वंसगः ।
मदाय हर्यताय ते तुविष्टमाय धायसे ।
आ त्वा यच्छन्तु हरितो न सूर्यमहा विश्वेव सूर्यम् ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! **सुवानं सोमम्**=इस उत्पन्न किये हुए सोम को—वीर्यशक्ति को **पिब**=अपने शरीर में ही पीने का, व्याप्त करने का प्रयत्न कर। यह सोम **अद्रिभिः**-उपासकों से **कोशेन**=अन्नमयादि कोशों के हेतु से **सिक्तम्**-शरीर में सिक्त किया जाता है। सोम को शरीर में सिक्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रभु-उपासन है। सिक्त हुआ यह सोम सब कोशों को ऐश्वर्य-सम्पन्न करता है—अन्नमयकोश को तेज से, प्राणमय को वीर्य (प्राणशक्ति) से, मन को ओज व बल से, विज्ञानमयकोश को मन्यु=ज्ञान से तथा आनन्दमयकोश को यह सहस् से पूर्ण करता है। इस कारण इस सोम के पान की ओर एक भक्त की प्रवृत्ति उसी प्रकार तीव्रता से होती है **न**=जैसे कि **तातृषाणः**-प्यास से अत्यन्त पीड़ित **वंसगः**-वननीय गतिवाला वृषभ **अवतम्**=एक जलकुण्ड की ओर जाता है। उपासक भी सोमपान के लिए **वंसगः न**=अत्यन्त पिपासित वननीय गतिवाले वृषभ की भाँति होता है। २. शरीर में ही व्याप्त किया हुआ यह सोम **मदाय**-हर्ष के लिए होता है, जीवन में उल्लास का कारण बनता है। **हर्यताय**=(हर्य गतिकान्त्योः) जीवन में उत्क्रान्ति के लिए और कान्ति को उत्पन्न करने के लिए होता है। **ते तुविष्टमाय**-हे जीव! यह सोम तेरे अत्यन्त महत्त्व व वृद्धि के लिए होता है और **धायसे**=तेरे धारण के लिए होता है। ३. इन सब दृष्टिकोणों से प्रजाएँ हे सोम! **त्वा**=तुझे **आयच्छन्तु**=सब प्रकार से अपने में संयत करें **न**=उसी प्रकार अपने में बद्ध करें जैसे कि **हरितः**=दिशाएँ **सूर्यम्**-सूर्य को अपने में बद्ध करती हैं। **अहा विश्वा इव**-जैसे दिशाएँ सब दिनों, अर्थात् प्रतिदिन **सूर्यम्**=सूर्य को अपने में बद्ध करती हैं, उसी प्रकार ये प्रभुभक्त सोम को प्रतिदिन अपने में बद्ध करते हैं। वस्तुतः उन्नतिमात्र का मूल इस सोम के बन्धन में है। उपासक सोम के द्वारा सब कोशों की सम्पत्ति को अपने में धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोमधारण के योग्य बनें। सोमधारण से हम अन्नमयादि सब कोशों को अपने-अपने ऐश्वर्य से पूर्ण करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

प्रभु-प्रेरणा के पालन से स्वर्ग

अविन्दद्दिवो निहितं गुहा निधिं वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि।
व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्नङ्गिरस्तमः ।
अपावृणोदिष इन्द्रः परीवृता द्वार इषः परीवृताः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम-रक्षण से विज्ञानमयकोश को ज्ञान के ऐश्वर्य से पूर्ण करनेवाला **दिवः**=ज्ञानीपुरुष **गुहा निहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थापित **निधिम्**=ऐश्वर्यभूत उस प्रभु को **अविन्दत्**-प्राप्त करता है। प्रभु हृदय में स्थित हैं, यही सर्वत्र विद्यमान प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवास-स्थान है। यहीं जीव अपने उस सच्चे मित्र का दर्शन करता है। वे प्रभु **वेः**-इस ज्ञान व कर्मरूप दो पक्षोंवाले पक्षिरूप जीव के **गर्भं न**=गर्भ के समान हैं, जीव के अन्दर उसी प्रकार स्थित हैं

जैसे गर्भ माता में स्थित होता है। वे प्रभु **अश्मनि**=इस पत्थर-तुल्य दृढ़ शरीर में (अश्मा भवतु नस्तनूः) **परिवीतम्**=चारों ओर से वेष्टित हैं। इस **अनन्ते**=न जाने कब से चले आ रहे **अश्मनि अन्तः**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर में वे प्रभु विद्यमान हैं। यहीं तो हम उस प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। २. इस प्रभु के दर्शन के लिए ही **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में धारण करनेवाला जीव **गवां व्रजं इव**=गौओं के समूह की भाँति इन्द्रियों के समूह को **सिषासन्**=प्राप्त करने की कामनावाला होता है। इन्द्रियों को वश में करके ही तो यह प्रभु-दर्शन कर पाएगा। इन्द्रियों को वश में करनेवाला यह **अङ्गिरस्तमः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अधिक-से-अधिक रसवाला होता है। शरीर के स्वस्थ होने से इसके सब अङ्ग बड़े सबल हो जाते हैं। ३. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरु **परीवृताः इषः**=राग-द्वेष आदि मलों के कारण आज तक ढँकी हुई हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाओं को **अपावृणोत्**=राग-द्वेषरूप मल के हटाने से अपावृत कर (खोल) देता है। **इषः**=प्रेरणाओं को तो अपावृत करता ही है, इन प्रेरणाओं को अपावृत करने के साथ **द्वारः**=स्वर्गद्वारों को उद्घाटित करनेवाला होता है। प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार चलकर स्वर्ग तो प्राप्त करेंगे ही।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीरस्थ प्रभु का दर्शन करता है, जितेन्द्रिय बनकर वह प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और स्वर्गद्वारों को खोलनेवाला होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

क्रियाशीलता से वासनाविनाश व शक्ति-प्राप्ति

दादृहाणो वज्रमिन्द्रो गभस्त्योः क्षद्मेव तिग्ममसनाय सं श्यदहिहत्याय सं श्यत्।
संविव्यान ओजसा शवोभिरिन्द्र मज्मना ।
तष्टेव वृक्षं वनिनो नि वृश्चसि परश्वेव नि वृश्चसि ॥४॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **गभस्त्योः**=अपनी बाहुओं में **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूपी वज्र को **दादृहाणः**=दृढ़ता से ग्रहण करता हुआ **क्षद्म इव**=जल की भाँति **तिग्मम्**=तीक्ष्ण वज्र को **असनाय**=शत्रुओं पर फेंकने के लिए **संश्यत्**=खूब तीक्ष्ण करता है। **अहिहत्याय**=(आहन्तीति अहिः) चारों ओर से विद्ध करनेवाले इस कामरूप शत्रु के हनन के लिए **संश्यत्**=तीक्ष्ण करता है। जल के प्रोक्षण से जैसे पवित्रीकरण होता है, उसी प्रकार इस क्रियाशीलतारूपी वज्र के प्रक्षेप से भी पवित्रता का सञ्चार होता है। इस क्रियाशीलता से वासनाओं का विनाश होता है। अकर्मण्य पुरुष पर ही वासनाओं का आक्रमण होता है। क्रियाशीलतारूप वज्र को तीक्ष्ण करने का भाव यही है कि कार्यों में अनालस्यपूर्वक प्रवृत्त रहना। इस व्यक्ति को वासनाएँ नहीं सता पातीं। वासनाओं से अनाक्रान्त होकर यह **ओजसा**=मानस बल से **शवोभिः**=इन्द्रियों की शक्तियों से तथा **मज्मना**=आत्मा के बल से **संविव्यानः**=अपने को सम्यक्तया युक्त करनेवाला होता है। वस्तुतः वासनाएँ ही शक्तियों को क्षीण करती हैं। वासनाक्षय से शरीर, मन व आत्मा सभी सशक्त बनते हैं। हे इन्द्र प्रभो! आप **वनिनः**=उपासकों की वासनाओं को इस प्रकार **निवृश्चसि**=निश्चय से काट डालते हैं **इव**=जैसे **तष्टा**=बढ़ई **वृक्षम्**=वृक्ष को काट डालता है। **इव**=जैसे वह **परश्वा**=कुल्हाड़े से **निवृश्चसि**=वृक्ष को काट डालता है, इसी प्रकार आप इस उपासक की वासनाओं को काट डालते हो।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशील बने रहते हैं तो वासनाओं का विनाश हो जाता है और हमारे शरीर, मन व आत्मा सभी सबल बनते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—भुरिगष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

चित्तवृत्ति प्रभु की ओर

त्वं वृथा नद्य इन्द्र सर्तवेऽच्छा समुद्रमसृजो रथाँइव वाजयतो रथाँइव।
इत ऊतीरयुञ्जत समानमर्थमक्षितम् ।
धेनूरिव मनवे विश्वदोहसो जनाय विश्वदोहसः ॥५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **नद्यः**=इन चित्तवृत्ति की नदियों को **वृथा**=अनायास ही—स्वभावतः ही **समुद्रम् अच्छ**=आनन्दमय प्रभु की ओर **सर्तवे**=बहने के लिए **असृजः**=करता है। तेरी चित्तवृत्ति प्रभु की ओर ही प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे एक व्यक्ति **रथान्**=रथों को लक्ष्य-स्थान की ओर ले जाता है। **वाजयतः**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न की भाँति आचरण करते हुए **रथान् इव**=रथों की भाँति। जिस प्रकार दृढ़ रथों को तीव्रता से लक्ष्य की ओर ले-जाया जाता है, उसी प्रकार एक जितेन्द्रिय पुरुष चित्तवृत्तिरूप नदियों को आनन्दमय प्रभु की ओर ले-चलता है। २. **इतः**=इधर से—इस सांसारिक विषयों से **ऊतीः**=रक्षणवाले पुरुष अपने को उस प्रभु के साथ **अयुञ्जन्त**=जोड़ते हैं जो **समानम्**=सबके अन्दर समरूप से रहते हैं, अथवा सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं (सम् आनयति), **अर्थम्**=चाहने योग्य हैं तथा **अक्षितम्**=अविनाशी हैं। वासनाओं व सांसारिक विषयों से अलग होकर ही हम प्रभु से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ३. यह सम्बन्ध होने पर **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए ये वेदवाणियाँ **धेनूः इव**=गौओं के समान होती हैं और **विश्वदोहसः**=उसके लिए सब ज्ञान-दुग्धों का दोहन करनेवाली होती हैं। **जनाय**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले के लिए **विश्वदोहसः**=ये सब ज्ञानों का प्रपूरण करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हमें चित्तवृत्तियों को प्रभु की ओर ले-जाना चाहिए। संसार से हटाकर ही हम उन्हें प्रभु से लगा पाते हैं। प्रभु हमारे लिए वेदरूपी धेनु देते हैं, जो हमारे लिए ज्ञान-दुग्ध देती है।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—स्वराडष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

प्रभु व प्रभु की वाणी का मनन

इमां ते वाचं वसूयन्त आयवो रथं न धीरः स्वपा अतक्षिषुः सुम्नाय त्वामतक्षिषुः।
शुम्भन्तो जेन्यं यथा वाजेषु विप्र वाजिनम् ।
अत्यमिव शवसे सातये धना विश्वा धनानि सातये ॥६॥

१. **वसूयन्तः**=वसुओं—जीवन के आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करने की कामनावाले **आयवः**=गतिशील पुरुष **इमाम्**=इस **ते**=आपकी **वाचम्**=वाणी को, वेदवाणी को **अतक्षिषुः**=अपने अन्दर निर्मित करते हैं **न**=उसी प्रकार जैसे कि **धीरः**=ज्ञानी **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला, कुशलहस्त कारीगर **रथम्**=रथ को बनाता है। कुशल शिल्पी जैसे रथ को बनाता है, उसी प्रकार वसूयु पुरुष अपने हृदय में प्रभु की वाणी को निर्मित करने का प्रयत्न करते हैं। इस वेदवाणी के निर्माण के साथ ये **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अतक्षिषुः**=अपने हृदयों में निर्मित करते हैं, अर्थात् अपने हृदयों में आपके स्वरूप का चिन्तन करते हैं। वेदमन्त्रों के निर्माण का भाव वेदमन्त्रों के अर्थचिन्तन से है और प्रभु के निर्माण का भाव 'प्रभु का चिन्तन' है। २. **विप्र**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले हे प्रभो! ये भक्त लोग **वाजेषु**=संग्रामों में आपको **वाजिनं जेन्यं यथा**=शक्तिशाली विजेता के रूप में **शुम्भन्तः**=अलंकृत

करते हैं। आपको ही संग्रामों का विजेता मानकर आपका ही गुणगान करते हैं। ३. **शवसे**=शक्ति-प्राप्ति के लिए तथा **धना सातये**=धनों की प्राप्ति के लिए **विश्वा धनानि सातये**=सम्पूर्ण धनों की प्राप्ति के लिए **अत्यम् इव**=संग्राम में विजय-प्राप्ति के साधनभूत घोड़े की भाँति आपको मानते हैं।

भावार्थ—जीवन को उत्तम बनाने की कामनावाले पुरुष वेदवाणी को अपनाते हैं और हृदयों में प्रभु का चिन्तन करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'संसार-नाटक का सूत्रधार' प्रभु

भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्　　　　।
महो धनानि दयमान ओजसा विश्वा धनान्योजसा　　　　॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **नृतो**=संसार-नाटक में सभी नृत्यों के सूत्रधार प्रभो! आप **नवतिं पुरः भिनत्**=असुरों की नव्वे नगरियों को विदीर्ण कर देते हो। सैकड़ों रूपों में इन्द्रियों, मन व बुद्धि में बनाये गये असुरों के अधिष्ठानों को आप समाप्त कर देते हो। हमारे जीवन में आ जानेवाली आसुरीवृत्तियाँ आपकी कृपा से ही तो नष्ट होती हैं। आप इन आसुरी वृत्तियों को **पूरवे**=पुरु के लिए—अपना पालन व पूरण करनेवाले के लिए जो शरीर में रोगों को और मन में राग-द्वेष को नहीं आने देता, नष्ट करते हैं। **दिवोदासाय**=आप इन आसुर-वृत्तियों को दिवोदास के लिए नष्ट करते हैं (दिवः=ज्ञान के द्वारा दास=अपवित्रता को नष्ट करनेवाले के लिए)। **महि**=(मह पूजायाम्), (महे) पूजा की वृत्ति के लिए और अन्त में **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—देने की वृत्तिवाले के लिए। हे **नृतो**=सबको नृत्य करानेवाले प्रभो! आप **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिए अशुभ वृत्तियों को नष्ट करते हैं। देने की वृत्ति मनुष्य को अशुभवासनाओं से बचानेवाली है। 'दान' शब्द का अर्थ है देना—साथ ही अशुभों का खण्डन व जीवन का शोधन भी। २. **उग्रः**=अत्यन्त तेजस्वी आप **अतिथिग्वाय**=उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले के लिए (अतिथिं गच्छति) **शम्बरम्**=शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाली ईर्ष्या को **गिरेः**=(गृणाति, उपदिशतीति गिरः) ज्ञानी उपदेष्टाओं के द्वारा **अवाभरत्**=दूर कर देते हैं। प्रभु की व्यवस्था से हमारा सम्पर्क ऐसे ज्ञानी पुरुषों से होता है जो हमें ईर्ष्या-द्वेषादि में फँसने से ऊपर उठाते हैं। ३. वे प्रभु **ओजसा**=ओज के साथ **महः धनानि**=महत्त्वपूर्ण धनों को **दयमानः**=हमें देते हैं। वस्तुतः **विश्वा**=सम्पूर्ण **धनानि**=धनों को **ओजसा**=ओजस्विता के साथ प्राप्त कराते हैं। आसुरी वृत्तियों का नाश और विशेषकर ईर्ष्या-द्वेष का विनाश करके प्रभु हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु संसार-नाटक के सूत्रधार हैं। ये हमें अशुभवृत्तियों से सदा दूर करते हैं, ईर्ष्या से ऊपर उठाते हैं और ओजस्विता के साथ हमारे लिए धनों का दान करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

आर्यों का रक्षण, अनार्यों का ताड़न

इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं प्रावद्विश्वेषु शतमूतिराजिषु स्वर्मीळ्हेष्वाजिषु।
मनवे शासदव्रतान्त्वचं कृष्णामरन्धयत्　　　　।
दक्षन्न विश्वं ततृषाणमोषति न्यर्शसानमोषति　　　　॥ ८॥

१. **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **समत्सु**=संग्रामों में **यजमानम्**=यज्ञशील **आर्यम्**=श्रेष्ठ पुरुष को **प्रावत्**=रक्षित करते हैं। **शतम् ऊतीः**=सैकड़ों प्रकार से रक्षण करनेवाले वे प्रभु **विश्वेषु आजिषु**=सब संग्रामों में रक्षण करनेवाले हैं, **आजिषु**=उन संग्रामों में जोकि **स्वर्मीळ्हेषु**=स्वर्ग का सेचन करनेवाले हैं, अर्थात् जिन धर्म्य संग्रामों में वीरतापूर्वक प्राणों को छोड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। २. **मनवे**=विचारशील पुरुषों के लिए, इनके जीवन को सुखी एवं शान्त बनाने के लिए **अव्रतान्**=नियम भंग करनेवाले पुरुषों को **शासत्**=दण्ड द्वारा उचित शिक्षा प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु **कृष्णां त्वचम्**=हमारे हृदयों पर आ जानेवाले मलिन आवरणों को **अरन्धयत्**=नष्ट करते हैं। ३. **दक्षं न**=अग्नि (दक्ष=fire) के समान **ओषति**=जला देते हैं, उनको जो कि **विश्वं ततृषाणम्**=सब धन की अत्यधिक प्यास व लालसावाले हैं। **नि**=निश्चय से **अर्शसानम्**=सदा औरों को हानि पहुँचाने के लिए उद्योग करनेवालों को (Striving to hurt) **ओषति**=भस्म कर देते हैं। ४. यहाँ प्रसङ्गवश राजकर्ताओं को अत्युत्तम उपदेश हो गया है कि (क) राजा नियम तोड़नेवालों को समुचित दण्ड दे ताकि विचारशील पुरुषों को पीड़ा प्राप्त न हो, (ख) अत्यन्त लोभ के कारण अन्याय-मार्ग से धनार्जन करनेवालों को नष्ट कर दे, (ग) औरों को हानि पहुँचाने के कार्यों में लगे हुओं को भी दण्डित करे।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभु यज्ञशील का रक्षण करते हैं। नियम भङ्ग करनेवाले, अत्यन्त लोलुप व औरों को पीड़ित करनेवालों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्ञानी का कर्तव्यभार-वहन

सूरश्चक्रं प्र वृहज्जात ओजसा प्रपित्वे वाचमरुणो मुषायतीशान आ मुषायति।
उशना यत्परावतोऽजगन्नूतये कवे ।
सुम्नानि विश्वा मनुषेव तुर्वणिरहा विश्वेव तुर्वणिः ॥ ९ ॥

१. **सूरः**=सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से चमकनेवाला ज्ञानी पुरुष **चक्रम्**=दैनिक कर्तव्यचक्र को—नियमित गति से होनेवाले अपने कार्यक्रम को **प्रवृहत्**=(वृह उद्यमने) उठानेवाला होता है, कर्तव्यकर्मों को नियमपूर्वक निभाता है। इन कर्तव्यकर्मों को करता हुआ **प्रपित्वे**=उस प्रभु की समीपता में, उस प्रभु की उपासना में **ओजसा**=ओज से **जातः**=प्रादुर्भूत शक्तिवाला होता है। प्रभु की उपासना से प्रभु की शक्ति का प्रवाह उपासक के अन्दर होता है और वह प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर प्रभु-जैसा ही प्रतीत होने लगता है। २. **अरुणः**=तेजस्वी बना हुआ यह पुरुष **वाचम्**=वाणी को **मुषायति**=मुषित करनेवाला होता है, अर्थात् मौनव्रत धारण करता है। **ईशानः**=इन्द्रियों का शासक बनता हुआ **आ**=सब ओर से **मुषायति**=इन इन्द्रियों को सब ओर से मुषित करनेवाला होता है (मुष्=free from)। इन इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से मुक्त कर लेता है। ३. **कवे**=हे सर्वज्ञ प्रभो! **उशनाः**=इस जितेन्द्रिय के हित की कामनावाले आप **यत्** **परावतः**=जो दूर-से-दूर देश में भी होते हैं तो **ऊतये अजगन्**=इसके रक्षण के लिए आते हैं। इस जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण प्रभु का प्रमुख कार्य होता है। प्रभु सर्वव्यापक हैं, अतः उनके दूर होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यहाँ 'परावतः' शब्द केवल इस दृष्टिकोण से प्रयुक्त हुआ है कि अन्य सब कार्यों को छोड़कर वे प्रभु इस जितेन्द्रिय पुरुष के रक्षण को प्रमुखता देते हैं। आप **मनुषा इव**=जिस प्रकार विचारशील पुरुष के साथ इसी प्रकार इस जितेन्द्रिय के साथ **विश्वा सुम्नानि**=सम्पूर्ण धनों के **तुर्वणिः**=शीघ्रता से सम्भक्त करनेवाले होते हैं। **विश्वा इव**

अहा=सभी दिनों में **तुर्वणिः**=इसके लिए धनों को प्राप्त कराते हैं, अथवा शीघ्रता से इसके शत्रुओं को पराजित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष कर्तव्यकर्मों को नियम से निभाता है, प्रभु की उपासना से शक्तिशाली बनता है, इन्द्रियों को वश में करता है, प्रभु से रक्षणीय होता है। प्रभु इसे आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उक्थ, पायुः, शग्म

स नो नव्येभिर्वृषकर्मन्नुक्थैः पुरां दर्तः पायुभिः पाहि शग्मैः।
दिवोदासेभिरिन्द्र स्तवानो वावृधीथा अहोभिरिव द्यौः॥ १०॥

१. हे **वृषकर्मन्**=शक्तिशाली कर्मोंवाले अथवा सुखवर्षक कर्मोंवाले! **पुरां दर्तः**=आसुर नगरियों के विध्वंसक, आसुरी भावनाओं के विनाशक प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **नव्येभिः उक्थैः**=अत्यन्त स्तुत्य स्तोत्रों से, **पायुभिः**=रक्षणों से तथा **शग्मैः**=ऐहिक व आमुष्मिक सुखों से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आप हमें स्तवनसाधनभूत मन्त्रों को प्राप्त कराइए, रोगादि से रक्षणों को प्राप्त कराइए तथा इहलोक व परलोक-सम्बन्धी सुखों को प्राप्त कराइए। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **दिवोदासेभिः**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं का क्षय करनेवाले पुरुषों से **स्तवानः**=स्तूयमान होते हुए आप **इव**=इस प्रकार **वावृधीथाः**=वृद्धि को प्राप्त कीजिए जैसे कि **अहोभिः द्यौः**=दिनों से द्युलोक वृद्धि को प्राप्त होता है। रात्रि के अन्धकार में द्युलोक का विस्तार समाप्त हो जाता है, दिन निकलता है और द्युलोक फैल जाता है। इसी प्रकार हम आपका ज्ञानपूर्वक स्तवन करें और आप हमारे हृदयाकाश में फैल जाएँ, हम आपका ही प्रकाश चारों ओर देखें।

भावार्थ—हमें प्रभु-स्तवन की वृत्ति, रोगों से बचाव तथा अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्त हो। स्तवन के द्वारा हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखें।

विशेष—'ब्रह्मलोक की ओर चलने के भाव' से सूक्त का आरम्भ हुआ था (१)। उस प्रभु को ज्ञानपूर्वक उपासना से प्राप्त करने के साथ सूक्त की समाप्ति है (१०)। अब प्रभु का ही 'इन्द्र' नाम से स्तवन आरम्भ होता है—

[१३१] एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

इन्द्रोपासन

इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिर्द्युम्नसाता वरीमभिः।
इन्द्रं विश्वे सजोषसो देवासो दधिरे पुरः।
इन्द्राय विश्वा सवनानि मानुषा रातानि सन्तु मानुषा॥ १॥

१. **असुरः**=सूर्यादि देवों के द्वारा हममें (असून् राति) प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला **द्यौः**=यह प्रकाशमय द्युलोक **हि**=निश्चय से **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **अनम्नत**=झुकता है। द्युलोक अपनी सारी महिमा का मूल इस प्रभु के तेज के अंश में देखता है। यह **मही**=अत्यन्त महनीय **पृथिवी**=पृथिवी **वरीमभिः**=अपने विस्तारों के साथ उस प्रभु

के लिए झुकती है। **वरीमभिः**=अपने विस्तारों के साथ **द्युम्नसाता**-(splendour, strength, wealth) शोभा, शक्ति व धनों की प्राप्ति में यह उस प्रभु के प्रति प्रणत होती है। प्रभु ही तो इसे सब शोभा, शक्ति व धन प्राप्त करा रहे हैं—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। २. **इन्द्रम्**=इस शक्तिशाली परमैश्वर्यवान् प्रभु को ही **विश्वे**=सब **सजोषसः**=परस्पर प्रीतिवाले **देवासः**=देव **पुरः दधिरे**=सामने स्थापित करते हैं, प्रभु को ही अपना पुरोहित बनाते हैं—प्रभु को अपना आदर्श बनाकर उसके समान ही 'दया, न्याय' आदि गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। ३. **इन्द्राय**=उस प्रभु के लिए ही **विश्वा**=सब **मानुषा**=मनुष्यों से किये जानेवाले **सवनानि**=यज्ञ **सन्तु**-हों। **मानुषा रातानि**=मनुष्यों से दिये जानेवाले दान भी उस प्रभु के लिए ही हों। विचारशील पुरुष जो भी यज्ञ व दान आदि करें उन्हें प्रभु अर्पण करने का प्रयत्न करें। इन यज्ञों व दानों का प्रभु-अर्पण करने पर ये सब प्रभु-प्राप्ति के साधन हो जाते हैं। उत्तम कर्मों को तो करें परन्तु फल की कामना न हो तो उन सब उत्तम कर्मों का परिणाम प्रभु-प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक अपनी उग्रता व दृढ़ता के लिए प्रभु के प्रति झुकते हैं। देव प्रभु को ही अपना आदर्श बनाते हैं। **विचारशील पुरुषों के यज्ञ व दान प्रभु के लिए अर्पित होते हैं और परिणामतः प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।**

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

यज्ञों व स्तोमों से प्रभुदर्शन

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः
सनिष्यवः पृथक्। तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि ।
इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **वृषमण्यवः**=आपको ही सब सुखों का वर्षक जानने वाले लोग **हि**-निश्चय से **विश्वेषु**=सब **सवनेषु**=यज्ञों में आपके प्रति अपने को **तुञ्जते**=दे डालते हैं। इन सब यज्ञों को आपसे ही होता हुआ वे देखते हैं। ये सब **पृथक्**=अलग-अलग **स्वः सनिष्यवः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करने की कामनावाले **पृथक्**=अलग-अलग होते हुए भी ये लोग **समानम्**-सबके प्रति समान **एकम्**=अद्वितीय आपके ही प्रति अपने को देनेवाले होते हैं। सब प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, उसी की शक्ति से तो वे अपने यज्ञादि कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। २. **नावं न पर्षणिम्**=नाव के समान इस भव-सागर से पार लगानेवाले **तं त्वा**=उन आपको ही **शूषस्य धुरि**=सब सुखों (३।६ नि०) व बलों (२।९ नि०) की धुरि के रूप में **धीमहि**=धारण करते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं और शक्ति के द्वारा सुखों को प्राप्त करानेवाले हैं। इस संसार-समुद्र में डूबना ही सब दुःखों का मूल है। इसे पार करने की शक्ति प्रभु की उपासना से ही प्राप्त होती है। एवं, प्रभु ही हमारे लिए भव-सागर को पार करने में नाव बनते हैं। ३. **आयवः**=क्रियाशील मनुष्य **यज्ञैः**=देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप धर्मों से **इन्द्रं न** (न शब्दः एवकारार्थः—सा०) उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **चितयन्तः**=अपने में चेताने के लिए यत्नशील होते हैं। **आयवः**=ये क्रियाशील मनुष्य **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को अपने हृदयों में प्रवृद्ध करते हैं। यज्ञों व स्तोमों ही से तो हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञ करना और उन्हें प्रभु के प्रति अर्पण करना ही मोक्ष व सुख-प्राप्ति का साधन है। प्रभु ही हमें सुख व शक्तियों को प्राप्त कराते हैं, वे ही भवसागर से तराते हैं। यज्ञों

व स्तोमों से प्रभुदर्शन होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

त्याग व प्रभुपूजन

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त
इन्द्र निःसृजः। यद् गव्यन्ता द्वा जना स्व१र्यन्ता समूहसि ।
आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अवस्यवः**=अपने रक्षण की कामनावाले **मिथुनाः**=द्वन्द्वों के रूप में रहनेवाले पति-पत्नी **त्वा**=आपका लक्ष्य करके **वि ततस्रे**=(तस्=to reject) वासनाओं को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। २. **गव्यस्य व्रजस्य**=इस इन्द्रियसमूह के **साता**=प्राप्ति के निमित्त **निः सृजः**=ये निश्चय से त्याग की वृत्तिवाले होते हैं, पापों को अपने से दूर करनेवाले होते हैं (पापं निर्गमयन्तः)। हे इन्द्र! **सक्षन्तः**=आपका सेवन करते हुए ये **निः सृजः**=पाप को अपने से दूर करनेवाले होते हैं। ३. **यत्**=जब **गव्यन्ता**=(गौ=वेदवाक्) वेदवाणी की कामना करते हुए **द्वा जना**=दो लोगों को, अर्थात् पति-पत्नी को **स्वर्यन्ता**=स्वर्ग की ओर जाते हुओं को—जो अपने घर को स्वर्ग-समान बना रहे हैं, उनको **समूहसि**=आप सम्यक् धारण करते हो तो आप हे **इन्द्र**=प्रभो! **सचाभुवम्**=सदा साथ रहनेवाले **वृषणम्**=शक्ति देनेवाले अथवा सुखों का वर्षण करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आविष्करिक्रत्**=प्रकट करते हुए होते हो। उस क्रियाशीलता को जो कि **सचाभुवम्**=सदा साथ रहती है। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही हम ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, अपनी शक्ति का वर्धन करनेवाले होते हैं और इस प्रकार अपने जीवन को स्वर्गोपम सुखवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी का मूल कर्तव्य त्याग व प्रभुपूजन है। क्रियाशीलता इन्हें स्वर्ग प्राप्त कराती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

इन्द्र का पराक्रम

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः।
शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते ।
महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥ ४ ॥

१. **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपके **अस्य वीर्यस्य**=इस पराक्रम का **विदुः**=ज्ञान रखते हैं **यत्**=कि आप **सासहानः**=शत्रुओं का प्रबल मर्षण (कुचलना) करते हुए **शारदीः पुरः**=हमारी शक्तियों को शीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को **अवातिरः**=विध्वस्त कर देते हैं, **अवातिरः**=अवश्य विध्वस्त कर देते हैं। काम की नगरी हमारी इन्द्रियों को, क्रोध-नगरी मन की शान्ति को और लोभ-नगरी बुद्धि की सूक्ष्मता को समाप्त करनेवाली होती है। इस प्रकार ये पुरियाँ **शारदी**=शरत् की भाँति हमारी शक्तियों को शीर्ण करनेवाली हैं। प्रभु कृपा से ये पुरियाँ शीर्ण हो जाती हैं और हमें शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। २. हे **शवशस्पते इन्द्र**=सब बलों के स्वामिन् शक्तिशाली प्रभो! आप **तम्**=उस **अयज्युं मर्त्यम्**=अयज्ञशील पुरुष को **शासः**=निगृहीत करते हो, दण्डित करते हो। वस्तुतः यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहकर ही हम काम आदि को जीत पाते हैं। ३. हे प्रभो! अपने पुत्रों की यज्ञशीलता से **मन्दसानः**=प्रसन्नता का अनुभव करते हुए आप **महीं पृथिवीम्**=इस महनीय पृथिवी को

तथा **इमाः अपः**-इन जलों को **अमुष्णाः**-(Surpass) लाँघ जाते हो। आपकी महिमा को यह विशाल पृथिवी तथा अत्यन्त व्यापक रूप को धारण करनेवाले ये जल भी नहीं व्याप्त कर सकते। **इमाः अपः**-ये जल वस्तुतः आपकी महिमा से ही महत्त्व को धारण करते हैं। इनमें रसरूप से आप ही निवास करते हो। पृथिवी भी आपकी महिमा से महिमान्वित होती है। प्रभु ही हमारी शरीररूप पृथिवी व रेतःकणरूप जलों को शत्रुविध्वंस द्वारा महिमान्वित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को पृथिवी व जल व्याप्त नहीं कर सकते। उपासित हुए-हुए वे प्रभु ही हमसे आसुरवृत्तियों को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

विलक्षण ऐश्वर्य

आदित्ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ।
चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ।
ते अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत ॥५॥

१. हे **वृषन्**-शक्तिशाली प्रभो! **यत्**-जब आप **उशिजः**-मेधावी पुरुषों को **आविथ**=रक्षित करते हैं, **यत्**=जब **सखीयतः**-आपके मित्रत्व की कामना करते हुए इनको **आविथ**=आप रक्षित करते हो तब ये लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **मदेषु**-उल्लासों की प्राप्ति के निमित्त **ते अस्य वीर्यस्य**=आपकी इस शक्ति का **चर्किरन्**-अपने अन्दर प्रक्षेप करते हैं, आपकी उपासना से आपकी शक्तियों को अपने में सञ्चरित करते हैं। २. हे प्रभो! आप **एभ्यः**-इन उशिक्, सखीयन् पुरुषों के लिए **पृतनासु प्रवन्तवे**=संग्रामों में शत्रुओं को जीतने के लिए **कारं चकर्थ**=क्रियाशीलता का निर्माण करते हैं। इनके जीवन को क्रियाशील बनाते हैं। क्रियाशीलता के द्वारा ये शत्रुओं पर विजय करनेवाले होते हैं। ३. **ते**=वे क्रियाशील पुरुष **अन्यां अन्याम्**-विलक्षण और अति विलक्षण **नद्यम्**=(नदि समृद्धौ) समृद्धि को **सनिष्णत**=प्राप्त करते हैं, **श्रवस्यन्तः**=आपका यशोगान करते हुए ये **सनिष्णत**=समृद्धि को प्राप्त करते हैं। काम-विध्वंस द्वारा शरीर का स्वास्थ्य, क्रोध-नाश से मानस शान्ति और लोभ को दूर करके बुद्धि की सूक्ष्मता को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हैं। क्रियाशीलता के द्वारा कामादि शत्रुओं का विध्वंस करते हैं और स्वास्थ्य, शान्ति व बुद्धि की सूक्ष्मतारूप ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रातः-जागरण व सन्ध्या-हवन

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्य१र्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः।
यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि ।
आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥६॥

१. **उत उ**=निश्चय से **नः**=हमारी **अस्याः उषसः**=इस उषा का **जुषेत**=यह प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् हम प्रातः जाग जाएँ। हमारा यह उषा-जागरण हमें प्रभु का प्रिय बनाए। **हि**=निश्चय से **अर्कस्य**-हमारे स्तुति-मन्त्रों को **बोधि**=जानें, अर्थात् हम प्रभु का स्तवन करें और वह स्तवन प्रभु-ज्ञान का विषय बने। **हवीमभिः**-प्रभु-पुकारों के साथ **हविषा**-हमारी हवि

को बोधि=आप जानें, अर्थात् प्रार्थना के साथ हम अग्निहोत्र करनेवाले भी हों। **हवीमभिः**=प्रार्थनाओं के साथ **स्वर्षाता**=(स्वः साता) स्वर्ग-प्राप्ति के निमित्त (हविषः बोधि) दी गई हवियों को प्रभु जानें, अर्थात् हम प्रभु को पुकारते हुए, उसका आराधन करते हुए हवि देनेवाले हों, अग्निहोत्रादि यज्ञों को करनेवाले हों। ये यज्ञ हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हों। २. **यत्**=कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **वृषा**=शक्तिशाली **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! आप **मृधः**=शत्रुओं को **हन्तवे**=मारना **चिकेतसि**=जानते हैं। आप हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं। आप **नवीयसः**=अतिशयेन स्तवन करनेवाले **वेधसः मे**=मेधावी मेरे **मन्म**=स्तोत्र को **आश्रुधि**=सर्वथा श्रवण कीजिए। **अस्य**=इस **नवीयसः**=नवतर जीवनवाले मेरे स्तवन को अवश्य ही सुनिए।

भावार्थ—हम (क) प्रातः जागें, (ख) स्तवन करें, (ग) हवन करें, (घ) प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का संहार करें, (ङ) मेधावी व नमनशील बनकर स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

रिष्ट व दुर्मति से दूर

त्वं तमिन्द्र वावृधानो अस्मयुरमित्रयन्तं तुविजात मर्त्यं वज्रेण शूर मर्त्यम्।
जहि यो नो अघायति शृणुष्व सुश्रवस्तमः ।
रिष्टं न यामन्नप भूतु दुर्मतिर्विश्वाप भूतु दुर्मतिः ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वावृधानः**=स्तुति के द्वारा हममें वृद्धि को प्राप्त होते हुए **त्वम्**=आप **तं मर्त्यम्**=उस मनुष्य को **जहि**=नष्ट कीजिए जो **अमित्रयन्तम्**=हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करता है। हे **तुविजात**=महान् विकासवाले! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं और हमारा हित चाहते हुए आप **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **मर्त्यम्**=हमारे शत्रुभूत मनुष्य को नष्ट कीजिए। वस्तुतः सब अपने-अपने कामों में लगने का ध्यान करें तो पारस्परिक शत्रुताएँ नष्ट ही हो जाएँ। उस मनुष्य को **जहि**=नष्ट कीजिए **यः**=जो **नः**=हमारा **अघायति**=अशुभ चाहता है। समाज के विरोध में क्रिया करनेवाले मनुष्य को आप दण्डित कीजिए। यहाँ 'यः' यह एकवचन और 'नः' यह बहुवचन इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि जो कोई एक व्यक्ति सारे समाज के अहित में प्रवृत्त होता है उस व्यक्ति का नाश आवश्यक है। नाश का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे भी क्रिया में व्यापृत कर दिया जाए। वह अपने कर्तव्य को निभाने में लगेगा तो व्यर्थ की बातों से बचा ही रहेगा। २. हे प्रभो! आप **सुश्रवस्तमः**=सुन्दर, सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं, **शृणुष्व**=हमारी प्रार्थना को सुनिए कि **यामन्**=इस जीवन-मार्ग में **रिष्टं न**=हिंसा की भाँति **दुर्मतिः**=दुर्बुद्धि **अप भूतु**=हमसे दूर हो। **विश्वा**=सम्पूर्ण **दुर्मतिः**=अशुभ बुद्धि **अपभूतु**=सुदूर विनष्ट हो। न तो हम शरीर में रोगों से हिंसित हों और न ही हमारा मस्तिष्क अशुभ विचारों का क्षेत्र बने।

भावार्थ—अशुभ चाहनेवाले व्यक्ति को प्रभु नष्ट करें। हमें रोगों से और अशुभ विचारों के आक्रमण से बचाएँ।

विशेष—इस सूक्त में शक्तिशाली इन्द्र से कामादि शत्रुओं के संहार की प्रार्थना है। प्रभु हमें रोगों से हिंसित होने व दुर्मति का शिकार होने से बचाते हैं। अब अगले सूक्त में भी यही आराधना है कि प्रभु से रक्षित होकर हम शत्रुओं का पराभव करें—

[१३२] द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—इन्द्रः । **छन्दः**—विराडत्यष्टिः । **स्वरः**—मध्यमः ।

पूर्व्यं धन

त्वया॑ व॒यं म॑घवन्पू॒र्व्ये॑ धन॒ इन्द्र॑त्वोताः सासह्याम पृतन्य॒तो व॑नु॒याम॑वनुष्य॒तः ।
नेदि॑ष्ठे अ॒स्मिन्नह॒न्यधि॑ वोचा॒ नु सु॒न्व॒ते ।
अ॒स्मिन्य॒ज्ञे वि च॑येमा॒ भरे॑ कृ॒तं वा॑ज॒यन्तो॒ भरे॑ कृ॒तम् ॥ १ ॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपके द्वारा **पूर्व्ये धने**=सर्वोत्कृष्ट धन में स्थापित हों। शरीर का धन 'स्वास्थ्य व शक्ति' है, मन का धन 'नैर्मल्य व शान्ति है और मस्तिष्क का धन' 'बुद्धि की सूक्ष्मता व ज्ञान' है। इन धनों में सर्वोत्कृष्ट धन ज्ञान है। यह प्रभु कृपा से प्राप्त होता है। २. हे **इन्द्र**-अन्धकार में पनपनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं का ज्ञानैश्वर्य के द्वारा संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपसे **ऊताः**=रक्षित हुए-हुए **पृतन्यतः**=हम पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को **सासह्याम**=कुचलनेवाले हों। **वनुष्यतः**=हिंसकों को **वनुयाम**=हिंसित करनेवाले हों। ३. हे प्रभो! आप **नेदिष्ठे**=अत्यन्त समीपतम **अस्मिन् अहनि**=इस दिन में, अर्थात् आज ही **नु**=निश्चय से **सुन्वते**=अपने में सोम का—वीर्य का सम्पादन करनेवाले व्यक्ति के लिए **अधिवोच**=अधिकारपूर्वक उपदेश कीजिए। ४. आपके इस उपदेश को सुनते हुए हम **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **भरे**=संग्राम में **कृतम्**=विजय करनेवाले आपको **विचयेम**=विशेषरूप से सञ्चित करें, अपने में दिव्य गुणों को अधिक-से-अधिक बढ़ाने के लिए यत्नशील हों। **वाजयन्तः**=शक्ति प्राप्त करने की कामना करते हुए **भरे**=संग्राम में **कृतम्**=विजय प्राप्त करानेवाले आपका संग्रह करें—आपको अपनाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान-धन में स्थापित करें। इसके द्वारा हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराभूत करें। प्रभु हमें प्रेरणा दें और हम उस प्रेरणा के अनुसार यज्ञों को करते हुए प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करें। ये प्रभु ही तो हमें संग्राम में विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—इन्द्रः । **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरीः । **स्वरः**—पञ्चमः ।

स्वर्जेष भर

स्व॒र्जे॑षे॒ भर॑ आ॒प्रस्य॒ वक्म॑न्युष॒र्बुधः॑ स्व॒स्मिन्न॒ञ्ज॑सि क्रा॒णस्य॒ स्व॒स्मिन्न॒ञ्ज॑सि ।
अह॒न्निन्द्रो॒ यथा॑ वि॒दे शी॒र्ष्णाशी॑र्ष्णोप॒वाच्यः॑ ।
अ॒स्म॒त्रा ते॑ स॒ध्र्य॑क् सन्तु रा॒तयो॑ भ॒द्रा भ॒द्रस्य॑ रा॒तयः॑ ॥ २ ॥

१. **स्वर्जेषे**-स्वर्ग का विजय करनेवाले **भरे**=संग्राम में **आप्रस्य**=अपना पूरण करनेवाले के, **वक्मनि**=प्रभु के स्तोत्रों के उच्चारण में **उषर्बुधः**=प्रातः प्रबुद्ध होनेवाले के, **स्वस्मिन् अञ्जसि**=आत्मा (स्व) के व्यक्त करने में (अञ्ज=व्यक्ति) **क्राणस्य**=योग में पुरुषार्थ करनेवाले के और **स्वस्मिन् अञ्जसि**=आत्मा की अभिव्यक्ति में ही यत्नशील पुरुष के **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान के लिए, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए **इन्द्रः**=शत्रुसंहारक प्रभु **अहन्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश कर देते हैं। इन शत्रुओं का विनाश होने पर ही ज्ञान का प्रकाश चमकता है। शत्रुओं को नष्ट करनेवाले ये प्रभु **शीर्ष्णाशीर्ष्णा**=प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा **उपवाच्यः**=स्तुति के योग्य होते हैं। २. हे प्रभो! **ते**=आपके **रातयः**=दान **अस्मत्रा**=हममें **सध्र्यक्**=मिलकर चलनेवाले **सन्तु**=हों। **भद्रस्य**=कल्याणस्वरूप आपके **रातयः**=दान **भद्राः**=सदा कल्याणकर होते हैं। प्रभु से शरीर में 'शक्ति', मन में 'शान्ति' और बुद्धि में 'ज्ञान'-रूप धनों को प्राप्त करके

हम भी प्रभु की भाँति ही '**भद्र**'=सुखमय जीवनवाले हों।

भावार्थ—हमें संग्राम में वीर बनना है, प्रातः जागकर प्रभु-स्मरण करना है, आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए यत्नशील होना है, तभी हमें प्रभु से दिये जानेवाले 'शक्ति, शान्ति व ज्ञान'-रूप धन प्राप्त होंगे और हमारा जीवन भद्र हो जाएगा।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सात्त्विक अन्न

तत्तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनं यस्मिन्यज्ञे वारमकृण्वत क्षयमृतस्य वारसि क्षयम्।
वि तद्वोचेरध द्वितान्तः पश्यन्ति रश्मिभिः ।
स घा विदे अन्विन्द्रो गवेषणो बन्धुक्षिद्भ्यो गवेषणः ॥ ३ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **ते तत् प्रयः**=तेरे वे अन्न **तु**=तो **प्रत्नथा**=पहले की भाँति **शुशुक्वनम्**=(शुच् दीप्तौ) तुझे अत्यन्त पवित्र व दीप्त बनानेवाले हों। ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्यकुल में रहता हुआ तू जैसा सात्त्विक भोजन करता था, उसी प्रकार गृहस्थ में भी तेरा वही सात्त्विक भोजन बना रहे, **यस्मिन्**=जिस सात्त्विक भोजन से **यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **अकृण्वत**=संगृहीत करते हैं। आहार-शुद्धि से (क) अन्तःकरण की शुद्धि होती है, (ख) स्मृति की ध्रुवता प्राप्त होती है, (ग) वासना-ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है। इस सात्त्विक अन्न के सेवन से ही **ऋतस्य क्षयम्**=सत्य के निवास को (क्षि=निवासे) **अकृण्वत**=करते हैं। सात्त्विक अन्न का सेवन हमें (घ) सत्य में स्थिर करता है। इस प्रकार सत्य में स्थित होता हुआ तू **क्षयं वाः असि**=अपने को निवास-स्थान के प्रति ले-जानेवाला होता है। ब्रह्मलोक ही तो हमारा निवासस्थान है। यहाँ तो हम एक जीवन-यात्रा में चल रहे हैं। इस यात्रा को पूर्ण करके हमें अपने वास्तविक घर ब्रह्मलोक में लौटना है। २. **अध**=अब—सात्त्विक अन्न का सेवन करने पर ही **द्विता**=दो प्रकार से स्थित—अधः-उपरिभावेन स्थित—पृथिवी व द्युलोक के **अन्तः**=अन्दर **रश्मिभिः**=ज्ञानरश्मियों से **पश्यन्ति**=प्रभु की महिमा को देखते हैं। **तत्**=उस प्रभु के माहात्म्य को ही तू **विवोचेः**=अन्य साथियों के लिए भी विशेषरूप से प्रतिपादित करनेवाला हो। ३. **सः**=वह **घ**=निश्चय से **इन्द्रः**=ज्ञानैश्वर्यवाला प्रभु **विदे**=इस ज्ञानी के लिए **अनुगवेषणः**-अनुकूलता से इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला होता है, **बन्धुक्षिद्भ्यः**=सब बन्धुओं के लिए—गति करनेवालों व जीनेवालों के लिए (क्षि=निवासगत्योः) **गवेषणः**=इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाला है (गो+एषणा)। प्रभु की प्रेरणा से जीवन उत्तम ही बनता है—स्वार्थ से ऊपर उठकर यह परार्थमय हो जाता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के सेवन से हम जीवन में उत्तम बातों का ही संग्रह करते हैं—सत्य में निवासवाले होते हैं। ऐसों की इन्द्रियों के लिए ही प्रभु सत्प्रेरणा प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

आवरण-विनाश

नू इत्था ते पूर्वथा च प्रवाच्यं यदङ्गिरोभ्योऽवृणोरप व्रजमिन्द्र शिक्षन्नप व्रजम्।
ऐभ्यः समान्या दिशाऽस्मभ्यं जेषि योत्सि च ।
सुन्वद्भ्यो रन्धया कं चिदव्रतं हृणायन्तं चिदव्रतम् ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-संहारक प्रभो! **ते**=आपका **इत्था**=इस प्रकार का यह कार्य **नू**=अब **पूर्वथा**

च-पहले की भाँति ही **प्रवाच्यम्**=प्रकर्षेण स्तुति के योग्य होता है **यत्**-कि **अङ्गिरोभ्यः**-अङ्ग-अङ्ग में रसमय बननेवालों के लिए **व्रजम्**=इन्द्रियों के समूह को **अप अवृणोः**-अपावृत कर देते हैं—इन्द्रियों पर आ जानेवाले वासनारूप आवरण को आप दूर कर देते हैं। इस आवरण के दूर होने पर ही सब इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य को ठीक प्रकार से करती हैं। इस प्रकार आप **शिक्षन्**-(शक्तं कुर्वनिच्छन्, शिक्षति दानकर्मा--नि० ३।२०) सब इन्द्रियों को शक्ति देते हुए **व्रजम्**=इस इन्द्रियसमूह को **अप**=अपावृत करते हो, इन्द्रियों पर पड़े हुए वासनारूप पर्दे को दूर करते हो। २. **एभ्यः**-इन इन्द्रियों के लिए **सम् आन्या**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **दिशा**=दिशा से—इन इन्द्रियों को प्राणित करने के उद्देश्य से **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **आयोत्सि**=इन वासनाओं से चारों ओर से युद्ध करते हैं **च**=और **जेषि**=विजय प्राप्त कराते हैं। वासनाओं को पराजित करके, इन्हें नष्ट करके हमें शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। ३. हे प्रभो! आप **सुन्वद्भ्यः**=सोम का अभिषव करनेवालों—शरीर में ही सोमशक्ति का सम्पादन करनेवालों के लिए तथा यज्ञशील पुरुषों के लिए **अव्रतं कं चित्**=जिस किसी अव्रत पुरुष को **रन्धय**=नष्ट कीजिए। **हृणायन्तम्**-क्रोध करनेवाले **अव्रतं चित्**-अव्रती पुरुष को भी आप नष्ट कीजिए। प्रभु यज्ञशील पुरुषों के रक्षण के लिए क्रोधी, अव्रती पुरुषों का संहार करते हैं। इसी प्रकार राजा का भी राष्ट्र में यह कर्तव्य होता है कि नियम भङ्ग करनेवाले व सदा क्रोधी पुरुषों का संहार करे तथा यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करे।

भावार्थ—प्रभु कृपा से वासनाओं का आवरण दूर होता है और इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं। यज्ञशील पुरुषों के हित के लिए अव्रती, क्रोधी पुरुषों को प्रभु दूर करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु में निवास

सं यज्जनान् क्रतुभिः शूर ईक्षयद्धने हिते तरुषन्त श्रवस्यवः प्र यक्षन्त श्रवस्यवः।
तस्मा आयुः प्रजावदिद् बाधे अर्चन्त्योजसा ।
इन्द्र ओक्यं दिधिषन्त धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः ॥५॥

१. **शूरः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला वह प्रभु **यत्**=जब **जनान्**=लोगों को **क्रतुभिः**=यज्ञों के हेतु से **समीक्षयत्**-सम्यक् ज्ञानवाला बनाता है तब **धने हिते**=उन यज्ञों के द्वारा ऐश्वर्यों के स्थापित होने पर **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले ये पुरुष **तरुषन्त**=वासनाओं का संहार करते हैं। इन वासनाओं के संहार के लिए ही **श्रवस्यवः**=ये ज्ञान की कामनावाले पुरुष **प्रयक्षन्त**=प्रभु का खूब ही पूजन करते हैं। प्रभुपूजन से वासना विनष्ट हो जाती है, वासना-विनाश से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्रकाश में मनुष्य यज्ञात्मक कर्मों को अपनाता है और परिणामतः हितकर धनों को प्राप्त होता है। २. **तस्मै**=उस यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले के लिए **इत्**=ही **बाधे**=वासनारूप शत्रुओं का बाधन होने पर **प्रजावत् आयुः**=उत्तम सन्तानोंवाला जीवन प्राप्त होता है। इस सबका विचार करके श्रवस्यवः=ज्ञान की कामनावाले लोग **ओजसा**=ओज की प्राप्ति के लिए **अर्चन्ति**-प्रभु का पूजन करते हैं। ३. **धीतयः**-ध्यानशील पुरुष **इन्द्रे**=उस परमात्मा में ही **ओक्यम्**=निवास-स्थान को **दिधिषन्त**=धारण करते हैं **न**=और (न इति चार्थे) परिणामतः **धीतयः**=ध्यानशील पुरुष **देवान् अच्छा**=देवों की ओर चलनेवाले होते हैं, ये दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। प्रभु में निवास करना ही दिव्यगुणों की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है। दिव्यगुणों की प्राप्ति के साथ इस प्रभुपूजन से ओजस्विता प्राप्त होती है। ओजस्विता से वासनारूप शत्रुओं का विनाश होकर उत्तम सन्तानों से युक्त दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं ताकि हम यज्ञशील हों, प्रभु में निवास करें और दिव्यगुणों को धारण करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

इन्द्रापर्वता

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्।
दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्   ।
अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः   ॥ ६ ॥

१. हे इन्द्रापर्वता! इन्द्र 'सूर्य' का नाम है, पर्वत 'अश्मा' है। शरीर के द्युलोक 'मस्तिष्क' में ज्ञान-सूर्य का उदय होता है तथा इस शरीर में यह स्थूल शरीर पत्थर के समान दृढ़ होना चाहिए (अश्मा भवतु नस्तनूः)। यह ज्ञानसूर्य और शरीर की दृढ़ता ही 'इन्द्रापर्वता' हैं। **युवम्**=तुम दोनों **यो नः पृतन्यात्**=जो हमपर आक्रमण करता है **तं पुरोयुधा**=उसके साथ आगे बढ़कर युद्ध करते हो और **तम्-तम्**=उस-उसको, उस-उस आक्रमणकारी को **इत्**=निश्चय से **हतम्**=नष्ट करते हो। **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **तं तं इत् हतम्**=उस-उसको निश्चय से नष्ट करते हो। क्रियाशीलता ही कामादि संहार का महान् अस्त्र है। क्रियाशील पुरुष को वासनाएँ नहीं सता पातीं। २. यह **इन्द्र**=ज्ञानैश्वर्यवाला प्रभु **दूरे चत्ताय**=बहुत दूर भी चले गये, अर्थात् बहुत अधिक बढ़े हुए इन कामादि शत्रुओं को **छन्त्सत्**=जीतने की कामना करता है **यत्**=जब इन कामादि में से कोई भी **गहनम्**=हृदयरूपी गहन प्रदेश को **इनक्षत्**=व्याप्त करता है। हृदय में प्रभु का वास है, वासनाएँ वहाँ आती हैं तो उस प्रभु की ज्ञानज्योति में भस्म हो जाती हैं। ३. इस प्रकार **शूर**=हे शत्रुओं को **विश्वतः**=सब ओर से **परि दर्षीष्ट**=विदीर्ण कर देते हैं और सचमुच **विश्वतः**=सब ओर से विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति कामादि शत्रुओं को युद्ध में परास्त करते हैं। क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं का संहार होता है। प्रभु हमारे तीव्रतम शत्रुओं को शीर्ण कर देते हैं।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'वनुयाम वनुष्यतः' इन शब्दों में यही प्रार्थना है कि हिंसकों की हिंसा करने में हम समर्थ हों और समाप्ति पर भी शत्रुओं के विदारण का उल्लेख है (६)। 'शत्रुओं का संहार करके हम अपने जीवनों को पवित्र बनाते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१३३] त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दोनों लोकों की पवित्रता

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः।
अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परि तृळ्हा अशेरन्॥ १ ॥

१. गत सूक्त के अन्तिम शब्दों के अनुसार शत्रुओं का सब ओर से संहार करके मैं **उभे रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों को **पुनामि**=पवित्र करता हूँ। शरीर को रोगों से रहित करता हूँ तो मस्तिष्क को अशुभ विचारों से। २. **ऋतेन**=ऋत के पालन से, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से **द्रुहः**=जिघांसु 'काम, क्रोध, लोभ' को **संदहामि**=पूर्णतया दग्ध

करता हूँ। **अनिन्द्राः महीः**=प्रभुस्मरण से रहित पृथिवियों—भूमियों को भी मैं दग्ध करता हूँ। वे भूमियाँ ही हमारा द्रोह करनेवाली होती हैं जो कि प्रभु के उपासन से रहित हैं। इन भूमियों पर ही कामादि शत्रुओं का उत्त्थान होता है। ३. **यत्र**=जहाँ **अभिव्लग्य**=चारों ओर से गति करके **अमित्राः**=ये कामादि शत्रु **हताः**=मारे जाते हैं तो **तृळ्हाः**=हिंसित हुए-हुए ये कामादि **वैलस्थानम्**=श्मशान में **परि अशेरन्**=शयन करते हैं। काम-क्रोधादि पर हमें सब ओर से आक्रमण करना होगा तभी हम इनका संहार कर सकेंगे। सब ओर से आक्रमण का अभिप्राय यह है कि अन्नमयकोश में उपवासादि व्रतों को अपनाएँ, प्राणमयकोश में प्राणसाधना आरम्भ करें, मनोमयकोश में प्रभु का स्मरण करें, विज्ञानमयकोश में प्रभु की सृष्टि में प्रभु की महिमा का विवेचन करें। इस प्रकार चतुर्दिक् आक्रमण होने पर ही ये शत्रु नष्ट हो पाएँगे।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को नष्ट करके हम शरीर व मस्तिष्क दोनों को पवित्र करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वासना-शिरश्छेदन

अभिव्लग्या चिदद्रिवः शीर्षा यातुमतीनाम्।
छिन्धि वटूरिणा पदा महावटूरिणा पदा॥ २॥

१. हे **अद्रिवः**=वज्रवन्! क्रियाशीलतारूपी वज्र को हाथ में लिये हुए पुरुष! **अभिव्लग्या**-चारों ओर से आक्रमण करके **यातुमतीनाम्**=पीड़ा का आधान करनेवाली इन आसुरवृत्तियों के **शीर्षा चित्**=सिर को ही **छिन्धि**=काट डाल। क्रियाशीलता के द्वारा आसुर वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। २. **वटूरिणा**=वेष्टनशील, व्याप्त होनेवाली **पदा**=(पद गतौ) गति से, व्याप्त ही क्या होनेवाली **महावटूरिणा पदा**=अत्यधिक व्याप्त होनेवाली क्रिया से इन पीड़ाप्रद आसुर वृत्तियों को हम नष्ट कर डालें। वासना-विनाश का सर्वोत्तम उपाय क्रियाशीलता ही है। क्रियाशील बनकर ही हम वासना-संहार में समर्थ हो पाते हैं। व्यापक क्रिया से अभिप्राय यह है कि हम सदा शरीर की स्वास्थ्य-सम्बन्धी क्रियाओं को, मन की नैर्मल्य-सम्बन्धी क्रियाओं को तथा मस्तिष्क की ज्ञानप्रसादसाधक क्रियाओं को करनेवाले बनें। इन तीनों क्रियाओं को करनेवाला 'विष्णु' त्रिविक्रम है। त्रिविक्रम ही अपने कर्मरूप सुदर्शन चक्र से इन वासनारूप शत्रुओं का नाश करते हैं।

भावार्थ—हम व्यापक क्रियाओंवाले बनकर वासनारूप शत्रुओं का विनाश कर दें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वासनाओं का स्थान श्मशान में

अवासां मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम्।
वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! आप **आसाम्**-इन **यातुमतीनाम्**-पीड़ा का आधान करनेवाली वासनाओं के **शर्धः**=बल को **अवजहि**=सुदूर विनष्ट कीजिए। ज्ञानाग्नि में वासनाओं का दहन होता है, प्रभु की ज्ञानाग्नि से ये दग्ध हो जाएँ। २. ज्ञानाग्नि से दग्ध हुई ये वासनाएँ **अर्मके**=(शवैररणीये) मृतों से प्राप्त करने योग्य **वैलस्थानके**=श्मशान में शयन करें। **महावैलस्थे**=महान् श्मशान के **अर्मके**=कुत्सित स्थान में इन वासनाओं की स्थिति हो। 'श्मशान में' इसलिए कि ये फिर लौटें नहीं। जो श्मशान में पहुँचा बस लौटा नहीं। इसी प्रकार ये वासनाएँ वहीं पहुँचें, जाएँ और जाएँ ही, वापस न आएँ। वहीं दग्ध हो जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानाग्नि-दग्ध वासनाओं का निवास श्मशान में हो। ये श्मशान-तुल्य कुत्सित

स्थान में रहें। हमें ये वासनाएँ छोड़ जाएँ।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

तीन गुणा पचास (वासनाएँ)

यासां तिस्रः पञ्चाशतोऽभिव्लङ्गैरपावपः।
तत्सु ते मनायति तकत्सु ते मनायति॥ ४॥

१. गतमन्त्र में पीड़ा का आधान करनेवाली वासनाओं का उल्लेख था। ये वासनाएँ प्रस्तुत मन्त्र में 'तिस्रः' कही गई हैं, क्योंकि इन्द्रियों, मन व बुद्धि में इनकी स्थिति होती है। इन्हें 'पञ्चाशत्' कहा गया है, क्योंकि सामान्यतः ये पचास वर्ष की अवस्था तक प्रबल रहती हैं, उसके पश्चात् तो प्रायः ये शान्त ही हो जाती हैं। **यासाम्**=जिन वासनाओं के **तिस्रः पञ्चाशतः**=त्रिगुणित पचास, अर्थात् डेढ़ सौ को **अभिव्लङ्गैः**=चतुर्दिक् आक्रमण से **अपावपः**=तू दूर करता है, **ते**=तेरे, **तत्**=उस वासना-विक्षेपणरूप कर्म को **सुमनायति**=सब कोई मान देता है, आदर से देखता है। **ते**=तेरे उस कर्म को **तकत्**=(अल्पे कन्) अत्यल्प—तुझसे आसानी से होने के कारण छोटा ही **सुमनायति**=मानता है। तुझे तो इससे भी महान् कार्यों को करना है। २. निरन्तर कार्यों में लगे रहना ही वह उपाय है, जिससे कि तीन पंक्तियों में पचास-पचास की संख्या में स्थित होनेवाली वासनाओं की सेना का विनाश किया जा सकता है। जो भी यह कार्य करता है, उसका यह कार्य प्रशंसनीय तो होता ही है।

भावार्थ—हम प्रायः पचास वर्ष के आयुष्य तक प्रबलता से इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आक्रान्त करनेवाली वासनाओं को क्रियाशीलता के द्वारा दूर करनेवाले बनें।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः।

क्रोध का मर्दन

पिशङ्गभृष्टिमम्भृणं पिशाचिमिन्द्र सं मृण। सर्वं रक्षो नि बर्हय॥ ५॥

१. वासनाओं में क्रोध का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्रोध को एक राक्षस के रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि **पिशङ्गभृष्टिम्**=लाल-लाल (reddish) भून डालनेवाले, **अम्भृणम्**=अत्यन्त ऊँचा शब्द करनेवाले **पिशाचिम्**=मांस खानेवाले क्रोध को हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सं मृण**=कुचल डाल। क्रोध में मनुष्य का चेहरा तमतमा उठता है, क्रोध से मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर जलता रहता है, क्रोध में आकर मनुष्य तेजी से ऊटपटाँग बोलता है। इस क्रोधवृत्ति को इन्द्र को समाप्त करना है। २. क्रोध को समाप्त करते हुए तू **सर्वं रक्षः**=सब राक्षसी वृत्तियों को **निबर्हय**=पूर्णरूप से नष्ट करनेवाला हो। इन राक्षसी वृत्तियों के विध्वंस पर ही उन्नति निर्भर होती है।

भावार्थ—हम क्रोध को दूर करने का प्रयत्न करें। क्रोध को समाप्त करके अन्य राक्षसी वृत्तियों का भी विध्वंस करनेवाले हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः।

इक्कीस शक्तियों के द्वारा शत्रुओं को शीर्ण करना

अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो घृणान्न भीषाँ
अद्रिवः। शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे।
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! आप **महः**=इन प्रबल=महान् काम-

क्रोधादि शत्रुओं को **अवः दादृहि**=अवाङ्मुख करके विदीर्ण करनेवाले होओ। **अद्रिवः**-हे शत्रु भक्षक प्रभो! (अद् भक्षणे) **नः श्रुधि**=हमारी इस प्रार्थना को सुनिए। इन प्रबल शत्रुओं के **भीषा**=भय से **क्षा न**=पृथिवी की भाँति **द्यौः**-द्युलोक भी **शुशोच**=जलकर भस्म-सा हो गया है (burn, consume)। काम से शरीररूप पृथिवी का विनाश हुआ है तो क्रोध से मस्तिष्करूप द्युलोक विकृत हो गया है। हे **अद्रिवः**-अविदारणीय प्रभो! **घृणात् भीषा न**=अग्नि से डरकर जैसे कोई काँप उठता है, उसी प्रकार हमारे शरीर व मस्तिष्क की स्थिति इन काम क्रोध से हो गई है। २. हे प्रभो! आप **शुष्मिभिः**=शत्रुशोषक बलों से **हि**-निश्चयपूर्वक **शुष्मिन्तमः**=अत्यन्त बलवान् हैं। **उग्रेभिः**-अत्यन्त तेजस्वी **वधैः**=वधसाधन आयुधों से **ईयसे**-आप हमें प्राप्त होते हैं। 'प्राण' रूप अस्त्र को लेकर हम इन काम क्रोध को नष्ट कर सकते हैं। आप **अपूरुषघ्नः**-पौरुष करनेवाले को कभी नष्ट नहीं होने देते। हे **शूर**-शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **सत्वभिः**-शक्तियों के कारण **अप्रतीत**-शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। हे **शूर**=वीर **त्रिसप्तैः**-तीन गुणा सात, अर्थात् हमारे शरीरों में निवास करनेवाली इक्कीस **सत्वभिः**=शक्तियों के हेतु से अप्रतीत ही रहते हैं। हमें भी इन शक्तियों को प्राप्त कराके आप शत्रुओं से अधर्षणीय बना देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से हम उन काम-क्रोधादि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनें, जिनके भय से हमारे शरीर व मस्तिष्क जलकर भस्म ही हुए चले जा रहे हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'सुन्वन्' का सुन्दर जीवन

वनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः।
सुन्वान इत्सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः ।
सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥ ७॥

१. **सुन्वन्**=अपने शरीर में सोमरस-वीर्य का अभिषव करनेवाला व्यक्ति **हि**-निश्चय से **क्षयम्**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाले शरीररूप गृह को **वनोति**=प्राप्त करता है (wins)। इस सोमरक्षण से शरीर स्वस्थ बनता है, शरीर की शक्तियाँ बनी रहती हैं और क्रियाशीलता में कमी नहीं आती। २. **सुन्वानः**=यह सोम-अभिषव करनेवाला **हि स्म**=निश्चय से **परीणसः**-(परितो नद्धान्—सा०) चारों ओर से बाँधनेवाले—हम पर आक्रमण करनेवाले **द्विषः**=द्वेषादि शत्रुओं को **अवयजति**=दूर करता है, **देवानां द्विषः**=दिव्य भावनाओं के दुश्मनों को, दिव्य भावनाओं की विरोधी आसुर भावनाओं को **अव**=अपने से दूर करता है। सोमरक्षण से आसुरभावनाएँ दूर होकर मानस पवित्रता का लाभ होता है। **सुन्वानः इत्**=सोम का अभिषव करता हुआ ही **वाजी**=शक्तिशाली बनता है, **अवृतः**=द्वेषादि शत्रुओं से घेरा नहीं जाता और **सहस्रा**=शतशः धनों को **सिषासति**=संभक्त करना चाहता है, अर्थात् सुन्वान ही धनों को प्राप्त करनेवाला होता है। ४. इस **सुन्वानाय**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आभुवम्**=सर्वतो व्याप्त, अर्थात् अत्यन्त प्रवृद्ध **रयिम्**=धन को **ददाति**=देता है, उस धन को **ददाति**=देता है जो कि **आभुवम्**=समन्तात् भवनशील होता है अर्थात् सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होता है।

भावार्थ—शरीर में सोम=वीर्य के रक्षण से (क) हमारा शरीररूप गृह उत्तम बनता है, (ख) हम मन से आसुरभावों को दूर कर पाते हैं, (ग) शक्तिशाली बनकर शतशः धनों को प्राप्त करते हैं, (घ) उन धनों को प्राप्त करते हैं जो हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले

होते हैं।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में जीवन को पवित्र बनाने की भावना का दर्शन होता है। अन्तिम मन्त्र में उस पवित्रता के साधनभूत सोम-रक्षण का प्रबल प्रतिपादन है। इस सोम के रक्षण से ही ऐश्वर्य का लाभ होता है। अब अगले सूक्त में 'इन्द्र' का स्थान 'वायु' लेता है—

विंशोऽनुवाकः

[१३४] चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—वायुः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

ज्ञानयुक्त प्रिय, सत्य वाणी

आ त्वा जुवो रारहाणा अभि प्रयो वायो वहन्त्विह पूर्वपीतये सोमस्य पूर्वपीतये।
ऊर्ध्वा ते अनु सूनृता मनस्तिष्ठतु जानती।
नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने॥ १॥

१. हे **वायो**=गतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **जुवः**=वेगवाले **रारहाणाः**=खूब गति करते हुए इन्द्रियरूप अश्व **प्रयः अभि**=हविरूप अन्न (food) की ओर, आनन्द (delight) की ओर और त्याग (sacrifice) की ओर **आवहन्तु**=ले-चलें, प्राप्त कराएँ। हम जीवनरूप यज्ञ में हविरूप अन्न का, सात्त्विक अन्न का ही सेवन करनेवाले बनें, सात्त्विकता के कारण त्याग की वृत्तिवाले हों, त्याग को अपनाने से आनन्दमय जीवनवाले हों। २. **इह**=इस जीवन-यज्ञ में ये इन्द्रियाश्व सोमस्य **पूर्वपीतये**=सबसे पूर्व सोम का पान करनेवाले हों, **पूर्वपीतये**=उस सोम का पान करनेवाले हों जो सोम शरीर का पालन और पूरण करनेवाला है। इस सोम-पान से—शरीर में वीर्यशक्ति के रक्षण से **ते**=तेरी **जानती**=ज्ञान से युक्त होती हुई **सूनृता**=प्रिय, सत्यवाणी **ऊर्ध्वा**=उन्नति की कारणभूत होकर **मनः अनुतिष्ठतु**=मन के अनुकूल होकर स्थित हो। सोम-रक्षण से हमारी वाणी ज्ञानयुक्त, सत्य व प्रिय होती है। यह वाणी उन्नति का कारण बनती है। यही इस सोमरक्षक पुरुष को प्रिय होती है। वह इसी वाणी का उच्चारण करता है। ३. इस सोमपान करनेवाले पुरुष से प्रभु कहते हैं कि **वायो**=हे गतिशील पुरुष! तू **नियुत्वता रथेन**=उत्तम इन्द्रियोंवाले शरीर-रथ से **दावने**=दान की क्रिया के होने पर, मखस्य **दावने**-यज्ञों से सम्बद्ध इन दान-क्रियाओं के होने पर **आयाहि**=मेरे समीप आनेवाला हो। सोमी बनने पर ही हमारा जीवन पुरुषार्थवाला होगा। हम इन्द्रियाश्वों से जुते इस शरीर-रथ से यज्ञों में स्थित होकर दान की वृत्तिवाले होंगे और प्रभु की ओर जा रहे होंगे।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व गतिशील हों। ये हमें यज्ञों की ओर ले-चलें। सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए हम सोम का रक्षण करें, ज्ञानयुक्त, प्रिय, सत्य वाणी बोलें और दान की वृत्तिवाले बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—वायुः। छन्दः—विराडत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

उल्लास, शुभकर्म व ज्ञान

मन्दन्तु त्वा मन्दिनो वायविन्दवोऽस्मत्क्राणासः सुकृता अभिद्यवो गोभिः क्राणा
अभिद्यवः। यद्ध क्राणा इरध्यै दक्षं सचन्त ऊतयः।
सध्रीचीना नियुतो दावने धिय उप ब्रुवत ईं धियः॥ २॥

१. हे **वायो** गतिशील जीव! **मन्दिनः**=आनन्द देनेवाले **इन्दवः**=सोमकण **त्वा मदन्तु**=तुझे आनन्दित करें, सुरक्षित होकर ये तेरे उल्लास का कारण बनें। ये सोमकण **अस्मत्**-हमसे **क्राणासः**=उत्पन्न किये गये हैं। प्रभु ने शरीर में रस-रुधिर आदि के क्रम से इनके उत्पादन की व्यवस्था की है। **सुकृताः**=इनके सुरक्षित होने पर शरीर से शोभन कार्य ही होते हैं (शोभनं कृतं यैः), **अभिद्यवः**-ये ज्ञानज्योति की ओर ले-चलनेवाले हैं, **गोभिः**-ज्ञान की वाणियों के हेतु से—उन वाणियों के अध्ययन के लिए **क्राणाः**-ये सोमकण उत्पन्न किये गये हैं और ये **अभिद्यवः**=हमें ज्ञान की ओर ले-चलते हैं। ये भी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं, बुद्धि को तीव्र करके हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। २. **यत्** जब **ह**=निश्चय से **इरध्यै**=गतिशीलता के लिए **क्राणाः**=उत्पन्न किये गये ये सोमकण **दक्षम्**-उत्साहसम्पन्न पुरुष के साथ **सचन्ते**-समवेत होते हैं—उसे प्राप्त होते हैं तब **ऊतयः**-ये उसका रक्षण करनेवाले होते हैं, उसे रोगादि से बचाते हैं। ३. इस प्रकार सोमपान से शरीर के स्वस्थ होने पर **नियुतः**=इन्द्रियाश्व **सध्रीचीनाः**-(सह अञ्चन्ति) आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले होते हैं—ये बाहरी विषयों में भटकनेवाले नहीं होते। **धियः**=बुद्धियाँ **दावने**=दानादि कर्मों में होती हैं, अर्थात् त्याग में आनन्द का अनुभव होता है। **ईम्**=निश्चय से **धियः**=बुद्धियाँ **उपब्रुवते**=दानादि उत्तम कर्मों का ही उपदेश करती हैं, अर्थात् इस सोमी पुरुष की बुद्धि इस प्रकार सात्त्विक बन जाती है कि यह दानादि उत्तम कर्मों का ही समर्थन करती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सोमी पुरुष को उल्लासमय, शुभकर्मकृत, ज्ञानप्रवृत्त, दानादि कर्मों की ओर झुकाववाला बनाता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'रोहित, अरुण, अजिर व वहिष्ठ' अश्व

वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुररुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे।
प्र बोधया पुरन्धिं जार आ ससतीमिव ।
प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः श्रवसे वासयोषसः ॥ ३ ॥

१. **वायुः**=गतिशील पुरुष **रथे**=इस शरीर-रथ में **रोहिता**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले—ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **युङ्क्ते**=जोतता है। वायुः=यह गतिशील पुरुष **अरुणा**=तेजस्वी अश्वों को जोतता है। **वायुः**=यह गतिशील पुरुष **अजिरा**=खूब क्रियाशील (agile) अश्वों को **धुरि**=जुए में जोतता है ताकि **वोळ्हवे**=वे इस रथ को उद्दिष्ट स्थल की ओर वहन करनेवाले हों। **वहिष्ठा**=वहन करने में सर्वोत्तम अश्वों को **धुरि**=जुए में जोतता है, ताकि वो **वोळ्हवे**=वे रथ का उत्तमता से वहन करनेवाले हों। यदि हम 'वायु'-गतिशील बनेंगे तो हमारे इन्द्रियाश्व 'विकसित शक्तिवाले, तेजस्वी, स्फूर्तिसम्पन्न व वहिष्ठ' होंगे। २. लक्ष्य-स्थल की ओर चलता हुआ यह वायु प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **पुरन्धिम्**=चालक बुद्धि को **प्रबोधय**=हममें जागरित कीजिए, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **जारः**=अन्धकार को जीर्ण करनेवाला सूर्य **आ-ससतीम्**=कुछ-कुछ अलसाई हुई स्त्री को प्रबुद्ध कर देता है। हे प्रभो! आप **रोदसी**=हमारे द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर को **प्रचक्षय**=प्रकृष्ट प्रकाशवाला कीजिए। शरीर तेज से दीप्त हो और मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से चमक उठे। हे प्रभो! आप **उषसः वासय**=उषाओं को अन्धकार को दूर करनेवाला कीजिए, इसलिए कि हम **श्रवसे**=ज्ञान का श्रवण करनेवाले बनें। हमें (क) बुद्धि प्राप्त हो, (ख) हमारे शरीर व मस्तिष्क दीप्त हों, (ग) हम उषाकालों में ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व 'रोहित, अरुण, अजिर व वहिष्ठ' हों। हमारी बुद्धि दीप्त हो, शरीर व मस्तिष्क प्रकाशमय हों, हम उषाकाल से ही ज्ञान में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ध्यान व स्वाध्याय

तुभ्यमुषासः शुचयः परावति भद्रा वस्त्रा तन्वते दंसु रश्मिषु चित्रा नव्येषु रश्मिषु।
तुभ्यं धेनुः सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते।
अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः॥ ४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि हमारे लिए उषाकालों को अन्धकार को दूर करनेवाला कीजिए। उसी प्रसङ्ग में प्रभु जीव से कहते हैं कि **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उषासः**=ये उषाकाल **शुचयः**=अत्यन्त पवित्र होते हैं तथा तेरे शरीर में रोगरूप मलों को नहीं आने देते और मन में रागरूप मल को प्रविष्ट नहीं होने देते। साथ ही **परावति**=सुदूर देश में—विज्ञानमयकोश में अथवा मस्तिष्करूप द्युलोक में (अर्वावति=पृथिवीलोक में, परावति=द्युलोक में) **दंसु रश्मिषु**=दर्शनीय प्रकाश-किरणों में **भद्रा वस्त्रा**=कल्याणकर ज्ञानवस्त्रों को **तन्वते**=विस्तृत करते हैं। प्रकाशरश्मियाँ ही ताना-बाना बुनती हैं और ज्ञान का वस्त्र बुना जाता है। इन **नव्येषु रश्मिषु**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) ज्ञानरश्मियों में **चित्रा**=अद्भुत ही ज्ञानवस्त्रों को ये उषाकाल बुनते हैं, अर्थात् उषाकाल तेरी पवित्रता और ज्ञानदीप्ति का कारण बनते हैं। इन उषाकालों में तू ध्यान के द्वारा पवित्रता तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानदीप्ति प्राप्त करता है। २. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **धेनुः**=वेदरूपी गौ **सबर्दुघा**=ज्ञानामृत का दोहन करनेवाली होती है और **विश्वा वसूनि**=सम्पूर्ण धनों को **दोहते**=प्रपूरण करनेवाली बनती है। जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक सब वसुओं को यह देनेवाली होती है। ३. हे जीव! तू **मरुतः**=प्राणों के द्वारा (मरुत्=प्राण) प्राणसाधना के द्वारा **वक्षणाभ्यः**=(वक्षणा=नदी=नाड़ी) 'इडा, पिङ्गला व सुषुम्णा' नामक मेरुदण्ड-स्थित नाड़ियों को यथोचित क्रियाओं के द्वारा तथा **दिवः**=ज्ञान-प्रकाश के द्वारा और **आ वक्षणाभ्यः**=शरीर में सर्वत्र इन नाड़ियों की ठीक गति के द्वारा **अजनयः**=अपनी सब शक्तियों का प्रादुर्भाव करता है। जीवन में अध्यात्म-विकास का आरम्भ 'प्राणसाधना' से होता है (मरुतः)। प्राणसाधना से सम्पूर्ण नाड़ीचक्र की क्रियाएँ ठीक से होती हैं, विशेषतः 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' का कार्य ठीक से होने से मूलाधारचक्र से सहस्रारचक्र तक सारा शरीर स्वस्थ बना रहता है (वक्षणाभ्यः)। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास होकर प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है (दिवः)। इस क्रम से मनुष्य पूर्णरूप से विकसित शक्तियोंवाला बनता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में स्वाध्याय, ध्यान व प्राणायामादि में प्रवृत्त हों। ये ही सब प्रकार की उन्नतियों के मूल हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

पवित्रता व शक्ति

तुभ्यं शुक्रासः शुचयस्तुरण्यवो मदेषूग्रा इषणन्त भुर्वण्यपामिषन्त भुर्वणि।
त्वां त्सारी दसमानो भगमीट्टे तक्ववीये।
त्वं विश्वस्माद्भुवनात्पासि धर्मणा-सुर्यात्पासि धर्मणा॥ ५॥

१. **तुभ्यम्**-तेरे लिए **शुक्रासः**=ये वीर्यकण **शुचयः**=पवित्रता का साधन बनें, **तुरण्यवः**=ये

तुझे तुरा से युक्त करें तथा **मदेषु उग्राः**=उल्लासों के निमित्त अत्यन्त तेजस्वी हों। सोम के रक्षण से मन में अपवित्र विचार नहीं आते, शरीर में आलस्य घर नहीं करता तथा मानस उल्लास में कमी नहीं आती। २. ये सोमकण **भुर्वणि**-भरण के निमित्त **इषणन्त**-अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाले होते हैं, **अपां भुर्वणि**=प्रजाओं के भरण के निमित्त **इषणन्त**=ये शरीर में प्रेरित होते हैं। उस-उस अङ्ग में पहुँचकर यह सोम ही उनको शक्तिशाली बनाता है, उन अङ्गों में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता। ३. **त्सारी**=शक्ति की कमी के कारण कुछ टेढ़ी मेढ़ी चालवाला, **दसमानः**=उपक्षीण-सा हुआ-हुआ पुरुष हे सोम! **त्वाम्**=तुझे ही **तक्ववीये**-(तक्वन्=Darting) तीव्रगति के लिए, शक्तिपूर्वक शीघ्रता से चल सकने के लिए **भगम्**=वीर्य को **ईट्टे**-भोगता है। सोम के रक्षण से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि क्षीण पुरुष भी (दसमानः), सीधा न चल सकनेवाला पुरुष भी (त्सारी) फिर से शक्तिपूर्वक शीघ्रता से चलने में समर्थ होता है। ४. हे सोम! **त्वम्**=तू **धर्मणा**=अपनी धारक शक्ति से **विश्वस्मात् भुवनात्**-सारे संसार से **पासि**=हमारा रक्षण करता है। सोम को शरीर में धारण करने पर कोई भी शक्ति हमें हानि नहीं पहुँचा सकती। **धर्मणा**=अपनी धारक शक्ति से तू **आसुर्यात्**-आसुरवृत्तियों के आक्रमण से **पासि**=हमें बचाता है।

भावार्थ—सुरक्षित होने पर सोम हमें शक्तिशाली बनाता है और अशुभ वृत्तियों से बचाता है।

सूचना—यहाँ मन्त्र के पूर्वार्द्ध में प्रभु ने जीव से शुक्र का महत्त्व कथन किया है और उत्तरार्द्ध में जीव सोम का आराधन करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

अपूर्व्यः, प्रथमः

त्वं नो वायवेषामपूर्व्यः सोमानां प्रथमः पीतिमर्हसि। सुतानां पीतिमर्हसि।
उतो विहुत्मतीनां विशां ववर्जुषीणाम् ।
विश्वा इत्ते धेनवो दुह्र आशिरं घृतं दुह्रत आशिरम् ॥ ६ ॥

१. हे **वायो**=गतिशील जीव! सदा अपने कर्तव्य कर्मों में लगे हुए जीव! **त्वम्**=तू **नः**=हमारे **एषाम्**-इन **सोमानाम्**=सोमकणों के **पीतिम् अर्हसि**=पान के योग्य है, **सुतानाम्**=उत्पन्न किये गये इन सोमकणों को **पीतिम् अर्हसि**=शरीर में ही धारण करने के योग्य है। तुझे इन्हें नष्ट नहीं होने देना, शरीर में ही व्याप्त (Imbibe) करने का प्रयत्न करना। इससे तू **अपूर्व्यः**=सबसे पूर्वस्थान में होनेवाला होगा—उन्नति-पथ पर सबसे आगे होगा और **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होगा। **उत उ**=और इस प्रकार ही **विहुत्मतीनाम्**=विशिष्ट आहुति व त्यागवाली **ववर्जुषीणाम्**=पापों का वर्जन करनेवाली **विशाम्**-प्रजाओं में तू अपूर्व्यः=सबसे आगे होगा। २. इस सोम का रक्षण करने पर **ते**=तेरे लिए **इत्**-निश्चय से **विश्वा धेनवः**=वेदवाणीरूपी सब गौएँ **आशिरम्**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाले ज्ञानदुग्ध को (शृ हिंसायाम्) **दुह्रे**=दोहती हैं। **आशिरम्**=वासनाओं को पूर्णरूप से क्षीण करनेवाली **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **दुह्रते**=प्रपूरण करती हैं। वस्तुतः सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं, ज्ञानदीप्ति चमक उठती है और उसमें सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से मनुष्य त्यागवृत्तिवाला, पापों को अपने से दूर करनेवाला व वासनाओं को भस्म करनेवाला बनता है।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में **सोम**-वीर्यरक्षण के महत्त्व का प्रतिपादन है। जीव को बारम्बार

'वायो' इस शब्द से सम्बोधित करके यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गतिशील बने रहने से ही सोमरक्षण सम्भव है। अकर्मण्य पुरुष वासनाओं की ओर झुकता है और सोमरक्षण में असमर्थ हो जाता है। अगले सूक्त में भी यही विषय प्रतिपादित किया गया है—

[१३५] पञ्चत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु-प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?

स्तीर्णं बर्हिरुप नो याहि वीतये सहस्रेण नियुता नियुत्वते शतिनीभिर्नियुत्वते।
तुभ्यं हि पूर्वपीतये देवा देवाय येमिरे　।
प्र ते सुतासो मधुमन्तो अस्थिरन्मदाय क्रत्वे अस्थिरन्　॥ १ ॥

१. जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हमने **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=बिछा दिया है। आप **नः**=हमें **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होओ, **वीतये**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिए प्राप्त होओ (वी=to throw, cast)। उस मुझे आप प्राप्त होओ जो **सहस्रेण नियुता**=(स-हस्) प्रसन्नता से युक्त इन्द्रियरूप अश्वों से **नियुत्वते**=नियुत्वान् बना है—प्रशस्त अश्वोंवाला हुआ है, **शतिनीभिः**=सौ वर्षों तक ठीक गति से चलनेवाले इन्द्रियाश्वों से **नियुत्वते**=नियुत्वान् हुआ है। 'हम अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, हृदय को वासनाशून्य करने का प्रयत्न करें।' यही प्रभु को आमन्त्रित करने का मार्ग है। प्रभुदर्शन होगा और वे हमारे अज्ञानान्धकार का ध्वंस कर देंगे। २. हे प्रभो! **तुभ्यं देवाय**=आप देव की प्राप्ति के लिए **हि**=ही **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पूर्वपीतये**=प्रथमाश्रम में इस सोमपान के लिए **येमिरे**=संयमी जीवन बिताते हैं। हमारी तो यही आराधना है कि **ते सुतासः**=आपकी प्राप्ति के साधनभूत ये उत्पन्न सोमकण **मधुमन्तः**=हमारे जीवनों को मधुर बनानेवाले हों और **प्रास्थिरन्**-प्रकर्षेण शरीर में स्थितिवाले हों, इसलिए **अस्थिरन्**=स्थितिवाले हों कि **मदाय**=हमारे जीवन में उल्लास हो तथा **क्रत्वे**=हमारा जीवन कर्मसंकल्पोंवाला व ज्ञानवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए जितेन्द्रियता व निर्मलहृदयता की आवश्यकता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए ही शरीर में सोम=वीर्य का रक्षण किया जाता है। रक्षित सोम उल्लास व ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः।

स्पृहणीय धनों व दीप्तियोंवाला 'सोम'

तुभ्यायं सोमः परिपूतो अद्रिभिः स्पार्हा वसानः परि कोशमर्षति शुक्रा वसानो अर्षति।
तवायं भाग आयुषु सोमो देवेषु हूयते　।
वह वायो नियुतो याह्यस्मयुर्जुषाणो याह्यस्मयुः　॥ २ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वायो**=गतिशील जीव! **अयं सोमः**=यह सोम **तुभ्य**=तेरे लिए उत्पन्न किया गया है। यह **अद्रिभिः**=(आद्रियन्ते इति अद्रयः=those who adore) प्रभु के उपासकों से **परिपूतः**=पवित्र किया जाता है। उपासना से हमारी वृत्ति वैषयिक नहीं बनती और वासनाओं से ऊपर उठे रहने के कारण यह सोमशक्ति पवित्र बनी रहती है। यह पवित्र सोम **स्पार्हा**=स्पृहणीय स्वास्थ्यादि धनों को **वसानः**=धारण करता हुआ **कोशम्**=अन्नमयादि कोशों को **परि अर्षति**=प्राप्त होता है। यह कोशों में तेजस्वितादि प्राप्त कराता है। यह सोम **शुक्रा**=सब

कोशों की दीप्तियों को **वसानः**=धारण करता हुआ **अर्षति**=गति करता है। २. हे जीव! **तव**-तेरा **अयम्**=यह **भागः**-सेवनीय अंश है (भज सेवायाम्)। **आयुषु**=गतिशील पुरुषों में **देवेषु**=दिव्यगुणों की वृद्धि के निमित्त **सोमः हूयते**=इस सोम की आहुति दी जाती है। इस सोम के शरीर में सुरक्षित करने से दिव्यगुणों का वर्धन होता है। हे जीव! **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्वों को **वह**=शरीररूप रथ में जोतकर चलनेवाला बन (हाँकनेवाला बन)। **अस्मयुः**=हमारी—प्रभु-प्राप्ति की कामना से **याहि**=गतिवाला हो। तेरा लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति हो। **जुषाणः**=अत्यन्त प्रीति से इस सोम का सेवन करता हुआ तू **अस्मयुः**=हमारी—प्रभु-प्राप्ति की कामना से **याहि**=गतिमय बन।

भावार्थ—प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू सोम का रक्षण कर। यह तेरे सारे कोशों को स्वास्थ्यादि से दीप्त करेगा। यह तुझमें दिव्यगुणों का वर्धन करता हुआ तुझे मुझ तक पहुँचानेवाला होगा।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः।

प्रभु की ओर

आ नो॑ नि॒युद्भिः॑ श॒तिनी॑भिरध्व॒रं स॑ह॒स्रिणी॑भि॒रुप॑ याहि वी॒तये॒ वायो॑ ह॒व्यानि॑ वी॒तये॑।
तवा॒यं भा॒ग ऋ॒त्वियः॑ सर॑श्मिः॒ सूर्ये॒ सचा॑ ।
अ॒ध्व॒र्युभि॒र्भर॑माणा अयंसत॒ वायो॑ शु॒क्रा अ॑यंसत ॥ ३ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **शतिनीभिः**=सौ वर्ष तक सशक्त बने रहकर शरीररथ को आगे ले-चलनेवाले **सहस्रिणीभिः**=प्रसन्नतापूर्वक आगे ले-चलनेवाले **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमारे **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों को **उप आयाहि**=सर्वथा समीपता से प्राप्त हो, इसलिए प्राप्त हो कि **वीतये**=तू अज्ञानान्धकार का ध्वंस करनेवाला हो (वी=असन=क्षेपण)। हे **वायो**=प्रगतिशील जीव! तू यज्ञों को इसलिए प्राप्त हो कि **हव्यानि वीतये**=तू हव्य—पवित्र यज्ञशिष्ट पदार्थों का भक्षण करनेवाला बने (वी-खादन)। २. **अयम्**=यह सोम **तव भागः**=तेरा सेवनीय अंश है, तुझे इसका सेवन करनेवाला बनना है, इसे नष्ट नहीं होने देना। **ऋत्वियः**=(ऋत=light, splendour) यह अन्तःप्रकाश की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है, **सरश्मिः**=यह ज्ञान की रश्मियोंवाला है, **सूर्ये सचा**=यह हमें सूर्य में समवेत करनेवाला है (सच समवाये)। इसके रक्षण से हम मूलाधार चक्र से ऊपर उठते-उठते सहस्रारचक्र तक पहुँचते हैं अथवा यह हमें सूर्यलोक में जन्म लेने के योग्य बनाता है। ३. ये सोमकण **अध्वर्युभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **भरमाणः**=भरण-पोषण किये जाते हुए **अयंसत**-शरीर में ही नियमित किये जाते हैं। हे **वायो**=गतिशील जीव! **शुक्राः**=ये दीप्तिवाले सोम **अयंसत**=यज्ञशील पुरुषों से संयत किये जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने इन्द्रियाश्वों द्वारा शरीररूप रथ को यज्ञों की ओर ले-चलते हुए अन्धकार को दूर करें, यज्ञशेष का ही सेवन करें। सोमरक्षण से हम सूर्यलोक में जन्म लेनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोम का पूर्वपान

आ वां॒ रथो॑ नि॒युत्वा॑न्वक्ष॒दव॑सेऽभि प्रयां॑सि॒ सुधि॑तानि वी॒तये॒ वायो॑ ह॒व्यानि॑ वी॒तये॑।
पिब॑तं॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः पूर्व॒पेयं॒ हि वां॑ हि॒तम् ।
वाय॒वा च॒न्द्रेण॒ राध॒सा गत॒मिन्द्र॑श्च॒ राध॒सा गत॑म् ॥ ४ ॥

१. वायु के साथ यहाँ इन्द्र का भी स्मरण है। 'इन्द्र' शक्तिशाली है, 'वायु' गतिशील। यह शरीररथ इन्द्र और वायु का है, अर्थात् शक्तिशाली और गतिशील पुरुष का है। प्रभु कहते हैं कि **वाम्**=आप दोनों का यह शरीर-रथ **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला है। यह रथ **अवसे**=रक्षण के लिए **सुधितानि**=उत्तमता से स्थापित किये गये **प्रयांसि**=अन्नों के **वीतये**=भक्षण के लिए **अभि**=उन अन्नों की ओर **आवक्षत्**=ले-चले। हे **वायो**=गतिशील जीव! **हव्यानि वीतये**=हव्य पदार्थों को ही खाने के लिए तुझे ले-चले। २. हे इन्द्र और वायो! आप दोनों **मध्वः अन्धसः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले इस सोमरूप अन्न का **पिबतम्**=पान करो। यह सोम **वाम्**=आप दोनों का **हि**=निश्चय से **पूर्वपेयम्**=प्रथमाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम में पान करने योग्य है, **हितम्**=यह आपके लिए अत्यन्त हितकर है। हे **वायो**=गतिशील जीव **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता शक्तिशाली जीव **चन्द्रेण राधसा**=आह्लाद देनेवाली सफलता के साथ और **राधसा**=सफलता के साथ ही **आगतम्**=तुम मुझे प्राप्त होओ। जब मनुष्य इस संसार-यात्रा को सफलता से पूर्ण कर लेता है तभी वह परमात्मा को प्राप्त करनेवाला बनता है। सफलता-प्राप्ति के लिए सोमरक्षण आवश्यक होता है। इस सोमरक्षण के लिए गतिशीलता (वायु) व जितेन्द्रियता (इन्द्र) साधन हैं। इसी को इस भाषा में कहते हैं कि 'वायु और इन्द्र' सोमपान करते हैं।

भावार्थ—यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों का सेवन करते हुए हम सोम का रक्षण करें और आह्लाद व सफलता को प्राप्त करके प्रभु के समीप पहुँचें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोम-शुद्धि व प्रभु-प्राप्ति

आ वां धियो ववृत्युरध्वराँ उपेममिन्दुं मर्मृजन्त वाजिनमाशुमत्यं न वाजिनम्।
तेषां पिबतमस्मयू आ नो गन्तमिहोत्या ।
इन्द्रवायू सुतानामद्रिभिर्युवं मदाय वाजदा युवम् ॥ ५ ॥

१. प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **इन्द्रवायू**=शक्तिशाली व क्रियाशील पुरुषो! **वाम्**=आप दोनों की **धियः**=बुद्धियाँ **अध्वरान् उप**=यज्ञों के समीप **आववृत्युः**=आवृत्त हों अर्थात् तुम्हारा झुकाव यज्ञों की ओर हो। इसी उद्देश्य से **इमम्**=इस **वाजिनम्**=शक्तिप्रदाता **इन्दुम्**=सोम=वीर्य को **मर्मृजन्त**=अत्यन्त शुद्ध बनाओ, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **आशुम्**=शीघ्र गतिवाले **वाजिनम्**=शक्तिशाली **अत्यम्**=घोड़े को मल-मलकर शुद्ध करते हैं। जैसे—घोड़े की मालिश से उसके स्वेदादि को दूर करके उसे शुद्ध कर देते हैं, वैसे ही वासनाओं को दूर करके इस सोम का शोधन होता है। शुद्ध हुआ-हुआ यह सोम शक्ति देनेवाला होता है। यह हमारे कार्यों में स्फूर्ति लाता है और हमें गतिशील बनाता है। २. **अस्मयू**=हमारी—प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले इन्द्र और वायु तुम दोनों **तेषां पिबतम्**=उन सोमकणों का पान करो। **इह**=इस जीवन में **सुतानाम्**=उत्पन्न सोमकणों की **ऊत्या**=रक्षा से **नः आगन्तम्**=हमें प्राप्त होओ। वस्तुतः इन सोमकणों के रक्षण से ही उस **सोम**=प्रभु की प्राप्ति होती है। **अद्रिभिः**=(न दृ) अविदारणों से—वासनाओं से खण्डित न होने से **युवम्**=आप दोनों **मदाय**=उल्लास के लिए होते हो। वासनाओं से खण्डित होने पर ही सोम का विनाश होता है और आनन्द व उल्लास भी समाप्त हो जाता है। इस सोम के रक्षण से **युवम्**=आप दोनों **वाजदा**=(दैप् शोधने) अपनी शक्ति का शोधन करनेवाले होते हो। इस शुद्ध शक्तिवाला पुरुष ही संसार में सफल होकर प्रभु

को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम अपने सोम-वीर्य को वासनाओं से मलिन न होने दें। यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें। इससे हम उल्लासमय जीवनवाले व शुद्ध शक्तिवाले होकर प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सर्वोत्तम जीवन-औषध

इ॒मे वां॒ सोमा॑ अ॒प्स्वा सु॒ता इ॒हाध्व॒र्युभि॒र्भर॑माणा अयंसत॒ वायो॑ शु॒क्रा अ॑यंसत।
ए॒ते वा॑म॒भ्य॑सृक्षत ति॒रः प॒वित्र॑मा॒शवः॑ ।
यु॒वा॒यवोऽति॒ रोमा॑ण्य॒व्यया॒ सोमा॑सो॒ अत्य॒व्यया॑ ॥ ६ ॥

१. **वाम्**=इन्द्र और वायु—आप दोनों के **अप्सु**-कर्मों के निमित्त **इमे**-ये **सोमाः**=सोमकण **आसुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। इन सोमकणों के रक्षण से ही इन्द्र 'इन्द्र' बनता है, शक्तिशाली होता है और वायु 'वायु' बनता है, गतिशील हो पाता है। सोमपान के अभाव में इन्द्रत्व व वायुत्व समाप्त हो जाते हैं। ये सोम **इह**=इस शरीर में **अध्वर्युभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **भरमाणाः**=धारण किये जाते हुए **अयंसत**-संयत किये जाते हैं। अध्वर्यु ही इन्हें शरीर में निरुद्ध कर पाते हैं। यज्ञादि कर्मों में लगे रहना ही वह उपाय है जिससे कि सोम का रक्षण होता है। हे **वायो**-गतिशील जीव! इस प्रकार ये **शुक्राः**-दीप्ति के साधनभूत सोमकण **अयंसत**=संयत होते हैं। २. **एते**=ये **वाम् अभि**=आपका लक्ष्य करके ही **असृक्षत**=रचे गये हैं। ये सोमकण ही इन्द्रत्व=जितेन्द्रियता व वायुत्व-क्रियाशीलता के प्राप्त करानेवाले हैं। जब ये **तिरः**=रुधिर में व्याप्त हुए-हुए तिरोहित-(छिपे)-से रहते हैं तो ये **पवित्रम्**=जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं, **आशवः**=हमें शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त करनेवाले बनते हैं। इनसे जीवन में स्फूर्ति आती है। **युवायवः**-इन्द्र और वायु की कामना करनेवाले ये सोम—उनमें सुरक्षित रहनेवाले ये सोम **अति रोमाणि**-(रोम=water) सब जलों से बढ़कर होते हैं। जल 'जीवन' है। ये सोमकण सर्वाधिक जीवनशक्ति देनेवाले हैं। **अव्यया**=ये शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में कहीं भी न्यूनता नहीं आने देते। **सोमासः**-ये सोमकण **अति अव्यया**=अतिशयेन शक्ति को क्षीण न होने देनेवाले हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोमकण हमें क्रियाशील बनाते हैं, दीप्त करते हैं, जीवन को पवित्र बनाते हैं और शक्ति को क्षीण नहीं होने देते।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वायु और इन्द्र का स्थान कहाँ?

अति॑ वायो सस॒तो या॑हि॒ शश्व॑तो॒ यत्र॒ ग्रावा॒ वद॑ति॒ तत्र॑ गच्छतं गृ॒हमिन्द्र॑श्च गच्छतम्।
वि सू॒नृता॒ ददृ॑शे॒ रीय॑ते घृ॒तमा पू॒र्णया॑ नि॒युता॑ याथो अध्व॒रमिन्द्र॑श्च याथो अध्व॒रम्॥ ७॥

१. हे **वायो**=प्रगतिशील जीव! तू **शश्वतः**=बहुत **ससतः**=सोते हुए पुरुषों को **अति याहि**=लाँघकर आगे निकल जा। हे वायो! तू **च**=और **इन्द्रः**-इन्द्र **तत्र गृहम्**=उस घर में **गच्छतम्**=जाओ और उसी घर में **गच्छतम्**-जाओ **यत्र**=जहाँ **ग्रावा**=विद्वान् स्तोता **वदति**=ज्ञानोपदेश व प्रभुस्तवन करता है (विद्वांसो हि ग्रावाणः—श० ३।९।३।१४)। घर में सोते रहने की अपेक्षा यही उत्तम है कि हम ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों और प्रभुस्तवन करनेवाले बनें। ऐसा करने पर ही हम 'वायु व इन्द्र' बन पाएँगे। यह स्वाध्याय व स्तवन हमें गतिशील व शक्तिशाली बनाए रक्खेगा। २. ऐसा होने पर हमारे घरों में **सूनृता**-प्रिय, सत्य वाणियाँ ही

विदद्दृशे=विशेषरूप से देखी जाएँगी, **घृतं रीयते**=वहाँ ज्ञानदीप्ति का प्रवाह होगा (घृ दीप्ति)। हे वायो! **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्र—तुम दोनों **पूर्णया नियुता**=न्यूनता से रहित इन्द्रियाश्वों से **अध्वरम्**=यज्ञ के प्रति **आयाथः**=जाते हो और निश्चय से **अध्वरं याथः**=यज्ञों के प्रति ही जाते हो, अर्थात् यज्ञशील बने रहने से हम वायु व इन्द्र बन पाते हैं—सदा गतिशील, सदा शक्तिशाली।

भावार्थ—हम सोये न रहें, ज्ञानवाणियों का उच्चारण करें व प्रभुस्तवन में प्रवृत्त हों। हमारे घरों में सूनृत वाणियों का ही प्रयोग हो, सबके जीवन में दीप्ति का प्रवाह दिखे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

माधुर्य की आहुति

अत्राह् तद्वहेथे मध्व आहुतिं यमश्वत्थमुपतिष्ठन्त जायवोऽस्मे ते सन्तु जायवः।
साकं गावः सुवते पच्यते यवो न ते वाय उप दस्यन्ति धेनवो नाप दस्यन्ति धेनवः॥ ८॥

१. **अत्र**=यहाँ **अह**=निश्चय से **तत्**=उस **मध्वः**=माधुर्य की **आहुतिम्**=आहुति को **वहेथे**=आप प्राप्त कराते हो, **यम्**=जिस **अश्वत्थम्**=(अश्वेषु=इन्द्रियेषु तिष्ठति) जितेन्द्रिय पुरुष को **जायवः**=रोगों को जीतनेवाले ये सोमकण **उपतिष्ठन्त**=प्राप्त होते हैं, हम चाहते हैं कि **ते जायवः**=वे रोगों को जीतनेवाले सोमकण **अस्मे सन्तु**=हमारे लिए हों। इन सोमकणों के हममें सुरक्षित होने पर इन्द्र और वायु हमारे जीवन में भी माधुर्य प्राप्त कराएँ। २. इस सोम के हममें स्थित होने पर **गावः**=सब ज्ञानेन्द्रियाँ **साकम्**=साथ-साथ मिलकर **सुवते**=ज्ञान उत्पन्न करती हैं तथा **यवः पच्यते**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों के दूर करने तथा अच्छाइयों को प्राप्त करने का भाव परिपक्व होता है। ३. हे **वायो**=गतिशील जीव! **ते धेनवः**=तेरी ये ज्ञानदुग्ध देनेवाली ज्ञानवाणियाँ **न उपदस्यन्ति**=क्षीण नहीं होतीं और **धेनवः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **न अपदस्यन्ति**=तुझसे कभी दूर नहीं होतीं। इनका सदा तेरे समीप वास होता है।

भावार्थ—जहाँ सोमकणों का रक्षण है, वहाँ जीवन में माधुर्य है। इन सोम-रक्षकों को ज्ञान प्राप्त होता है, इनकी बुराइयाँ नष्ट होती हैं और ज्ञान की वाणियाँ कभी इनका साथ नहीं छोड़तीं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोमकणों का दुर्नियन्तृत्व

इमे ये ते सु वायो बाह्वोजसोऽन्तर्नदी ते पतयन्त्युक्षणो महि व्राधन्त उक्षणः।
धन्वञ्चिद् ये अनाशवो जीराश्चिदगिरौकसः।
सूर्यस्येव रश्मयो दुर्नियन्तवो हस्तयोर्दुर्नियन्तवः॥ ९॥

१. हे **सु वायो**=शोभन गतिशील जीव! **इमे ये**=ये जो **ते**=तेरे सोमकण हैं **ते**=वे ही **बाह्वोजसः**=तेरी भुजाओं की शक्ति हैं, इनके कारण ही तेरी भुजाएँ सबल बनती हैं। **ते अन्तर्नदी**=ये नाड़ियों के अन्दर **पतयन्ति**=गति करते हैं। रुधिर के साथ व्याप्त हुए-हुए नाड़ियों में प्रवाहित होते हैं। **उक्षणः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सेचन करनेवाले हैं, **महि व्राधन्तः**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होते हुए **उक्षणः**=ये सोमकण शक्ति से सिक्त करनेवाले हैं। २. **धन्वन् चित्**=आकाशमार्ग में भी **ये**=जो सोमकण हैं वे **अनाशवः**=न क्षीण होनेवाले हैं। शरीर में मस्तिष्क ही आकाश है। सोमकण इस मस्तिष्क को भी अपनी व्याप्ति से उज्ज्वल बनाते हैं।

जीराः चित्=ये शीघ्र गतिवाले हैं, शरीर में स्फूर्ति लानेवाले हैं, **अ-गिरौकसः**-वस्तुतः वाणी इनका ओकस्=निवास-स्थान नहीं बनती। वाणी से इनकी महिमा का वर्णन सम्भव नहीं। ये **सूर्यस्य**-सूर्य की **रश्मयः इव**=रश्मियों के समान **दुर्नियन्तवः**=बड़ी कठिनता से वश में करने योग्य हैं। सूर्य की रश्मियों का नियमन कौन कर सकता है? इसी प्रकार इन सोमकणों के नियमन की बात है। **हस्तयोः दुर्नियन्तवः**-हाथों से ये वश में नहीं किये जा सकते। ये कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं कि इन्हें हाथों से पकड़ लेंगे। इनका नियमन तो चित्तवृत्ति के निरोध से ही सम्भव है। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए की गई प्राणसाधना ही इनकी ऊर्ध्वगति का कारण बनती है।

भावार्थ—सोमकण शरीर में व्याप्त होकर भुजाओं को शक्ति देते हैं और मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाते हैं। बस, इनका काबू करना ही कठिन है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से है कि सोमकण तुझमें स्थिर हों। ये ही तेरे जीवन को मधुर बनाते हैं (१) समाप्ति पर भी यही कहा है कि ये मस्तिष्क को अक्षीणशक्तिवाला व उज्ज्वल बनाते हैं, शरीर में स्फूर्ति लाते हैं, परन्तु इनका नियमन सुगम नहीं (९)। अगले सूक्त में 'परुच्छेप' ही 'मित्रावरुणौ' की उपासना इन शब्दों में करता है कि—

[१३६] षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—स्वराडत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

प्राणापान के लिए 'नमः, हव्य व मति' का भरण

प्र सु ज्येष्ठं निचिराभ्यां बृहन्नमो हव्यं मतिं भरता मृळयद्भ्यां स्वादिष्ठं मृळयद्भ्याम्।
ता सम्राजा घृतासुती यज्ञेयज्ञ उपस्तुता।
अथैनोः क्षत्रं न कुतश्चनाधृषे देवत्वं नू चिदाधृषे ॥ १ ॥

१. शरीर में प्राणापान ही मित्रावरुणौ हैं। ये सदा गतिमय होने से, शरीर में अन्य इन्द्रियों के सो जाने पर भी जागते रहने से, नित्य-से हैं—निचिर हैं। ये हमारे जीवन को शक्ति देकर तथा दोषों को दूर करके सुखी करते हैं। **निचिराभ्याम्**=(नितरां चिरकालाभ्याम्—सा०) नित्य प्रायः **मृळयद्भ्याम्**=हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाले **स्वादिष्ठं मृळयद्भ्याम्**=अत्यन्त माधुर्य से सुखी करनेवाले इन प्राणापान के लिए **ज्येष्ठम्**=अत्यन्त प्रशस्त **बृहत्**=अतिप्रवृद्ध **नमः**=नमस्कारोपलक्षित स्तोत्र को **प्र सु भरत**=प्रकर्षेण उत्तमता से धारण करो। प्राणापान का स्तवन यही है कि उनके गुणों व लाभों का स्मरण करके प्राणायाम द्वारा उनकी साधना की जाए। इन प्राणापान के लिए **हव्यम्**=हव्य को **भरत**=प्राप्त कराओ। 'हव्य को प्राप्त कराना', अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करना। यज्ञ में सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग होता है, अतः इन प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के लिए हम सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें। **मतिम् (भरत)**=इन प्राणापान के लिए हम मति को धारण करें अर्थात् बुद्धि से इनके गुणों का विचार करें और इन्हें बढ़ी हुई शक्तिवाला करने के लिए प्रबल इच्छावाले हों। २. **ता**=वे प्राणापान **सम्राजा**=हमारे जीवनों को सम्यक् दीप्त करनेवाले हैं। शरीर को ये स्वस्थ व सबल बनाते हैं। **घृतासुती**=(घृतमासूयते याभ्याम्—सा०) मानस नैर्मल्य व मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति को ये उत्पन्न करनेवाले हैं। **यज्ञे यज्ञे उपस्तुता**=प्रत्येक यज्ञ में इनका स्तवन होता है। जब कभी विद्वानों के इकट्ठे होने का प्रसङ्ग होता है तो प्राणापान का स्तवन चलता है, सभी प्राणायाम के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। ३. **अथ**=अब, जब कि इन प्राणापानों के लिए 'नमः, हव्य व मति' का भरण किया जाता है तब **एनोः**=इन दोनों का **क्षत्रम्**=बल **कुतश्चन**=कहीं से भी अथवा किसी से भी **न आधृषे**=धर्षण

नहीं किया जा सकता। इनका **देवत्वम्**=रोगादि को जीतने का भाव **नू चित् आधृषे**=कभी भी धर्षण के योग्य नहीं होता। प्राणापान की प्रबल शक्ति सब रोग-कृमियों का पराजय करती हुई हमें पूर्ण स्वास्थ्य देनेवाली होती है।

भावार्थ—'प्राणापान का स्तवन (गुण-स्मरण) करना, उनकी वृद्धि के लिए सात्त्विक पदार्थों का सेवन करना और उनके धारण की प्रबल इच्छा करना' हमारा कर्तव्य है। ये प्राणापान हमें शक्ति व दीप्ति प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रकाशमय जीवन

अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश् चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः।
द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च ।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं१ वय उपस्तुत्यं बृहद् वयः ॥ २ ॥

१. **गातुः**=निरन्तर गमनशील, **वरीयसी**=उत्कृष्ट उषा **उरवे**=विस्तार के लिए **अदर्शि**=दृष्टिगोचर हुई है, अर्थात् उषा के आते ही यह आकाश विस्तारवाला हो गया है। रात्रि के अन्धकार में तो यह संकुचित-सा हो गया था। **ऋतस्य**=सूर्य का (सृ गतौ=ऋ गतौ) **पन्थाः**=मार्ग **रश्मिभिः**=किरणों से **समयंस्त**=संगत हुआ है, अर्थात् सूर्य की किरणों ने सारे आकाश मार्ग को प्रकाश से भर दिया है। **भगस्य**=(भज सेवायाम्) सेवनीय प्रातःकालीन सूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **चक्षुः**=आँख (समयंस्त=संगत) हुई है, २. जिस प्रकार बाह्यजगत् में प्रकाश हो गया है, उसी प्रकार मेरा यह शरीर भी **मित्रस्य वरुणस्य च अर्यम्णः**=मित्र, वरुण और अर्यमा का **द्युक्षं सादनम्**=ज्योतिर्मय निवासस्थान बने (द्यु+क्षि=निवास)। मेरे मन में सबके प्रति स्नेह की भावना हो (मित्र), मैं द्वेष से सदा दूर रहूँ (वरुण) तथा काम-क्रोधादि दोषों के नियमन की मेरी वृत्ति हो (अर्यमा)। राग-द्वेषादि के कारण मेरा हृदयाकाश मलिन न हुआ रहे। ३. **अथ**=अब ये मित्र और वरुण **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त होनेवाले **उक्थ्यम्**=स्तुत्य **वयः**=जीवन को **उपस्तुत्यं बृहद् वयः**=सचमुच प्रशंसनीय वर्धमान शक्तिवाले जीवन को **दधाते**=धारण करते हैं।

भावार्थ—उषा और सूर्य जैसे बाह्यजगत् को प्रकाशमय बनाते हैं, उसी प्रकार मेरा अन्तर्जगत् भी मित्र, वरुण व अर्यमा का प्रकाशमय निवास-स्थान बने। मेरा जीवन प्रशस्त हो।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—स्वराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्योतिष्मती, अदिति व स्वर्वती क्षिति

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे।
ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती ।
मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः ॥ ३ ॥

१. मनुष्य को चाहिए कि वह **क्षितिम्**=(क्षेत्रम्) शरीर को **धारयत्**=धारण करे। कैसे शरीर को? **ज्योतिष्मतीम्**=विज्ञानमयकोश में ज्ञान से परिपूर्ण शरीर को, **अ-दितिम्**=अन्नमय व प्राणमयकोश में न खण्डित होनेवाले अर्थात् स्वस्थ शरीर को, **स्वर्-वतीम्**=मनोमयकोश में (स्वयं राजते 'स्वर') स्वयं शासन की भावनावाले को। वस्तुतः मित्र और वरुण अर्थात् प्राणापान **दिवेदिवे**-प्रतिदिन ऐसे ही शरीर को **आ सचेते**=सर्वथा समवेत करते हैं। प्राणापान की साधना

से ऐसा ही शरीर प्राप्त होता है। ये मित्र और वरुण—प्राणापान **दिवेदिवे**=प्रतिदिन—सदा **जागृवांसा**=जागरणशील हैं। अन्य इन्द्रियाँ थककर सो जाती हैं, परन्तु प्राणापान जागते ही रहते हैं। २. ये प्राणापान **ज्योतिष्मत् क्षत्रम्**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त बल **आशाते**=व्याप्त करते हैं। इनकी साधना से मस्तिष्क ज्योतिर्मय होता है तो शरीर बल-सम्पन्न बनता है। **आदित्या**=सब अच्छाइयों का आधान करनेवाले ये प्राणापान हैं (आदानात् आदित्यः), **दानुनः पती**=(दाप् लवने) सब प्रकार के खण्डन से ये बचानेवाले हैं। ३. **तयोः**=इनमें **मित्रः**=प्राण तथा **वरुणः**=अपान भी **यातयत् जनः**=(स्व-स्व-व्यपार-नियोजितसर्वजनः—सा०) सब लोगों को अपने-अपने कार्य में प्रेरित करनेवाले हैं। मित्र और वरुण के साथ होनेवाला **अर्यमा**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन भी (अरीन् यच्छति) **यातयज्जनः**=लोगों को अपने-अपने व्यपार में प्रेरित करता है। मित्र, वरुण व अर्यमा को अपनाने पर, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा काम-क्रोधादि को वश में करने पर हम अपने-अपने कार्यों में सुचारुरूपेण प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना होने पर यह शरीर-नगरी 'ज्योतिष्मती, अदिति व वर्चस्विनी' बनती है। ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करके हम स्वकार्यप्रवृत्त बने रहते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

शन्तम सोम

अयं मित्राय वरुणाय शन्तमः सोमो भूत्ववपानेष्वाभगो देवो देवेष्वाभगः।
तं देवासो जुषेरत विश्वे अद्य सजोषसः ।
तथा राजाना करथो यदीमह ऋतावाना यदीमहे ॥ ४ ॥

१. **अयं सोमः**=यह सोम=वीर्य **मित्राय वरुणाय**=मित्र और वरुण के लिए—प्राणापान के लिए **शन्तमः भूतु**=अत्यन्त शान्ति देनेवाला हो। सोम-रक्षण से प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है और प्राणसाधना सोमरक्षण में सहायक है। यह **देवः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाला सोम अथवा सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाला सोम (दिव् विजिगीषा) **अवपानेषु**=शरीर में ही पान (सुरक्षित) होनेपर **आभगः**=सब कोशों के ऐश्वर्य का कारण होता है। सोम **देवेषु**=सब इन्द्रियों में **आभगः**=पूर्णरूप से ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है—सब इन्द्रियों को यह सशक्त बनाता है। २. **तम्**=उस सोम को **देवासः**=हे देवो! **जुषेरत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले बनो। **विश्वे**=सब देवो! **अद्य**=आज **सजोषसः**=परस्पर प्रीतिवाले होते हुए इस सोम का पान करो। देववृत्ति के लोग वस्तुतः इस सोमपान के कारण ही देववृत्ति के बनते हैं। ३. हे **राजाना**=(राजृ दीप्तौ) दीप्त होनेवाले मित्र और वरुण, अर्थात् प्राणापानो! तथा **करथ**=ऐसा करो **यत् ईमहे**=जैसा कि हम चाहते हैं। हे **ऋतावाना**=ऋतवाले, सब कार्यों में ऋत को ले-आनेवाले अथवा अनृत को नष्ट करके ऋत का वर्धन करनेवाले प्राणापानो! ऐसा करो **यत् ईमहे**=जैसी कि हम याचना करते हैं। हम यही चाहते हैं कि यह सोम शरीर में सुरक्षित होकर सब इन्द्रियों को शक्तिरूप ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्राणापान की शक्ति बढ़ती है, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने ऐश्वर्य को प्राप्त होती हैं और हमारी वृत्ति दैवी बनती हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—स्वराडत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

मित्र और वरुण की उपासना

यो मित्राय वरुणायाविधज्जनोऽनर्वाणं तं परि पातो अंहसो दाश्वांसं मर्तमंहसः।
तमर्यमाभि रक्षत्यृजूयन्तमनु व्रतम्   ।
उक्थैर्य एनोः परिभूषति व्रतं स्तोमैराभूषति व्रतम्   ॥ ५ ॥

१. **यः जनः**=जो मनुष्य **मित्राय वरुणाय**=प्राणापान के लिए **अविधत्**=पूजा करता है, अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणापान को ठीक रखने का प्रयत्न करता है **तम् अनर्वाणम्**=उस द्वेषशून्य पुरुष को (अद्वेष्य=अजातशत्रु को) **अंहसः**=पाप से **परिपातः**=बचाते हो। उस **दाश्वांसम् मर्तम्**-आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले पुरुष को अंहसः=पाप से बचाते हो। प्राणसाधना का यह परिणाम है कि अशुभ वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। २. **तम्**=उस **ऋजूयन्तम्**=सरल मार्ग से गति करनेवाले पुरुष को **अनुव्रतम्**=उस अनुकूल व्रतोंवाले पुरुष को **अर्यमा**=काम-क्रोधादि को संयत रखने की वृत्ति **अभिरक्षति**=शरीर व मन पर आक्रमण करनेवाले रोगों व रागों से बचाती है। उसको बचाती है **यः**=जो **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **एनोः**=इन प्राणापान के **व्रतम्**=व्रत को **परिभूषति**=(परिगृह्णाति—सा०) धारण करता है। **स्तोमैः**=प्रभुस्तवनों के साथ **व्रतम् आभूषति**=प्राणसाधना के व्रत को अपने जीवन का भूषण बनाता है। स्पष्ट है कि हम प्राणायाम करते हुए प्रभु के स्तोत्रों का ध्यान करें तो शरीर व मन के मलों से रहित होकर हमारा जीवन अत्यन्त पवित्र बनेगा।

भावार्थ—अपने को पापों से बचाने के लिए प्राणसाधना अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मन्त्रोक्ताः। छन्दः—स्वराडत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

ज्ञान, जितेन्द्रियता व ऐश्वर्य

नमो दिवे बृहते रोदसीभ्यां मित्राय वोचं वरुणाय मीळ्हुषे सुमृळीकाय मीळ्हुषे।
इन्द्रमग्निमुप स्तुहि द्युक्षमर्यमणं भगम्   ।
ज्योग्जीवन्तः प्रजया सचेमहि सोमस्योती सचेमहि   ॥ ६ ॥

१. उस **बृहते दिवे**=महान् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के लिए **नमः**=मैं नमस्ते करता हूँ, उसके लिए नतमस्तक होकर उस जैसा ही होने का प्रयत्न करता हूँ। **रोदसीभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए नमस्ते करता हूँ। द्युलोक की भाँति मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ और शरीर को पृथिवी के समान दृढ़ बनाता हूँ। **मित्राय**=स्नेह की देवता का **वोचम्**=स्तवन करता हूँ और **वरुणाय**=निर्द्वेषता की देवता के लिए आराधना करता हूँ। ये स्नेह और निर्द्वेषता **मीळ्हुषे**=मेरे जीवन में सुखों का सेचन करनेवाली हैं। **सुमृळीकाय**=मेरे जीवन को उत्तम सुख प्राप्त करानेवाली हैं, **मीळ्हुषे**=और सचमुच सुखी करनेवाली हैं। २. अपने को ही प्रेरणा देते हुए यह आराधक कहता है कि **इन्द्रम् अग्निम्**=इन्द्र और अग्नि का **उपस्तुहि**=स्तवन कर। ये इन्द्र और अग्नि क्रमशः शक्ति व प्रकाश की देवता है। इनके आराधना से तू शक्तिसम्पन्न व प्रकाशमय जीवनवाला बनने का प्रयत्न कर। **द्युक्षम्**=दीप्तिमान् **अर्यमणम्**=अर्यमा का स्तवन कर। 'अर्यमा' शत्रुओं को वश में करने की देवता है। काम-क्रोधादि को वश में करनेवाला ही दीप्तिमान् बनता है, **भगम्**=तू सेवनीय धन का स्तवन कर। सुपथ से कमाया गया धन ही सेवनीय धन है। ३. हमारी यही कामना हो कि **ज्योक् जीवन्तः**=दीर्घकाल तक जीवन को धारण करते हुए **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **सचेमहि**=हम संगत हों। हमारा जीवन दीर्घ हो, हमारे सन्तान

उत्तम हों। **सोमस्य ऊती**=सोमरक्षण के द्वारा हम दीर्घजीवन व उत्तम सन्तान से **सचेमहि**=संगत हों।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करते हुए हम प्रकाश व शक्ति का सम्पादन करें। ज्ञान, जितेन्द्रियता व ऐश्वर्योंवाले होकर दीर्घजीवन व उत्तम सन्तान को प्राप्त करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अग्नि, मित्र व वरुण से दिया गया सुख

ऊ॒ती दे॒वानां॑ व॒यमिन्द्र॑वन्तो मंसी॒महि॒ स्वय॑शसो म॒रुद्भिः॑।
अ॒ग्निर्मि॒त्रो वरु॑ण॒: शर्म॑ यंस॒न् तद॑श्याम म॒घवा॑नो व॒यं च॑॥ ७॥

१. **देवानाम् ऊती**=दिव्यगुणों के रक्षण के द्वारा **वयम्**=हम, **इन्द्रवन्तः**=उस परमात्मावाले होते हुए, अर्थात् अपने हृदयों में प्रभु को बिठाते हुए **मंसीमहि**=अपने कर्तव्यों का विचार करें। **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा—प्राणायाम की साधना के द्वारा हम **स्वयशसः**=अपने उत्तम कर्मों से यशवाले हों। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होती है और हम उत्तम कर्मोंवाले बन पाते हैं। २. उस समय **अग्निः मित्रः वरुणः**=आगे बढ़ने की वृत्ति, स्नेह व निर्द्वेषता हमें **शर्म यंसन्**=सुख देते हैं। **तत्**=उस अग्नि आदि द्वारा प्रदत्त सुख को **मघवानः**=अपने ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले लोग **च**=तथा **वयम्**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम लोग **अश्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—दिव्य गुणों का वर्धन करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। प्रकाश, स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा जीवन सुखी बने।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का मुख्य विषय यह है कि हम प्राणसाधना के द्वारा प्रकाश व बल प्राप्त करें। अगले सूक्त में कहा है कि प्राणसाधना से हम सोम=वीर्य का शरीर में ही रक्षण करनेवाले बनते हैं। इस सोम के द्वारा शरीर में शक्ति बढ़ती है तो मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त होती है—

॥ इति द्वितीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

[१३७] सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—निचृच्छक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

मित्रावरुण का सोमपान

सुषुमा यातमद्रिभिर्गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे।
आ राजाना दिविस्पृशास्मत्रा गन्तमुप नः　　।
इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरः सोमाः शुक्रा गवाशिरः॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **आयातम्**=आइए। **इमे**=ये **सोमासः**=सोमकण हमने **सुषुम**=उत्पन्न किये हैं। **अद्रिभिः**=(न दृ) वासनाओं से विदीर्ण न होने के द्वारा अथवा (आदृ) प्रभु के उपासन से रक्षित किये हुए ये सोमकण **गोश्रीताः**=(श्री=to prepare) ज्ञान की वाणियों के हेतु से परिपक्व किये गये हैं (गोभिः श्रीताः)। इनके रक्षण से ही बुद्धि तीव्र होती है और इन वाणियों को समझनेवाली बनती है। **इमे मत्सराः**=ये सोम हमारे हृदयों में आनन्द का सञ्चार करनेवाले हैं, **सोमासः मत्सरा इमे**=ये सोम सचमुच आनन्द का सञ्चार करनेवाले हैं। २. **राजाना**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले प्राणापान **दिविस्पृशा**=ज्ञान में स्पर्श करनेवाले हैं। आप **अस्मत्रा**=हमारे विषय में **नः आ उपगन्तम्**=हमारे अत्यन्त समीप प्राप्त होनेवाले होओ। हे प्राणापानो! **इमे वां सोमाः**=ये आपके सोम **गवाशिरः**=ज्ञान की वाणियों से मिश्रित हैं, **शुक्राः**=दीप्तिवाले हैं और **गवाशिरः**=निश्चय से ज्ञानवाणियों से युक्त हैं (श्रि सेवायाम्)। आपकी साधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है। यही आपका सोमपान है। सोमरक्षण से ज्ञानदीप्ति होती है और हम ज्ञानवाणियों को सम्यक् समझनेवाले बनते हैं। इन प्राणापान के द्वारा सोमरक्षण से हमारा जीवन शुद्ध व दीप्त बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर वासनाओं से विदीर्ण न होने तथा प्रभु-उपासना के द्वारा हम सोमरक्षण कर पाते हैं। इससे हमारा जीवन दीप्त व ज्ञानान्वित होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—विराट् शक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

शरीर व मानस स्वास्थ्य का साधन सोम

इम आ यातमिन्दवः सोमासो दध्याशिरः सुतासो दध्याशिरः।
उत वामुषसो बुधि साकं सूर्यस्य रश्मिभिः　　।
सुतो मित्राय वरुणाय पीतये चारुर्ऋताय पीतये　　॥ २॥

१. हे प्राणापानो! **आयातम्**=आप आइए! **इमे**=ये **इन्दवः**=शक्ति देनेवाले (इन्द् to be powerful) **सोमासः**=सोमकण **दध्याशिरः**=(दधि धारकं बलम्) धारक बल से युक्त हैं। **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण निश्चय ही **दध्याशिरः**=धारक बलों से युक्त हैं। इनके प्रति आप आइए। **उत**=और **वाम्**=आपकी प्रीति के लिए **उषसः बुधि**=उषाकाल के जागरित होने पर **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्यकिरणों के साथ आप आइए। **सुतः**=यह सोम उत्पन्न किया गया है। यह **मित्राय वरुणाय पीतये**=मित्र और वरुण के पान के लिए उत्पन्न किया गया है। यह सोम **चारुः**=अत्यन्त सुन्दर है। यह **ऋताय**=ऋत के लिए और **पीतये**=रक्षण के

लिए होता है। यदि इस सोम का शरीर में ही रक्षण किया जाए तो हमारे जीवन में से अनृत दूर होकर वहाँ ऋत का स्थापन होता है और यह सोम हमें अनेकश: रोगों के आक्रमण से बचानेवाला होता है। मन में यह ऋत का स्थापन करता है, शरीर में नीरोगता का। इस प्रकार यह सोम सुन्दर-ही-सुन्दर है। प्राणसाधना के द्वारा—मित्रावरुणों की उपासना के द्वारा हमें इसे शरीर में ही सुरक्षित करना है।

भावार्थ—रक्षित सोम धारक शक्तिवाला है। यह हमारे शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य का साधन है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—भुरिगतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

सोम-रक्षण से शक्ति का विकास

तां वां धेनुं न वासरीमंशुं दुहन्त्यद्रिभिः सोमं दुहन्त्यद्रिभिः।
अस्मत्रा गन्तमुप नोऽर्वाञ्चा सोमपीतये।
अयं वां मित्रावरुणा नृभिः सुतः सोम आ पीतये सुतः ॥ ३ ॥

१. **न**=जैसे **वासरीं धेनुम्**=बहुत दूध देनेवाली गाय को दुहते हैं, उसी प्रकार **वाम्**=हे मित्रावरुणो! आपके लिए **ताम् अंशुम्**=उस सोम को—ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत वीर्यशक्ति को **अद्रिभिः**=(अ+दृ) वासनाओं से विदीर्ण न होने के द्वारा तथा (आदृ=to adore) प्रभु-उपासना के द्वारा **दुहन्ति**=अपने में पूरित करते हैं। सोम को 'मित्रावरुणों का' इसलिए कहा है कि यह प्राणसाधना द्वारा ही शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता है। **सोमम्**=सोम को **अद्रिभिः**=वासनाओं से अविदीर्णता तथा प्रभु के उपासन द्वारा अपने में **दुहन्ति**=पूरित करते हैं। २. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=इस सोमशक्ति के शरीर में ही पान—सुरक्षित करने के लिए **अस्मत्रा**=(अस्मान् त्रातारौ—सा०) हमारा रक्षण करनेवाले आप **अर्वाञ्चा**=हमारे अभिमुख होते हुए **नः**=हमारे **उप आगन्तम्**=समीप आइए। हे प्राणापानो! **अयं सोमः**=यह सोम **नृभिः**=प्रगतिशील पुरुषों से **वाम्**=आपके लिए ही **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। यह सोम **आ-पीतये**=सब प्रकार से शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इस सोम का उत्पादन इसे शरीर में ही व्याप्त करके सब शक्तियों के विकास के लिए ही हुआ है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम सब अङ्गों की शक्ति का रक्षण करता है।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त के तीनों मन्त्र सोम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं। रक्षित सोम सब अङ्गों को सशक्त बनाता है, सशक्त बनने के लिए ही यह अब पूषन् का स्मरण करता है—

[१३८] अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—पूषा। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

'अन्त्यूति मयोभू' पूषा

प्रप्र पूष्णस्तुविजातस्य शस्यते महित्वमस्य तवसो न तन्दते स्तोत्रमस्य न तन्दते।
अर्चामि सुम्नयन्नहमन्त्यूतिं मयोभुवम्।
विश्वस्य यो मन आयुयुवे मखो देव आयुयुवे मखः ॥ १ ॥

१. **तुविजातस्य**=महान् विकासवाले **अस्य**=इस **पूष्णः**=सर्वपोषक सूर्य की **महित्वम्**=महिमा **प्रप्र शस्यते**=खूब ही उच्चरित होती है। **अस्य**=इसके **तवसः**=बल का **स्तोत्रम्**=स्तवन **न तन्दते**=हिंसित नहीं होता, **न तन्दते**=निश्चय ही हिंसित नहीं होता। सूर्य महान् विकासवाला है। इसके प्रकाश का विकास होने पर सभी तारे ज्योतिहीन हो जाते हैं। हम निरन्तर इसका स्तवन करते हैं, ताकि उपासना के लाभों से हम परिचित रहें। २. **सुम्नयन्**=नीरोगता के सुख को चाहता हुआ **अहम्**=मैं **अन्ति ऊतिम्**=समीपता से रक्षण करनेवाले इस **मयोभुवम्**=कल्याण के उत्पत्ति-स्थान सूर्य को **अर्चामि**=पूजता हूँ। उस सूर्य का पूजन करता हूँ **यः**=जो हमें **मखः**=(म+ख) सब दोषों से रहित करता हुआ **देवः**=दीप्यमान होता हुआ **विश्वस्य**=सबके **मनः**=मन को **आयुयुवे**=बुराइयों से पृथक् करता है और अच्छाइयों से मिलाता है। सचमुच **मखः**=दोषरहित यह सूर्य **आयुयुवे**=दोषों से पृथक् और गुणों से सम्पृक्त करता है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। सूर्य की किरणों का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं पड़ता, मन पर भी पड़ता है। सूर्य हमारे शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ बनाता है।

भावार्थ—सूर्य हमारे शरीरों को नीरोग बनाता है (मयोभूः) तथा हमारे मनों को वासना के आक्रमण से बचाता है (अन्त्यूति)। इसीलिए कहते हैं कि असुरों का बल अन्धकार में बढ़ता है।

सूचना—यहाँ 'अन्त्यूति' शब्द में 'अन्ति अर्थात् समीपता से' ये शब्द इस बात की सूचना दे रहे हैं कि जितना हम सूर्य के सम्पर्क में आएँगे उतना ही यह हमारा रक्षण करेगा। 'मयोभू' होता हुआ यह हमारे शरीर को नीरोग बनाएगा और 'अन्त्यूति' होता हुआ हमारे मन को वासनाओं से आक्रान्त न होने देगा। यह सब भाव 'पूषन्' का अर्थ 'प्रभु' लेने पर भी संगत है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'स्तवन की वृत्ति, ज्ञान व शक्ति'

प्र हि त्वा पूषन्नजिरं न यामनि स्तोमेभिः कृण्व ऋणवो यथा मृध उष्ट्रो न पीपरो मृधः।
हुवे यत्त्वा मयोभुवं देवं सख्याय मर्त्यः।
अस्माकमाङ्गूषान् द्युम्निनस्कृधि वाजेषु द्युम्निनस्कृधि ॥ २ ॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझे **यामनि**=इस जीवन-यात्रा में **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **अजिरं न प्र कृण्वे**=एक स्फूर्ति-सम्पन्न (agile) अश्व की भाँति करता हूँ। जैसे एक मनुष्य घोड़े से यात्रा पूर्ण करता है, उसी प्रकार हे पूषन्! मैं तेरे **व्रत** का पालन करता हुआ जीवन-यात्रा को पूर्ण करता हूँ। २. हे पूषन्! मैं तेरा स्तवन करता हूँ **यथा**=जिससे **मृधः**=संग्रामों को **ऋणवः**=आप प्राप्त होते हो। काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले हमारे संग्रामों में उपस्थित होकर आप हमारे सहायक होते हो। **उष्ट्रः न**=जैसे ऊँट हमें कठिनता से पार करने योग्य रेगिस्तानों के पार पहुँचाता है, इसी प्रकार आप **मृधः पीपरः**=इन संग्रामों में हमें पार पहुँचाते हैं। आपकी सहायता के बिना इन संग्रामों में विजय सम्भव नहीं है। ३. **मर्त्यः**=मरणधर्मा मैं **मयोभुवं देवं त्वा**=कल्याण-उत्पादक प्रकाशस्वरूप आपको **यत्**=जब **सख्याय**=मित्रता के लिए **हुवे**=पुकारता हूँ तब आप **अस्माकम् आङ्गूषान्**=उच्च स्वर से उच्चारणीय हमारे इन स्तोत्रों को **द्युम्निना कृधि**=ज्योतिर्मय कीजिए। **वाजेषु**=इन संग्रामों में आप हमें **द्युम्निनः कृधि**=(द्युम्न energy, strength, power) शक्तिशाली कीजिए। आपकी कृपा से हम ज्ञानपूर्वक स्तवन करें तथा शक्तिशाली बनकर संग्रामों में विजयी हों।

भावार्थ—जीवनयात्रा में प्रभु हमें विघ्नरूप शत्रुओं के पार पहुँचाएँगे। प्रभुकृपा से हमें स्तवन की वृत्ति, ज्ञान व शक्ति प्राप्त हो। ये तीनों बातें हमें विजयी बनानेवाली होंगी।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

दो सिद्धान्त

यस्य॑ ते पूषन्त्स॒ख्ये वि॒प॒न्यव॑: क्रत्वा॑ चि॒त्सन्तोऽव॑सा बुभुञ्जि॒र इति॒ क्रत्वा॑ बुभु॒ञ्जि॒रे।
तामनु॑ त्वा॒ नवी॑यसीं नि॒युत॑ं रा॒य ई॑महे ।
अहे॑ळमान उरुशंस॒ सरी॑ भव॒ वाजे॑वाजे॒ सरी॑ भव ॥ ३ ॥

१. हे **पूषन्**=पोषक परमात्मन्! **यस्य ते सख्ये**=जिस तेरी मित्रता में **विपन्यवः**=विशिष्ट व्यवहार व स्तुतिवाले होते हुए लोग **क्रत्वा चित्**=कर्म के साथ ही **सन्तः**=होते हुए **अवसा**=रक्षण के हेतु से **बुभुञ्जिरे**=इन सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करते हैं। प्रभुभक्त बिना कर्म के खाना पसन्द नहीं करता, वह कर्म करके ही खाना ठीक समझता है। दूसरी बात यह कि वह शरीरादि के रक्षण के हेतु से इन वस्तुओं का उपभोग करता है। उसके उपभोग का आधार स्वाद व विलास नहीं होता। निजू उन्नति के लिए स्वाद के दृष्टिकोण से न खाकर आवश्यकता के दृष्टिकोण से खाया जाए और सामाजिक कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति शक्ति के अनुसार कर्म करके ही खाने का व्रत ले। **इति**=इस सामाजिक उन्नति के विचार से ही ये **क्रत्वा**=कर्म से—कर्म करके ही **बुभुञ्जिरे**=खाते हैं। **ताम्**=कर्म करके रक्षण के दृष्टिकोण से खाने की वृत्तिरूप इस **नवीयसीम्**=तेरी प्रशस्त स्तुति के **अनु**=पश्चात् **त्वा**=आपसे **नियुतम्**=नियत संख्याक—खूब अधिक **रायः**=धनों को **ईमहे**=माँगते हैं। 'कर्म करके ही खाना' तथा 'जितना रक्षण के लिए आवश्यक है, उतना ही खाना'—इन बातों को जीवन में लाना सच्चा प्रभु-स्तवन है। ऐसा ही व्यक्ति असंख्याक धनों का पात्र बनता है। भोगविलास की वृत्तिवाले के लिए तो धन-अभिशाप बन जाते हैं। ३. हे **उरुशंस**= खूब स्तवन किये जानेवाले प्रभो! **अहेळमानः**=हम पर क्रोध न करते हुए आप **सरी भव**=हमें प्राप्त होओ। **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **सरी भव**=हमें प्राप्त होओ। आपको ही तो इन संग्रामों में हमें विजय प्राप्त करानी है। आपके बिना इन काम-क्रोधादि प्रबल शत्रुओं को हम कभी भी न जीत पाएँगे।

भावार्थ—सच्चा प्रभुभक्त वह है जो (क) बिना कर्म किये खाना ठीक नहीं समझता तथा (ख) स्वाद के लिए न खाकर शरीर-रक्षण के लिए ही खाता है। ऐसे व्यक्ति को प्रभु खूब धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु की मित्रता

अ॒स्या ऊ॒ षु ण॒ उप॑ सा॒तये॑ भुवोऽहे॑ळमानो र॒रिवाँ॑ अजाश्व श्रवस्य॒ताम॑जाश्व।
ओ षु त्वा॑ ववृतीमहि॒ स्तोमे॑भिर्दस्म सा॒धुभि॑ः ।
न॒हि त्वा॑ पूषन्नति॒मन्य॑ आघृणे॒ न ते॑ स॒ख्यम॑पह्नुवे ॥ ४ ॥

१. हे **अजाश्व**=(अज+अश्व) कभी उत्पन्न न होनेवाले अथवा गति द्वारा सब मलों को दूर करनेवाले, सर्वत्र व्याप्त (अश् व्याप्तौ, अज गतिक्षेपणयोः) प्रभो! आप **अस्याः**=(अस्यै) इस **सातये**=गतमन्त्र में वर्णित असंख्यात धन की प्राप्ति के लिए **नः**=हमारे लिए **ऊ**=निश्चय से **सु उप भुवः**=अच्छी प्रकार प्राप्त होओ। **अहेळमानः**=हमारे प्रति क्रोध न करते हुए आप

ररिवान्=धनों को खूब देनेवाले होओ। हे **अजाश्व**=गतिशील, व्यापक प्रभो! आप **श्रवस्यताम्**=ज्ञान की कामना करनेवाले हमारे समीप होओ। आपके सान्निध्य में ही तो हमारी ज्ञान-ज्योति दीप्त होगी। २. हे **दस्म**=हमारे सब दु:खों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **साधुभिः स्तोमेभिः**=लोकहित के कार्यों को सिद्ध करनेवाले स्तवनों से हम **ऊ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **सु**=उत्तमता से **आववृतीमहि**=अपनी ओर आवृत करते हैं। 'सर्वभूतहिते रताः' व्यक्ति ही तो आपके सच्चे उपासक होते हैं। ३. हे **आघृणे**=सर्वतो दीप्त **पूषन्**=पोषक प्रभो! मैं **त्वा**=आपसे **नहि अति मन्ये**=अधिक किसी को नहीं मानता हूँ। आपको ही सर्वोपरि जानता हूँ। ऐसा जानता हुआ मैं **ते सख्यम्**=आपकी मित्रता को **न अपह्नुवे**=ओझल नहीं होने देता, आपको सर्वदा मित्र के रूप में देखता हूँ। आपकी मित्रता से ही तो मैं सब शत्रुओं को जीत सकूँगा और आवश्यक धनों को प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में ही कल्याण है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है—प्रभु पूषन् हैं। वे शरीर को नीरोग और मन को निर्मल बनाते हैं (१)। हमें ज्ञान व शक्ति देकर संग्राम में विजयी बनाते हैं (२)। प्रभुभक्त कर्म करके ही खाते हैं और शरीर-रक्षण के लिए ही खाते हैं (३)। इस प्रभु की मित्रता में ही कल्याण है (४)। अब 'दिव्य शर्ध' (बल) की प्रार्थना करते हैं—

[१३९] एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्ञान, कर्म, उपासना का समन्वय

अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु तच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे।
यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा सन्दायि नव्यसी ।
अध प्र सू न उप यन्तु धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः ॥ १ ॥

१. **पुरः**=सबसे प्रथम **श्रौषट् अस्तु**=हमारे जीवन में ज्ञान का श्रवण हो। हम स्वाध्याय से जीवन को आरम्भ करें। तदनन्तर **धिया**=बुद्धिपूर्वक **अग्निं दधे**=मैं अग्नि का आधान करूँ। स्वाध्याय के साथ हम नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले बनें। इस प्रकार स्वाध्याय व अग्निहोत्र करते हुए हम **नु**=अब **तत्**=उस **दिव्यं शर्धः**=(शर्धस्=strength) दिव्य बल को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को **वृणीमहे**=वरते हैं। 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है और 'वायु' गति का। हम चाहते हैं कि हमारा जीवन शक्तिशाली हो और साथ ही वायु की भाँति क्रियाशील भी हो। २. **यत् ह**=जब निश्चय से **विवस्वति**=दीप्तिवाले—ज्ञान के प्रकाशवाले **नाभा**=यज्ञ में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **क्राणा**=अपने अर्थ का प्रकाश करती हुई **नव्यसी**=स्तुतिरूप नवतरा वाणी **सन्दायि**=बद्ध होती है **अध**=तब **नः**=हमें **धीतयः**=उत्तम कर्म **प्र सु उपयन्तु**=प्रकर्षेण समीपता से प्राप्त हों। **देवान् अच्छ न**=दिव्य गुणों की ओर प्राप्त होने के लिए ही मानो **धीतयः**=प्रशस्त कर्म प्राप्त हों। ३. यहाँ 'विवस्वति' शब्द स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का संकेत कर रहा है, 'नाभा' शब्द ब्रह्माण्ड के धारण करनेवाले यज्ञादि उत्तम कर्मों का निर्देश करता है और 'नव्यसी' शब्द स्तुति का वाचक है—'नु स्तुतौ'। इस प्रकार यहाँ ज्ञान, कर्म व उपासना के समन्वय का प्रतिपादन है। यह समन्वय ही हमारी क्रियाओं को इस प्रकार पवित्र बनाता है कि हम अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय करके चलें। यही दिव्यगुणों व प्रभु की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—विराडष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

प्रभु के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन

यद्ध त्यन्मित्रावरुणावृतादध्याददाथे अनृतं स्वेन मन्युना दक्षस्य स्वेन मन्युना।
युवोरित्थाधि सद्मस्वपश्याम हिरण्ययम् ।
धीभिश्चन मनसा स्वेभिरक्षभिः सोमस्य स्वेभिरक्षभिः ॥ २ ॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! (मित्र=स्नेह, वरुण=द्वेष-निवारण) **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **त्यत् अनृतम्**=उस अनृत को **ऋतात्**=ऋत में से **अधि आ ददाथे**=निकाल लेते हो, अर्थात् जब हमारे जीवनों में अनृत का अंश नहीं रहता तब **इत्था**=उस प्रकार जीवन के ऋतमय बनने पर **युवोः**=आपके **सद्मसु**-इन शरीररूप गृहों में **स्वेन मन्युना**=अपने ज्ञान से—आत्मज्ञान से **दक्षस्य**=दक्ष (कुशल) पुरुष के **स्वेन मन्युना**=आत्म-सम्बन्धी ज्ञान से **हिरण्यम्**=प्रभु के ज्योतिर्मय रूप को **अपश्याम**-देखें। द्वेष से दूर होकर स्नेह को अपनाने से हृदय पवित्र होता है, अनृत नष्ट होकर जीवन में ऋत की दीप्ति होती है। इस समय आत्मज्ञान की ओर झुकाववाला यह व्यक्ति प्रभु के ज्योतिर्मय रूप को देखता है। इस रूप को वह **धीभिः चन**=निश्चय से बुद्धियों के द्वारा देखता है (दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः), **मनसा**=मन के द्वारा प्रभु के इस ज्योतिर्मय रूप को देखता है (मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु), **स्वेभिः अक्षभिः**-अपनी इन्द्रियों से—आत्मतत्त्व की ओर झुकी हुई इन्द्रियों से **सोमस्य**=सौम्य स्वभाववाले पुरुष की **स्वेभिः अक्षभिः**=आत्मप्रवण इन्द्रियों से उस रूप का आभास मिलता है। इन्द्रियाँ जब विषयप्रवण न होकर आत्मप्रवण होती हैं, उस समय ये इन्द्रियाँ सृष्टि में प्रभु की विभूतियों का दर्शन करती हैं, उस समय वासनाशून्य मन प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है और बुद्धि अपनी तीव्र आलोचना से प्रभु का साक्षात्कार करनेवाली होती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के अभ्यास से यदि हम जीवन को ऋतमय बनाएँगे तो बुद्धि, मन व इन्द्रियों से प्रभु के ज्योतिर्मय रूप को देख पाएँगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराडष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

सब श्रियों के आधारभूत 'प्राणापान'

युवां स्तोमेभिर्देवयन्तो अश्विनाश्रावयन्तइव श्लोकमायवो युवां हव्याभ्या३ यवः।
युवोर्विश्वा अधि श्रियः पृक्षश्च विश्ववेदसा ।
प्रुषायन्ते वां पवयो हिरण्यये रथे दस्रा हिरण्यये ॥ ३ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **देवयन्तः**=दिव्य गुणों को अपनाने की इच्छा करते हुए **आयवः**=मनुष्य (एतीति आयुः) **युवाम्**-आप दोनों को **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **श्लोकं श्रावयन्तः इव**=आपके यश को सर्वत्र सुनाते हुए-से होते हैं। प्राणापान के यश का गायन इसी उद्देश्य से है कि हम इनके महत्त्व को समझकर इनकी साधना में प्रवृत्त हों। आयवः=ये क्रियाशील मनुष्य **युवाम्**=आप दोनों को **हव्या**=हवि के द्वारा—यज्ञिय पवित्र पदार्थों के यज्ञशेष के रूप में सेवन के द्वारा **अभ्यायवः**=आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले होते हैं। यज्ञिय—सात्त्विक पदार्थों का सेवन प्राणापान की शक्ति को बढ़ाने का प्रमुख साधन है। २. हे **विश्ववेदसा**-सम्पूर्ण धनों को

प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! **युवोः अधि**=आपमें ही **विश्वाः श्रियः**=सब श्री **च पृक्षः**=और अन्न निवास करते हैं। प्राणापान की शक्ति प्रवृद्ध होने पर ही सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग श्रीसम्पन्न बनते हैं तथा ये प्राणापान ही अन्न-पाचन में सहायक होते हैं। ३. हे **दस्त्रा**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी ही **पवयः**=(the tire of a wheel) नेमियाँ इस **हिरण्यये**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त **रथे**=शरीररूप रथ में सचमुच **हिरण्यये**=ज्योतिर्मय होने से मानो स्वर्ण-निर्मित रथ में **प्रुषायन्ते**=पूरित होती हैं (प्रुष पूरणे)। शरीर रथ है तो प्राणापान इस रथ की चक्रनेमियाँ हैं। इन नेमियों की दृढ़ता पर ही—चक्रों की दृढ़ता निर्भर है और इन चक्रों की ठीक होने पर ही रथ की अग्रगति सम्भव है। एवं, ये प्राणापान ही हमें, शरीर रथ को ठीक रखकर, लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शोभायुक्त बनाती है और शरीररथ को ठीक रखकर इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचाती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिगत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्राणसाधना से स्वर्ग का निर्माण

अचेति दस्रा व्यु१नाकमृण्वथो युञ्जते वां रथयुजो दिविष्टिष्वध्वस्मानो दिविष्टिषु।
अधि वां स्थाम वन्धुरे रथे दस्रा हिरण्यये ।
पथेव यन्तावनुशासता रजोऽञ्जसा शासता रजः ॥ ४॥

१. हे **दस्त्रा**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आपकी महिमा **अचेति**=हमारे द्वारा जानी जाती है। आप **उ**=निश्चय से **नाकम्**=सुखमय लोक को **ऋण्वथः**=विशेषरूप से जाते हो। आपकी साधना से मनुष्य सब दोषों को दूर करके शरीर को नीरोग, मन को निर्मल और बुद्धि को तीव्र बना पाता है। इस प्रकार शरीर, मन व बुद्धि तीनों क्षेत्रों में उन्नति करके यह साधक अपने जीवन को स्वर्गोपम बना लेता है। २. इस दृष्टिकोण से **रथयुजः**=शरीररूप रथ में इन्द्रियाश्वों को जोतनेवाले **अध्वस्मानः**=अपनी शक्तियों का ध्वंस न होने देनेवाले लोग **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) स्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त अथवा ज्ञानयज्ञों के निमित्त **वाम्**=आपको **दिविष्टिषु**-सुखप्राप्ति के लिए **युञ्जते**=इस शरीररथ में जोतते हैं। आपके द्वारा ही वे इस शरीररथ से स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे। आपके द्वारा ही ज्ञानयज्ञ का भी विस्तार होगा। प्राणापान की साधना ही बुद्धि को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर हमारे ज्ञान को बढ़ाती है। ३. हे **दस्त्रा**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **वन्धुरे**=इस सुबद्ध व सुन्दर (beautiful), सब श्रियों से युक्त **हिरण्यये रथे**=ज्योतिर्मय रथ में **अधि स्थाम**=हम अधिष्ठित हों। आप **पथा इव यन्तौ**=मार्ग से जाते हुओं के समान **रजः**-उस रञ्जनात्मक स्वर्गलोक को **अनुशासता**=अनुकूलता से शासन करनेवाले होते हो। जब प्राणापान की गति ठीक होती है तब यह शरीर ही स्वर्गलोक बन जाता है। आप **अञ्जसा**=सचमुच (truly) **रजः शासता**=रञ्जनात्मक स्वर्गलोग का शासन करते हो। प्राण-साधना इस शरीर को निर्दोष व शक्तिसम्पन्न बनाकर सचमुच स्वर्ग ही बना देती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम शरीर को सर्वथा निर्दोष बनाकर स्वर्गोपम स्थिति को प्राप्त करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः।

कर्म व प्रज्ञा देनेवाले प्राणापान

शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दशस्यतम्।
मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्रातिः कदा चन॥ ५॥

१. 'शची' शब्द नि० २।१ में कर्म का नाम है और नि० ३।९ में प्रज्ञा का वाचक है। प्राणापान शक्तिवर्धन के द्वारा हमें कर्म करने का सामर्थ्य देते हैं और ज्ञान को दीप्त करके उन कर्मों को पवित्र रखते हैं। **शचीवसू**=हे कर्मशक्ति व ज्ञानरूप धनोंवाले प्राणापानो! आप **शचीभिः**=कर्मों व ज्ञानों के द्वारा **नः**=हमें **दिवा नक्तम्**=दिन-रात (सदा) **दशस्यतम्**=धनों को देनेवाले होओ। हम प्राण-साधना करें, उससे हमारी शक्ति व ज्ञान में वृद्धि हो। २. **वाम्**=हे प्राणापानो! आपकी यह **रातिः**=देन **मा कदाचन उपदसत्**=कभी क्षीण न हो। आप हमें सदा धन देनेवाले होओ। **अस्मत् रातिः**=हमारे विषय में आपका दान **कदाचन**=कभी भी मा उपदसत्=क्षीण न हो।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए सदा कर्म-सामर्थ्य व ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोमपान और प्रभु-प्राप्ति

वृषन्निन्द्र वृषपाणास इन्दव इमे सुता अद्रिषुतास उद्भिदस्तुभ्यं सुतास उद्भिदः।
ते त्वा मन्दन्तु दावने महे चित्राय राधसे।
गीर्भिर्गिर्वाहः स्तवमान आ गहि सुमृळीको न आ गहि ॥६॥

१. हे **वृषन्**-शक्तिशाली **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **वृषपाणासः**=शक्तिशाली पुरुष से पीने के योग्य **अद्रिषुतासः**-(अदृ-आदृ) वासनाओं से विदीर्ण न होनेवाले अथवा प्रभु का आदर व पूजन करनेवाले से उत्पन्न किये जानेवाले **इन्दवः**=सोमकण **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। ये **उद्भिदः**=सब रोगों का भेदन करनेवाले हैं, **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **तुभ्यम्**=तेरे लिए निश्चय से **सुतासः**=उत्पन्न हुए सोमकण **उद्भिदः**=रोगादि का विदारण करके उन्नति के साधक हैं। २. **ते**=वे सोमकण **त्वा**=तुझे **मन्दन्तु**=आनन्दित करें। ये तेरे जीवन में उल्लास का कारण बनें। ये **दावने**-अभिमत वस्तुओं को देनेवाले हों, **महे**=(मह पूजायाम्) पूजा की प्रवृत्ति के लिए हों, **चित्राय**=(चित् र) ज्ञान देनेवाले हों, **राधसे**=कार्यों में सफलता प्राप्त करानेवाले हों। ३. हे **गिर्वाहः**-ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले जीव! **गीर्भिः स्तवमानः**=इन स्तुति-वाणियों से स्तुति करता हुआ तू **आगहि**=हमारे समीप आ। सब लोगों के लिए **सुमृळीकः**=उत्तम सुख देनेवाला होकर **आगहि**=हमारे समीप आ जा। प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग यही है कि (क) हम सोम का रक्षण करें, (ख) सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करें, (ग) दीप्तज्ञानाग्नि से ज्ञान की वाणियों को धारण करते हुए—उन्हीं के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हुए लोकहित में प्रवृत्त हों। यह 'सुमृळीक' पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से दीप्त ज्ञानवाले होकर हम प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वेदज्ञान का अधिकारी

ओ षू णो अग्ने शृणुहि त्वमीळितो देवेभ्यो ब्रवसि यज्ञियेभ्यो राजभ्यो यज्ञियेभ्यः।
यद्ध त्यामङ्गिरोभ्यो धेनुं देवा अदत्तन।
वि तां दुह्रे अर्यमा कर्तरी सचाँ एष तां वेद मे सचा ॥७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**-आप **ईळितः**-स्तुत हुए-हुए **नः**=हमारे प्रार्थना-वचनों को **उ**=निश्चय से **आ सु शृणुहि**=सर्वथा, सम्यक् सुनो। हम आपका स्तवन व आराधन करें, हमारे

ये स्तुतिवचन आपसे सुने जाएँ। ईळित व उपासित हुए-हुए आप **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञियेभ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **ब्रवसि**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश करते हैं उन **यज्ञियेभ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिए जो **राजभ्यः**=जितेन्द्रियता के द्वारा दीप्त जीवनवाले बनते हैं, आप इन ज्ञान की वाणियों को देते हैं। २. **यत् ह**=निश्चय से **देवाः**=ज्ञानी लोग **अङ्गिरोभ्यः**-(अगि गतौ) क्रियाशील, आलस्यशून्य पुरुषों के लिए **त्यां धेनुम्**=प्रभु से दी गई, ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणीरूप गौ को **अदत्तन**=देते हैं, **ताम्**=उस गौ को **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोधादि का नियन्ता पुरुष **कर्तरि सचा**=सृष्टिकर्ता प्रभु के साथ रहनेवाला पुरुष, अर्थात् उपासना की वृत्तिवाला पुरुष **विदुह्रे**=अपने में विशेषरूप से प्रपूरित करता है, विशेषरूप से दोहन करता है। प्रभु कहते हैं कि **एषः**=यह **मे सचा**=मेरे साथ निवासवाला—उपासक पुरुष **तां वेद**=उस वेदवाणी को जानता है। ३. यह वेदवाणीरूप गौ सृष्टि के आरम्भ में प्रभु से अग्नि आदि देवों को दी गई। ये देव उसे क्रियाशील पुरुषों को प्राप्त कराते हैं। इस वाणी को पूर्णरूप से वही जान पाता है जो जितेन्द्रिय बनता है (अर्यमा), काम-क्रोधादि को वश में करता है और उस उत्पादक प्रभु का उपासक बनता है (कर्तरि सचा)। ज्ञान देनेवाले आचार्य का मुख्य गुण 'देव' शब्द से व्यक्त हो रहा है कि वह ज्ञान को देने के स्वभाववाला हो (दानात्), स्वयं ज्ञानदीप्त हो (दीपनात्) औरों को ज्ञानदीप्त करने का प्रयत्न करे (द्योतनात्)। विद्यार्थी को आलस्यशून्य होना चाहिए (आङ्गिरोभ्यः), काम-क्रोधादि को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए (अर्यमा) तथा सृष्टिकर्ता प्रभु का उपासक होना चाहिए (कर्तरि सचा)।

भावार्थ—प्रभु देववृत्तिवाले, यज्ञशील, आत्मशासन करनेवाले (राजभ्यः) पुरुषों के लिए वेदज्ञान देते हैं। इस ज्ञान को आलस्यशून्य, कामादि का विजेता, प्रभु का उपासक पुरुष प्राप्त करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—स्वराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

अमर्त्यता

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत्पुरोत जारिषुः।
यद् वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् ।
अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥८॥

१. हे **मरुतः**-प्राणो! **वः**-आपके—आपकी साधना से उत्पन्न होनेवाले **तानि**=वे प्रसिद्ध **सना**=सम्भजनीय—सेवनीय **पौंस्या**=बल **अस्मत्**=हमसे **उ**=निश्चयपूर्वक **मा सु अभिभूवन्**=मत ही अलग हों (अपगतानि माभूवन्—सा०)। **उत**=और **द्युम्नानि**=ज्ञान की ज्योतियाँ **मा जारिषुः**=क्षीण न हों, **उत**=और **अस्मत् पुरा**=हमारी ये शरीररूप नगरियाँ **मा जारिषुः**=जीर्ण न हो जाएँ। प्राणसाधना से (क) शक्ति प्राप्त होती है, (ख) ज्ञानज्योति बढ़ती है, (ग) शरीर स्वस्थ होता है। २. हे मरुतो! **यत्**=जो **वः**=आपका **चित्रम्**=अद्भुत **युगेयुगे**=जीवन के प्रत्येक काल में—बाल, यौवन व वार्धक्य में **नव्यम्**=स्तुति के योग्य धन है, जो धन **अमर्त्यं घोषात्**=मनुष्य की अमर्त्यता की घोषणा करता है, **तत्**=उस धन को **अस्मासु**=हममें **दिधृता**=धारण कीजिए। उस धन को धारण कीजिए **यत् च**=जो कि **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं है, सचमुच **यत् च दुष्टरम्**=जो अत्यन्त कठिनता से तैरने योग्य है। मरुतों का यह धन सोम (वीर्य) है। प्राणसाधना से यह शरीर में सुरक्षित होता है। यह सोमरूप धन अद्भुत तो है ही (चित्रम्), यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्तुत्य परिणामों को पैदा करनेवाला है (नव्यम्), यह मर्त्य मनुष्य को रोगों का शिकार न होने देकर अमर्त्य बना देता है, पूर्णायुष्य को प्राप्त करनेवाला बनाता है।

जब यह शरीर में सुरक्षित होता है तब रोग-कृमिरूप शत्रु इस पर आक्रमण नहीं कर पाते—उनसे यह 'दुष्टर' होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें शक्ति प्राप्त होती है, हमारी ज्ञानज्योति बढ़ती है, शरीर क्षीण नहीं होते। इस साधना से सोमरक्षण के द्वारा अद्भुत, स्तुत्य, पूर्ण जीवन को देनेवाला दुष्टर बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—भुरिगत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सप्तर्षि (सात द्रष्टा)

दध्यङ्ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः।
तेषां देवेष्वायतिरस्माकं तेषु नाभयः।
तेषां पदेन मह्या नमे गिरेन्द्राग्नी आ नमे गिरा ॥ ९ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **मे जनुषम्**=मेरे प्रादुर्भाव को **ह**=निश्चय से **विदुः**=जानते हैं—प्राप्त करते हैं, अर्थात् दर्शन कर पाते हैं। कौन? (क) **दध्यङ्**=ध्यानशील, (ख) **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला, (ग) **अङ्गिरा**=अङ्गारों के समान तेजस्वी, गतिशील, (घ) **प्रियमेधः**=जिसे बुद्धि प्रिय है, (ङ) **कण्वः**=जो कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करता है, (च) **अत्रिः**=काम, क्रोध व लोभ—ये तीन जिसमें अविद्यमान हैं और (छ) **मनुः**-जो विचारशील है। **ते**=वे **पूर्वे**=सृष्टि के आरम्भ में होनेवाले (पूर्वे चत्वारः) 'अग्निः, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' तथा **मनुः**=विचारशील पुरुष **मे विदुः**=मेरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. **तेषाम्**= उन दध्यङ् आदि का **देवेषु**=देवों में—दिव्यगुणों में **आयतिः**=दीर्घकाल तक सम्बन्ध होता है। ये दीर्घकाल तक दिव्यगुणों को अपनाने के यत्न में लगे रहते हैं और उन दिव्यगुणों में निवास करते हुए ये प्रभु के प्रकाश को पाने के पात्र बनते हैं। **अस्माकम्**-हमारा भी **तेषु**=उनमें—उन देवों में **नाभयः**-सम्बन्ध वा बन्धन हो, ताकि हम भी प्रभु के प्रकाश को पानेवाले बनें। ३. **तेषां पदेन**=उन दध्यङ् आदि के मार्ग से **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **महि**=(महत्) खूब ही **आनमे**=नमन व स्तवन करता हूँ। **गिरा**-वाणी के द्वारा **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि दोनों का **आनमे**=नमन करता हूँ। 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। मैं शक्ति और प्रकाश दोनों के लिए नमनवाला होता हूँ। इन दोनों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। 'इन्द्र' ही क्षत्र है, 'अग्नि' ब्रह्म। मैं ब्रह्म व क्षत्र—दोनों की श्री को पुष्ट करता हूँ। यही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—'दध्यङ्, पूर्व, अङ्गिरा, प्रियमेध, कण्व, अत्रि व मनु' ही प्रभु का दर्शन करते हैं। मैं भी उनकी भाँति अपने में ब्रह्म व क्षत्र का विकास करता हुआ प्रभुदर्शन के योग्य बनता हूँ।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उन्नति-पथ

होता यक्षद् वनिनो वन्त वार्यं बृहस्पतिर्यजति वेन उक्षभिः पुरुवारेभिरुक्षभिः।
जगृभ्मा दूरआदिशं श्लोकमद्रेरध त्मना।
अधारयदरिन्दानि सुक्रतुः पुरू सद्मानि सुक्रतुः ॥ १० ॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि हमारा भी देवों के साथ सम्बन्ध हो। वह सम्बन्ध कैसे हो? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—(क) **होता यक्षत्**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला बनकर

यज्ञशील होता है, (ख) **वनिनः**=सम्भजन एवं उपासन करनेवाले बनकर ये **वार्यं वन्त**=वरणीय वस्तुओं का सेवन करते हैं, (ग) **बृहस्पतिः**=ऊँचे से ऊँचे ज्ञान का पति बनकर **यजति**=यह ज्ञान का दान करता है, (घ) **वेनः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावाला होता हुआ **उक्षभिः**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले रेत:कणों से (यजति) अपना संगतिकरण करता है। **पुरुवारेभिः उक्षभिः**=खूब वरणीय इन रेत:कणों से अपने को संगत करता है। २. **अध**=अब **त्मना**=स्वयं **अद्रेः**=उपासक के दूरे **आदिशम्**=(दूरदेश आदेशः 'श्रवणं' यस्य—सा०) दूर-दूर तक सुन पड़नेवाले **श्लोकम्**=स्तोत्र को **जगृभ्म**=हम ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रभु के उपासक बनकर उच्च स्वर से प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। ३. इस प्रकार प्रभुस्तवन को अपनाने से **सुक्रतुः**=यह शोभन कर्मोंवाला पुरुष **अररिन्दानि**=जलों, अर्थात् रेत:कणों को **अधारयत्**=अपने में धारण करता है। इन रेत:कणों के धारण से यह **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा पुरुष **सद्मानि**=इन शरीरगृहों को **पुरु**=खूब ही धारण करता है।

भावार्थ—उन्नत जीवन यही है कि हम (क) होता बनें, (ख) वरणीय वस्तुओं का वरण करें (ग) उच्च ज्ञान को प्राप्त करें, (घ) रेत:कणों का रक्षण करें, (ङ) प्रभु की उपासना द्वारा इन रेत:कणों को शरीर में ही सुरक्षित करें, (च) इनके रक्षण द्वारा शरीरों का ठीक से रक्षण करनेवाले बनें। शरीरों में रोग न हो, मन में राग न हो।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

तेतीस देवता

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒ स्थ पृ॑थि॒व्यामध्येका॑दश॒ स्थ।
अ॒प्सुक्षितो॑ महि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम्॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बिताने पर हम सब देवों के अधिष्ठान होते हैं, अतः कहते हैं—**ये**=जो **देवासः**=देव **दिवि**=द्युलोक में **एकादश**=ग्यारह **स्थ**=हो, **पृथिव्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **एकादश स्थ**=ग्यारह हो और **महिना**=अपनी महिमा से **अप्सुक्षितः**=अन्तरिक्षलोक में रहनेवाले **एकादश स्थ**=ग्यारह हो **ते**=वे हे **देवासः**=तेतीस देवो! आप **इमं यज्ञं जुषध्वम्**=मेरे जीवन-यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करो। 'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठइवासते' सारे देव इस शरीर में इस प्रकार निवास करते हैं, जैसे कि गौएँ गोशाला में। इन सब देवताओं की अनुकूलता होने पर ही शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य पर निर्भर है। शरीर में यह स्थूल शरीर ही पृथिवीलोक है, इसका मुख्य देवता 'अग्नि' है। शरीर में इस अग्नि के ठीक होने पर शरीर स्वस्थ कहलाता है। इसके न रहने पर यह शरीर ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् मृत्यु हो जाती है। शरीर में हृदय अन्तरिक्ष लोक है। इसका मुख्य देवता 'वायु' है। हृदय में सदा वायु व गति की भावना का रहना आवश्यक है। द्युलोक यहाँ मस्तिष्क है, इसमें ज्ञानसूर्य का उदय होना आवश्यक है।

भावार्थ—हमारा शरीर सब देवों का निवास-स्थान हो। मुख्यरूप से शरीर तेजस्विता की अग्निवाला हो, हृदय वायु की भाँति सतत क्रिया की भावनावाला हो, मस्तिष्क ज्ञानसूर्यवाला हो।

विशेष—इस सूक्त के प्रारम्भ में अलौकिक बल की प्रार्थना है (१)। समाप्ति पर शरीर को सब देवों का अधिष्ठान बनाने की बात कही है (११)। इन देवों का अधिष्ठान बनने से यहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। तम का विदारण हो जाने से अब ऋषि का नाम 'दीर्घतमा' (भगा दिया है अन्धकार को जिसने) हो जाता है। यह दीर्घतमा औचथ्य है—उचथ्य का सन्तान—प्रभु स्तोत्रों का खूब ही उच्चारण करनेवाला यह प्रार्थना करता है कि—

एकविंशोऽनुवाकः

[१४०] चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

कैसा भोजन व वस्त्र ?

वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते धासिमिव प्र भरा योनिमग्नये।
वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिं ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम्॥ १॥

१. **वेदिषदे**=यज्ञवेदी पर बैठनेवाले के लिए, अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए **प्रियधामाय**=जिसे तेजस्विता प्रिय है उस पुरुष के लिए (धाम-तेज), **सुद्युते**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाले के लिए और **अग्नये**=प्रगतिशील मनुष्य के लिए **योनिम्**-उस मूल उत्पत्तिस्थान प्रभु को **धासिम् इव**=शरीर के धारक भोजन की भाँति **प्रभर**=प्रकर्षेण प्राप्त कराइए। 'प्रभु का उपासन' ही उसका आध्यात्मिक भोजन बन जाए। जिस प्रकार भोजन से शरीर का पोषण होता है, उसी प्रकार प्रभु के उपासन से इसकी आत्मा को बल मिलता है। २. इस **शुचिम्**=पवित्र मार्ग से धन कमानेवाले, **ज्योतिरथम्**=ज्योतिर्मय शरीररूप रथवाले **शुक्रवर्णम्**-स्वास्थ्य के कारण दीप्त वर्णवाले, **तमोहनम्** तमोगुण को नष्ट करनेवाले इस व्यक्ति को **मन्मना**-ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तोत्रों से इस प्रकार **वासया**=आच्छादित कीजिए **इव**=जैसे **वस्त्रेण**-वस्त्र से आच्छादित करते हैं। ये मन्मना=ज्ञानपूर्वक उच्चारण किये गये स्तोत्र इसे राग-द्वेष की आँधियों से इस प्रकार सुरक्षित करें जैसे कि वस्त्र हमें सर्दी-गर्मी से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन ही हमारा अध्यात्म-भोजन है, ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तोत्र ही हमारे वस्त्र हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराड्जगती । स्वरः—निषादः ।

एक वर्ष के लिए

अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः।
अन्यस्यासा जिह्वया जेन्यो वृषा न्य१न्येन वनिनो मृष्ट वारणः॥ २॥

१. **द्विजन्मा**=ज्ञान व श्रद्धा दोनों को अपने में प्रादुर्भूत करनेवाला (जनी प्रादुर्भावे) **त्रिवृत्**-धर्म, अर्थ व काम—तीनों में समरूप से वर्तनेवाला **अन्नम्**=अन्न को **अभि ऋज्यते**=उपार्जित करता है (ऋज-अर्जने)। जहाँ यह ज्ञान व श्रद्धा का विकास करता है, जहाँ धर्म, अर्थ व काम का समरूप से सेवन करता है, वहाँ यह शरीर-रक्षण के लिए अन्न का भी उपार्जन करता है। २. **संवत्सरे**=वर्ष-भर में **जग्धम्**=खा लिये गये इस अन्न को **ईम्**=निश्चय से **पुनः**=फिर **वावृधे**=बढ़ाता है, अर्थात् एक वर्ष से अधिक के लिए अन्न का संग्रह नहीं करता। यदि यह आदर्श, समाज के सब सभ्यों से स्वीकृत कर लिया जाए तो समाज में कोई अतिभुक्त (overfed) व अल्पभुक्त (underfed) न रहे—सभी समानरूप से भोजन प्राप्त कर सकें और परिणामतः समाज एक आदर्श समाज बन जाए। ३. इस संवत्सर-भर के अन्न को जुटाने के साथ वह **अन्यस्य आसा**=दूसरे के मुख से तथा **जिह्वया**=दूसरे की जिह्वा से खाता है। देवता एक-दूसरे को खिलाते हैं। इस प्रकार वे एक-दूसरे को खिलाते हुए परस्पर-भावन से पुष्ट हो पाते हैं। ये स्वाद के लिए नहीं खाते। स्वाद को जीत लेनेवाले ये **जेन्यः**=विजेता होते हैं, **वृषा**-शक्तिशाली होते हैं। यह **वारणः**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाला **अन्येन**=दूसरे मुख से **वनिनः**=वनोत्पन्न इन वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करता हुआ **निमृष्ट**=अपने जीवन को पूर्ण शुद्ध बना लेता है।

भावार्थ—वर्ष से अधिक के लिए अन्न का संग्रह उचित नहीं। औरों को खिलाकर खाना उचित है। वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन जीवन-शुद्धता के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ज्ञान और वैराग्य का समन्वय

कृष्णप्रुतौ वेविजे अस्य सक्षिता उभा तरेते अभि मातरा शिशुम्।
प्राचाजिह्वं ध्वसयन्तं तृषुच्युतमा साच्यं कुपयं वर्धनं पितुः॥ ३॥

१. **अस्य**=इसके **सक्षिता उभा**=साथ-साथ निवास करनेवाले ज्ञान व श्रद्धा के भाव **कृष्णप्रुतौ**=कृष्=(to become master of, प्र=गतौ) संयत गतिवाले होकर **वेविजे**=वासनाओं के लिए भयंकर होते हुए गतिशील होते हैं। जब ज्ञान और श्रद्धा हमारे पूर्णरूप से वशीभूत होते हैं तब हमारे जीवन में वासनाओं के लिए स्थान नहीं रहता। अवशीभूत ज्ञान विरोधी युक्तियाँ करने लगता है। अवशीभूत श्रद्धा अन्धश्रद्धा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। २. वशीभूत ज्ञान व श्रद्धा **उभा**=दोनों मिलकर **मातरा**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले होते हैं और **शिशुं अभि तरेते**=छोटे बालक को शारीरिक व मानसिक दोनों दृष्टिकोणों से तारनेवाले होते हैं। ज्ञान और श्रद्धा के कारण इसका शरीर नीरोग रहता है और मन पवित्र बना रहता है। ३. ज्ञान और श्रद्धा के समन्वय से इसका जीवन इस प्रकार का बनता है—(क) **प्राचाजिह्वम्**=(प्र+अञ्च) जिसकी जिह्वा सदा औरों को आगे बढ़ानेवाले शब्दों का ही प्रयोग करती है, (ख) **ध्वसयन्तम्**=जो अन्धकार का विनाश करता है, ज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार को यह दूर करनेवाला होता है, (ग) **तृषुच्युतम्**=शीघ्रता से वासनाओं का विनाश करता है, (घ) **आसाच्यम्**=वासनाविनाश के द्वारा प्रभु से मेल करनेवाला होता है, (ङ) **कुपयम्**=(गोप्यम्) इन्द्रियों, मन और बुद्धि का रक्षण करता है, (च) **पितुः वर्धनम्**=उस पिता प्रभु का स्तोत्रों के द्वारा वर्धन करनेवाला है, सदा प्रभुस्तवन करता है।

भावार्थ—श्रद्धा व ज्ञान के समन्वय से हम ऐहिक व पारलौकिक उन्नति को सिद्ध कर पाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का पथिक

मुमुक्ष्वो३ मनवे मानवस्यते रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः।
असमना अजिरासो रघुष्यदो वातजूता उप युज्यन्त आशवः॥ ४॥

१. **मनवे**=ज्ञान के पुञ्ज (मन=अवबोधने) **मानवस्यते**=मानवमात्र के हितकारी प्रभु के लिए जो भी **उपयुज्यन्ते**=उपासना आदि द्वारा युक्त होते हैं, वे ही **मुमुक्ष्वः**=वस्तुतः मोक्ष की कामनावाले हैं, **रघुद्रुवः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाले होते हैं, **कृष्णसीतासः**=(कृष्=to become master of, सीता=लाङ्गलपद्धति) हल-रेखा के पति बनते हैं, अर्थात् श्रमशील होते हैं **उ**=और **जुवः**=सदा कर्मों में प्रेरित होनेवाले हैं। २. ये प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले पुरुष **असमनाः**=असाधारण मनवाले, उन्नत ज्ञानवाले तथा **अजिरासः**=गति के द्वारा सब मलिनताओं को अपने से दूर करनेवाले होते हैं, **रघुष्यदः**=तीव्र वेगवाले, **वातजूताः**=वायु से सहज कर्म की प्रेरणा लेनेवाले तथा **आशवः**=शीघ्रता से स्वकर्तव्यों में व्याप्त होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक क्रियाशील, ज्ञानी व वासनाओं को अपने से दूर करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

सच्चा कर्मयोगी

आदस्य ते ध्वसयन्तो वृथेरते कृष्णमभ्वं महि वर्पः करिक्रतः।
यत्सीं महीमवनिं प्राभि मर्मृशदभिश्वसन्त्स्तनयन्नेति नानदत्॥ ५॥

१. **आत्**-अब **अस्य** इस परमात्मा के **ते**=वे उपासक **ध्वसयन्तः**=सब वासनाओं का ध्वंस करते हुए **वृथा**=कर्मफल का आश्रय न करके, केवल कर्तव्य-भावना से ही **ईरते**=गति करते हैं। इनके सभी कर्म किसी भी प्रकार के स्वार्थ को लिये हुए नहीं होते। ये उपासक **अभ्वम्**=महान् **कृष्णम्**=संयम को तथा **महि वर्पः**=प्रशंसनीय तेजस्वी रूप को **करिक्रतः**= (कुर्वन्तः—सा०) करते हुए होते हैं। इन उपासकों का जीवन महान् संयमवाला होता है, परिणामतः तेजस्विता को लिये हुए होता है। २. **यत्**-जब **सीम्**=निश्चय से यह उपासक **महीम्**-इस महान् **अवनिम्**=पृथिवी के **प्र अभि मर्मृशत्**=(अभिमृश्-to come in contact with) प्रकर्षेण सम्पर्क में आता है, अर्थात् इस पृथिवी को ही परिवार बना लेता है—'वसुधैव कुटुम्बकम्', तब यह **अभिश्वसन्**=इहलोक और परलोक दोनों के लिए जीता हुआ—केवल ऐहिक आनन्द को ही अपना ध्येय न बनाकर चलता हुआ **स्तनयन् एति**=चारों ओर ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करता हुआ चलता है। यह **नानदत्**-खूब ही स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ एति=गतिमय जीवनवाला होता है। प्रभु-उपासक सारी पृथिवी के हित के कार्यों में प्रवृत्त होता है, निजू जीवन का सुख उसका ध्येय नहीं होता। यह ज्ञान का प्रसार करता है, स्तोत्रों का उच्चारण करता है। वस्तुतः ये स्तोत्र ही इसे शक्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक सच्चे कर्मयोगी होते हैं। ये सारी पृथिवी को ही अपना परिवार समझते हैं, ज्ञान का प्रसार करते हैं, स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नम्र व ओजस्वी

भूषन् न योऽधि बभ्रूषु नम्नते वृषेव पत्नीरभ्येति रोरुवत्।
ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः॥ ६॥

१. **भूषन् न**-अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता हुआ-सा **यः**=जो **बभ्रूषु**=भरणात्मक क्रियाओं में **अधि नम्नते**-आधिक्येन नत होता है। यह उपासक लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। उन कार्यों में लगा हुआ यह सदा विनीत बना रहता है। इस क्रियाशीलता व विनीतता के कारण ही वह अपने जीवन को सद्गुणों से मण्डित कर पाता है। २. इन धारणात्मक कर्मों के उद्देश्य से ही यह **वृषा इव**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति होता हुआ **पत्नीः**=पालनीय प्रजाओं के **अभि रोरुवत् एति**=प्रति ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करता हुआ आता है। प्रजाएँ राष्ट्रपति की पत्नियाँ ही कहलाती हैं। इनमें ज्ञान का प्रचार करता हुआ यह गतिमय जीवनवाला होता है। इस कार्य में यह तो आवश्यक है ही कि उसका शरीर शक्तिशाली हो। ३. **च**=और **ओजायमानः**-ओजस्वी पुरुष की भाँति आचरण करता हुआ यह **तन्वः च**=अपने शरीर को **शुम्भते** शोभित करता है तथा शक्ति के कारण **दुर्गृभिः**=शत्रुओं से वशीभूत करने योग्य न होता हुआ **भीमः न**-शत्रुओं के लिए भयंकर वीर के समान **शृङ्गा**-(शृङ्ग=A fountain of water) ज्ञान के स्रोतों को **दविधाव**=चालित करता है। इन ज्ञान-स्रोतों के प्रवाह से यह प्रजाओं के जीवन को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार लोकहित में प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति के

लिए ओजस्वी होना नितान्त आवश्यक होता है।

भावार्थ—उपासक नम्रतापूर्वक पर ओजस्वी होते हुए ज्ञान-प्रसार आदि धारणात्मक कार्यों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड् जगती। **स्वरः**—निषादः।

लोकसंग्रह के लिए कर्म करनेवाला

स संस्तिरो विष्टिरः सं गृभायति जानन्नेव जानतीर्नित्य आ शये।
पुनर्वर्धन्ते अपि यन्ति देव्यमन्यद् वर्पः पित्रोः कृण्वते सचा॥ ७॥

१. गतमन्त्र का **सः**=वह 'दुर्गृभि' पुरुष **संस्तिरः**=ज्ञान से अपने को सम्यक् आच्छादित करनेवाला होता है। ज्ञानरूप आच्छादनवाला यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। यह **विष्टिरः**=इस ज्ञान से विविध दिशाओं को आच्छादित करता है, चारों ओर ज्ञान को फैलानेवाला होता है, **संगृभायति**=ज्ञान के प्रसार से यह लोकसंग्रह करनेवाला होता है। ज्ञान के द्वारा लोकों (लोगों) को अशुभ में फँसने से बचाता है। २. **जानन् एव**=ज्ञान को प्राप्त करता हुआ यह **जानतीः**=ज्ञान प्राप्त करनेवाली प्रजाओं में **नित्यः आशये**=अविच्छिन्नरूप से निवास करता है। स्वयं सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है, औरों को ज्ञान देता है, ज्ञान की रुचिवाली प्रजाओं में ही यह निवास करता है। ३. इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके ये प्रजाएँ **पुनः वर्धन्ते**=फिर से वृद्धि को प्राप्त करती हैं। **देव्यम्**=देव की प्राप्ति के मार्ग की ओर **अपियन्ति**=ये प्रजाएँ चलती हैं। इस प्रकार उस प्रभु से **सचा**=मिलकर ये प्रजाएँ **अन्यत् वर्पः**=विलक्षण ही रूप को **कृण्वते**=धारण करनेवाली होती हैं, अत्यन्त तेजस्वी रूप को प्राप्त होती हैं। ४. ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह के दृष्टिकोण से कर्म करने ही चाहिएँ। उसका सर्वोत्तम कर्म यही है कि स्वयं अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ औरों के लिए इस ज्ञान को दे देता है, जिससे वे प्रजाएँ बढ़ती हुई प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हों।

भावार्थ—लोकसंग्रही पुरुष ज्ञानी बनकर ज्ञान का प्रसार करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

मृत्यु से जीवन की ओर

तमग्रुवः केशिनीः सं हि रेभिर ऊर्ध्वास्तस्थुर्मम्रुषीः प्रायवे पुनः।
तासां जरां प्रमुञ्चन्नेति नानदुदसुं परं जनयञ्जीवमस्तृतम्॥ ८॥

१. **तम्**=उस ज्ञान का प्रसार करनेवाले पुरुष को **अग्रुवः**=जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाली **केशिनीः**=(केश=a ray of light) प्रकाश की रश्मियोंवाली प्रजाएँ **हि**=निश्चय से **सं रेभिरे**=आलिंगन करती हैं, अर्थात् उसके घनिष्ठ सम्पर्क में आती हैं। उससे और अधिक ज्ञान प्राप्त करके **ऊर्ध्वाः तस्थुः**=ऊपर उठ खड़ी होती हैं। **मम्रुषीः**=आज तक जो मरणासन्न-सी थीं वे **पुनः**=फिर **प्रायवे**=प्रकृष्ट जीवन के लिए होती हैं। २. यह ज्ञानी **तासाम्**=उन प्रजाओं की **जराम्**=जीर्णता को **प्रमुञ्चन्**=छुड़ाता हुआ **एति**=गति करता है। उनको इस प्रकार उपदेश करता है कि वे विषयासक्ति के मार्ग को छोड़कर जितेन्द्रियता के मार्ग को अपनाती हैं। यह मार्ग उनकी शक्तियों को जीर्ण नहीं होने देता। ३. इस कार्य को करता हुआ यह **नानदत्**=खूब ही प्रभु स्तवन करनेवाला होता है, **परम् असुं जनयन्**=यह प्रकृष्ट प्राणशक्ति को उत्पन्न करता है और **जीवम्**=जीवन को **अस्तृतम्**-अहिंसित करता है। अज्ञान ही मृत्यु व अवनति का मार्ग

है। इस अज्ञान को दूर करके यह प्रकृष्ट जीवन को—जीर्णताशून्य जीवन को—अहिंसित जीवन को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—प्रजाएँ जितना इस ज्ञानी के सम्पर्क में आती हैं, यह उतना ही उन्हें प्रकृष्ट—अक्षीण व अहिंसित जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

माता के वस्त्राञ्चल में

अधीवासं परि मातू रिहन्नह तुविग्रेभिः सत्वभिर्याति वि ज्रयः।
वयो दधत् पद्वते रेरिहत् सदानु श्येनी सचते वर्तनीरह॥ ९॥

१. गतमन्त्र का ज्ञानी पुरुष **मातुः**=इस वेदमाता के **अधीवासम्**=आच्छादन का **परिरिहन्**=सब प्रकार से आनन्द लेता हुआ **अह**=निश्चय से **विज्रयः**=विशिष्ट वेगवाला, गतिशील व क्रियामय जीवनवाला होता हुआ **तुविग्रेभिः**=खूब गतिवाले **सत्वभिः**=प्राणियों व व्यक्तियों के साथ **याति**=गतिवाला होता है। जैसे बालक माता के वस्त्रप्रान्त से आच्छादित होकर अपने को सुरक्षित अनुभव करता है, उसी प्रकार यह ज्ञानी वेदमाता को अपना आच्छादन बनाकर रोगों व रागों (वासनाओं) के आक्रमण से अपने को सुरक्षित कर पाता है। वेदज्ञान को प्राप्त करके यह अत्यन्त क्रियाशील होता है, अपने श्रोताओं में भी यह क्रियाशीलता की भावना भरनेवाला होता है। २. **वयः दधत्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करता हुआ **पद्वते**=क्रियाशील बनने के लिए **रेरिहत्**=ज्ञान की वाणियों का स्वाद लेता हुआ **सदा**=सदा **श्येनी**=(श्येनं=whiteness) शुद्ध चरित्रवाला, अकलङ्क आचरणवाला **अह**=निश्चय से **अनु**=अनुक्रमेण **वर्तनी**=मार्गों का **सचते**=सेवन करता है। वेदज्ञान के अनुसार इसकी क्रियाएँ होती हैं, इससे इसकी क्रियाएँ पवित्र होती हैं। यह सदा सन्मार्ग पर चलता है, कभी उससे विचलित नहीं होता। इस मार्ग पर तीव्रता से आगे बढ़ने से ही इसके जीवन की पवित्रता बनी रहती है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष वेदमाता के वस्त्राञ्चल को अपना आच्छादन बनाता है। ज्ञान के द्वारा पवित्र क्रियाओंवाला होता हुआ यह उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'श्वसीवान्, वृषभो दमूना'

अस्माकमग्ने मघवत्सु दीदिह्यध श्वसीवान् वृषभो दमूनाः।
अवास्या शिशुमतीरदीदेर्वर्मेव युत्सु परिजर्भुराणः ॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अस्माकम्**=हममें से **मघवत्सु**=(मघ=ऐश्वर्य, यज्ञ) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले व्यक्तियों में आप **दीदिहि**=चमको, दीप्त होओ। जब आप किसी व्यक्ति के हृदय में दीप्त होते हैं, तब वह **श्वसीवान्**=प्रशस्त जीवनवाला, **वृषभः**=शक्तिशाली व **दमूनाः**=दान्त मनवाला होता है। प्रभु के साथ होनेपर जीवन में किसी प्रकार की मलिनता का प्रश्न ही नहीं उठता। उस समय यह उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है, मन को भी वश में करनेवाला होता है। २. हे प्रभो! आप **अवास्य**=(अस् क्षेपणे) इनकी सब वासनाओं को सुदूर फेंककर **शिशुमतीः**=प्रशस्त सन्तानोंवाली इन प्रजाओं को **अदीदेः**=दीप्त जीवनवाला बनाइए। माता-पिता के जीवन-वासना-शून्य होंगे तो सन्तानों के जीवन भी वासनाशून्य बनेंगे। हे प्रभो! आप **युत्सु**=इन वासना संग्रामों में **वर्म इव**=इनके लिए कवच के समान होते

हैं। कवच से जैसे शस्त्रास्त्रों के आक्रमण से बचाव होता है, उसी प्रकार प्रभुरूप कवच को धारण करके ये वासनाओं के प्रहारों से सुरक्षित रहते हैं। **परिजर्भुराणः**=प्रभु इनके शत्रुओं को खूब ही परिहृत करते हैं, शत्रु इन तक पहुँच ही नहीं पाते।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों के हृदयों में प्रभु का प्रकाश होता है, इससे उनका जीवन उत्कृष्ट बनता है। प्रभु इनके लिए कवच होते हैं, इनकी वासनाओं को परे फेंककर वे इन्हें उत्तम सन्तानोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड् जगती। **स्वरः**—निषादः।

मन्मनः (Confidential whispering)

इदमग्ने सुधितं दुर्धितादधि प्रियादु चिन्मन्मनः प्रेयो अस्तु ते।
यत्ते शुक्रं तन्वो३ रोचते शुचि तेनास्मभ्यं वनसे रत्नमा त्वम्॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दुर्धितात्**=बड़ी कठिनता से अर्जन व धारण किये जानेवाले **अधिप्रियात् उ चित्**=अत्यधिक प्रिय धन से भी **इदम्**=यह **सुधितम्**=हृदय में उत्तमता से धारण की गई **ते**=आपकी **मन्मनः**=हृदयस्थरूपेण दी गई प्रेरणा **प्रेयः अस्तु**=मुझे अधिक प्रिय हो। मैं सांसारिक ऐश्वर्यों की अपेक्षा आपसे दी जानेवाली प्रेरणा को अधिक महत्त्व दूँ। २. हे प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **तन्वः**=शरीर का **शुक्रम्**=वीर्य—शरीर में उत्पन्न किया गया यह तेज **शुचि रोचते**=दीप्ति से चमकता है, **तेन**=उस शुक्र से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **त्वम्**=आप **रत्नम्**=रमणीयता को अथवा शरीरस्थ सप्त धातुरूप सात रत्नों को **आवनसे**=सब प्रकार से प्राप्त कराते हैं। वीर्यरक्षण से शरीर की सब धातुएँ ठीक रहती हैं और शरीर दीप्तिमय बना रहता है।

भावार्थ—हमें धन की अपेक्षा प्रभु की प्रेरणा अधिक प्रिय हो। शरीर में शुक्र का रक्षण करते हुए हम शरीर को रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीररूप नाव

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनाँश्च या पारयाच्छर्म या च॥ १२॥

१. हे **अग्ने**-परमात्मन्! आप **नः**-हमें **रथाय**=(रंहणाय) तीव्रगति से जाने के लिए **नावम्**=इस शरीररूप नौका को **रासि**=देते हैं, जो नाव **नित्यारित्राम्**=(नित्यः=the ocean) इस भवसागर में चप्पुओंवाली है—इस भवसागर को पार करने के लिए साधनभूत चप्पुओं से युक्त है। **पद्वतीम्**=गति के साधनभूत अङ्गोंवाली है। यह नौका इस सागर में तीव्रगति के लिए तो है ही **उत**=और **गृहाय**=सागर को पार करके घर में पहुँचने के लिए है। हमारा घर ब्रह्मलोक है। उस ब्रह्मलोक में पहुँचने के लिए यह नाव साधन बनती है। २. यह नौका वह है **या**=जो **अस्माकम्**=हममें से **वीरान्**=वीर पुरुषों को **उत**=और **नः**=हममें से **मघोनः जनान्**=यज्ञशील पुरुषों को **पारयात्**=भवसागर के पार लगाती है, **च**=और **या**=जो **शर्म**=सुख का साधन बनती है। इस शरीररूप नौका को प्राप्त करके हम इस जीवन में वीर व यज्ञशील बनकर अवश्य ही तीव्रगति से इस भवसागर को पार करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। वहाँ पहुँचकर सब दुःखों का अन्त हो जाएगा।

भावार्थ—प्रभु ने शरीररूपी नौका दी है। हम वीर व यज्ञशील बनकर, विषय-वासनाओं से ऊपर उठते हुए ब्रह्मप्राप्ति की ओर अग्रसर हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

स्तवन की वृत्ति

अभी नों अग्न उक्थमिज्जुगुर्या द्यावाक्षामा सिन्धवश्च स्वगूर्ताः ।
गव्यं यव्यं यन्तों दीर्घाहेषं वरमरुण्यो वरन्त ॥ १३ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**-हमें **उक्थम् अभि इत्**=स्तोत्रों की ओर ही **जुगुर्याः**-गतिवाला कीजिए। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपके ये स्तोत्र हमें प्रेरणा देनेवाले हों। **द्यावाक्षामा**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **च सिन्धवः**=और नदियाँ **स्वगूर्ताः**-उस आत्मतत्त्व से ही गतिवाली हो रही हैं। ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों को वे प्रभु ही गति देनेवाले हैं, सब पदार्थ उसी के शासन में चल रहे हैं। २. हे प्रभो! हम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आपसे दी जाती हुई गति को देखें। आपकी कृपा से ही **अरुणयः**=अरुण प्रकाशवाली उषाएँ **दीर्घा अहा**=इन लम्बे दिनों में—दीर्घ जीवन तक **गव्यम्**=गोदुग्ध को **यव्यम्**=यव (जौ) आदि अन्न को **यन्तः**-प्राप्त कराती हुई **वरम् इषम्**=उत्कृष्ट प्रेरणा को **वरन्त**=प्राप्त कराएँ। हमारा भोजन गोदुग्ध व यवादि अन्न हो। उससे हमारी बुद्धि सात्त्विक बनें, अन्तकरण निर्मल हो ताकि हम अन्तःस्थित प्रभु की श्रेष्ठ प्रेरणा को सुननेवाले बनें।

भावार्थ—हमारी वृत्ति स्तवन की हो। हमें 'द्युलोक, पृथिवीलोक व नदियाँ' सब प्रभु का स्तवन करते प्रतीत हों। हम गोदुग्ध व सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करते हुए अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से है कि 'ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तोत्र ही हमारे वस्त्र हों (१)। समाप्ति पर भी यही कहते हैं कि हमारी वृत्ति स्तवन की हो (१३)। 'इसी वृत्ति से हममें प्रभु के तेज का धारण होगा' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१४१] एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

देव के भर्ग का धारण

बळित्था तद् वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि ।
यदीमुप ह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य धेना अनयन्त सस्रुतः ॥ १ ॥

१. **बट्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार—गत सूक्त के अनुसार प्रभुस्तवन करने पर **वपुषे**=इस स्तोता के शरीर के लिए **तत्**=उस **देवस्य**=प्रभु का **दर्शतं भर्गः**=दर्शनीय तेज **धायि**=धारण किया जाता है। **यतः**=क्योंकि यही तेज **सहसः**=सहनशक्ति का **जनि**=उत्पादक है। इस तेज को धारण करनेवाला उपासक सहनशक्तिवाला बनता है, बड़ी-से-बड़ी आपत्ति को भी प्रसन्नता से सहन करता है। २. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **मतिः**=मेरी बुद्धि **उपह्वरते**=इस तेज को धारण करने के लिए गतिवाली होती है तब **साधते**=अपने जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करनेवाली बनती है। उस समय **सस्रुतः**=साथ-साथ गतिवाली **ऋतस्य**-सत्य की **धेना**-वेदरूप वाणियाँ **अनयन्त**=इस तेज के धारण करनेवाले को लक्ष्यस्थान पर प्राप्त कराती हैं। ऋग्यजुः सामरूप ये वाणियाँ उसके जीवन में 'विज्ञान, कर्म व उपासना' के रूप में साथ साथ प्रकट होकर उसे ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

भावार्थ—उपासक प्रभु के तेज से तेजस्वी बनकर 'सहस्' वाला होता है। इसके जीवन

में 'विज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय होकर इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभु में वास

पृक्षो वपुः पितुमान्नित्य आ शये द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु।
तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषणः॥ २॥

१. **पृक्षः**=(पृच्=to come in contact with) पिछले मन्त्र के अनुसार जिसे वेदवाणियाँ ब्रह्म की ओर ले-जानेवाली होती हैं, वह पृक्ष, अर्थात् प्रभु के सम्पर्कवाला होता है। इस प्रभु-सम्पर्क से यह **वपुः**=वासनाओं का वपन व छेदन करनेवाला होता है। वासनाओं को दूर करने के उद्देश्य से ही **पितुमान्**=यह प्रशस्त अन्नवाला होता है और इस प्रशस्त अन्न से सत्त्व को—अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाला यह उपासक **नित्ये**=सनातन पुरुष में **आशये**=निवास करता है। यह प्रभु को कभी विस्मृत नहीं करता। २. अब **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में यह **सप्तशिवासु**=शरीरस्थ सप्तर्षियों (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) का कल्याण करनेवाली **मातृषु**=वेदवाणीरूप माताओं में **आ**=सब प्रकार से निवास करता है। सारे खाली समय का उपयोग यह वेदवाणियों के अध्ययन में करता है। ३. **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में यह **अस्य वृषभस्य**=इस शक्तिशाली प्रभु का **दोहसे**=दोहन करने के लिए होता है। यह प्रभु का अपने में पूरण (दुह प्रपूरणे) करता है। प्रभु में निवास करने से इसे वेदवाणियों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान से यह अपने जीवन में प्रभु का पूरण करनेवाला बनता है। ४. इस प्रकार **योषणः**=यह अच्छाइयों का मिश्रण व बुराइयों का अमिश्रण करनेवाली वेदवाणियाँ **दशप्रमतिम्**=दसों इन्द्रियों के विषय में प्रकृष्टमति व विचारवाला **जनयन्त**=बना देती हैं। यह व्यक्ति किसी भी इन्द्रिय के विषय में अशुभ मार्ग पर जाने का झुकाव नहीं रखता। यह कानों से भद्र शब्द ही सुनता है, आँखों से भद्र ही देखता है, रसना से सात्त्विक भोजन में ही आनन्द लेता है। इस प्रकार सब इन्द्रियों के संयम के दृष्टिकोण से कभी ग़लत मार्ग पर जाता ही नहीं।

भावार्थ—सर्वप्रथम हमारा निवास प्रभु में हो, दूसरा वेदवाणियों में और तीसरा शक्तिशाली प्रभु को अपने में धारण करने में।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभुदर्शन कब

निर्यदीं बुध्नान्महिषस्य वर्पस ईशानासः शवसा क्रन्त सूरयः।
यदीमनु प्रदिवो मध्व आधवे गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **ईम्**=निश्चय से **महिषस्य वर्पसः**=इस महनीय शरीर के (वर्पस्=रूप) **ईशानासः**=ईशान व संयम करनेवाले **सूरयः**=ज्ञानी लोग **शवसः**=शक्ति व गति के द्वारा—शक्ति के सम्पादन तथा गतिशीलता के द्वारा **बुध्नात्**=(बद्धा धृता अस्मिन्प्राणा इति, शरीरम्—निरु० १०।४४) शरीर-बन्धन से **निक्रन्त**=अपने को पृथक् करते हैं—इनकी शरीर में आसक्ति नहीं रहती। २. और **यत्**=यदि **ईम्**=निश्चय से **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानी बनकर **मध्वः**=इस अत्यन्त प्रिय अहं (अहंकार) के **आधवे**=प्रक्षेप में, दूर करने में—समर्थ होते हैं ३. तो उस समय **मातरिश्वा**=प्राणसाधना करनेवाला पुरुष **गुहा सन्तम्**=हृदयरूपी गुहा में निवास करनेवाले प्रभु को **मथायति**=अपने चिन्तन का विषय बनाता है (उद्‌बोधयति—सा०)। ४. प्रभु को अपने हृदय में उद्‌बुद्ध करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम शरीर के बन्धन व आसक्ति से ऊपर उठें,

(ख) ज्ञान के द्वारा अहंकार को नष्ट करें, (ग) प्राणायाम के अभ्यासी बनें।

भावार्थ—प्रभुदर्शन उसी को होता है, जो आसक्ति से ऊपर उठता है, अहं को जीतता है और नियमित रूप से प्राणसाधना करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'यविष्ठ, घृणा (वान्), शुचि'

प्र यत्पितुः परमान्नीयते पर्या पृक्षुधो वीरुधो दंसु रोहति।
उभा यदस्य जनुषं यदिन्वत आदिद्यविष्ठो अभवद् घृणा शुचिः॥ ४॥

१. **यत्**=जब यह साधक **परमात् पितुः**=उस परमपिता से, उस पिता के द्वारा **प्र नीयते**=प्रकृष्ट मार्ग पर ले-जाया जाता है, अर्थात् जब अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा के अनुसार यह अपने व्यवहारों को करता है, २. और **पृक्षुधा**=(पृङ् व्यायामे, क्षुध् to be hungry) व्यायाम द्वारा—श्रम द्वारा क्षुधित होनेवाले इस पुरुष के **दंसु**=दाँतों पर **वीरुधः**=पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली ये लताएँ ही **रोहति**=आरूढ़ होती हैं (रोहन्ति—सा०), अर्थात् जब यह शुद्ध वानस्पतिक भोजन ही करता है। ३. और **यत्**=जब **अस्य**=इसके **उभा**=शरीर व मस्तिष्क दोनों ही **जनुषम्**=विकास को **यत्**=यदि **इन्वतः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् यदि इसकी शक्ति और ज्ञान—दोनों का विकास होता है तो **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **यविष्ठः**=युवतम **अभवत्**=हो जाता है, जीर्ण रहकर युवा बन जाता है, इसकी शक्तियाँ खूब बढ़ जाती हैं। **घृणा**=दीप्ति के साथ यह **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है। शरीर में 'यविष्ठ' होता है, मस्तिष्क में 'घृणा' दीप्तिवाला और हृदय में 'शुचि' होता है।

भावार्थ—(क) हम प्रभु को अपना पथ-प्रदर्शक बनाएँ, (ख) श्रम द्वारा भूख अनुभव होने पर वानस्पतिक पदार्थों को ही खाएँ, (ग) ज्ञान व शक्ति दोनों का विकास करें, तब हम शरीर से युवा, मस्तिष्क में दीप्त और मन में निर्मल बनेंगे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रुति में स्नान

आदिन्मातॄराविशद्यास्वा शुचिरहिंस्यमान उर्विया वि वावृधे।
अनु यत्पूर्वा अरुहत्सनाजुवो नि नव्यसीष्ववरासु धावते॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को अपना पथ-प्रदर्शक बनानेवाला **आत् इत्**=अब निश्चय से **मातॄः**=जीवन का निर्माण करनेवाली इन वेदवाणीरूप माताओं में **आविशत्**=प्रवेश करता है, **यासु**=जिनमें प्रवेश करने पर यह **आशुचिः**=शरीर, मन व बुद्धि में सर्वत्र पवित्र होता है, **अहिंस्यमानः**=वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **उर्विया विवावृधे**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता है। २. **यत्**=जब **सनाजुवः**=सनातनकाल से प्रेरणा देनेवाली **पूर्वाः**=सृष्टि के आरम्भ में होनेवाली इन वाणियों का **अनु आरुहत्**=अनुक्रमेण आरोहण करता है, अर्थात् इनका अध्ययन करता हुआ इन्हें अपने जीवन का अङ्ग बनाता है तो **नव्यसीषु**=नवीन **अवरासु**=अवरकाल में होनेवाली ऋषियों से प्रतिपादित वेदानुकूल ज्ञानवाणियों में भी **निधावते**=निश्चय से अपने जीवन को शुद्ध बनाता है। जैसे श्रुतिवाक्यों में स्नान करता हुआ यह अपने जीवन को शुद्ध बनाता है, उसी प्रकार वेदानुकूल स्मृतिवाक्य इसके जीवन को शुद्ध बनाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणियाँ जीवन को पवित्र बनाती हैं, स्मृतिवाक्यों के अनुसार चलते हुए भी हम अपने जीवनों को शुद्ध बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—निषादः ।

ज्ञानयज्ञों में प्रभु का वरण

आदिद्धोतारं वृणते दिविष्टिषु भगमिव पपृचानास ऋञ्जते।
देवान्यत्क्रत्वा मज्मना पुरुष्टुतो मर्तं शंसं विश्वधा वेति धायसे॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार श्रुति व स्मृति (ऋषि-मुनियों के उपदेश) के अनुसार जीवन को चलाते हुए व्यक्ति, जीवन को पवित्र बनाते हुए **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **दिविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में **होतारम्**=सृष्टियज्ञ के महान् होता प्रभु का **वृणते**=वरण करते हैं। ज्ञानयज्ञ के द्वारा वे प्रभु का उपासन करते हैं। **भगम् इव**=ऐश्वर्य के समान वे इस प्रभु का **पपृचानासः**=सम्पर्क करनेवाले होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य को ऐश्वर्य प्रिय होता है, उसी प्रकार इन ज्ञानयज्ञों के द्वारा प्रभु के उपासकों को प्रभु प्रिय होते हैं। प्रभु के सम्पर्क में ये **देवान् ऋञ्जते**=दिव्यगुणों को प्रसाधित करते हैं, दिव्य गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करते हैं। २. **यत्**=जब ये प्रभु **क्रत्वा**=यज्ञादि उत्तम कर्मों द्वारा तथा **मज्मना**=शक्ति के द्वारा **पुरुष्टुतः**=खूब स्तुत होते हैं तब **विश्वधाः**=सम्पूर्ण विश्व का धारण करनेवाले वे प्रभु इस **शंसं मर्तम्**=स्तवन करनेवाले मनुष्य को **धायसे**=धारण करने के लिए **वेति**-प्राप्त होते हैं (वी गतौ)। प्रभु का सच्चा स्तवन इसी प्रकार होता है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें तथा अपने में शक्ति का सम्पादन करें। ऐसा स्तवन करने पर हम प्रभु से धारणीय होंगे।

भावार्थ—प्रभु को वरण करनेवाला अपने जीवन को दिव्यगुणों से प्रसाधित करता है। यज्ञशील व शक्तिशाली बनकर प्रभु का सच्चा स्तोता होता है। इसके धारण के लिए प्रभु इसे प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—निचृज्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

'महाजनो येत गतः स पन्थाः'

वि यदस्थाद्यजतो वातचोदितो ह्वारो न वक्वा जरणा अनाकृतः।
तस्य पत्मन्दक्षुषः कृष्णजंहसः शुचिजन्मनो रज आ व्यध्वनः॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वे विश्वधा प्रभु जिसे प्राप्त होते हैं वह **यत्**=जब **वि अस्थात्**=विशिष्ट लक्ष्य को लेकर जीवन में स्थित होता है, तब इस विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए **यजतः**-प्रभु से अपना मेल करनेवाला होता है, **वातचोदितः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त करता है। जैसे वायु निरन्तर चल रहा है, इसी प्रकार यह निरन्तर अपने कार्यों में लगनेवाला होता है। इन कार्यों में **ह्वारः न**=यह कुटिल नहीं होता, इसकी क्रियाएँ कुटिलता से रहित होती हैं। कुटिलता से बचे रहने के लिए ही यह **वक्वा**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों को करता हुआ यह **जरणा**=शक्ति की जीर्णता से **अनाकृतः**=प्रतिबद्ध प्रसर-(गमन)-वाला नहीं होता। इसके जीवन में ऐसी स्थिति नहीं आ जाती कि यह जीर्ण शक्तिवाला हो जाए और जीर्णता के कारण इसका कार्यों में प्रवृत्त होना रुक जाए। **तस्य**=उसी के **पत्मन्**=मार्ग में **रजः**=लोक **आ**=(अस्थात्) समन्तात् स्थित होता है—सब उसी का अनुसरण करते हैं, उससे चले हुए मार्ग पर ही सब चलते हैं, उसके मार्ग पर ही सब चलते हैं जो कि **दक्षुषः**=वासनाओं का दहन करनेवाला है, **कृष्णजंहसः**=कालिमा को, विद्वेषादि मलिनताओं को हिंसित करता है, **शुचिजन्मनः**=पवित्रता को जन्म देने तथा विकसित करनेवाला है तथा **वि-अध्वनः**=विशिष्ट मार्ग पर ही चलनेवाला है। इसके मार्ग पर चलते हुए सभी कल्याण प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त प्रभु का स्मरण करता हुआ कर्म में लगा रहता है। अन्य लोग इसी का अनुकरण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दृढ़ता व प्रकाश के साथ गति

रथो न यातः शिक्वभिः कृतो द्यामङ्गेभिररुषेभिरीयते।
आदस्य ते कृष्णासो दक्षि सूरयः शूरस्येव त्वेषथादीषते वयः॥ ८॥

१. गतमन्त्र का प्रभुभक्त **शिक्वभिः कृतः**=रज्जु आदि से दृढ़ता से बाँधे गये **रथः न यातः**=रथ के समान (यातमस्यास्तीति) गतिवाला होता है। जैसे रज्जु आदि से दृढ़ बन्धनोंवाला रथ मार्ग पर उत्तमता से चलता है, इसी प्रकार यह प्रभुभक्त भी सुगठित शरीरवाला होता हुआ जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है। यह **अरुषेभिः अङ्गेभिः**=आरोचमान अङ्गों से **द्याम् ईयते**=द्युलोक को प्राप्त होता है, अर्थात् यह उत्तम कर्म करता हुआ यहाँ तेजस्वी व प्रकाशमय जीवनवाला होता है अगले जन्म में द्युलोक में जन्म लेनेवाला होता है। वहाँ इसका शरीर आग्नेय होता है और इसके सब अङ्ग आरोचमान होते हैं। २. **आत्**=अब **अस्य सूरयः**=(सूरेः) इस ज्ञानी पुरुष की **ते कृष्णासः**=वे मलिनताएँ **दक्षि**=दग्ध हो जाती हैं। इसके जीवन में राग-द्वेष नहीं रहता। यह **वयः**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाला—सदा क्रियाशील व्यक्ति **शूरस्य इव**=एक शूरवीर के समान **त्वेषथात्**=अपनी ज्ञानदीप्ति से **ईषते**=इन वासनाओं पर आक्रमण करता है। अपनी ज्ञानाग्नि में इन वासनाओं को दग्ध कर देता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि दृढ़ अङ्गों से गतिशील बनें, ज्ञानाग्नि द्वारा वासनाओं को दग्ध कर दें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

उपासना व सुन्दर जीवन

त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः।
यत्सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुरराञ्च नेमिः परिभूरजायथाः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वया**=आपके द्वारा **हि**=निश्चय से यह भक्त **वरुणः**=द्वेष निवारण करनेवाला, **धृतव्रतः**=धारण किये हुए व्रतोंवाला, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला बनता है और **शाशद्रे**=(शातयति तमः) तमोगुण को नष्ट करता है। यह **अर्यमा**='अरीन् यच्छति' काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियन्त्रण करता है, **सुदानवः**=उत्तम दानशील होता है। २. **यत्**=जब **सीम्**=(सर्वतः) सब ओर से **क्रतुना**=अपने कर्मों व संकल्पों के द्वारा **विश्वथा**=सब प्रकार से **विभुः**=व्यापक शक्तिवाला होता है। **अरान् नेमिः न**=अरों के चारों ओर जैसे नेमि होती है (प्रधि), उसी प्रकार यह **परिभूः**=सब शक्तियों के चारों ओर होनेवाला **अजायथाः**=हो जाता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु के सम्पर्क में आने पर हम 'वरुण, धृतव्रत, मित्र, अर्यमा व सुदानु बनकर तमोगुण का संहार करनेवाले' बनते हैं, सब शक्तियों से युक्त होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

रत्न, देवताति, सहस्

त्वमग्ने शशमानाय सुन्वते रत्नं यविष्ठ देवतातिमिन्वसि।
तं त्वा नु नव्यं सहसो युवन्वयं भगं न कारे महिरत्न धीमहि॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **शशमानाय**=(शंसमान—नि०) शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए अथवा (शश प्लुतगतौ) प्लुतगतिवाले के लिए, अर्थात् स्फूर्ति के साथ कार्य करनेवाले के लिए **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले के लिए—शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले के लिए **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को **इन्वसि**=व्याप्त करते हो, आप इन्हें रमणीयता प्राप्त कराते हो। **यविष्ठ**=हे युवतम! बुराइयों को पृथक् करके अच्छाइयों का मेल करनेवाले प्रभो! आप **देवतातिम्**=दिव्य गुणों के विस्तार को (इन्वसि) व्याप्त करते हो, आप हमें दिव्यगुण प्राप्त कराते हो। २. हे **सहसः युवन्**=भक्तों के साथ सहस् का मिश्रण करनेवाले **महिरत्न**=महनीय रत्नोंवाले प्रभो! **तं नव्यं त्वा**=उस स्तुति के योग्य आपको **नु**=अब **वयम्**=हम **कारे**=पुरुषार्थ के होने पर **भगं न**=ऐश्वर्य के समान **धीमहि**=ध्यान करते हैं व धारण करते हैं। हम पुरुषार्थ करें और प्रभु का स्मरण करें। प्रभु ही वास्तविक ऐश्वर्य हैं, वे ही सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—परिश्रमी के लिए प्रभु रत्न देते हैं, उसे दिव्य गुणों से युक्त करते हैं और शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

धन व उत्तम सन्तान

अस्मे रयिं न स्वर्थं दमूनसं भगं दक्षं न पपृचासी धर्णसिम्।
रश्मींरिव यो यमति जन्मनी उभे देवानां शंसमृत आ च सुक्रतुः॥ ११॥

१. हे प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **स्वर्थम्**=(सुष्ठु अरणीयम्) उत्तमता से कमाने योग्य अथवा शोभन पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाले **दमूनसम्**=मनादि के दमन से युक्त **रयिं न** (न=इव) धन को जैसे प्राप्त कराते हैं और **न**=जैसे **भगम्**=उपासना की वृत्तिवाले (भज सेवायाम्), **दक्षम्**=उत्साहवाले व सब प्रकार की वृद्धिवाले **धर्णसिम्**=धारण करनेवाले सन्तान को **पपृचासि**=हमारे साथ सम्पृक्त करते हैं। २. उस सन्तान को हमारे साथ सम्पृक्त करते हैं **यः**=जो **रश्मीन् इव**=लगामों की भाँति **उभे जन्मनी**=दोनों जन्मों को **यमति**=(नियमयति विस्तारयति—सा०) नियमित व विस्तारित करता है। इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हुए चलता है। इहलोक के अभ्युदय और परलोक के निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाला होता है। यह परलोक के निःश्रेयस के लिए **देवानां शंसम्**=देवों के शंसन को—दिव्यगुणों के स्तवन द्वारा दिव्य गुणों को धारण करता है **च**=और इस लोक के अभ्युदय के लिए **ऋते आ सुक्रतुः**=ऋत में स्थित होता हुआ उत्तम कर्मोंवाला होता है। यह सब कर्मों को ऋतपूर्वक करता है, इसका प्रत्येक कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें धन व उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं, वे सन्तान जो देवशंसन द्वारा निःश्रेयस को सिद्ध करते हों और नियमित कर्मों के द्वारा अभ्युदय को। 'अभ्युदय और निःश्रेयस' इनकी दो लगामों की भाँति होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सन्तान की उत्तमता

उत नः सुद्योत्मा जीराश्वो होता मन्द्रः शृणवच्चन्द्ररथः।
स नो नेषन्नेषतमैरमूरोऽग्निर्वामं सुवितं वस्यो अच्छ॥ १२॥

१. **उत**=और **नः**=हमारा सन्तान **सुद्योत्मा**=उत्तम ज्ञानज्योतिवाला, **जीराश्वः**=गतिशील

इन्द्रियोंवाला, **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **मन्द्रः**=सदा प्रसन्न अन्तःकरणवाला **चन्द्ररथः**-चन्द्रमा के समान उज्ज्वल शरीररूप रथवाला **शृणवत्**-माता पिता व वृद्धों की आज्ञा सुननेवाला हो। २. इस प्रकार **सः**=वह उत्तम सन्तान **अमूरः**-विषयों में मूढ न बनता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील होता हुआ **नः**=हमें **वामम्**=सुन्दर **सुवितम्**=उत्तम मार्गों से प्राप्त करने योग्य **वस्यः**-निवास के साधनभूत उत्तम वसुओं (धनों) की ओर **नेषतमैः नेषत्**-उत्कृष्ट मार्गों से ले-चले। ३. वह सन्तान उत्तम मार्गों से धनों को प्राप्त करती हुई हमारी भी उन्नति का कारण बनती है। सन्तान का उत्तम जीवन माता-पिता के चित्त की शान्ति का कारण बनता है और उनके उत्तम निवास का हेतु होता है।

भावार्थ—सन्तान स्वयं उत्तम जीवनवाली होती हुई माता-पिता की उत्तम स्थिति का कारण बने।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कर्मयुक्त स्तवन

अस्ताव्यग्निः शिमीवद्भिरर्कैः साम्राज्याय प्रतरं दधानः।
अमी च ये मघवानो वयं च मिहं न सूरो अति निष्टतन्युः॥ १३॥

१. **अग्निः**-वह परमात्मा **शिमीवद्भिः**-उत्तम कर्मों से युक्त **अर्कैः**=स्तोत्रों से **अस्तावि**=स्तुति किया जाता है। हम उत्तम कर्मों से प्रभु का स्तवन करते हैं। जहाँ हम स्तुतियों का उच्चारण करते हैं, वहाँ उत्तम कर्म भी करते हैं। इस प्रकार स्तुत हुए-हुए वे प्रभु **साम्राज्याय प्रतरं दधानाः**=हमें साम्राज्य के लिए खूब ही धारण करते हैं। हम अपने शरीर, इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन करनेवाले होते हैं। २. **अमी च ये**=ये जो गतमन्त्र में वर्णित **मघवानः**=हमारे ऐश्वर्यसम्पन्न व यज्ञशील सन्तान हैं **वयं च**=और हम **अतिनिष्टतन्युः**-प्रभु का खूब ही स्तवन करें, उसी प्रकार स्तवन करें **न**=जैसे कि **सूरः**=सूर्य **मिहं**=वर्षण करनेवाले बादल को शब्दयुक्त करता है। जैसे बादल की गर्जना होती है, उसी प्रकार हमारे जीवन में भी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण होता है।

भावार्थ—हमारे स्तोत्र कर्मयुक्त हों। हमारी सन्तान व हम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ उस देव के भर्ग के धारण की प्रार्थना से होता है (१) और समाप्ति भी उस प्रभु के ही कर्मयुक्त स्तवन से होती है (१३)। अगला सूक्त दिव्यगुणों की प्राप्ति की प्रार्थना से आरम्भ होता है—

[१४२] द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

दिव्य गुण व उत्तम सन्तान

समिद्धो अग्न आ वह देवाँ अद्य यतस्रुचे।
तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं सुतसोमाय दाशुषे॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **समिद्धः**=हृदय में दीप्त हुए हुए आप **अद्य**-आज इस **यतस्रुचे**=(उद्यत स्रुचे) आहुति डालने के लिए उठाये हुए चम्मचवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **देवान् आवह**=दिव्य गुणों को प्राप्त कराइए। जो भी व्यक्ति प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु को

हृदय में दीप्त करते हैं तथा यज्ञशील होते हैं, प्रभु उन्हें सद्गुण प्राप्त कराते ही हैं। २. हे प्रभो! **सुतसोमाय**=जिस व्यक्ति ने अपने शरीर में सोम (वीर्य) का सम्पादन किया है और **दाशुषे**=जो आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला हुआ है, उसके लिए आप **पूर्व्यम्**=सदा पूर्व-स्थान में होनेवाले, अर्थात् उत्तम गुणों की प्राप्ति में सदा आगे रहनेवाले **तन्तुम्**=सन्तान को **तनुष्व**=विस्तृत कीजिए—ऐसे सन्तान को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु को हृदय में दीप्त करनेवाला यज्ञशील व्यक्ति उत्तम गुणों को प्राप्त करता है। सोम का सम्पादन करनेवाले दाश्वान् पुरुष को प्रभु उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

'स्वस्थ, दीप्त, मधुर' जीवन

घृतवन्तमुप मासि मधुमन्तं तनूनपात्।
यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः॥ २॥

१. हे **तनूनपात्**=हमारे शरीरों को न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **घृतवन्तम्**=मलों के क्षरण द्वारा स्वस्थ शरीरवाला तथा ज्ञानदीप्तिवाला, **मधुमन्तम्**=और माधुर्यवाला, **उप मासि**=समीप रहते हुए बनाते हैं। उस तनूनपात् प्रभु की कृपा से हमारा जीवन शरीर में स्वास्थ्यवाला, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाला तथा हृदय में माधुर्यवाला होता है। २. प्रभु ऐसा जीवन यज्ञ किसका बनाते हैं? उसका जो (क) **विप्रस्य**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला है, (ख) **मा-वतः**=जो मा=प्रमा=ज्ञानलक्ष्मीवाला है, (ग) **शशमानस्य**=(शंसमानस्य—निरु०) जो प्रभु का शंसन करता है अथवा जो प्लुतगतिवाला है, आलस्यशून्य, क्रियाशील है, (घ) **दाशुषः**=दाश्वान् है, देनेवाला अथवा प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाला है। इस प्रकार 'विप्र, मावान्, शशमान व दाश्वान्' बनने पर हमारा जीवनयज्ञ स्वस्थ, दीप्त व माधुर्यवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन 'स्वस्थ, दीप्त व मधुर' हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

पवित्रता व माधुर्य

शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति।
नराशंसस्त्रिरा दिवो देवो देवेषु यज्ञियः॥ ३॥

१. प्रभु **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं, **पावकः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं, **अद्भुतः**=वे अद्भुत हैं, प्रभु के समान न कोई हुआ, न है और न कोई होगा। ये प्रभु **यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **मध्वा**=माधुर्य से **मिमिक्षति**=सिक्त करते हैं। वे प्रभु हमारे जीवन को राग-द्वेष से पृथक् करके पवित्र बना देते हैं और इस प्रकार हमारा जीवन माधुर्य से पूर्ण होता है। २. **नराशंसः**=सब मनुष्यों से शंसनीय, **दिवः**=इस संसाररूप क्रीड़ा को करनेवाले (दिव् क्रीडायाम्), **देवः**=प्रकाशमय (दिव् द्युतौ), **देवेषु यज्ञियः**=देवों में उपासना के योग्य, अथवा सब देवों में संगतिकरण करनेवाला वह प्रभु **त्रिः**=तीन बार **आ**=समन्तात (मिमिक्षति) हमारे जीवनों को माधुर्य से सिक्त करता है। तीन बार का अभिप्राय यह है कि जीवनयज्ञ के प्रातः, माध्यन्दिन और सायन्तन सवन में वे प्रभु हमारे लिए माधुर्य का सेचन करते हैं। जीवन का प्रातः-सवन 'बाल्यकाल' है, माध्यन्दिन सवन 'यौवन' है और सायन्तन सवन 'वार्धक्य' है। इन तीनों सवनों में माधुर्य का सेचन होकर हमारा सारा जीवन ही मधुर बन जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करते हैं, प्रभु हमारे जीवन को पवित्र करके मधुर बना देते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

ज्ञानवर्धक, प्रीणित करनेवाला धन

ई॒ळि॒तो अ॑ग्न॒ आ व॒हेन्द्रं॑ चि॒त्रमि॒ह प्रि॒यम्।
इ॒यं हि त्वा॑ म॒तिर्ममाच्छा॑ सुजिह्व व॒च्यते॑॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ईळितः**=उपासित हुए-हुए आप **इह**=इस जीवन में **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **चित्रम्**=(चित्+र) चेतना देनेवाले **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति के हेतुभूत धन को **आवह**=प्राप्त कराइए। प्रभु की उपासना से हम जितेन्द्रिय बनते हैं और जितेन्द्रिय बनकर ज्ञानयुक्त धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। २. हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले, ज्ञान देनेवाले प्रभो! **इयं हि मम मतिः**=निश्चय ही विचारपूर्वक की गई मेरी यह स्तुति **त्वा अच्छ**=आपका लक्ष्य करके **आ वच्यते**=उच्चारित होती है। मैं आपके स्तोत्रों का अर्थभावन के साथ जप करता हूँ और परिणामतः हृदयस्थ आपसे ज्ञान प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु स्तोता को वह धन प्राप्त कराते हैं जो ज्ञानयुक्त व प्रीणित करनेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—बर्हिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

प्रभु-स्वागत की तैयारी

स्तृ॒णा॒नासो॑ य॒तस्रु॑चो ब॒र्हिर्य॒ज्ञे स्व॑ध्व॒रे।
वृ॒ञ्जे दे॒वव्य॑चस्तम॒मिन्द्रा॑य॒ शर्म॑ स॒प्रथः॑॥ ५॥

१. **यतस्रुचः**=यज्ञों में आहुति के लिए उठाये हुए चम्मचवाले, यज्ञशील पुरुष **स्वध्वरे**=उत्तम हिंसाशून्य **यज्ञे**=जीवनयज्ञ में **बर्हिः स्तृणानासः**=वासनाशून्य हृदय को प्रभु के लिए आसनरूप से बिछाते हुए **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **देवव्यचस्तमम्**=दिव्य गुणों के अधिक-से-अधिक विस्तारवाले, **सप्रथः**=शक्तियों के विस्तार से युक्त **शर्म**=शरीररूप गृह को **वृञ्जे**=(सम्पादयन्ति—सा०) सिद्ध करते हैं। २. प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) यज्ञशील बनें, (ख) हृदय को वासना-शून्य बनाएँ, (ग) दिव्यगुणों का अपने में विस्तार करें, (घ) शक्तियों को बढ़ाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु को बिठाने के लिए वासनाशून्य हृदयरूप आसन को बिछाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—देव्यो द्वारः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

इन्द्रिय-द्वार

वि श्र॑यन्तामृता॒वृधः॑ प्र॒यै दे॒वेभ्यो॑ म॒हीः।
पा॒व॒कासः॑ पुरु॒स्पृहो॒ द्वारो॑ दे॒वीर॑स॒श्चतः॑॥ ६॥

१. हमारे इस शरीर-मन्दिर में **देवीः द्वारः**=दिव्यगुणोंवाले व सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रिय-द्वार **विश्रयन्ताम्**=विशेषरूप से आश्रय करनेवाले हों। ये द्वार **देवेभ्यः प्रयै**=देवों के प्रकृष्ट प्रापण के लिए हों। इन द्वारों से हममें देवों का प्रवेश हो, दिव्यगुणों की वृद्धि हो। **ऋतावृधः**=ये द्वार हमारे जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले हों। इनसे हम यज्ञादि (ऋत=यज्ञ) उत्तम कर्मों को सिद्ध करें। **महीः**=(मह पूजायाम्) ये प्रभु का पूजन करनेवाले हों। ये द्वार **पावकासः**=हमारे जीवनों की पवित्रता का कारण बनें, **पुरुस्पृहः**=अपने सौन्दर्य के

कारण अत्यन्त स्पृहणीय हों, **असश्चतः**=(not defeated or overcome) ये विषयों से पराभूत न हों। हमारी इन्द्रियाँ विषयों से अनाक्रान्त बनी रहें।

भावार्थ—हमारे इन्द्रिय-द्वार 'ऋत', दिव्यता व प्रभुपूजा को हममें प्रविष्ट करानेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—उषासानक्ता। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

दिन-रात

आ भन्दमाने उपाके नक्तोषासा सुपेशसा।
यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरा सुमत्॥ ७॥

१. **नक्तोषासा**=रात और दिन **सुमत्**=स्वयमेव **बर्हिः**=हमारे हृदयों में **आसीदताम्**=आसीन हों। कैसे रात्रि और दिन? (क) **भन्दमाने**=कल्याण व सुख प्राप्त करानेवाले, (ख) **उपाके**=(उप+अञ्जू) प्रभु के समीप गति करनेवाले, अर्थात् प्रभु की उपासनावाले, (ग) **सुपेशसा**=सदा उत्तम कर्मों का निर्माण करनेवाले, (घ) **यह्वी**=महान् अथवा (यातश्च हूतश्च) प्रभु की ओर जाने व उसे पुकारनेवाले, (ङ) **ऋतस्य मातरा**=यज्ञ व सत्य का निर्माण करनेवाले। २. हमारे हृदयों में सदा यह भावना हो कि ये दिन-रात कल्याण करनेवाले, प्रभु की उपासनवाले, उत्तम कार्यों को करनेवाले, महत्त्वपूर्ण व यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हों। ये स्वयं ही ऐसे हों (सुमत्), अर्थात् ऐसे दिन हमारे लिए स्वाभाविक हो जाएँ। हम स्वभावतः ऐसे दिनों को बितानेवाले हों।

भावार्थ—हमारे दिन-रात कल्याणकारक कार्यों को करनेवाले व प्रभुपूजन की भावनावाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—दैव्यौ होतारौ। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

दैव्य होतारा (प्राणापान)

मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्॥ ८॥

१. इस शरीर में प्राणापान दैव्य होता है। आँख आदि इन्द्रियाँ होता है, परन्तु ये आँख आदि सब होता सो जाते हैं, किन्तु जीवनयज्ञ की रक्षा के लिए प्राणापान सदा जागते रहते हैं। ये प्राणापान ही अन्ततः प्रभु-उपासन का साधन बनते हैं। ये प्राणापान **मन्द्रजिह्वा**=आनन्दप्रद (pleasing) व प्रशंसनीय (praise-worthy) जिह्वावाले हों, अर्थात् प्राणापान की साधना से हम वाणी से सदा शुभ शब्दों को ही बोलनेवाले हों। **जुगुर्वणी**=ये प्राणापान प्रभु का गायन व उपासन करनेवाले हों (वन्=उपासन), **दैव्या होतारा**=इस जीवनयज्ञ के ये दिव्य होता हों—कभी न थकनेवाले तथा उस देव तक पहुँचानेवाले। **कवी**=ये क्रान्तदर्शी हों। इनकी साधना हमें इस प्रकार तीव्र बुद्धिवाला बनाए कि हम तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर सकें। २. ये प्राणापान **अद्य**=आज **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **यक्षताम्**=सिद्ध करें जोकि **सिध्रम्**=फल-साधनभूत हो, अर्थात् सफल हो, 'व्यर्थ ही रहा'—ऐसा प्रतीत न हो तथा **दिविस्पृशम्**=ज्योतिस्वरूप प्रभु में हमारा स्पर्श करानेवाला हो। प्राणापान के द्वारा हम इस जीवन को यज्ञात्मक बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणापान इस जीवनयज्ञ के दिव्य होता हैं। ये इस जीवन को सफल करते हैं तथा हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सरस्वतीळाभारत्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'भारती, इळा, सरस्वती, मही'

शुचि॑र्दे॒वेष्वर्पि॑ता॒ होत्रा॑ म॒रुत्सु॒ भार॑ती।
इळा॒ सर॑स्वती म॒ही ब॒र्हिः सी॑दन्तु य॒ज्ञिया॑ः॥ ९॥

१. **शुचिः**=शुद्ध, **देवेषु अर्पिता**=सृष्टि के आरम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' नामक देवताओं में स्थापित की गई **होत्रा**=यह वेदवाणी **मरुत्सु**=प्राणसाधक पुरुषों में **भारती**=भरण करनेवाली होती है। वेदवाणी में किसी प्रकार की ग़लती न होने से वह शुद्ध है। प्रभु इसे अग्नि आदि को प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना करनेवाले पुरुष इसके द्वारा पोषित होते हैं। २. ऋग्वेद में इस वाणी का नाम (क) 'भारती' है, क्योंकि यह प्रकृति का ज्ञान देती हुई उचित प्रकार से हमारा भरण करती है, (ख) यही वाणी यजुर्वेद में 'इळा' कहलाती है (इळा=food, the earth) यजुर्वेद में प्रतिपादित यज्ञों के द्वारा यह पृथिवी में अन्नोत्पत्ति का कारण बनती है, (ग) सामवेद में यह 'सरस्वती' है। ब्रह्मा की पत्नी के रूप में यह हमें ब्रह्म का ज्ञान देनेवाली होकर ब्रह्म की ओर ले-चलती है,—(घ) अथर्ववेद में यह वाणी 'मही' हो जाती है—रोगों व युद्धों से बचाकर यह हमारी उन्नति का कारण बनती है (मह=to grow, increase)। ३. 'भारती, इळा, सरस्वती, मही'—ये सब वाणियाँ **यज्ञियाः**=संगतिकरण योग्य हैं। ये **बर्हिः सीदन्तु**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में निवास करें। इस वेदवाणी के लिए हमारे हृदय में आदर का भाव हो। इसके अध्ययन को हम पवित्र कार्य समझते हुए प्रतिदिन करनेवाले बनें। इसके अध्ययन में हम कभी प्रमाद न करें। अवकाश में इसका अध्ययन और भी अधिक पुण्यमय समझा जाए।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनाते हुए अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

त्वष्टा से याचना

तन्न॑स्तु॒रीप॒मद्भु॑तं पु॒रु वार॑ पु॒रु त्मना॑।
त्वष्टा॒ पोषा॑य॒ वि ष्य॑तु रा॒ये नाभा॑ नो अस्म॒युः॥ १०॥

१. **अस्मयुः**=सदा हमारा हित चाहनेवाला **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **नः नाभा**=हमारे यज्ञों में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) नः=हमारे **पोषाय**=पोषण के लिए तथा **राये**=ऐश्वर्य के लिए **त्मना**=स्वयं **तत् विष्यतु**=(वियुञ्जतु) विशेषरूप से उस धन को प्राप्त कराये जोकि (क) **तुरीपम्**=(त्वरया पाति) शीघ्रता से हमारा रक्षण करनेवाला है, (ख) **अद्भुतम्**=महान् है अथवा अभूतपूर्व है, किसी भी प्रकार हमारे पतन का कारण न होने से अद्भुत है, (ग) **पुरुवारम्**=(पुरु वा अरम्) पालन करनेवाला और पर्याप्त है अथवा (पुरु वारम्) बहुतों से वरणीय है, चाहने योग्य है, तथा (घ) **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाला है। २. हम यज्ञशील बनें। इन यज्ञों के होने पर प्रभु हमें उत्तम धनों को प्राप्त कराएँ। यह धन हमारा रक्षण करनेवाला हो, पतन का कारण न होने से अद्भुत हो, बहुतों से वरणीय हो तथा पालन व पूरण करनेवाला हो।

भावार्थ—त्वष्टा प्रभु हमें यज्ञशीलता के साथ धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वनस्पतिः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

देवत्व व मेधा की प्राप्ति

अ॒व॒सृ॒जन्नुप॒ त्मना॑ दे॒वान्य॑क्षि वनस्पते।
अ॒ग्निर्ह॒व्या सु॑षूदति दे॒वो दे॒वेषु॒ मेधि॑रः॥ ११॥

१. हे **वनस्पते**=(वनस्=loveliness, glory) सौन्दर्य व यश के स्वामिन् प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं **अवसृजन्**=सब अवगुणों को हमसे दूर करते हुए **देवान् उपयक्षि**-दिव्यगुणों को हमारे साथ संगत कीजिए। आप ही बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु ही **हव्या**=दानपूर्वक अदन की वृत्तियों को **सुषूदति**=(प्रेरयति) हममें प्रेरित करते हैं। **देवः**=वे प्रभु दिव्यगुणों के पुञ्ज व प्रकाशमय हैं, **देवेषु मेधिराः**=देववृत्ति के व्यक्तियों में मेधा देनेवाले हैं। ३. प्रभु (क) सर्वप्रथम हमसे बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को हमारे साथ जोड़ते हैं, (ख) हममें हव्यों को प्रेरित करते हैं, हमें दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनाते हैं, (ग) इस प्रकार हमें देव बनाकर मेधासम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें बुराइयों से बचाते हैं, हव्यसेवन की वृत्तिवाला बनाते हैं और हमें मेधासम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—स्वाहाकृतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

स्वाहा व हव्य

पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे।
स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन॥ १२॥

१. **पूषण्वते**=प्राणिमात्र का पोषण करनेवाले, **मरुत्वते**=मरुतों व प्राणोंवाले—प्राणशक्ति का संचार करनेवाले, **विश्वदेवाय**=सब दिव्यगुणोंवाले, **वायवे**=गतिशील, **गायत्रवेपसे**=(गायत्र=छन्द का एक प्रकार, a hymn) स्तोत्रों के द्वारा कामादि शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **स्वाहा**-स्वार्थत्याग को तथा **हव्यम्**=दानपूर्वक अदन को **कर्तन**=करो। २. वस्तुतः स्वार्थत्याग करने तथा दानपूर्वक अदन की वृत्ति को अपनाने पर प्रभु हमारा पोषण करते हैं, हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं, दिव्यगुणों से युक्त करते हैं, हमें गतिशील बनाते हैं और उस समय हम स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर रखते हैं तथा वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—स्वार्थत्याग व दानपूर्वक अदन ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

प्रभुप्राप्ति व त्यागमय जीवन

स्वाहाकृतान्या गह्युप हव्यानि वीतये।
इन्द्रा गहि श्रुधी हवं त्वां हवन्ते अध्वरे॥ १३॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **स्वाहाकृतानि**=स्वार्थत्याग के कार्यों को **आगहि**=तू ग्रहण करनेवाला हो। तेरे कर्म स्वार्थ की भावना से पूर्ण न हों। तू **हव्यानि उप** (आगहि)=हव्य पदार्थों को ही स्वीकार करनेवाला हो। यज्ञ करके यज्ञशेष को ही खानेवाला बन। यह यज्ञशेष का सेवन **वीतये**=तेरे अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिए होगा। २. प्रभु की प्रेरणा को सुनकर जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ गहि**=आप आइए, **हवं श्रुधी**=मेरी पुकार को सुनिए, **अध्वरे**=इस अहिंसात्मक यज्ञ में **त्वां हवन्ते**=हम आपको ही पुकारते हैं। वस्तुतः आपकी प्रेरणा व शक्ति से ही मैं स्वाहाकृतों व हव्यों को अपने जीवन में धारण कर सकूँगा, क्योंकि त्याग उतने अंश में ही सम्भव होता है जितना कि हम आपके (प्रभु के) समीप होते हैं, अतः आप हमें प्राप्त होओ ताकि हम त्यागमय जीवन बिता सकें।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति व प्रभु की उपासना से ही मैं त्यागमय जीवन बिता पाता हूँ। 'त्याग

से प्रभुप्राप्ति व प्रभुप्राप्ति से त्याग' इस प्रकार इनका परस्पर भावन चलता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा था कि—'प्रभु को हृदय में दीप्त करनेवाला यज्ञशील पुरुष उत्तम गुणों को प्राप्त करता है (१)। समाप्ति पर भी यही भाव है कि प्रभु-उपासना ही हमें त्यागमय जीवनवाला बनाएगा (१३)। अगले सूक्त का आरम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हम प्रभु का ही ध्यान करते हैं—

[१४३] त्रिचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धीति, मति

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे।
अपां नपाद् यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः॥ १॥

१. मैं **अग्नये**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **तव्यसीम्**=वृद्धि की कारणभूत (अतिशयेन वर्धयित्रीम्—सा०) **नव्यसीम्**=स्तुति के योग्य **धीतिम्**=यागात्मक क्रिया को **प्रभरे**=प्रकर्षेण सम्पादित करता हूँ। उस **सहसः सूनवे**=शक्ति के पुत्र—शक्ति के पुञ्ज=पुतले प्रभु के लिए **वाचः मतिम्**=वाणी द्वारा विचारपूर्वक किये जानेवाले स्तवन को (**प्रभरे**)=धारण करता हूँ। इन यज्ञादि कर्मों व स्तवनों से मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील होता हूँ। मैं उस प्रभु के लिए 'धीति व मति' का सम्पादन करता हूँ **यः**=जो **अपां नपात्**=प्रजाओं के अपतन का कारण हैं, जिनकी उपासना से हमारा जीवन उच्च बना रहा है अथवा जो वासना-विनाश के द्वारा रेतःकणों के अपतन का कारण होते हैं। **वसुभिः सह**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के साथ **प्रियः**=जो हमारे प्रीणयिता=तृप्ति के हेतु होते हैं। रेतःकणों का रक्षण वस्तुतः वसुओं की प्राप्ति व तृप्ति के अनुभव का हेतु बनता है। **होता**=देनेवाले हैं। वे प्रभु हमसे दूर न होकर **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में ही **न्यसीदत्**=निश्चय से स्थित हैं, हमारे हृदयाकाश में वे उपस्थित हैं, **ऋत्वियः**=सब समय उपासनीय हैं। दुःख में तो सभी उनका स्मरण करते हैं, सज्जनों से वे प्रभु सुख में भी उपास्य होते हैं।

भावार्थ—यज्ञादि कर्म व विचारपूर्वक स्तवन हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें सब वसुओं को देकर प्रीणित करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

पवित्रता व प्रकाश

स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार धीति व मति के—यज्ञादि कर्मों व स्तवन के करने पर **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **मातरिश्वने**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष के लिए अथवा (मातरिश्वा=फलस्य निर्मातरि यज्ञे श्वसिति यजमानः—सा०) यज्ञशील पुरुष के लिए **परमे व्योमनि**=हृदयरूप परमाकाश में **आविः अभवत्**=प्रकट होते हैं। यह मातरिश्वा अपने हृदय में प्रभु का साक्षात् करता है। २. **समिधानस्य**=दीप्त होते हुए **अस्य**=इस प्रभु के **क्रत्वा**=(Enlightenment) प्रकाश से तथा **मज्मना**=(बलनाम—नि०) शक्ति से उत्पन्न हुई-हुई **शोचिः**=पवित्रता व प्रकाश **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **प्र अरोचयत्**=खूब ही

दीप्त कर देते हैं। मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से चमक उठता है और शरीर पवित्र होकर स्वस्थ हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का आविर्भाव हमारे मस्तिष्क व शरीर को दीप्त करनेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्वास्थ्य व ज्ञान की दीप्ति

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥ ३॥

१. **अस्य**=हृदयाकाश में प्रादुर्भूत होते हुए इस प्रभु की **त्वेषाः**=दीप्तियाँ **अजरा**=न जीर्ण होनेवाली हैं। प्रभु हृदयस्थ होते हैं तो हमारा शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से चमक उठता है। **अस्य भानवः**=इस प्रभु की ज्ञान-दीप्तियाँ **सुसन्दृशः**=प्रत्येक पदार्थ को उत्तमता से ठीक रूप में देखनेवाली होती हैं। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा से हम प्रत्येक पदार्थ को ठीक रूप में देखते हैं। २. **सुप्रतीकस्य**=उस तेजस्वी **सुद्युतः**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाले **अग्नेः**=प्रभु की **भात्वक्षसः**=भासमान शक्तियाँ (त्वक्ष इति बलनामसु—नि०) **अत्यक्तुः न**=(अक्तुः=नैशं तमः) रात्रि के अन्धकार को लाँघती हुई-सी **सिन्धवः**=(स्यन्दन्ते) चारों ओर बहनेवाली **अससन्तः**=न सोनेवाली, निरन्तर अपने कार्य को करनेवाली, **अजराः**=जीर्ण न होनेवाली **रेजन्ते**=सर्वत्र व्याप्त होती हैं। प्रभु के उपासन से जीव भासमान शक्तियों को प्राप्त करता है और 'सुप्रतीक व सुद्युत' हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक स्वास्थ्य व ज्ञान की दीप्ति प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

भृगुओं का प्रभु-दर्शन

यमैरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥ ४॥

१. **भृगवः**=(भ्रस्ज् पाके) तप व ज्ञान की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले उपासक **यं विश्ववेदसम्**=जिस सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले प्रभु को **पृथिव्याः नाभा**=इस शरीररूप प्रभु के केन्द्र, अर्थात् हृदय-देश में **एरिरे**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् हृदय-देश में उसकी गति को अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं, **तम् अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **भुवनस्य मज्मना**=सम्पूर्ण भुवन के बल के हेतु से, अर्थात् शक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **स्वे दमे**=अपने शरीररूप गृह में **आहिनुहि**=प्राप्त करने के लिए सर्वथा यत्नशील हो। हम जितना-जितना प्रभु को अपने अन्दर अनुभव करेंगे उतना-उतना ही शक्तियों को प्राप्त होनेवाले होंगे। २. उस प्रभु को तू प्राप्त करने का प्रयत्न कर **यः**=जो **एकः**=अकेले ही **वरुणः न**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले के समान होते हुए **वस्वः राजति**=सब वसुओं का आधिपत्य करते हैं। सब वसुओं के स्वामी होने से वे हमारे सब कष्टों का निवारण करते हैं।

भावार्थ—तपस्या व ज्ञान की परिपक्वता से प्रभु का साक्षात् होता है। वे प्रभु सब वसुओं के अधिपति होते हुए हमारे सब कष्टों का निवारण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

अदम्य शक्तिवाले प्रभु

न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते॥५॥

१. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **वराय न**=निवारण के लिए नहीं होते, अर्थात् जिन्हें रोकना सम्भव नहीं होता, प्रभु को उसके कार्यों में कोई शक्ति रोक नहीं सकती। वे प्रभु उसी प्रकार निवारण के लिए नहीं होते **इव**-जैसे कि **मरुतां स्वनः**-प्रचण्ड वेग से बहती हुई वायुओं का शब्द अथवा **इव**-जैसे कि **सृष्टा**-आगे बढ़ने (Marching) के लिए आज्ञा की हुई **सेना**-सेना अथवा **यथा**-जैसे **दिव्या**-अन्तरिक्ष लोक से गिरनेवाली **अशनिः**-विद्युत्। जैसे वायु के शब्द को, आगे बढ़ती हुई सेना को अथवा आकाश से गिरती हुई विद्युत् को कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार उस अग्रणी प्रभु को भी किसी के लिए रोकना सम्भव नहीं। २. वह अग्निः=अग्रणी प्रभु **तिगतैः जम्भैः**=अपने तीव्र दंष्ट्रों से—नाशक शक्तियों से **अत्ति**=हमारी सब वासनाओं को खा जाते हैं, **भर्वति**=आसुर वृत्तियों को हिंसित कर देते हैं। उसी प्रकार हिंसित कर देते हैं **न**=जैसे कि **योधः**=एक योद्धा **शत्रून्**-अपने शत्रुओं को समाप्त कर देता है। ३. इस प्रकार हमारे वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करके **सः**=वे प्रभु **वना**=(वन सम्भजने) अपने उपासकों को **न्यृञ्जते**=नितरां प्रसाधित व अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्तियाँ अदम्य हैं। वे हमारे वासनारूप शत्रुओं को समाप्त करके हमारे जीवनों को अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

बुद्धिप्रदाता प्रभु

कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत्।
चोदः कुवित्तुतुज्यात्सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे॥६॥

१. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः उचथस्य**=हमसे उच्चारित होनेवाले स्तोत्र की **कुवित्**=खूब ही **वीः**=कामना करनेवाले **असत्**=हों। हमारे द्वारा किये गये स्तोत्र प्रभु को प्रिय हों। २. **वसुः**=वे सबको निवास देनेवाले प्रभु **कुवित्**=खूब ही **वसुभिः**=वसुओं के द्वारा—आवश्यक धनों के द्वारा **कामम् आवरत्**—हमारी कामना को आच्छादित कर दें, अर्थात् कामना से अधिक ही धन-धान्य प्राप्त करानेवाले हों। ३. **चोदः**=सदा धर्म की प्रेरणा देनेवाले वे प्रभु **धियः सातये**=बुद्धियों की प्राप्ति के लिए **कुवित् तुतुज्यात्**=खूब ही प्रेरणा दें। प्रभु की प्रेरणा से हमें सदा सद्बुद्धि प्राप्त हो। ४. **तं शुचिप्रतीकम्**=उस दीप्त रूपवाले (दीप्त अङ्गोंवाले) प्रभु को **अया धिया**=इस बुद्धि से **गृणे**=मैं स्तुत करता हूँ। बुद्धि के द्वारा प्रभु का स्तवन करता हूँ, अर्थभावनपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता हूँ।

भावार्थ—मेरे स्तोत्र प्रभु को प्रिय हों। प्रभु मुझे वसु प्राप्त कराएँ, हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दें। हम बुद्धि से प्रभु का स्तवन करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

यज्ञनिर्वाहक प्रभु

घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते।
इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम्॥७॥

१. **घृतप्रतीकम्**=उस दीप्त अङ्गोंवाले व तेजस्वी रूपवाले **वः**=तुम्हारे **ऋतस्य**=यज्ञों के **धूर्षदम्**=(धुरि निर्वहणे सीदन्तम्—सा०) निर्वाहक—सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले **मित्रं न**=मित्र के समान **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **समिधानः**=ध्यान के द्वारा अपने हृदय में दीप्त करता हुआ पुरुष **ऋञ्जते**=अपने जीवन को अलंकृत करता है। प्रभु को अपने में दीप्त करने से यह उपासक भी तेजस्वी रूपवाला व यज्ञशील बनता है। २. **इन्धानः**=वह ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान **अक्रः**=अन्यों से कभी आक्रान्त न हुआ-हुआ **विदथेषु दीद्यत्**=ज्ञान-यज्ञों में दीप्त होता हुआ प्रभु **नः**=हमारी **शुक्रवर्णां धियम्**=दीप्तरूपवाली बुद्धि को **उ**=निश्चय से **उत् यंसते**=खूब चमकाता है। जब ज्ञानयज्ञों में हम प्रभु का अर्चन करते हैं तब वे प्रभु हमारी बुद्धियों को दीप्त करते हैं। हम भी प्रभु के समान अक्रः=वासनाओं से अनाक्रान्त होते हैं।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमारी बुद्धियों को खूब ही चमकाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अप्रमत्त 'रक्षक'

अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **अप्रयुच्छद्भिः**=प्रमादशून्य **शिवेभिः**=कल्याणकर **शग्मैः**=सुखप्रद **पायुभिः**=रक्षणों से **नः**=हमें **पाहि**=बचाइए। आपका रक्षण हमें सदा प्राप्त हो। ये रक्षण हमें कल्याण व सुख देनेवाले हों। २. हे प्रभो! **इष्टे**=यज्ञों के होने पर आप **अदब्धेभिः**=अहिंसित, **अदृपितेभिः**=किसी भी दूसरे से अपरिभूत **अनिमिषद्भिः**=निमेषशून्य—आलस्य-रहित, सदा जागरित रक्षणों से **नः**=हमारी **जाः**=(प्रजाः) प्रजाओं को **परिपाहि**=सर्वतः रक्षित कीजिए। हम यज्ञशील हों और हमारी प्रजाएँ प्रभु से रक्षणीय हों। प्रभु के रक्षण अहिंसित व किसी से भी पराभव के योग्य नहीं होते।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें और प्रभु के रक्षणों के पात्र हों।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमें वसु देकर प्रीणित करते हैं (१)। समाप्ति पर भी यही कहा है कि हम यज्ञशील बनें और प्रभु-रक्षण के पात्र हों (८)। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इस अग्नि के स्तवन से ही होता है—

[१४४] चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

बुद्धि व यज्ञों का सम्पादन

एति प्र होता व्रतमस्य माययोर्ध्वां दधानः शुचिपेशसं धियम्।
अभि स्रुचः क्रमते दक्षिणावृतो या अस्य धाम प्रथमं ह निंसते॥ १॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **मायया**=ज्ञान के द्वारा (माया प्रज्ञानाम—नि० ३।९) **अस्य व्रतम्**=प्रभु के व्रत को **प्र एति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है, प्रभु-प्राप्ति के व्रत को धारण करता है। ज्ञान ही तो वासना-संहार के द्वारा इसे प्रभु की ओर ले-जानेवाला है। २. यह होता **शुचिपेशसम्**=शुचिता का निर्माण करनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **ऊर्ध्वां दधानः**=सर्वोपरि धारण करता है। यह अपने जीवन में उस बुद्धि को सबसे अधिक महत्त्व देता है जो जीवन की पवित्रता का साधन बनती है। ३. **दक्षिणावृतः**=सदा दक्षिण मार्ग से चलनेवाला (दक्षिणया

वर्तते, वृत्+क) सरल व उदार मार्ग से चलनेवाला **स्रुचः**-यज्ञ के चम्मचों को **अभिक्रमते**=दिन के दोनों ओर—प्रातः-सायं ग्रहण करता है। उन चम्मचों को **याः**=जो **ह**=निश्चय से **अस्य प्रथमं धाम**=इसके प्रथम स्थान को **निंसते**-(चुम्बन्ति, भजन्ते) सेवित करते हैं, अर्थात् यह इन यज्ञों को प्राथमिक कर्तव्य समझता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के व्रत को धारण करनेवाला व्यक्ति बुद्धि के उत्कर्ष को प्राप्त करता है और यज्ञों को अपना प्रथम कर्तव्य समझता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

हृदय में स्थिर होना

अभीमृतस्य दोहना अनूषत योनौ देवस्य सदने परीवृताः।
अपामुपस्थे विभृतो यदावसदध स्वधा अधयद्याभिरीयते॥ २॥

१. **ऋतस्य दोहना**=यज्ञ व सत्य को अपने में पूर्ण करनेवाले (दुह+ल्यु) लोग **ईम्**=निश्चय से **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु-स्तवन से ही उनकी वृत्ति यज्ञिय बनती है और वे सत्य का पालन कर पाते हैं। २. ये उपासक **योनौ**=प्रभु के प्रकाशित होने के स्थान हृदय में **देवस्य सदने**-उस देव के गृहरूप हृदय में **परीवृताः**=चारों ओर से आच्छादित होते हैं, अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति को इधर-उधर भटकने से रोककर हृदय में ही स्थापित करते हैं। ३. इस चित्तवृत्ति को विषयों में जाने से रोकने के लिए ही **अपाम्**=कर्मों की **उपस्थे**=गोद में **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किया हुआ **यदा अवसत्**=जब रहता है **अध**=तो **स्वधाः**=आत्मधारणात्मक शक्तियों को **अधयत्**=पीनेवाला होता है। ये स्वधाएँ ही वे शक्तियाँ हैं **याभिः**=जिनसे **ईयते**=वह इस संसार में ठीक से गति करता है और अन्त में प्रभु को प्राप्त होनेवाला होता है। कर्मों में लगे रहने से मन वासना की ओर नहीं जाता, आत्मधारण की शक्ति प्राप्त होती है और इन शक्तियों से गतिमय होते हुए हम उस प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ऋत का दोहन करनेवाले चित्तवृत्ति को हृदय में निरुद्ध करते हैं और सदा क्रियाशील होते हुए आत्मधारण की शक्तियों से युक्त होकर प्रभु की ओर बढ़ते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सारथि प्रभु

युयूषतः सवयसा तदिद्वपुः समानमर्थं वितरित्रता मिथः।
आदीं भगो न हव्यः समस्मदा वोळ्हुर्न रश्मीन्त्समयंस्त सारथिः॥ ३॥

१. **सवयसा**=समानरूप से वयस्क हुए-हुए, अर्थात् १८ व २५ वर्ष के आयुष्य को प्राप्त हुए-हुए युवति व युवक **मिथः**=परस्पर मिलकर **समानम् अर्थम्**=एक ही प्रयोजन को **वितरित्रता**=तैरने की कामनावाले—पूर्ण करने के इच्छुक **इत्**=निश्चय से **तत् वपुः**=प्रभु से दिये हुए शरीरों को **युयूषतः**=मिलाने की इच्छा करते हैं—दो न रहकर एक हो जाते हैं। पति-पत्नी परस्पर मिलकर—एक ही बनकर गृहस्थ को सफल बना पाते हैं। २. **आत्**=अब अर्थात् परस्पर एक होकर गृहस्थ को सफल बनाने पर ही **ईम्**=निश्चय से **भगः न**=उपास्य के समान वे प्रभु **हव्यः**=पुकारने के योग्य होते हैं। हम प्रभु की प्रार्थना करते हैं तो वे **अस्मत्**=(अस्माकम्—सा०) हमारे **रश्मीन्**=शरीर रथ की लगामों को उसीप्रकार **समयंस्त**=संयत करते हैं, सँभालते हैं **न**=जैसे **वोळ्हुः**=वाहक घोड़ों की **रश्मीन्**=रश्मियों (लगाम) को **सारथिः**=सारथि वश में करता है। जब प्रभु हमारे शरीर-रथ के सञ्चालक होते हैं तब भटकने का भय नहीं रहता।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर प्रेम से चलते हैं और पुरुषार्थी बनकर प्रभु को पुकारते हैं तो प्रभु उनके शरीर-रथ के सारथि बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

प्रभुरूप समान गृह में

यमीं द्वा सवयसा सपर्यतः समाने योना मिथुना समोकसा।
दिवा न नक्तं पलितो युवाजनि पुरू चरन्नजरो मानुषा युगा॥ ४॥

१. **द्वा**=गतमन्त्र में वर्णित दोनों पति-पत्नी **सवयसा**=समानरूप से आयुष्य को प्राप्त किये हुए होकर **यम्**=जिस परमात्मा को **ईम्**=निश्चय से **सपर्यतः**=पूजित करते हैं और **समाने योना**=उस समान उत्पत्तिस्थान प्रभु में **मिथुना**=मिलकर निवास करनेवाले **समोकसा**=समान गृहवाले होते हैं। वह प्रभु **दिवा न नक्तम्**=न दिन में न रात्रि में **पलितः**=बुढ़ापे की सफेदीवाला होता है, अर्थात् दिन-रात बीतते हुए उसे वृद्ध नहीं कर देते, **युवा अजनि**=वह सदा युवा बना रहता है। २. **मानुषा युगा**=अपने उपासक इन मानव-युगलों में—पति-पत्नियों की जोड़ियों में (द्वन्द्वों में) **पुरुचरन्**=खूब गति करता हुआ वह **अजरः**=सदा अ-जीर्ण बना रहता है। मानवहित के लिए प्रभु की सब क्रियाएँ हैं। प्रभु को अपने लिए कुछ नहीं करना। यही उसकी अजीर्णता का रहस्य है।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर प्रभु का उपासन करते हैं तो वे एक प्रभु में निवास का अनुभव करने से परस्पर अधिक समीप होते हैं। वे प्रभु की भाँति परार्थ में प्रवृत्त होकर अजर बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

ध्यान से ज्ञान-रश्मियों की प्राप्ति

तमीं हिन्वन्ति धीतयो दश व्रिशो देवं मर्तास ऊतये हवामहे।
धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वत्यभिव्रजद्भिर्वयुना नवाधित॥ ५॥

१. **दश**=दसों दिशाओं में रहनेवाली **धीतयः**=ध्यानशील **व्रिशः**=(वशः—द०) प्रजाएँ **ईम्**=निश्चय से **तं हिन्वन्ति**=प्रभु को अपने हृदय में प्रेरित करती हैं। **मर्तासः**=हम मरणधर्मा पुरुष भी **ऊतये**=रक्षा के लिए **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। आपत्ति आने पर प्रभु की ओर झुकाव होता ही है। ध्यानशील लोग सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। २. **सः**=ध्यान किये गये वे प्रभु **धनोः अधि**=धनुष पर से **प्रवतः**=प्रकर्षेण जाते हुए बाणों की भाँति—प्रकृष्ट वेगवाली रश्मियों को **आऋण्वति**=समन्तात् प्रेरित करते हैं और **अभिव्रजद्भिः**=ऐहिक व आमुष्मिक ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त कराती हुई इन रश्मियों से **नवा**=नवीन व स्तुत्य **वयुना**=प्रज्ञानों को **अधित**=धारण करते हैं। इन प्रज्ञानों को प्राप्त करके हम संसार में ठीक मार्ग से चलते हुए कष्टों से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करने पर वे ज्ञानरश्मियाँ प्राप्त होती हैं, जो हमें कष्टों से ऊपर उठानेवाली होती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

दिव्य व पार्थिव सम्पत्ति

त्वं ह्यग्ने दिव्यस्य राजसि त्वं पार्थिवस्य पशुपाइव त्मना।
एनी त एते बृहती अभिश्रिया हिरण्ययी वक्वरी बर्हिराशाते॥ ६॥

१. हे **अग्ने**-परमात्मन्! **त्वम्**-आप हि=निश्चय से **दिव्यस्य**-द्युलोक-सम्बन्धी ऐश्वर्य के **राजसि**=स्वामी हैं, **त्वं पार्थिवस्य**-आप ही पृथिवी-सम्बन्धी ऐश्वर्य के भी स्वामी हैं। द्युलोक अध्यात्म में मस्तिष्क है, इसकी सम्पत्ति ज्ञान का प्रकाश है। अध्यात्म में पृथिवी शरीर है। इसकी सम्पत्ति दृढ़ता है। प्रभु ही हमें इन ज्ञान व दृढ़तारूप सम्पत्तियों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **त्मना**-स्वयं ही **पशुपाः इव**-एक-एक पशुओं के रक्षक के समान हैं। आप इस कार्य में स्वयं ही प्रेरित हो रहे हैं। प्राणिमात्र का रक्षण आपका स्वभाव ही है। ३. **एते**-ये **ते**=आपके—आपसे दिये जानेवाले ज्ञान व दृढ़तारूप ऐश्वर्य **एनी**=शुभ्रवर्णवाले हैं, **बृहती**=हमारी वृद्धि के कारणभूत हैं, **अभिश्रिया**=शरीर व मस्तिष्क दोनों को श्री-सम्पन्न करनेवाले हैं, **हिरण्ययी**=ये हमारे लिए हितरमणीय हैं, हमारा हित करनेवाले व जीवन के सौन्दर्य को बढ़ानेवाले हैं, **वक्वरी**=ये हमारे जीवन को स्तुत्य व प्रशंसनीय बनानेवाले हैं। जो भी हमारे मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में दृढ़ता देखता है, वह इनकी प्रशंसा ही करता है। ये ज्ञान व दृढ़ता **बर्हिः**=हमारे जीवनयज्ञ को **आशाते**=व्याप्त कर रहे हैं। हमारा जीवन ज्ञान व दृढ़ता से सम्पन्न होता है।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से द्योतित करते हैं और शरीर को दृढ़ता से युक्त करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

उपासना का लाभ

अग्ने॑ जु॒षस्व॒ प्रति॑ हर्य॒ तद्वचो॒ मन्द्र॒ स्वधा॑व॒ ऋत॑जात॒ सुक्र॑तो।
यो वि॒श्वतः॑ प्र॒त्यङ्ङसि॑ दर्श॒तो र॒ण्वः संदृ॑ष्टौ पितु॒माँइ॑व॒ क्षयः॑॥ ७॥

१. हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **तत् वचः**=हमारे उस स्तुतिवचन को **जुषस्व**=आप प्रीतिपूर्वक ग्रहण कीजिए, **प्रति हर्य**=यह स्तुतिवचन प्रतिदिन आपके लिए कान्त—इष्ट हो। ये स्तुतिवचन हमें आपका प्रिय बनानेवाले हों। **मन्द्र**=हे प्रभो! आप तो आनन्दमय स्वभाववाले हैं, **स्वधाव**=हमारी आत्माओं को (स्व) शुद्ध करनेवाले हैं (धाव), **ऋतजात**=(ऋतेन जातः) यज्ञ व सत्य के द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले हैं। हम यज्ञशील व सत्यनिष्ठ बनकर ही आपका दर्शन कर पाते हैं। **सुक्रतो**=आप उत्तमज्ञान व कर्मोंवाले हैं। हम भी आपका स्तवन करते हुए ऐसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। २. **यः**=जो आप **विश्वतः**-सब ओर **प्रत्यङ् असि**-सर्वाभिमुख हैं—सबके समक्ष हैं, सभी को प्राप्त होनेवाले हैं, **दर्शतः**-तेजस्विता व दीप्ति के कारण दर्शनीय हैं, **रण्वः**-रमणीय हैं अथवा अपने द्रष्टा को आनन्दित करनेवाले हैं, **सन्दृष्टौ**=सम्यक् दर्शन होने पर, अर्थात् यदि हम ठीक दृष्टिकोण से विचार करें तो आप **पितुमान्**=भरपूर अन्नवाले **क्षयः इव**-गृह की भाँति हैं, अर्थात् 'आपके उपासक को कभी खान-पान की कमी हो जाए'—ऐसा नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु का उपासक आनन्दमय (मन्द्र), शुद्ध (स्वभाव), सत्यनिष्ठ (ऋतजात), उत्तम प्रज्ञावाला (सुक्रतु) व सुन्दर जीवनवाला बनता है। इस उपासक को सांसारिक दृष्टिकोण से भी असफलता नहीं होती—यह भूखा नहीं मरता।

विशेष—सारा सूक्त 'प्रभु उपासन' की महिमा का वर्णन कर रहा है। अगला सूक्त भी उसी प्रभु की ओर चलने के लिए कहता है—

[१४५] पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'परम चिकित्सक' प्रभु

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँ ईयते सा न्वीयते।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः॥ १॥

१. **तं पृच्छत्**=उस प्रभु को जानने की इच्छा करो। उसी की चर्चा करो। **स जगाम**=वह सर्वत्र गया हुआ है, सर्वव्यापक है, इसलिए **सः वेद**=वह सब-कुछ जानता है। हमारे सब रोगों व कष्टों को भी प्रभु समझते हैं। **सः**=वे **चिकित्वान्**=उन रोगों की चिकित्सा करके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले होते हुए (कित निवासे रोगापनयने च) **ईयते**=गति कर रहे हैं। **सा नु आ ईयते**=उस परम चिकित्सक प्रभु की चिकित्सा भी शीघ्रता से सर्वत्र गतिमय हो रही है, प्रभु द्वारा सर्वत्र चिकित्सा की जा रही है। २. हमारे रोगों को जानकर वे प्रभु निर्देश करते हैं कि 'इसके निवारण के लिए ऐसा करो और ऐसा न करो'। **तस्मिन्**=उस प्रभु में **प्रशिषः**=सब प्रशासन **सन्ति**=हैं। इन प्रशासनों का हम पालन करते हैं तो हमें सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। **तस्मिन्**=उस प्रभु में सब **इष्टयः**=इष्ट वस्तुओं की प्राप्तियाँ विद्यमान हैं। **सः**=वे प्रभु **वाजस्य**=सब अन्नों के **शवसः**=गतियों के तथा **शुष्मिणः**=शत्रु-शोषक बलों के **पतिः**=स्वामी हैं। हम प्रभु के प्रशासन में चलेंगे तो हमें अन्न, गति के लिए शक्ति तथा काम-क्रोधादि के शोषण की शक्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—हम प्रभु को जानने की इच्छा करें, उसके प्रशासन में चलने का यत्न करें। हमें अन्न, गतिशक्ति व शत्रुशोषक शक्ति प्राप्त होगी, परिणामतः हमारे सब रोगों का निवारण हो जाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धीर द्वारा प्रभु-दर्शन

तमित्पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत्।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचोऽस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः॥ २॥

१. सब लोग **तम् इत्**=उस महात्मा से ही **पृच्छन्ति**=सब-कुछ माँगते हैं (प्रच्छ=Ask) पर **सिमः**=यह सारा लोक **न वि पृच्छति**=उसे जानने की इच्छा नहीं करता (प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) **धीरः इव**=कोई धीर ही (इव-एवार्थे—सा०) **स्वेन मनसा**=अपने मन से, विषयों से व्यावृत्त, अन्तर्मुख मन के द्वारा **यत्**=जब **अग्रभीत्**=उस प्रभु का ग्रहण करता है(कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुः—उप०) तो **प्रथमं वचः**=प्रातःकाल के स्तुतिवचन को **न मृष्यते**=प्रमादवश उपेक्षित नहीं करता (मृष्=to forget, neglect), **न अपरम्**=न ही सायंकाल के स्तुतिवचन को उपेक्षित करता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रातः-सायं—दोनों समय ध्यान में प्रवृत्त होता है। २. इस प्रभु-प्राप्ति के लिए ही **अस्य क्रत्वा**=इस प्रभु-प्राप्ति के जप, तप, ध्यानादि कर्मों से **सचते**=समवेत होता है, अर्थात् जप, तपादि प्रभु-प्राप्ति के साधनभूत कर्मों को कभी नहीं छोड़ता। साथ ही **अप्रदृपितः**=यह कभी दर्पवाला नहीं होता। सांसारिक ऐश्वर्यों से दृप्त हुआ कभी प्रभु को भूल नहीं जाता।

भावार्थ—धीर पुरुष निरुद्ध मन से प्रभु को जानने का प्रयत्न करता है। इसी उद्देश्य से

प्रातः-सायं ध्यान में बैठता है और जप-तपादि को अपनाता है। सांसारिक ऐश्वर्य से गर्वित नहीं होता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'निर्देष्टा व तारयिता' प्रभु

तमिद्गच्छन्ति जुह्वस्तमर्वतीर्विश्वान्येकः शृणवद्वचांसि मे।
पुरुप्रैषस्ततुरिर्यज्ञसाधनोऽच्छिद्रोतिः शिशुरादत्त सं रभः॥ ३॥

१. (हूयन्ते इति जुह्वः=आहुतयः) **जुह्वः**=सब आहुतियाँ **तम् इत्**=उस प्रभु को ही **गच्छन्ति**=प्राप्त होती हैं। **तम्**=उस प्रभु को ही **अर्वतीः**=(अर्व=to kill) सब अशुभों का संहार करनेवाली स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए धीर पुरुष यज्ञशील बनता है और स्तुति करता है। २. वह **एकः**-अद्वितीय प्रभु ही **मे**=मेरे **विश्वानि वचांसि**=सब स्तुति-प्रार्थना वचनों को **शृणवत्**=सुनता है। मेरी प्रार्थनाओं को सुनकर उन प्रार्थनाओं की पूर्ति के लिए **पुरुप्रैषः**=पालक व पूरक निर्देशोंवाला वह प्रभु है। मैं प्रार्थना करता हूँ। उसकी पूर्ति के लिए प्रभु मुझे मार्ग का निर्देश ही नहीं उसपर चलने के लिए शक्ति भी देते हैं और इस प्रकार **ततुरिः**=वे सब विघ्न-बाधाओं से तारनेवाले हैं, **यज्ञसाधनः**=विघ्नों से तारकर हमारे यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। ३. यज्ञों—उत्तम कर्मों की सिद्धि के द्वारा वे प्रभु **अच्छिद्रोतिः**=निर्दोष व अन्तर से शून्य (निरन्तर) रक्षणवाले हैं। वे प्रभु सदा हमारा रक्षण कर रहे हैं। **शिशुः**=हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण करनेवाले हैं। इन बुद्धियों के अनुसार **संरभः**=(रभ्=to begin) कार्यों का सम्यक् आरम्भ करनेवालों को **आदत्त**=प्रभु अपनी गोद में ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ व स्तुतियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलती हैं। प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को सुनकर उनकी पूर्ति के लिए साधनों का निर्देश करते हैं, उन्हें पालन के लिए बुद्धि व शक्ति देते हैं। जो सम्यक् कार्यों का आरम्भ करता है, उसे प्रभु ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

भक्त प्रभु की ओर प्रभु भक्त की ओर

उपस्थायं चरति यत्समारत सद्यो जातस्तत्सार युज्येभिः।
अभि श्वान्तं मृशते नान्द्ये मुदे यदीं गच्छन्त्युशतीरपिष्ठितम्॥ ४॥

१. जब एक भक्त प्रत्येक कार्य को **उपस्थायं चरति**=(उपस्थाय उपस्थाय चरति—सा०) प्रभु की उपासना के साथ करता है, **यत्**=और जब **समारत**=उस प्रभु के साथ सङ्गत होता है, अर्थात् प्रातः-सायं प्रभु के ध्यान में बैठता है तब वे प्रभु **सद्यः जातः**=शीघ्र प्रकट हुए-हुए **युज्येभिः**-इन योगयुक्त पुरुषों को **तत्सार**=(त्सर=to go or approach gently) शान्ति से प्राप्त होते हैं। **श्वान्तम्**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गतिशील व वर्धमान (शक्तियों का वर्धन करते हुए) पुरुष को **अभिमृशते**=प्रभु स्पर्श करते हैं। गतिशील, वर्धमान पुरुष का प्रभु से मेल होता है। यह मेल **नान्द्ये**=(नन्द्=समृद्धौ) समृद्धि के होने पर **मुदे**=हर्ष के लिए होता है। प्रभु के मेल से अभ्युदय की प्राप्ति होती है और आनन्द की वृद्धि होती है। २. यह सब होता तभी है **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **उशतीः**=प्रभु से मेल की कामनावाली ये प्रजाएँ **अपिष्ठितम्**=सर्वत्र व्याप्त होकर वर्तमान उस प्रभु की ओर **गच्छन्ति**=जाती हैं।

भावार्थ—भक्त जब प्रभु के स्मरण के साथ ही प्रत्येक कार्य को करता है तब प्रभु भी उसे प्राप्त होते हैं। यह प्रभु से मेल अभ्युदय व आनन्द का कारण होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सत्यलोक की प्राप्ति

स ईं मृगो अप्यो वनर्गुरुप त्वच्युपमस्यां नि धायि।
व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः॥५॥

१. **सः**=वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **मृगः**=(मर्जयिता—सा०) भक्त के जीवन को शुद्ध बनानेवाले हैं, **अप्यः**=(आप्यः) प्राप्त करने योग्य हैं। प्रभु को प्राप्त करनेवाला ही तो शुद्ध जीवनवाला बनता है। वे प्रभु **वनर्गुः**=उपासकों को प्राप्त होते हैं (वन सम्भजने), **उप त्वचि**=वे प्रभु भक्तों के सम्पर्क में **निधायि**=स्थापित होते हैं, अर्थात् भक्तों को प्रभु की प्राप्ति होती है। **उपमस्याम्**=वे प्रभु तो समीप हृदय में स्थित हैं। २. वे विद्वान् **अग्निः**=ज्ञानी प्रभु **मर्तेभ्यः**=मनुष्यों के लिए **वयुना**=प्रज्ञानों को **वि अब्रवीत्**=विशेषरूप से उपदिष्ट करते हैं, उनके हृदयों में स्थित हुए-हुए उन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **हि**=निश्चय से भक्तों के हृदय में **ऋतचित्**=सत्य व यज्ञ का चयन करनेवाले हैं। प्रभु के ध्यान से सत्य व यज्ञ की भावना का वर्धन होता है। वे प्रभु **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। प्रभु-भक्त भी अधिकाधिक सत्यवादी होता है। यह सत्य ही सर्वोत्कृष्ट लोक है, जहाँ कि हमें पहुँचना है।

भावार्थ—प्रभु भक्त के जीवन को परिमार्जित कर देते हैं और यह भक्त जीवन में ऋत का वर्धन करता हुआ सत्यस्वरूप प्रभु को प्राप्त करता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को परम चिकित्सक कहा गया है (१)। धीर पुरुष ही प्रभु का दर्शन करते हैं (२)। वे प्रभु हमें ठीक निर्देश देते हैं (३)। उन निर्देशों का पालक भक्त प्रभु की ओर बढ़ता है (४)। सत्य का वर्धन करता हुआ सत्यलोक को प्राप्त करता है (५)। 'प्रभु का ही स्तवन करना चाहिए'—यह अगले सूक्त में कहा है—

[१४६] षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सर्वाधार प्रभु

त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे।
निषत्तमस्य चरतो ध्रुवस्य विश्वा दिवो रोचनापप्रिवांसम्॥१॥

१. उस प्रभु का **गृणीषे**=(स्तुहि) स्तवन कर जो प्रभु **त्रिमूर्धानम्**=ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य—तीनों के दृष्टिकोण से शिखर पर हैं। वस्तुतः प्रभु का लक्षण ही यह है कि 'जहाँ ज्ञान निरतिशय है, वही प्रभु है।' इसी प्रकार शक्ति की चरम सीमा ही प्रभु हैं और सम्पूर्ण ऐश्वर्य के वे स्वामी हैं। प्रकृति पत्नी है तो प्रभु इसके पति हैं। **सप्तरश्मिम्**=सात छन्दों से युक्त ज्ञान की रश्मियोंवाले वे प्रभु ज्ञान के सूर्य ही हैं, **पित्रोः**=द्यावापृथिवी के **उपस्थे**=गोद में **अनूनम्**=वे पूर्ण हैं, अर्थात् उनकी व्यापकता से शून्य कोई स्थान नहीं है, **अग्निम्**=वे अग्रणी हैं। २. **अस्य**=इस **चरतः**=जंगम व **ध्रुवस्य**=स्थावर जगत् के **निषत्तम्**=वे आधार हैं (निषीदति अस्मिन्) और **दिवः**=द्युलोक के **विश्वा रोचना**=सब ज्योतिर्मय पिण्डों को **आपप्रिवांसम्**=(पूरयितारम्—सा०) पूरित कर रहे हैं। सब पिण्डों में वे प्रभु ही ज्योति भर रहे हैं—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य की चरम सीमा हैं। सर्वत्र व्याप्त हैं, स्थावर-जंगम के आधार हैं, सब ज्योतिर्मय पिण्डों को ज्योति से पूरित कर रहे हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

शिखर पर पहुँचानेवाले प्रभु

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः ।
उर्व्याः पदो नि दधाति सानौ रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य ॥ २ ॥

१. वे प्रभु **उक्षा**-सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं, **महान्**-महान् व पूज्य हैं, **एने**=इन द्यावापृथिवी को **अभिववक्षे**=धारण कर रहे हैं। २. **अजरः**=वे प्रभु कभी जीर्ण होनेवाले नहीं, **ऋष्वः**=वे महान् व पूज्य प्रभु **इतः ऊतिः**-इस संसार-सागर में डूबने से हमारा रक्षण करनेवाले होकर **तस्थौ**=स्थित हैं। ३. **पदः**=(पद्यते इति पद्) गतिशील पुरुषों को **उर्व्याः सानौ**=द्युलोक व पृथिवीलोक के शिखर पर **निदधाति**=स्थापित करते हैं। प्रभु इन गतिशील पुरुषों को पृथिवीरूप शरीर में पूर्ण स्वस्थ तथा द्युलोकरूप मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त बनाते हैं। इन गतिशील पुरुषों के **ऊधः**=(Inner appartment) हृदय के अन्तस्तलों को **अस्य**=उस प्रभु के **उरुषासः**= आरोचमान प्रकाश **रिहन्ति**-छूते हैं, अर्थात् इनके हृदय प्रभु प्रकाश से चमक उठते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण कर रहे हैं। गतिशील पुरुषों को स्वस्थ, ज्ञानी व प्रकाशमय हृदयोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

'जायापतिरूप' धेनू

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग्धेनू वि चरतः सुमेके ।
अनपवृज्याँ अध्वनो मिमाने विश्वान्केताँ अधि महो दधाने ॥ ३ ॥

१. एक घर में पति-पत्नी दोनों **समानम्**=(सम् आनयति)=सम्यक् प्राणित करनेवाले **वत्सम्**-(वदति) वेदज्ञान का उपदेश करनेवाले प्रभु की **अभि**=ओर **संचरन्ती**-(सचरन्त्यौ) मिलकर चलनेवाले होते हैं। २. **सुमेके**=उत्तम कर्म करनेवाले **धेनू**=अपनी प्रजाओं को प्रीणित करनेवाले **विष्वक् विचरतः**=अपने विविध कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होते हैं। ३. **अनपवृज्यान्**= (अपवर्जनीयरहितान्—सा०) जिनका अपवर्जन व त्याग कभी नहीं होता उन **अध्वनः**=मार्गों को **ये मिमाने**=बनाते हुए चलते हैं, अर्थात् अपने कर्त्तव्यकर्मों को कभी उपेक्षित नहीं करते और **विश्वान् केतान्**=सब ज्ञानों को तथा **महः**=पूजावृत्तियों को **अधिदधाने**=खूब ही धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी को प्रभु-प्रवण (झुकाववाला) होना चाहिए। प्रजाओं के पालनादि कर्मों की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ज्ञान-प्राप्ति व पूजा की वृत्तिवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

धीरों का प्रभु की ओर जाना

धीरासः पदं कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम् ।
सिषासन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुमाविरेभ्यो अभवत्सूर्यो नॄन् ॥ ४ ॥

१. **धीरासः कवयः**=धैर्य की वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष **पदम्**=(पद्यते मुनिभिर्यस्मात्तस्मात्पद उदाहृतः) उस प्राप्य प्रभु की ओर अपने-आपको **नयन्ति**=ले-चलते हैं। **नाना हृदा**=विविध बुद्धियों से (बहु प्रकारया बुद्ध्या—सा०) **अजुर्यम्**=जीर्ण न होनेवाले प्रभु को **रक्षमाणाः**= (धारयमाणाः) ये अपने हृदयों में धारण करते हैं। संसार के प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने

पर ये उनमें प्रभु की महिमा को देखते हैं। २. **सिषासन्तः**=उसका सम्भजन करते हुए **सिन्धुम्**=ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य के समुद्र प्रभु को **परि अपश्यन्त**=चारों ओर—सर्वत्र देखते हैं, **एभ्यः**=इन्हीं के लिए **आविः अभवत्**=वे प्रभु प्रकट होते हैं। **नॄन्**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले इन पुरुषों को **सूर्यः**=वे प्रभु सूर्य के समान पथ-प्रदर्शन करनेवाले होते हैं या उत्तम कर्मों में प्रेरित करते हैं (सुवति)।

भावार्थ—धीर पुरुष प्रभु की ओर चलते हैं, प्रभु की ही महिमा को सर्वत्र देखते हैं। इन्हीं के हृदय में प्रभु प्रकट होते हैं और इनका पथ-प्रदर्शन करते हुए इन्हें आगे ले-चलते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'दिदृक्षेण्य' प्रभु

दिदृक्षेण्यः परि काष्ठासु जेन्य ईळेन्यो महो अर्भाय जीवसे।
पुरुत्रा यदभवत्सूरहैभ्यो गर्भेभ्यो मघवा विश्वदर्शतः॥ ५॥

१. **दिदृक्षेण्यः**=(द्रष्टुमेष्टव्यः—सा०) वे प्रभु धीर पुरुषों से देखने के लिए इष्ट होते हैं, **काष्ठासु**=सब दिशाओं में **परिजेन्यः**=सर्वतः सब स्थानों पर व्यापक हैं। सब दिशाओं में, एक-एक पदार्थ में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है, **ईळेन्यः**=वे स्तुति के योग्य हैं। **महः**=(महतः) बड़े के तथा **अर्भाय**=छोटे के लिए **जीवसे**=जिलाने के लिए हैं। वे छोटे-बड़े सबके जीवन का कारण हैं। २. **यत्**=जो **पुरुत्रा**=सर्वत्र **सूः अभवत्**=उत्पन्न करनेवाले हैं, वे **अह**=निश्चय से **एभ्यः गर्भेभ्यः**=इन अपने हृदयों में प्रभु को धारण करनेवाले पुरुषों के लिए **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **विश्वदर्शतः**=(सर्वविषयद्रष्टव्यवान्—सा०) सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान देनेवाले होते हैं। पत्थर में बसे कृमि के लिए प्रभु ने वहाँ पत्थर में ही भोजन उत्पन्न किया है, इसलिए उन्हें 'पुरुत्रा सूः'—इन शब्दों में स्मरण किया गया है। प्रभु का ज्ञान होने पर सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है (विश्वदर्शतः)।

भावार्थ—प्रभु ही द्रष्टव्य हैं। सब दिशाओं में प्रभु की महिमा प्रकट है। प्रभु का ज्ञान होने पर सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु सर्वाधार हैं (१), शिखर पर पहुँचानेवाले हैं (२)। पति-पत्नी को प्रभु की ओर ही चलना चाहिए (३)। धीर पुरुष प्रभु की ओर ही चलते हैं (४) प्रभु ही द्रष्टव्य हैं (५)। उस प्रभु की रश्मियाँ सर्वत्र दीप्ति फैलाती हैं—

[१४७] सप्तचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शत्रुशोषण व शुचिता

कथा ते अग्ने शुचयन्त आयोर्ददाशुर्वाजेभिराशुषाणाः।
उभे यत्तोके तनये दधाना ऋतस्य सामन्रणयन्त देवाः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=आपकी ज्ञानरश्मियाँ **कथा**=किस प्रकार सुन्दरता से **शुचयन्तः**=पवित्र व दीप्त करती हुईं **आशुषाणाः**=शत्रुओं का शोषण करती हुईं **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **आयोः**=आयुष्य का **ददाशुः**=दान करती हैं। जब एक भक्त प्रभु का स्तवन करता है तब प्रभु की ज्ञान-रश्मियाँ उसके जीवन को पवित्र करती हैं और उसके काम-क्रोधादि शत्रुओं का शोषण कर देती हैं। २. इस प्रकार प्रभुस्तवन से पवित्र जीवनवाले होते हुए **देवाः**=देववृत्ति के

लोग **उभे**-शक्ति व आयुष्य दोनों को **यत्**=जब **तोके**=पुत्र में तथा **तनये**-पौत्र में **दधानाः**=धारण करते हैं तब **ऋतस्य**=सत्यस्वरूप परमात्मा के **सामन्**-उपासन में **रणयन्त**-रमण करते हैं—आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रभु का क्रियात्मक उपासन यही है कि जैसे प्रभु ने हमारे जीवन को पवित्र व कामादि शत्रुओं से अनाक्रान्त बनाया, उसी प्रकार हम अपने पुत्र पौत्रों के जीवन को बनाने का प्रयत्न करें। प्रभु ने हमें शक्ति व जीवन दिया, हम अगले सन्तानों में इनके स्थापन का प्रयत्न करें। जैसे प्रभु का उपासन घर में बड़ों को पवित्र बनाता है, उसी प्रकार माता पिता का उपासन बच्चों को उत्तम जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—प्रभु शत्रुशोषण के द्वारा उपासक में शुचिता का स्थापन करते हैं। उपासकों को चाहिए कि वे भी अपनी सन्तानों में इसी प्रकार पवित्रता का स्थापन करें।

ऋषि—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुभक्त बनूँ न कि प्रभुविमुख

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने॥ २॥

१. **यविष्ठ**=युवतम! बुराइयों को हमसे अधिक-से-अधिक दूर करनेवाले और अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करानेवाले प्रभो! **मे**=मेरे **अस्य**=इस **मंहिष्ठस्य**=पूजा की प्रबलभावना से युक्त **प्रभृतस्य**=प्रकर्षेण सम्पादित **वचसः**=प्रार्थना वचन को **बोध**-जानिए, सुनिए। २. हे **स्वधावः**=आत्मधारण-शक्तिसम्पन्न प्रभो! संसार में **त्वः**=कोई एक तो—कुछ पुरुष तो **पीयति**=आपकी हिंसा करते हैं, कभी आपका स्मरण नहीं करते, संसार के विषयों की ममता उन्हें आपके ध्यान से विमुख किये रहती है। **त्वः**=कोई एक **अनुगृणाति**=आपके स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है। कोई विरला व्यक्ति ही विषयों से पराङ्मुख होकर आपकी ओर झुकता है। ३. मैं तो हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वन्दारुः** आपकी वन्दनावाला बनकर आपके **तन्वम्**-शक्ति-विस्तार के प्रति (तन् विस्तारे) **वन्दे**=नतमस्तक होता हूँ। मुझे सर्वत्र आपकी शक्ति ही कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—संसार में मनुष्य दो भागों में बँटे हुए हैं—कुछ प्रभुभक्त हैं, कुछ प्रभु से विमुख। मैं प्रभुभक्त बनकर प्रभु के शक्तिविस्तार को देखता हुआ नतमस्तक होऊँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मामतेय का अन्धत्व

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः॥ ३॥

१.हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ये**=जो **ते**=आपकी **पायवः**=रक्षणशक्तियाँ हैं वे **मामतेयम्**=(ममतायाः पुत्रम्) ममता के पुत्र, ममता के पुतले मुझे **अन्धं पश्यन्तः**=अन्धा-सा हुआ-हुआ देखती हुईं **दुरितात्**=दुरित से, कुमार्ग पर भटकने से **अरक्षन्**=रक्षा करती हैं, बचाती हैं। ममता के कारण मनुष्य अन्धा हो जाता है, वह अपने कर्त्तव्य कर्म को नहीं देख पाता। उस समय प्रभु ही उसे मार्गभ्रष्ट होने से बचाते हैं। २. प्रभुकृपा से मार्गभ्रष्ट होने से बचे हुए **तान् सुकृतः**=उन पुण्यशाली लोगों को **विश्ववेदाः**=वह सर्वज्ञ प्रभु ही **ररक्ष**-फिर पाप में गिरने से बचाते हैं। प्रभु से रक्षित होने पर **दिप्सन्तः**=हिंसित करते हुए **इत्**=भी **रिपवः**=काम-क्रोधादि शत्रु **अह**=निश्चय से **न देभुः**-हिंसित नहीं कर पाते। प्रभु-रक्षित पर कामादि का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—जब मनुष्य ममता से अन्धा हो जाता है, तब प्रभु की रक्षण-शक्तियाँ ही उसे दुरित से बचाकर उत्तम मार्ग पर ले-जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गूढ़ शत्रु का नाशक मन्त्र

यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुररातीवा मर्चयति द्वयेन।
मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सो अस्मा अनु मृक्षीष्ट तन्वं दुरुक्तैः॥४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **अररिवान्**=दान न देनेवाला—कृपण अतएव अपवित्र जीवनवाला **अघायुः**=मन में सदा अघ (पाप) की भावना करनेवाला **अरातीवा**=मन में शत्रुता का भाव रखनेवाला **द्वयेन**='मन में कुछ बाहर कुछ'—इस प्रकार द्विविध भाव से **नः मर्चयति**-हमें हिंसित करता है (to hurt) व प्राप्त होता है (to go), **सः मन्त्रः**=उस द्वारा हमें दी जानेवाली वह सलाह **पुनः**=फिर **अस्मै गुरुः अस्तु**=इसके लिए ही निगलनेवाली हो (गरिता—सा०), अर्थात् उस गलत मन्त्रण से वह स्वयं ही विनष्ट होनेवाला हो। संसार में इस प्रकार छल-छिद्रवाले व्यक्ति बहुत होते हैं—ऊपर से मीठे, अन्दर विषभरे। ये मीठी-मीठी बातों से हमें गलत मार्ग पर ले-जाकर विनष्ट कर डालते हैं। २. उनका अशुभ मन्त्रण उन्हीं को नष्ट करनेवाला हो। यह द्विविध नीतिवाला दुष्ट पुरुष **दुरुक्तैः**=अपने दुरुक्तों से—अशुभ विचारों व मन्त्रों से **तन्वम् अनुमृक्षीष्ट**=अपने शरीर को ही अनुक्रमेण लुप्त करनेवाला हो, अपना ही सफाया करनेवाला हो। ये अशुभ मन्त्रणाएँ उसे ही नाश की ओर ले जानेवाली हों।

भावार्थ—मित्र की आकृतिवाले गूढ़ शत्रु के मन्त्र उसे ही निगलनेवाले हों। इन दुष्ट मन्त्रणाओं से उसका स्वयं ही नाश हो जाए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुस्तवन से रक्षण

उत वा यः सहस्य प्रविद्वान् मर्तो मर्तं मर्चयति द्वयेन।
अतः पाहि स्तवमान स्तुवन्तमग्ने माकिर्नो दुरिताय धायीः॥५॥

१. हे **सहस्य**=शत्रुओं के मर्षण करनेवाली शक्तियों में उत्तम **अग्ने**=परमात्मन्! **उत वा**=और **यः**=जो **प्रविद्वान् मर्तः**=बड़ा कुशल मनुष्य **मर्तम्**=हम मनुष्यों को **द्वयेन मर्चयति**=अन्दर शत्रुता का भाव रखता हुआ और बाहर मीठा बना हुआ द्विविध नीति से हिंसित करता है, **अतः**=इस व्यक्ति से **पाहि**=हमें बचाइए। २. हे **स्तवमान**=स्तुति किये जाते हुए **अग्ने**=प्रभो! **स्तुवन्तम्**=स्तुति करते हुए मुझे आप रक्षित कीजिए। **नः**=हमें **दुरिताय**=दुरित के लिए **माकिः धायीः**=धारण मत कीजिए। आपकी कृपा से हम ग़लत मार्ग पर जाने से सदा बचे रहें, उस चालाक व्यक्ति की बातों में आकर भटक न जाएँ।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें अमित्रों व मित्राभासों की कुमन्त्रणाओं का शिकार होने से बचाए।

विशेष—सूक्त की मूल भावना यही है कि हम प्रभु स्तवन करते हुए शुचि व शत्रुशोषक बनें (१)। सदा प्रभु भक्त बने रहें (२)। ममता से अन्धे न हो जाएँ (३)। गूढ़ शत्रुओं की मीठी बातों से बहक न जाएँ (४)। प्रभुस्तवन सदा हमारा रक्षण करनेवाला हो (५)। 'हम सदा प्रभु का ही मन्थन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१४८] अष्टचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु-मन्थन

मथीद्यदीं विष्टो मातरिश्वा होतारं विश्वाप्सुं विश्वदेव्यम्।
नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षु स्वर्ण चित्रं वपुषे विभावम्॥ १॥

१. **यत्**=जब मनुष्य **ईम्**=निश्चय से **विष्टः**=(प्रविष्टः) इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में प्रविष्ट करनेवाला बनता है तब यह 'विष्ट' कहलाता है। यही अन्तर्मुखता है। यह अन्तर्मुखवाला **मातरिश्वा**=अन्तर्मुख-यात्रा के उद्देश्य से ही प्राणसाधना करनेवाला जीव **मथीत्**=परमात्मा का मन्थन करता है, हृदय में उसका विचार करता है, उस परमात्मा को **होतारम्**=होता के रूप में देखता है। वे प्रभु होता हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं, **विश्वाप्सुम्**=(विश्वरूपम्) सारे संसार को रूप देनेवाले हैं, **विश्वदेव्यम्**=सूर्यादि सब देवों के अन्दर होनेवाले हैं। इन सबमें स्थित होकर इनको दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं। २. प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **मनुष्यासु विक्षु निदधुः**=विचारशील प्रजाओं में स्थापित करते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु प्रभु का प्रकाश मननशील व्यक्तियों के हृदयों में ही होता है। वे प्रभु **स्वः न**=सूर्य के समान **चित्रम्**=अद्भुत हैं अथवा ज्ञान का प्रकाश देनेवाले हैं, **वपुषे**=(वप=बोना) सब दिव्यगुणों के बीज बोने के लिए वे प्रभु **विभावम्**=(विविधप्रकाशवन्तम्) विविध प्रकाशवाले हैं। ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराके वे अपने उपासकों में दिव्यगुणों के बीजों का वपन करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को मन में प्रविष्ट करनेवाला प्राणसाधक पुरुष उस 'होता, विश्वरूप, विश्वदेव' प्रभु का दर्शन करता है। वे प्रभु उसे प्रकाश प्राप्त कराके उसके जीवन में सद्गुणों के बीज का वपन करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कर्मोपस्तुति का भरण

ददानमिन्न ददभन्त मन्माग्निर्वरूथं मम तस्य चाकन्।
जुषन्त विश्वान्यस्य कर्मोपस्तुतिं भरमाणस्य कारोः॥ २॥

१. गतमन्त्र में वर्णित अन्तर्मुख-यात्रा करनेवाले पुरुष **ददानम्**=सब-कुछ देनेवाले प्रभु को **इत्**=निश्चय से **न ददभन्त**-हिंसित नहीं करते, अर्थात् अपने जीवन में प्रभु का विस्मरण नहीं करते, प्रातः-सायं अवश्य ही प्रभु का ध्यान करते हैं। २. प्रभु का ध्यान करनेवाले **तस्य**=उस **मम**-मेरे **वरूथम्**=आच्छादन व रक्षण-साधन के रूप में बने हुए **मन्म**=स्तोत्र को **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **चाकन्**=चाहते हैं। मेरे द्वारा किया जानेवाला स्तोत्र मुझे प्रभु का प्रिय बनाता है और यह स्तोत्र मेरा **वरूथ**=कवच बनता है, यह मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। ३. **अस्य**=इस **कर्मोपस्तुतिम्**=कर्त्तव्यकर्मों के करने से प्रभु की क्रियात्मक स्तुति को **भरमाणस्य**=धारण करनेवाले **कारोः**=कुशल, कर्मशील पुरुष के **विश्वानि**=सब स्तोत्र (मन्म) **जुषन्त**=प्रभु का प्रीतिपूर्वक स्तवन करते हैं। अकर्मण्य व केवल वाणी से स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के स्तोत्र प्रभु को प्रिय नहीं होते।

भावार्थ—कर्त्तव्यकर्मों को करने से ही प्रभु का सच्चा स्तवन होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

नित्य सदन में प्रभु का ग्रहण

नित्ये चिन्नु यं सदने जगृभ्रे प्रशस्तिभिर्दधिरे युज्ञियासः।
प्र सू नयन्त गृभयन्त इष्टावश्वासो न रथ्यो रारहाणाः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार कर्मोपस्तुति को धारण करनेवाले लोग **यम्**=जिस प्रभु को **नु चित्**=निश्चय से **नित्ये सदने**=नित्य सदन में **जगृभ्रे**=ग्रहण करते हैं। यह स्थूलशरीर तो नश्वर है ही, सूक्ष्मशरीर भी सदा नहीं रहता। कारणशरीर 'प्रकृति'-रूप होने से नित्य है। जब हम साधना करते हुए स्थूल व सूक्ष्मशरीर से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचते हैं तब वहीं प्रभु का दर्शन होता है। स्थूलशरीर में रहता हुआ मनुष्य विषय-प्रवृत्त रहता है। सूक्ष्मशरीर में विचरनेवाला ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनता है और कारणशरीर में पहुँचनेवाला व्यक्ति एकत्व का दर्शन करता हुआ प्रभु का साक्षात्कार करता है। सामान्यतः कह सकते हैं कि स्थूलशरीर में स्थित की विक्षिप्तावस्था होती है, सूक्ष्मशरीर में स्थित की 'सम्प्रज्ञात समाधि' की स्थिति होती है और कारणशरीर में स्थित पुरुष 'असम्प्रज्ञात समाधि' में पहुँच जाता है। यहाँ वह एकदम निर्विषय हुआ-हुआ प्रभु का दर्शन करता है। २. इसी प्रभु को **यज्ञियासः**=यज्ञशील लोग **प्रशस्तिभिः**=स्तुतियों के द्वारा **दधिरे**=धारण करते हैं। **गृभयन्तः**=यज्ञों का ग्रहण करनेवाले ये ऋत्विज् **इष्टौ**=यज्ञों में, अर्थात् यज्ञों के करने पर **सु**=उत्तमता से **उ**=निश्चय से **प्रनयन्त**=अपने को प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **रथ्यः**=रथ में जुतनेवाले **अश्वासः**=घोड़े **रारहाणः**=वेगवाले होते हुए स्वामी को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए आवश्यक है कि हम स्थूल व सूक्ष्मशरीर से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचें और यज्ञमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ब्रह्मलक्ष्य-वेध

पुरूणि दुस्मो नि रिणाति जम्भैराद्रोचते वन आ विभावा।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरस्तुर्न शर्यामसनामनु द्यून्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त होते हैं तब **दस्मः**=हमारे पापों व दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभु **जम्भैः**=अपनी नाशक शक्तिरूप दाढ़ों से **पुरूणि**=बहुत भी हमारे शत्रुओं को **निरिणाति**=हिंसित कर देते हैं और **आत्**=अब—कामादि शत्रुओं का विध्वंस करने के बाद वे **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु **वने**=अपने उपासक में (वन=सम्भजने) **आरोचते**=समन्तात् प्रकाश देनेवाले होते हैं। २. **आत्**=अब—प्रभु का प्रकाश होने पर **अस्य शोचिः अनु**=इसकी दीप्ति के अनुसार **वातः वाति**=यह क्रियाशील पुरुष क्रियावाला होता है। वायु की भाँति क्रिया करना इस उपासक का स्वभाव हो जाता है। मुख्यरूप से इसकी क्रिया **अनु द्यून्**=प्रतिदिन इस प्रकार होती है **न**=जैसे कि **अस्तुः**=बाणों को फेंकनेवाले की **असनाम्**=फेंके जानेवाली **शर्याम्**=बाण-समूह की क्रिया होती है। जैसे धनुर्धर लक्ष्य पर बाणों को फेंकता है, उसी प्रकार यह भक्त भी प्रणव (ओम्) को धनुष बनाता है, आत्मा को शर तथा ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर अप्रमत्त होकर लक्ष्यवेध करता है और तन्मय होने का प्रयत्न करता है। जैसे शर लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है—परमात्मा के गर्भ में निवास करने लगता है।

भावार्थ—प्रभु भक्त के कष्टों को दूर करते हैं, उसे दीप्त बनाते हैं। प्रभुदीप्ति के अनुसार भक्त के कार्य होते हैं। यह भक्त आत्मा को शर बनाकर प्रभुरूप लक्ष्य में प्रवेश के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः।

रिपुओं व रिषण्युओं से अपना रक्षण

न यं रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्तं रेषणा रेषयन्ति।
अन्धा अपश्या न दभन्नभिख्या नित्यास ईं प्रेतारो अरक्षन्॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आत्मारूप शर को ब्रह्मरूप लक्ष्य में विद्ध करनेवाले और इस प्रकार **गर्भे सन्तम्**=प्रभु के गर्भ में निवास करनेवाले **यम्**=जिस उपासक को **रिपवः**=व्याधिरूप शत्रु **न रेषयन्ति**=हिंसित नहीं करते, उस उपासक को **रिषण्यवः**=मन को हिंसित करनेवाले कामादि शत्रु भी **रेषणा**=अपने विविध हिंसन-प्रकारों से (न रेषयन्ति) हिंसित नहीं कर पाते। प्रभु में निवास करनेवाला न व्याधि-रूप रिपुओं से आक्रान्त होता है और न कामादिरूप **रिषण्यु**=हिंसकों से हिंसित होता है। वह इन रिपुओं व रिषण्युओं को समाप्त करनेवाला होता है। २. इनके विपरीत जो प्रभु से दूर रहते हैं वे **अन्धाः**=अज्ञानी **अपश्याः**=वस्तु-तत्त्व को न देखनेवाले **अभिख्याः**=प्रातः-सायं गपशप करनेवाले (gossip ही जिनकी God-worship) होती है, ये **न दभन्**=व्याधियों व कामादि शत्रुओं को हिंसित नहीं कर पाते। **ईम्**-निश्चय से **नित्यासः**=अविचलित भक्तिवाले—अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों में रत **प्रेतारः**=प्रकर्षेण गतिशील अथवा स्थूल व सूक्ष्मशरीर से ऊपर उठकर कारणशरीर में जानेवाले व्यक्ति ही **अरक्षन्**=अपने को रिपुओं व रिषण्युओं से रक्षित कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभुगर्भ में रहनेवाले को व्याधियाँ व आधियाँ हिंसित नहीं करतीं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्राणसाधक पुरुष ही प्रभु का मन्थन करता है (१)। कर्मोपस्तुति का भरण करनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है (२)। प्रभु का ग्रहण कारणशरीर में ही होता है (३)। उपासक को ब्रह्मरूप लक्ष्य का प्रतिदिन वेध करना है (४)। प्रभु में निवास करनेवाला उपासक आधियों और व्याधियों से हिंसित नहीं होता (५)। 'यह उपासक महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१४९] एकोनपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

स्वामियों का भी स्वामी

महः स राय एषते पतिर्दन्निन इनस्य वसुनः पद आ।
उप ध्रजन्तमद्रयो विधन्नित् ॥१॥

१. **सः**-वे प्रभु **महः रायः**=महान् ऐश्वर्य के **पतिः**=स्वामी हैं। वे प्रभु **दन्**-इस ऐश्वर्य को देते हुए **आ ईषते**=समन्तात् गति करते हैं। प्रभु ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिए हमें प्राप्त होते हैं। उस ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए हमें पात्र बनने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रभु **इनस्य इनः**=स्वामियों के भी स्वामी हैं, ईश्वरों के भी ईश्वर=परमेश्वर हैं। **वसुनः**=ऐश्वर्य के **पदे**=आस्पद—स्थान में **आ**=पूर्णरूप से—व्यापकरूप से अधिष्ठित हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। २. **उप ध्रजन्तम्**-समीप प्राप्त होते हुए उस प्रभु को **अद्रयः**=(आदृङ्) आदर देनेवाले

उपासक **इत्**=निश्चय से **विधन्**=पूजते हैं। प्रभुपूजन से लक्ष्मी की कमी नहीं रहती और साथ ही हम उस लक्ष्मी के दास भी नहीं बन जाते। प्रभुपूजक धनी होता हुआ भी धन में फँसता नहीं।

भावार्थ—प्रभु सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं, अतः ज्ञानी उपासक ऐश्वर्य की उपासना न करके ऐश्वर्य के स्वामी प्रभु की ही उपासना करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

'सुखवर्षक' प्रभु

स यो वृषा नरां न रोदस्योः श्रवोभिरस्ति जीवपीतसर्गः।
प्र यः सस्राणः शिश्रीत योनौ ॥ २ ॥

१. प्रभु **सः**=वे हैं **यः**=जो **नरां वृषा**=सब मनुष्यों को सुखों व शक्तियों से सिक्त करनेवाले हैं। मनुष्यों को ही क्या (नरां) **न**=मनुष्यों की भाँति **रोदस्योः** (वृषा)=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सब प्राणियों को सुखों से सिक्त करते हैं। वे प्रभु **श्रवोभिः**=ज्ञान के द्वारा **जीवपीतसर्गः**=जीवों से आस्वादित सृष्टिवाले **अस्ति**=हैं। प्रभु की इस सृष्टि का आनन्द जीव इसके ज्ञान द्वारा ही तो ले-सकते हैं। जिस पदार्थ का हमें ज्ञान नहीं, उसके ठीक प्रयोग के अभाव में उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द को हम कैसे ले सकते हैं? इन पदार्थों का ठीक ज्ञान ही हमें इनसे सुखी कर सकता है। प्रभु ने इस सृष्टि में सब सुख-साधनों को बड़ी उत्तमता से जुटाया है। २. ये सुखवर्षक प्रभु वे हैं **यः**=जो **सस्राणः**=(सृ) निरन्तर गति करते हुए **योनौ**=मूल उत्पत्तिस्थान में **प्रशिश्रीत**=प्रकर्षेण हमारा परिपाक करते हैं। जिस समय हम इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में तथा आत्मा को परमात्मा में रोकते हैं उस समय हम मूल उत्पत्तिस्थान में पहुँच गये होते हैं। यहाँ पहुँचने पर वे प्रभु हमारा पूर्ण परिपाक करनेवाले होते हैं। इस समय हमारी सब न्यूनताएँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु की सृष्टि हमपर सुखों की वर्षा करती है। प्रभु अपने में स्थित होनेवाले को पूर्ण परिपक्व बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

'सूर्य के समान दीप्त' प्रभु

आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३ नार्वा।
सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा ॥ ३ ॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **नार्मिणीम्**=(नृणां मनसि स्थितम्) मनुष्यों को प्रिय लगनेवाली इस देह नामक **पुरम्**=पुरी को **अदीदेत्**=सर्वतः दीप्त कर देते हैं। स्थूलशरीर को स्वास्थ्य से दीप्त करते हैं तो सूक्ष्म को ज्ञान से दीप्त बनाते हैं। **अत्यः**-वे प्रभु निरन्तर गतिशील (कर्मशील) हैं, अपनी सब प्रजाओं के हित में तत्पर हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी—सर्वज्ञ हैं। २. **नभन्यः न**=आकाश में गतिवाली वायु के समान **अर्वा**=गतिशील हैं, इन वायु इत्यादि को वे ही तो गति देते हैं। वे **सूरः न रुरुक्वान्**=सूर्य के समान दीप्त हैं। वायु की भाँति गतिशील व सब अवाञ्छनीय तत्त्वों का हिंसन करनेवाले होते हुए (अर्व=to kill) हमें आयुष्य को प्राप्त कराते हैं और सूर्य की भाँति चमकते हुए वे प्रभु हमें ज्ञान की ज्योति प्रदान करते हैं। **शतात्मा**=अनन्त रूपोंवाले वे प्रभु हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। वस्तुतः सभी को रूप देनेवाले वे प्रभु विश्वरूप हैं। हमें भी आयुष्य व ज्ञान देकर वे प्रभु ही उत्तम रूपवाला करते हैं।

भावार्थ—हमारी शरीररूप इस नगरी को प्रभु ही दीप्त बनाते हैं। वे वायु की भाँति 'जीवन' देते हैं तो सूर्य की भाँति ज्ञान का प्रकाश।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से प्रभु-दर्शन

अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥४॥

१. वे प्रभु **द्विजन्मा**=प्रभु-दर्शन दो से होता है। प्रभु का दर्शन न केवल ज्ञान से होता है और न केवल श्रद्धा से। ज्ञान और श्रद्धा इन दोनों का समन्वय ही प्रभु के दर्शन का साधन बनता है। वे प्रभु **त्रिरोचनानि**-तीन ज्योतियों को—'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' इन देवों को—इन देवों को ही नहीं **विश्वा रजांसि**-पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौ—इन सब लोकों को **अभिशुशुचानः**-सब ओर से खूब ही दीप्त करते हुए **अस्थात्**=अधिष्ठातृरूपेण विद्यमान हैं। अग्नि में वे तेज प्रभु ही तो हैं, चन्द्र और सूर्य की प्रभा भी तो वे प्रभु ही हैं, विद्युत् को द्युति उस प्रभु से ही प्राप्त कराई जा रही है। उसकी दीप्ति से ही सब दीप्त हो रहे हैं। २. **होता**=वे प्रभु ही सब पदार्थों के देनेवाले हैं और **अपाम्**=प्रजाओं के **सधस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान 'हृदय' में (हृदय में परमात्मा व जीवात्मा दोनों मित्रों की सहस्थिति है), **यजिष्ठः**=वे प्रभु सर्वाधिक पूज्य हैं और संगतिकरण-योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से होता है। वे प्रभु सबको दीप्त करते हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं। उस प्रभु का उपासन हृदय में करना चाहिए, क्योंकि हृदय में ही जीव व प्रभु की सह स्थिति है। यहीं उस प्रभु से उपासक का मेल होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

वरणीय धनों व ज्ञानों के दाता प्रभु

अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उपासक जब हृदय में प्रभु से मेलवाला होता है तब कह उठता है कि **अयं सः होता** ये प्रभु वे हैं जो हमारे लिए सब कुछ दे देनेवाले हैं। **यः द्विजन्मा**-जो श्रद्धा व ज्ञान इन दोनों के समन्वय से हृदय में आविर्भूत होनेवाले हैं। **विश्वा**=सम्पूर्ण **वार्याणि**=वरणीय धनों को तथा **श्रवस्या**=श्रवण से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों को **दधे**=हममें धारण करते हैं। प्रभु ही सब आवश्यक धनों को देते हैं और हृदयस्थ होकर प्रेरणा के द्वारा वे प्रभु ही ज्ञान भी प्राप्त कराते हैं। २. **यः मर्तः**=जो भी मनुष्य **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **ददाश**=अपने-आपको अर्पित करता है, **सुतुकः**=वह उत्तम सन्तानवाला होता है। जिस घर में प्रभु की उपासना चलती है, उस घर का वातावरण इतना सुन्दर होता है कि वहाँ सन्तानों का उत्तम ही निर्माण होता है।

भावार्थ—प्रभु ही सब वरणीय धनों व ज्ञानों को देते हैं। जिस घर में प्रभु का उपासन चलता है, वहाँ सन्तानें भी उत्तम होती हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि प्रभु स्वामियों के भी स्वामी हैं (१)। सुखों के वर्षक हैं (२), सूर्य की भाँति दीप्त हैं (३), ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से साक्षात्करणीय हैं (४),

सब वरणीय धनों व ज्ञानों को देनेवाले हैं (५)। 'इस प्रभु का ही गायन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१५०] पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उस महान् प्रेरक की शरण में

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा। तोदस्येव शरण आ महस्य॥ १॥

हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दाश्वान्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला मैं **त्वा पुरु वोचे**=आपका खूब ही स्तवन करता हूँ। **तव**=आपके प्रति **स्वित्**=ही **आ अरिः**=(ऋ गतौ) सर्वथा आनेवाला होता हूँ, प्रकृति की ओर न जाकर आपकी ओर आनेवाला ही बनता हूँ। प्रकृति में फँसकर ही तो मैं मार्गभ्रष्ट होता हूँ, अतः मैं **महस्य**=महान्, पूजनीय **तोदस्य इव**=प्रेरक (तुद् प्रेरणे) के समान जो आप हैं, उसकी **शरणे**=शरण में आता हूँ। आपकी शरण में आने पर ही मैं कष्टों से बच पाता हूँ। मैं भटकता हूँ तो आप कष्टों के रूप में मुझपर चाबुक का प्रहार करते हैं (तोत्त्रम्=चाबुक) और मुझे फिर मार्ग पर आने का संकेत करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर ही चलनेवाले हों। 'प्रकृति में फँस जाना' ही भटकना है। उस समय प्रभु कष्टरूप चाबुक लगाकर, हमें फिर से मार्ग पर आने का संकेत करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

चाबुक का प्रहार किन पर?

व्यनिनस्य धनिनः प्रहोषे चिदररुषः। कदा चन प्रजिगतो अदेवयोः॥ २॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को '**तोद**'=चाबुक का प्रहार करनेवाला कहा गया था। यह कष्टों के रूप में चाबुक का प्रहार प्रभु किन व्यक्तियों पर करते हैं—(क) **धनिनः**=धनी पुरुष के जो धनी **व्यनिनस्य**=उस धन का स्वामी नहीं है। जब हम धन के दास बन जाते हैं, धनार्जन ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो जाता है, हम एक धन कमाने के साधन money-making-machine ही बन जाते हैं, तब हम धन के स्वामी नहीं रहते। उस समय धन हमारा स्वामी हो जाता है, और हम धन के वहन करनेवाले—बोझ ढोनेवाले ही हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में 'Death unloads thee'. मौत ही हमारे बोझ को उतारती है। प्रभु इन 'व्यनिन धनियों' को चाबुक लगानेवाले हैं। २. (ख) **प्रहोषे**=प्रकृष्ट आहुति देने के कार्यों में, अर्थात् यज्ञादि उत्तम कार्यों में **चित्**=भी **अररुषः**=दान न देनेवाले को चाबुक लगाते हैं। धनी होते हुए भी जो यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों में दान नहीं देता, वह प्रभु से दण्डनीय होता है। ३. (ग) **कदा च**=कभी भी **न प्रजिगतः**=प्रभु गुणगान न करनेवाले को आप दण्ड देनेवाले होते हैं। जो प्रभुविमुख होकर प्राकृतिक भोगों में फँसकर वैषयिक वृत्ति का बन जाता है, वह विविध रोगों के रूप में प्रभु से दण्डनीय होता है। ४. (घ) **अदेवयोः**=आप अदेवयु पुरुष के चाबुक लगानेवाले हो। जो दिव्य गुणों के विकसित करने की कामनावाला नहीं होता, जिनके हृदयक्षेत्र में आसुरभावरूपी घास-फूस ही प्रचुरता से उग आती है, उस व्यक्ति को भी आप दण्ड देते हो। इन कष्टरूप दण्डों से प्रेरित करके आप उन्हें सुमार्ग पर लौटने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ—हम चार पापों से बचने का प्रयत्न करें—(१) धन होते हुए धन का स्वामी न बनकर दास बन जाना, (२) यज्ञादि उत्कृष्ट कार्यों में दान न देना, (३) प्रभुस्तवन से दूर रहना,

और (४) दिव्यगुणों के विकास के लिए प्रयत्न न करना।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

चन्द्र-मह-व्राधन्तम

स चन्द्रो विप्र मर्त्यो महो व्राधन्तमो दिवि। प्रप्रेत्ते अग्ने वनुषः स्याम॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के चाबुक के संकेत को समझनेवाले लोग उत्तम जीवनवाल होते हैं। इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे **विप्र**-विशेष रूप से हमारा पूरण करनेवाले प्रभो! (प्रा पूरणे) **सः मर्त्यः**-वह मनुष्य जो प्रभु के संकेतों को ग्रहण करता है **चन्द्रः**-आह्लादमय जीवनवाला होता है; यह औरों को भी आह्लादित करनेवाला होता है, **महः**=यह महान् बनता है, अथवा पूजा की वृत्तिवाला होता है। प्रातः-सायं प्रभु की उपासना को अपना नैत्यिक कर्त्तव्य समझता है; **दिवि**=अपने प्रकाशमयरूप में यह **व्राधन्तमः**= (प्रवृद्धतमः—सा०, व्राध=broad) खूब विशाल हृदयवाला होता है। २. ऐसे लोगों की यही कामना होती है कि हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **इत्**=निश्चय से **ते**-आपके ही **वनुषः प्र प्रस्याम**=प्रकृष्ट उपासक बनें। वस्तुतः प्रभु की उपासना ही तो उनके जीवनों को सुन्दर बनाती है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त का जीवन आह्लादमय, प्रभु-पूजन की वृत्तिवाला व विशाल हृदय को लिये हुए होता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम प्रभु की ओर ही चलें (१)। प्रभु की ओर चलेंगे तो धन के दास न बनेंगे, दानशील होंगे, प्रभु का गुणगान करते हुए अपने में दिव्य गुणों का विकास कर पाएँगे (२)। आह्लादमय, उपासक व विशाल हृदयवाले बनेंगे (३)। इन तीन मन्त्रों के विषय को इस प्रकार भी कह सकते हैं—(क) प्रभु चाबुक लगानेवाले हैं, (ख) वे चाबुक किनको लगते हैं? (ग) चाबुक लगने पर जीवन कैसा बन जाता है? 'दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए मित्रावरुण' की उपासना से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१५१] एकपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्तिम लक्ष्य='प्राणिहित'

मित्रं न यं शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनन्।
अरेजेतां रोदसी पाजसा गिरा प्रति प्रियं यजतं जनुषामवः॥ १॥

१. **गोषु गव्यवः**-ज्ञान की वाणियों में स्थित होकर इन्द्रियों को अपनाने की कामना करते हुए—इन्द्रियों को वश में करना चाहते हुए **स्वाध्यः**-उत्तम ध्यानशील पुरुष **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में तथा **अप्सु**=कर्मयज्ञों में **शिम्या**-शान्तभाव से की जानेवाली क्रियाओं के द्वारा **मित्रं न**=मित्र के समान **यम्**-जिस प्रभु को **जीजनन्**-प्रादुर्भूत करते हैं। प्रभु हमारे मित्र हैं। उस मित्र का दर्शन तभी होता है जब हम ज्ञानयज्ञों व कर्मयज्ञों में लगे रहते हैं। इन यज्ञों में भी हमारी सब क्रियाएँ शान्तभाव से हों, तभी प्रभु का दर्शन होता है। २. जब इस प्रकार प्रभु का प्रादुर्भाव होता है तब **रोदसी**=हमारे द्यावापृथिवी—मस्तिष्क और शरीर **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से तथा **पाजसा**=शक्ति से **अरेजेताम्**= चमक उठते हैं (to shine)। शरीर शक्ति से चमक उठता है तो मस्तिष्क ज्ञान की वाणियों से। इस प्रकार शरीर को शक्ति व मस्तिष्क को ज्ञानसम्पन्न बनाकर इन लोगों को **जनुषाम्**=प्राणियों का **अवः**-रक्षण **प्रति प्रियम्**-प्रतिदिन प्रिय होता है और

यजतम्=पूज्य व संगतिकरण-योग्य होता है। ये लोग प्राणिरक्षण को आदरभाव से देखते हैं और प्राणिरक्षण को अपना सङ्कल्प बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्राणिरक्षण इनके जीवन का लक्ष्य होता है। अधिक-से-अधिक भूतों (प्राणियों) का हित ही इनकी उपासना होती है।

भावार्थ—ज्ञान व कर्मयज्ञों में लगनेवाला व्यक्ति प्रभु-दर्शन करता है। प्रभु-दर्शन इन्हें शक्ति व ज्ञानसम्पन्न बनाता है। शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके ये प्राणिहित में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ऋतु, गातु

यद्ध त्यद्वां पुरुमीळ्हस्य सोमिनः प्र मित्रासो न दधिरे स्वाभुवः।
अध क्रतुं विदतं गातुमर्चत उत श्रुतं वृषणा पस्त्यावतः॥ २॥

१. **यत् ह**=जब निश्चय से **त्यत् पुरुमीळहस्य**=सब सुखों का सेचन करनेवाले **सोमिनः**=(सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः—शत० ५।१।२।१०) 'सत्य, श्री व ज्योति' के स्वामी प्रभु के **मित्रासः न**=मित्रों के समान **स्वाभुवः**=(स्व आ भू) अपने पर आश्रित होनेवाले व्यक्ति हे मित्रावरुणौ! **वाम्**=आप दोनों को **प्रदधिरे**=प्रकर्षेण धारण करते हैं। प्राणापान ही मित्रावरुण हैं। प्राणायाम के द्वारा इनकी गति का निरोध ही इनका धारण है। २. **अध**=अब जब कि एक उपासक इन प्राणों को धारण करता है तब हे मित्रावरुणौ! आप **अर्चते**=इस आराधक के लिए **क्रतुम्**=कर्मशक्ति को—यज्ञादि पवित्र कर्मों की भावना को तथा **गातुम्**=मार्ग को **विदतम्**=प्राप्त कराते हो—जनाते हो। प्राणापान की साधना से यह उपासक पवित्र कर्मों में प्रवृत्त होता है और मार्गभ्रष्ट नहीं होता। ३. **उत**=और प्राणसाधना से ही **पस्त्यावतः**=इस उत्तम शरीररूप गृहवाले की प्रार्थना को हे **वृषणा**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्राणापानो! आप **श्रुतम्**=सुनते हो। आपकी कृपा से यह शरीर को स्वस्थ बना पाता है। इसकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्नेही प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। यह साधना उन्हें कर्मशक्ति व मार्ग का ज्ञान देती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ऋत व अध्वर

आ वां भूषन्क्षितयो जन्म रोदस्योः प्रवाच्यं वृषणा दक्षसे महे।
यदीमृताय भरथो यदर्वते प्र होत्रया शिम्या वीथो अध्वरम्॥ ३॥

१. हे प्राणापानो! **क्षितयः**=मनुष्य **वाम्**=आप दोनों को **आभूषन्**=अपने जीवन में सुशोभित करते हैं—आपके द्वारा अपने जीवन को अलंकृत करते हैं, परिणामतः हे **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! उन मनुष्यों के जीवन में **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का—मस्तिष्क व शरीर का **जन्म**=प्रादुर्भाव व विकास **प्रवाच्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय होता है। द्यावापृथिवी का यह विकास **दक्षसे**=उनकी उन्नति व वृद्धि के लिए होता है और **महे**=उनकी महिमा का कारण बनता है। २. द्यावापृथिवी का यह विकास उस समय उनकी महिमा का कारण बनता है **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से आप अपने इस उपासक को **ऋताय**=ऋत के लिए **भरथः**=पोषित करते हो। आपकी साधना से इसके जीवन में ऋत का वर्धन होता है। यह सत्य तथा नियमितता को अपनानेवाला बनता है। **यत्**=जब **अर्वते**=वासनाओं का संहार करनेवाले इसके लिए **होत्रया**=वेदवाणी के साथ तथा **शिम्या**=शान्तभाव से की जानेवाली क्रियाओं के साथ **अध्वरम्**=अहिंसात्मक यज्ञों को **प्रवीथः**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्राणसाधक के जीवन में 'ऋत व अध्वर' प्राप्त होते हैं। उस समय इसके शरीर व मस्तिष्क का प्रशंसनीय विकास होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

बृहत् ऋतम्

प्र सा क्षितिरसुर या महि प्रिय ऋतावानावृतमा घोषथो बृहत्।
युवं दिवो बृहतो दक्षमाभुवं गां न धुर्युप युञ्जाथे अपः॥ ४॥

१. हे **असुरा**=प्राणशक्ति देनेवाले तथा मलों को दूर फेंकनेवाले प्राणापानो! आपका **प्रक्षितिः**=निवास **सा**=वह है **या**=जो **महि प्रिया**=अत्यन्त प्रिय है। प्राण बल का संचार करता है और अपान दोषों का निरसन करता है, अतः दोनों 'असुरा' कहे गये हैं। एक 'असून् राति'—प्राणों को देता है और दूसरा 'अस्यति' मलों को परे फेंकता है। इनकी साधना से शरीर सुन्दर बना रहता है, अतः इनका निवास 'महि प्रिया' कहा गया है। २. **ऋतावानौ**=ऋत का रक्षण करनेवाले हे प्राणापानो! आप साधकों के जीवन में **बृहत् ऋतम्**=वृद्धि के कारणभूत ऋत को **आघोषथः**=आघोषित करते हो। प्राणसाधक का जीवन ऋतवाला बनता है। **युवम्**=आप दोनों साधक के जीवन में **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान से **दक्षम्**=उन्नति के कारणभूत (दक्ष=to grow) अथवा कुशलता से किये जानेवाले **आभुवम्**=व्यापक—स्वार्थ के अंश से रहित **अपः**=कर्म को **उपयुञ्जाथे**=उपयुक्त करते हो, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **धुरि गाम्**=जुए में बैलों को जोतते हैं। प्राणसाधक निरन्तर कार्यों में जुता रहता है। उसके कर्म कुशलता से किये जाते हैं और स्वार्थप्रधान नहीं होते।

भावार्थ—प्राणसाधक का जीवन ऋतवाला होता है। इसके कर्म कुशल व निःस्वार्थ होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

मही अत्र महिना वारमृण्वथोऽरेणवस्तुज आ सद्मन्धेनवः।
स्वरन्ति ता उपरताति सूर्यमा निम्रुच उषसस्तक्ववीरिव॥ ५॥

१. **मही**=महनीय—महत्त्वपूर्ण प्राणापान **अत्र**=यहाँ, इस जीवन में **महिना**=अपनी महिमा से **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **ऋण्वथः**=प्राप्त कराते हैं। ये शरीर में स्वास्थ्य, मन में निर्मलता और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं। २. इस प्राणसाधना से **अरेणवः**=मलिनता से रहित **तुजः**=वासनाओं का संहार करनेवाली (तुज्=to kill) **धेनवः**=ये ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदरूपी गौएँ **सद्मन्**=इस शरीर-गृह में **आ**=आश्रित होती हैं। **ताः**=वे वेदवाणीरूप धेनुएँ **उपरताति**=प्रभु की समीपता में (In proximity, near to) प्राप्त कराती हुई **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **आस्वरन्ति**=खूब ही दीप्त करती हैं। ये धेनुएँ **निम्रुचः**=सायंकालों में व **उषसः**=उषाकालों में **तक्ववीः इव**=अशुभ वासनारूप चोरों को हमसे दूर करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती है। यह साधना उन ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराती है जो वासनाओं को हमसे दूर भगा देती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

कर्म, ज्ञान, स्तवन (गातुं, धियः, मन्मनाम्)

आ वामृताय केशिनीरनूषत मित्र यत्र वरुण गातुमर्चथः।
अव त्मना सृजतं पिन्वतं धियो युवं विप्रस्य मन्मनामिरज्यथः॥ ६॥

१. **ऋताय**=ऋत की प्राप्ति के लिए **केशिनीः**=ज्ञानरश्मियोंवाली प्रजाएँ **वाम्**=हे प्राणापानो! आपका **अनूषत**=स्तवन करती हैं। प्राणसाधना से जीवन ऋतमय बनता है। हे **मित्र**=प्राण! **वरुण**=अपान! आप **यत्र**=जहाँ होते हो वहाँ **गातुम् अर्चथः**=मार्ग को पूजित करते हो, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला पुरुष अनृत को छोड़ने के कारण सदा सन्मार्ग पर ही चलता है। हे प्राणापानो! आप **त्मना**-स्वयं ही **अवसृजतम्**=सब वासनाओं को हमसे दूर करते हो। **धियः**=बुद्धियों को व ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्मों को **पिन्वतम्**=हममें पूरित करते हो। (वर्धयतम्—सा०)। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष वासनाओं से ऊपर उठकर ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला बनता है। हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **विप्रस्य**=(वि प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष के **मन्मनाम्**= मननपूर्वक की गई स्तुतियों के **इरज्यथः**=स्वामी होते हो, अर्थात् प्राणसाधक पुरुष मननपूर्वक प्रभुस्तवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधक (क) सुमार्ग पर चलता है, (ख) बुद्धि को बढ़ाता है, (ग) मननपूर्वक स्तवन करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

यज्ञैः शशमानः

यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति कविर्होता यजति मन्मसाधनः।
उपाह तं गच्छथो वीथो अध्वरमच्छा गिरः सुमतिं गन्तमस्मयू॥ ७॥

१. हे प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आपके प्रति **यज्ञैः शशमानः**=श्रेष्ठतम कर्मों से प्लुत (तीव्र) गतिवाला होता हुआ **ह**=निश्चय से **दाशति**=आत्मसमर्पण करता है, वह **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। 'प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना में प्रवृत्त होना और यज्ञशील बनना' यह मार्ग है, जिस पर चलने से मनुष्य तीव्र बुद्धि प्राप्त करता है। **होता**=यह सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। **यजति**=यज्ञशील होता है और **मन्मसाधनः**=स्तोत्रों को सिद्ध करनेवाला होता है, अर्थात् सदा प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होता है। २. हे प्राणापानो! **अह**=निश्चय से आप **तम्**=उसको **उपगच्छथः**=समीपता से प्राप्त होते हो। इसके जीवन में **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को **वीथः**=आप चाहते हो (कामयेथे—सा०) अर्थात् इनका जीवन यज्ञमय हो जाता है। **अस्मयू**=हमारे हित की कामना करते हुए आप **गिरः अच्छ**=ज्ञान की वाणियों की ओर और सुमतिं (अच्छ) कल्याणी मति की ओर **आ गन्तम्**=(गमयतम्) हमें प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम क्रान्तदर्शी, यज्ञशील व स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्राणसाधना से लाभ

युवां यज्ञैः प्रथमा गोभिरञ्जत ऋतावाना मनसो न प्रयुक्तिषु।
भरन्ति वां मन्मना संयता गिरोऽदृप्यता मनसा रेवदाशाथे॥ ८॥

१. हे प्राणापानो! आप **प्रथमा**=जीवन की साधना में प्रथम स्थान रखते हो। **ऋतावाना**=आप ही ऋतवाले होते हो। आपकी साधना से ही जीवन ऋतवाला बनता है। **युवाम्**=आपको ही **यज्ञैः**=यज्ञों के हेतु से तथा **गोभिः**=ज्ञानवाणियों के हेतु से साधक लोग **अञ्जते**=(अञ्ज्=कान्ति, इच्छा) चाहते हैं। उसी प्रकार चाहते हैं **न**=जैसे कि **मनसः प्रयुक्तिषु**=मन के प्रयोगों में, मन को प्रभु की ओर लगाने में जिस प्रकार प्राणापान साधन बनते हैं, इसी प्रकार प्राणसाधना से मनुष्य

यज्ञों की वृत्तिवाला बनता है और ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला होता है। २. **मन्मना**=स्तवनवाले **संयता**-आपकी ओर सम्यक् जाते हुए चित्त से **वां गिरः**-आपके स्तुतिवचनों को ये साधक **भरन्ति**-धारण करते हैं। आप उन साधकों के लिए **अदृप्यता मनसा**-गर्वशून्य मन के साथ **रेवत्**-धन-सम्पन्न जीवन को **आशाथे**-व्याप्त करते हो—देते हो (ददाथे—सा०)।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान की वाणियाँ, नम्रता तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है और मनोनिरोध होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

देवत्व व मघ

रेवद्वयो दधाथे रेवदाशाथे नरा मायाभिरितऊति माहिनम्।
न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम्॥ ९॥

१. हे प्राणापानो! आप **रेवत्**=ऐश्वर्ययुक्त **वयः**=जीवन को **दधाथे**-धारण करते हो। **रेवत् आशाथे**=ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन को ही व्याप्त करते हो। **नरा**-हमें जीवन में आगे ले-चलनेवाले प्राणापानो! **मायाभिः**-प्रज्ञानों के साथ **इतः ऊति**=इधर से रक्षणवाले, अर्थात् संसार में फँसने से बचानेवाले **माहिनम्**=(Sovereignty, power, dominion) सामर्थ्य को प्राप्त कराते हो। २. हे प्राणापानो! **वाम्**-आपके **देवत्वम्**-देवत्व को—प्रकाश को तथा **मघम्**-ऐश्वर्य को **अहभिः**=कितने ही दिनों से—दिनोंदिन प्रयत्न करते हुए **न द्यावः**=न तो ज्ञानी लोग **उत**-और **न सिन्धवः**=न कर्मों में चलनेवाले लोग और न ही **पणयः**-स्तुति की वृत्तिवाले लोग **आनशुः**=प्राप्त कर पाते हैं, यह बात **न**=नहीं है, अर्थात् आपकी साधना से देवत्व व मघ प्राप्त तो होता है, परन्तु कुछ देर में; दिनोंदिन प्रयत्न करते हुए ज्ञानी, क्रियाशील व उपासक लोग इस देवत्व व मघ को प्राप्त करते ही हैं। गीता में कहा गया है कि 'अनिर्विण्ण चित्त' से यह योग करते ही रहना चाहिए। अन्त में यह हमें प्रकाश व ऐश्वर्य को प्राप्त कराएगा ही।

भावार्थ—यदि दीर्घकाल तक हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे तो यह हमें ऐश्वर्य व प्रकाश प्राप्त करानेवाली होगी। हम ज्ञानी, क्रियाशील व स्तुति की वृत्तिवाले बनेंगे।

विशेष—यह सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को सुव्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त में प्राणसाधना करनेवाले पति-पत्नी को भी 'मित्रावरुणौ' नाम से स्मरण करते हैं और उनके जीवन का चित्रण करते हैं—

[१५२] द्विपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तेजस्विता, निर्दोषता व ऋत

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणसाधना करनेवाले पति-पत्नी! **युवम्**=आप दोनों **वस्त्राणि**-शरीररूप वस्त्रों को **पीवसा**=(प्रभूतेन तेजसा) तेजस्विता के साथ **वसाथे**=आच्छादित करते हो, अर्थात् आप अपने शरीरों को तेजस्वी बनाते हो। २. **युवोः**=आपके **सर्गाः**=(सर्ग=a horse, इन्द्रियाश्व) ये इन्द्रियाश्व **ह**=निश्चय से **अच्छिद्राः**=दोषरहित तथा **मन्तवः**=ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं—कर्मेन्द्रियरूप अश्व अच्छिद्र हैं तो ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व मन्तु हैं। ३. आप **विश्वा**-सब

अनृतानि=अनृतों को **अवातिरतम्**=नष्ट करते हो और **ऋतेन**=ऋत से **सचेथे**=समवेत व संगत होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से पति-पत्नी दोनों के शरीर तेजस्वी बनते हैं, इन्द्रियाँ निर्दोष व ज्ञानसाधक बनती हैं, अनृत का निराकरण व ऋत की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु-दर्शन तक

एतच्चन त्वो वि चिकेतदेषां सत्यो मन्त्रः कविशस्त ऋघावान्।
त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिरुग्रो देवनिदो ह प्रथमा अजूर्यन्॥ २॥

१. **एषाम्**=इन प्राणसाधना करनेवालों में **त्वः**=कोई एक **एतत् चन**=इस ब्रह्म को भी **विचिकेतत्**=विशेषरूप से जाननेवाला होता है कि यह ब्रह्म **सत्यः**=सत्यस्वरूप है, **मन्त्रः**=ज्ञानस्वरूप है, **कविशस्तः**=ज्ञानियों से स्तुत्य है और **ऋघावान्**=सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। प्राणसाधना का अन्तिम लाभ प्रभु-दर्शन है। यहाँ तक सब कोई नहीं पहुँचता, परन्तु इस साधना को निरन्तर करने पर मनुष्य प्रभु दर्शन के योग्य बनता ही है। २. कोई प्राणसाधक **चतुरश्रिः**=(चतुरः वेदान् अश्नुते—द०) चारों वेदों को प्राप्त करनेवाला **उग्रः**=तेजस्वी व श्रेष्ठ (noble—आप्टे) बनकर **त्रिरश्रिम्**=(त्रीन् अश्नुते, इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते) इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर आक्रमण करनेवाले काम को **हन्ति**=नष्ट करता है। इसके विपरीत भोगवाद में फँसे हुए और अतएव **देवनिदः**=उस महान् देव प्रभु के निन्दक **प्रथमाः**=प्रथम स्थान पर पहुँचे हुए भी **ह**=निश्चय से **अजूर्यन्**=जीर्ण हो जाते हैं। प्राणसाधना से उन्नति होती है, अतः इस प्राणसाधना में लगे ही रहना चाहिए। प्राणसाधना के छोड़ते ही मनुष्य भोगवाद में फँसता है, प्रभु को भूल जाता है और अपनी शक्तियों को जीर्ण कर बैठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना मनुष्य को प्रभु-दर्शन तक ले-चलेगी और उसका त्याग हमारी जीर्णता का कारण बनेगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उषा का पाठ

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्य ऋतं पिपर्त्यनृतं नि तारीत्॥ ३॥

१. प्राणसाधक पति-पत्नी उषा से भी बोध लेते हैं और क्या देखते हैं कि **अपात्**=बिना पाँववाली होती हुई भी **पद्वतीनाम्**=पाँवोंवाली प्रजाओं में **प्रथमा**=सबसे पहले **एति**=प्राप्त होती है। 'हम सोये ही हुए हैं और यह उषा बिना पाँवोंवाली होती हुई भी आ पहुँची है'—यह देखते ही कौन न उठ बैठेगा! हे **मित्रावरुणा**=पति-पत्नी! **वाम्**=आपमें से जो भी **तत् चिकेत**=इस बिना पाँववाली उषा के प्रथमागमन का विचार करता है, वह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। प्रातःकाल उठ जाने से वह अपनी शक्ति को विनष्ट नहीं होने देता। २. **गर्भः**=(यो गृह्णाति सः—द०) उषा के उपदेश को ग्रहण करनेवाला **चित्**=निश्चय से **भारं आ भरति**=(पोषं पुष्णाति, भृ=पोषणे) शक्तियों का पोषण प्राप्त करता है। यह उषा **अस्य**=इस उपासक के जीवन में **ऋतं पिपर्ति**=ऋत का पूरण करती है और **अनृतम्**=अनृत को **नितारीत्**=नष्ट करती है। 'उष दाहे' धातु से निष्पन्न यह उषा अनृत का दहन करती है। सब बुराइयों का दहन करने से

इसे 'उषा' नाम दिया गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाले पति पत्नी उषाकाल में प्रबुद्ध होते हैं, अपने जीवन में शक्ति का पोषण करते हैं और अनृत को नष्ट करके ऋत को धारण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य का पाठ

प्रयन्तमित्परि जारं कनीनां पश्यामसि नोपनिपद्यमानम्।
अनवपृग्णा वितता वसानं प्रियं मित्रस्य वरुणस्य धाम॥ ४॥

१. उषाकाल 'कनी' है। 'कन दीप्तौ'=यह चमकती है। सूर्य प्राची में आगे बढ़ता है और उषा समाप्त हो जाती है, अतः **कनीनाम्**=इन चमकनेवाली उषाओं के **जारम्**=जीर्ण करनेवाले सूर्य को **प्रयन्तम् इत्**=गति करता हुआ ही **परि पश्यामसि**=सब ओर देखते हैं, **उपनिपद्यमानं न**=इस सूर्य को कभी भी रुकता हुआ नहीं देखते। यह चलता ही है। 'सरतीति सूर्यः'। यह चलता है, इसीलिए चमकता है। सूर्य **अनवपृग्णाः**=चारों ओर फैलती हुई (spreading all around) **विततः**=किरणों को **वसानम्**=धारण कर रहा है। सूर्य चलता हुआ थकता नहीं। २. बस, सूर्य से हमें भी यही पाठ पढ़ना है कि हम निरन्तर गतिशील हों, क्रिया करते हुए कभी रुक न जाएँ। ऐसा करने पर हम भी सूर्य की भाँति चमक उठेंगे। जो भी पति-पत्नी सूर्य से यह पाठ पढ़ते हैं उन **मित्रस्य वरुणस्य**=पति-पत्नी का **धाम**=गृह **प्रियम्**=अत्यन्त प्रिय होता है। यह घर नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रतावाला होकर बहुत ही शोभावाला होता है।

भावार्थ—सूर्य से गतिशीलता का पाठ पढ़नेवाले पति-पत्नी अपने घर को बड़ा शोभावाला बनाते हैं। इस घर के निवासी सूर्य की भाँति चमकते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

साधक का उत्कृष्ट जीवन

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत्पतयदूर्ध्वसानुः।
अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर्युवानः प्र मित्रे धाम वरुणे गृणन्तः॥ ५॥

१. प्राणापान की साधना करनेवाला पुरुष **अनश्वः जातः**=बिना इन्द्रियरूप अश्वोंवाला हो जाता है। इन्द्रियाँ न रहती हों ऐसा तो नहीं, परन्तु अब ये इन्द्रियाँ उसकी स्वामी नहीं रहीं, इन्द्रियों की सत्ता समाप्त हो गई है। इसी प्रकार यह **अनभीशुः**=मनरूप लगाम से रहित हो गया है। अब यह मन के अधीन नहीं रहा। **अर्वा**=मन के अधीन न रहने से ही सब वासनाओं का संहार करनेवाला हुआ है (अर्व=to kill), **कनिक्रदत्**=वासनाओं के संहार के लिए ही प्रभु के गुणों का गर्जन करता हुआ स्मरण करता है। प्रभु के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण करता है, **पतयत्**=गतिशील होता है, **ऊर्ध्वसानुः**=ज्ञान के उत्कृष्ट शिखर पर पहुँचता है, ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बृहस्पति बनता है। २. ये **युवानः**=बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाले और अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाले युवक **अचित्तं ब्रह्म**=उस अचिन्तनीय—चिन्तन का विषय न बननेवाले परमात्मा का **जुजुषुः**=प्रीतिपूर्वक उपासन करते हैं और **मित्रे वरुणे**=मित्र और वरुण में रहनेवाले **धाम**=तेज का **प्रगृणन्तः**=प्रकर्षेण स्तवन करते हैं। प्राणापान की शक्ति का शंसन करते हुए प्राणायाम द्वारा उस शक्ति को अपने में संचित करते हैं। 'मित्रे, वरुणे' का भाव

स्नेह व निर्द्वेषता की वृत्ति भी है। इन वृत्तियों में निहित तेज के महत्त्व का स्मरण करते हुए वे इन्हें अपनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—साधक इन्द्रियों व मन का पूर्ण पराजय करके गतिशील व उत्कृष्ट ज्ञानी होता है। ब्रह्म का स्मरण करते हुए सबके प्रति स्नेहवाला व निर्द्वेष बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ब्रह्मकामी

आ धेनवो मामतेयमवन्तीर्ब्रह्मप्रियं पीपयन्त्सस्मिन्नूधन्।
पित्वो भिक्षेत वयुनानि विद्वानासाविवासन्नदितिमुरुष्येत्॥ ६॥

१. गतमन्त्र में ब्रह्म की उपासना का वर्णन था। यह उपासक अन्ततः ब्रह्मकामी बनता है, ब्रह्म में ही विचरने लगता है। प्रारम्भ में यह 'मामतेय' था। ममता का पुत्र, अर्थात् सांसारिक विषयों में ममतावाला था। इस **मामतेयम्**=मामतेय को, जोकि पीछे **ब्रह्म-प्रियम्**=ब्रह्म की रुचिवाला बन गया **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **अवन्तीः**=रक्षित करती हुईं **सस्मिन्**=अपने (स्वकीये—सा०) **ऊधन्**=ज्ञानरूप दूध में **आपीपयन्**=समन्तात् आप्यायित करती हैं, अर्थात् इसके जीवन को निर्दोष बनाकर सब प्रकार से बढ़ानेवाली होती हैं। पूर्ण विकास होने पर यह संन्यस्त होता है। २. यह **वयुनानि विद्वान्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला ब्रह्माश्रमी (ब्रह्म-प्रिय) **पित्वः भिक्षेत्**=शरीर-धारण के लिए आवश्यक अन्नों का ही भिक्षण करे, 'भैक्ष्यचर्यं चरन्तः'=भिक्षा से जीवन बिताये। **आसा**=मुख से **आविवासन्**=प्रभु का पूजन करे, अर्थात् प्रभु के स्तोत्रों व नामों का जप करे और **अदितिम्**=अखण्डन को, अपने स्वास्थ्य को **उरुष्येत्**=रक्षित करे।

भावार्थ—ब्रह्माश्रमी का कर्त्तव्य है कि—(क) भिक्षा से जीवनयात्रा करे, (ख) सदा प्रभु-नाम स्मरण करे, (ग) स्वास्थ्य को ठीक रखे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दिव्यवृष्टि

आ वां मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं नमसा देवाववसा ववृत्याम्।
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्या अस्माकं वृष्टिर्दिव्या सुपारा॥ ७॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **देवौ**=आप हमारे सब शत्रुओं को विजय करनेवाले हो (दिवु विजिगीषा)। मैं **वाम्**=आपके **हव्यजुष्टिम्**=दानपूर्वक अदन के द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवन को **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नमसा**=नम्रता के साथ **आववृत्याम्**=सदा अपने में प्रवृत्त करूँ। प्राणसाधना आवश्यक है, यही हमारे दोषों को दूर करेगी। इस प्राणसाधना के लिए हव्य का सेवन आवश्यक है। त्यागपूर्वक अदन के साथ यह भी आवश्यक है कि हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें। यह प्राणसाधना हमें सब रोगों व रागों से बचाएगी। हे प्राणापानो! **अस्माकं ब्रह्म**=हमारा ज्ञान **पृतनासु**=संग्रामों में **सह्या**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला हो। ज्ञान के द्वारा हम शत्रुओं को जीतें। काम-क्रोधादि से ऊपर उठें। ऊपर उठते-उठते हम सहस्रार-चक्र तक पहुँच सकें तो उस समय धर्ममेघ समाधि में **अस्माकम्**=हमारी **दिव्या वृष्टिः**=अलौकिक आनन्द की वर्षा **सुपारा**=उत्तमता से हमें इस भवसागर से पार ले-जानेवाली हो। उस दिव्य आनन्दवृष्टि की तुलना में हमारे लिए सांसारिक सुख अत्यन्त तुच्छ हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणायाम की साधना से हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो वासनाओं का विनाशक होता है और हमें धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली दिव्य आनन्द की वृष्टि का अनुभव होता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना से होनेवाले उत्कर्ष का चित्रण करता है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१५३] त्रिपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

हव्य, नमस्, धीति

यजा॑महे वां म॒हः स॒जोषा॑ ह॒व्येभि॑र्मित्रावरुणा॒ नमो॑भिः।
घृ॒तैर्घृ॑तस्नू॒ अध॒ यद्वा॑म॒स्मे अ॑ध्व॒र्यवो॒ न धी॒तिभि॒र्भर॑न्ति॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **हव्येभिः**=हव्यों के द्वारा—यज्ञीय पदार्थों के द्वारा, यज्ञिय पदार्थों के ही सेवन द्वारा तथा **नमोभिः**=नमनों के द्वारा **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतियुक्त हुए-हुए हम **वां महः**=आपके तेज को **यजामहे**=अपने साथ संगत करते हैं। प्राणापान की शक्ति के वर्धन के लिए हम (क) हव्य पदार्थों का सेवन करते हैं और (ख) नमन व उपासन की वृत्ति को अपनाते हैं, इस कार्य में सदा उत्साह बनाये रखते हैं, क्योंकि यह साधना तो 'दीर्घकाल, नैरन्तर्य व आदरपूर्वक' चलकर ही दृढ़-भूमि होती है। प्राणायाम आदि योगाङ्गों का लाभ एक दिन में ही तो दृष्टिगोचर नहीं हो जाता। २. **अध**=अब **यत्**=क्योंकि **वाम्**=आप दोनों **अस्मे**=हमारे लिए **घृतस्नू**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व दीप्ति के प्रापण के द्वारा हमारे जीवन में घृत का स्रावण करनेवाले हो, इसलिए **अध्वर्यवः**=अध्वररूप कर्मों को अपने साथ युक्त करनेवालों के समान बने हुए लोग **धीतिभिः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा आपको अपने में **भरन्ति**=धारण एवं पोषण करते हैं। एवं, प्राणापान का पोषण 'हव्य, नमस् व धीति' के द्वारा होता है।

भावार्थ—हम प्राणापान का पोषण करें। इसके लिए (क) हव्य पदार्थों का ही सेवन करें, (ख) नम्रता की वृत्तिवाले हों, प्रभु के प्रति नमन करें, (ग) ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'प्रस्तुति, प्रयुक्ति, सुवृक्ति'

प्रस्तु॑तिर्वां॒ धाम॒ न प्रयु॑क्ति॒रया॑मि मित्रावरुणा सुवृ॒क्तिः।
अ॒नक्ति॒ यद्वां॑ वि॒दथे॑षु॒ होता॑ सु॒म्नं वां॑ सू॒रिर्वृ॑षणा॒विय॑क्षन्॥ २॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपका **प्रस्तुतिः**=प्रकर्षेण स्तुति करनेवाला बनता हूँ। मैं उसी प्रकार आपका स्तोता बनता हूँ **न**=जैसे कि **धाम प्रयुक्ति**=आपके तेज को अपने साथ संयुक्त करता हूँ। इस प्रकार आपका स्तवन करता हुआ और आपके तेज को अपने साथ जोड़ता हुआ **सुवृक्तिः**=दोषों का अच्छी प्रकार वर्जन करनेवाला होता हुआ **अयामि**=गति करता हूँ। प्राणसाधना का परिणाम इन्द्रियों के दोषों का दहन ही तो है। २. **यत्**=जब **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **वाम्**=आप दोनों को **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **अनक्ति**=अलंकृत करता है, उस समय वह **सूरिः**=ज्ञानी पुरुष हे **वृषणौ**=शक्तिशाली प्राणापानो! **वाम्**=आपके **सुम्नम्**=सुख व आनन्द को अपने साथ **इयक्षन्**=संगत करता है। प्राणसाधना से

शरीर स्वस्थ, मन निर्मल और बुद्धि तीव्र बनती है। इस प्रकार यह प्राणसाधना साधक को अद्भुत आनन्द प्राप्त कराती है, इसलिए प्राणों की स्तुतिवाला बनकर मैं 'प्रस्तुति' होता हूँ, इन प्राणों के तेज को अपने साथ जोड़नेवाला 'प्रयुक्ति' होता हूँ और इस साधना से दोषों का दूरीकरण करके मैं 'सुवृक्ति' बनता हूँ।

भावार्थ—प्राणापान की साधना करनेवाला मैं 'प्रस्तुति, प्रयुक्ति व सुवृक्ति' बनता हूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'रातहव्य, मानुष, होता'

पीपाय धेनुरदितिर्ऋताय जनाय मित्रावरुणा हविर्दे।
हिनोति यद्वां विदथे सपर्यन्त्स रातहव्यो मानुषो न होता॥ ३॥

१. हे **मित्रावरुणा**-प्राणापानो! आपकी साधना करनेवाले **ऋताय**=ऋतमय जीवनवाले व्यक्ति के लिए **जनाय**-अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले व्यक्ति के लिए और **हविर्दे**=हवि के देनेवाले व्यक्ति के लिए **अदितिः**=अविनाशी **धेनुः**-ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौ **पीपाय**=आप्यायन करनेवाली होती है। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति 'ऋत, जन व हविर्द' बनता है और वेदवाणी इसकी शक्तियों को बढ़ाती है। २. **यत्**=जब यह साधक **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सपर्यन्**=आपका पूजन करता हुआ **वाम्**=आपको **हिनोति**=अपने में प्रेरित करता है तब **सः**=वह **रातहव्यः**=हव्यों को देनेवाला, अर्थात् अग्निहोत्र आदि यज्ञों को करनेवाला, **मानुषः न**-विचारशील पुरुषों के समान होता है और **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य ऋतमय जीवनवाला, शक्तियों का विकास करनेवाला, हवि देनेवाला व विचारशील बनता है। इसके लिए वेदवाणी ज्ञानदुग्ध देकर इसकी शक्तियों का विकास करती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वीर्य, गोदुग्ध व जल

उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो गाव आपश्च पीपयन्त देवीः।
उतो नो अस्य पूर्व्यः पतिर्दन्वीतं पातं पयस उस्रियायाः॥ ४॥

१. **उत**-और **वाम्**=आपको—प्राणापान को **मद्यासु**=हर्षस्वभाववाली **विक्षु**=प्रजाओं में **पीपयन्त**=आप्यायित करते हैं। कौन? (क) **अन्धः**-आप्यायनीय सोम—रक्षण करने के योग्य वीर्य-शक्ति, (ख) **गावः**=गोदुग्ध, (ग) **च**=और **देवीः आपः**=दिव्यगुणोंवाले जल। वीर्य के रक्षण से, गोदुग्ध तथा जलों के समुचित प्रयोग से शरीर में प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। स्नान के लिए स्पञ्जिग के रूप में जलों का प्रयोग प्राणापान की शक्ति का वर्धन करता है। इसी प्रकार पीने के लिए उष्ण जल का प्रयोग प्राणशक्ति को क्षीण नहीं होने देता। २. **उत**=और **उ**=निश्चय से **नः**=हमें **पूर्व्यः पतिः**=इस ब्रह्माण्ड का मुख्य स्वामी प्रभु **अस्य दन्**=इस प्राणशक्ति को देनेवाला हो। हे प्राणापानो! आप **उस्रियायाः**=इस वेद-धेनु के **पयसः**=ज्ञानदुग्ध का **वीतम्**=भक्षण करो और **पातम्**=उसका पान व रक्षण करो। प्रभु-स्तवन से वासनाओं का निराकरण होकर हमारी प्राणशक्ति का वर्धन हो और प्राणशक्ति के वर्धन से तीव्र बुद्धिवाले होकर हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—वीर्यरक्षण, गोदुग्ध व जल के प्रयोग से प्राणशक्ति में वृद्धि होती है। इस प्राणशक्ति के वर्धन से तीव्रबुद्धि होकर हम ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले बनते हैं।

विशेष—इस सूक्त में प्राणसाधना के लाभों व उपायों का निर्देश हुआ है। अब अगले सूक्त में प्राणशक्ति देनेवाले प्रभु का उपासन करने का वर्णन है—

[१५४] चतुष्पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उरुगाय विष्णु

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ १॥

१. **नु कम्**=अब मैं शीघ्र **विष्णोः**-सर्वव्यापक प्रभु के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कार्यों को **प्रवोचम्**-प्रकर्षेण कहता हूँ, **यः**-जो विष्णु **पार्थिवानि रजांसि**=इन पार्थिव लोकों को—पृथिवीतत्त्वप्रधान लोकों को **विममे**=विशेष मानपूर्वक बनाता है। २. इन पार्थिव लोकों को बनाने के साथ **यः**=जो विष्णु **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **सधस्थम्**=मुझ जीव के ब्रह्म के साथ रहने के स्थानभूत द्युलोक को **अस्कभायत्**=आधार देता है। विष्णु द्यावापृथिवी का निर्माण व धारण करनेवाले हैं। **त्रेधा विचक्रमाणः**=वे तीन प्रकार से विशेषरूप से चरण रखनेवाले हैं। इन चरणों में वे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण होते हैं, अथवा इन चरणों में वे ज्ञान, कर्म व उपासना का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे प्रभु **उरुगायः**=खूब ही गायन के योग्य हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु पार्थिव लोकों को बनाते हैं, द्युलोक को थामते हैं। उत्पत्ति, स्थिति व संहार करनेवाले वे प्रभु खूब ही गान करने योग्य हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

त्रि-विक्रम विष्णु

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ २॥

१. **तत् विष्णुः**-वे विष्णु **वीर्येण**=अपने शक्तिशाली कर्मों से **प्र स्तवते**=प्रकर्षेण स्तुति किये जाते हैं। प्रभु की शक्ति का सब कोई स्तवन करता है। वे प्रभु **मृगः**=स्तोताओं के जीवन का शोधन करनेवाले हैं (मृजू शुद्धौ) **भीमः न**=उपासकों के लिए वे भयंकर नहीं हैं। उपासकों को प्रभु से भय नहीं होता। उपासक का जीवन शुद्ध और परिणामतः निर्भय बना रहता है। २. **कुचरः**-(क्वायं न चरति) वे प्रभु कहाँ नहीं हैं, अर्थात् वे सर्वव्यापक हैं, **गिरिष्ठः**=वेदवाणियों में स्थित हैं, ज्ञान की सब वाणियों के वे ही अधिष्ठाता हैं। इन्हीं के द्वारा हमें प्रभु का प्रकाश मिलता है। ३. ये विष्णु वे हैं **यस्य**-जिनके **उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु**=तीन विशिष्ट चरणों में उत्पत्ति, स्थिति, संहाररूप कार्यों में अथवा ज्ञान, कर्म, उपासना के उपदेशों में **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **अधिक्षियन्ति**=निवास करते हैं। सब प्राणियों का आधार प्रभु के ये तीन कदम ही हैं।

भावार्थ—प्रभु के तीन कदमों में ही सब प्राणियों व लोकों का निवास है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गिरिक्षित् विष्णु

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥ ३॥

१. **विष्णवे**=उस सर्वव्यापक प्रभु के लिए **शूषम्**=सब शत्रुओं का शोषण करनेवाला **मन्म**=मननीय स्तोत्र **प्र एतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तब उस स्तवन का परिणाम हमारे जीवनों में यह होता है कि काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं। २. उस विष्णु के लिए मेरा स्तोत्र हो जो **गिरिक्षिते**=वेदवाणी में निवास करनेवाले हैं, वेदवाणी से जिनका प्रकाश प्राप्त होता है, **उरुगायाय**=वे प्रभु खूब ही गायन के योग्य हैं और **वृष्णे**=सुखों का वर्षण करनेवाले व शक्तिशाली हैं। ३. विष्णु वे हैं **यः**=जो **एकः**=अद्वितीय अकेले ही **इदम्**=इस **दीर्घम्**=विशाल **प्रयतम्**=(प्रकर्षेण यतम्) पूर्णरूप से नियन्त्रित **सधस्थम्**=सब लोकों के एकत्र स्थित होने के स्थान अन्तरिक्ष को **त्रिभिः इत् पदेभिः**=उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयात्मक कर्मों से **विममे**=विशेषरूप से निर्माण करते हैं। इस विशाल अन्तरिक्ष को प्रभु ने सब लोकों का आधार बनाया है। इसका वे धारण कर रहे हैं और अन्त में इसका वे अपने में लय कर लेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन वासनाओं का शोषण करता है। वेदवाणियों द्वारा प्रभु का स्तवन होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तीन मधुर चरण

यस्य॒ त्री पू॒र्णा मधु॑ना प॒दान्यक्षी॑यमाणा स्व॒धया॒ मद॑न्ति।
य उ॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीमु॒त द्यामेको॑ दा॒धार॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥ ४॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **त्री**=तीनों **पदानि**=चरण **मधुना पूर्णा**=मधु से पूर्ण हैं। प्रभु के उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय सभी कर्म माधुर्यवाले हैं। प्रलय भी रात्रि की भाँति विश्रान्ति का कारण होती हुई मधुर ही है। ये उत्पत्ति आदि तीनों ही कार्य **अक्षीयमाणा**=कभी नष्ट न होते हुए **स्वधया**=आत्मधारण-शक्ति से **मदन्ति**=(मादयन्ति) सब लोकों को आनन्दित करते हैं। प्रभु की सब क्रियाएँ जीवहित के लिए हैं। इन क्रियाओं को हम समझें और इन उत्पन्न वस्तुओं का ठीक प्रयोग करें तो आनन्द-ही-आनन्द है। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **उ**=निश्चय से **एकः**=अकेले ही **पृथिवीम्**=पृथिवी को उत=और **द्याम्**=द्युलोक को **विश्वा भुवनानि**=इसमें स्थित सब लोकों को **त्रिधातु**=(त्रयाणां धातूनां समाहारेण यथा स्यात्तथा) सत्त्व, रजस्, तमस् रूप तीनों धातुओं के द्वारा **दाधार**=धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु के तीनों चरण माधुर्य से पूर्ण हैं। उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप तीनों कार्य जीव के जीवन को मधुर बनाने के लिए हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विष्णु के परमपद में मधु का उत्स

तद॑स्य प्रि॒यम॒भि पाथो॑ अश्यां॒ नरो॒ यत्र॑ देव॒यवो॒ मद॑न्ति।
उ॒रु॒क्र॒मस्य॒ स हि बन्धु॑रि॒त्था विष्णो॑ः प॒दे प॑र॒मे मध्व॒ उत्स॑ः॥ ५॥

१. मैं **अस्य**=इस **उरुक्रमस्य**=विशाल पराक्रमवाले अथवा विशाल व्यवस्थावाले प्रभु के **तत्**=उस **प्रियम्**=प्रीतिजनक **पाथः**=मुक्ति के स्थानभूत अन्तरिक्षलोक को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ, **यत्र**=जिसमें **देवयवः**=उस महादेव प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले **नरः**=मनुष्य **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु ही **इत्था**=सचमुच **बन्धुः**=हमारे बन्धु हैं। अन्य बन्धुओं

के बन्धुत्व में थोड़ा-बहुत स्वार्थ है, परन्तु प्रभु का बन्धुत्व केवल जीवप्रीति के कारण है। ३. **विष्णोः**=इस विष्णु के **परमे पदे** सर्वोत्कृष्ट स्थान में—प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर उस परमात्मा के तृतीय धाम में (तृतीये धामन्) **मध्वः उत्सः**-माधुर्य का झरना है। प्रभु-प्राप्ति में ही सच्चा एवं सर्वोत्कृष्ट आनन्द है।

भावार्थ—देवयु बनकर मैं मोक्षलोक को प्राप्त करूँ। प्रभु के इस परमपद में माधुर्य का स्रोत है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गौएँ व किरणें

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मोक्षलोक को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम बात यह है कि हम स्वस्थ हों। स्वास्थ्य के लिए उपयोगी गृह वे हैं जहाँ कि गौएँ व किरणें प्रविष्ट होती हैं। इसी बात को कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि—**वाम्**-आप पति-पत्नी के **गमध्यै**-आने जाने के लिए **ता वास्तूनि**=उन घरों को **उश्मसि**=चाहते हैं **यत्र**=जहाँ **भूरिशृङ्गाः**-बड़े व सुनहरी (भूरि=gold) सींगोंवाली **गावः**=गौएँ **अयासः**=(अयन्तः) आनेवाली होती हैं, दिनभर वायु से सम्पर्क में चरागाहों में घूम-फिरकर जिन घरों में गौएँ लौटती हैं। अथवा यत्र=जहाँ भूरिशृङ्गाः=सुनहरे शिखरोंवाली अथवा रोगों का शमन करने की शक्तिवाली (शृङ्गं शृणातेः—निरु०) गावः=सूर्यकिरणें अयासः=प्रवेश करनेवाली होती हैं। २. **अत्र**=इस घर में **अह**=ही **तत्**=वह **उरुगायस्य**=खूब गायन करने योग्य **वृष्णः**-शक्तिशाली व सुखवर्षक प्रभु का **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान **भूरि**=खूब **अवभाति**=दीप्तिवाला होता है, अर्थात् ऐसे ही घरों में जीवन्मुक्त पुरुषों का निवास होता है। गौओं का दूध स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है और सूर्यकिरणों का प्रवेश भी उतना ही आवश्यक है। सूर्यकिरणें रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली होती हैं। गोदुग्ध प्राणशक्ति का समुचित वर्धन करता है। इस प्रकार पूर्ण स्वस्थ बना हुआ यह पुरुष मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—घर वे ही हैं जहाँ गौओं व सूर्यरश्मियों का प्रवेश हो। ऐसे घरों में ही मनुष्य मुक्तात्मा बनने में समर्थ होते हैं।

विशेष—सारे सूक्त में विष्णु का स्तवन है। समाप्ति पर विष्णु के इस परम पद को प्राप्त करने का उल्लेख है। उसके लिए घरों का नीरोग वातावरण अपेक्षित है। ऐसे घर वे ही हो सकते हैं जहाँ कि गौएँ व सूर्यरश्मियाँ सदा प्रविष्ट होती हैं। अगले सूक्त में भी इन्द्र व विष्णु का स्तवन है—

[१५५] पञ्चपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विष्णु का अर्चन

प्र वः पान्तमन्धसो धियायते महे शूराय विष्णवे चार्चत।
या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना॥ १॥

१. हे प्रजाओ! **अन्धसः**=सोम=वीर्य के द्वारा **वः**=तुम्हारा **पान्तम्**=रक्षण करनेवाले प्रभु को **अर्चत**=पूजो! उस प्रभु की तुम अर्चना करो जो कि **धियायते**=अपनी प्रजाओं से बुद्धिपूर्वक कर्मों की कामना करते हैं, **महे**=महान् हैं, **शूराय**=शूरवीर के रूप में हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। प्रभु शूरवीर हैं। वे उपासकों को भी शूरवीर बनने की प्रेरणा करते हैं। उपासकों को चाहिए कि वे शूरवीर=जितेन्द्रिय बनकर बुद्धिपूर्वक ही कार्यों को करें। उस महान् शत्रु-संहारक प्रभु का स्मरण करता हुआ यह स्वयं भी महान् व कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाला बने। २. **च**=और **विष्णवे** (अर्चत)=उस व्यापक प्रभु का पूजन करो। प्रभु की व्यापकता के गुण को हम भी धारण करने का प्रयत्न करें। ३. विष्णु की उपासना करते हुए उपासक भी विष्णु बनकर ऐसे बनते हैं **या**=जो **अदाभ्या**=वासनाओं से हिंसित न होते हुए **महः**=तेज के पुञ्ज बनते हुए **पर्वतानाम्**=अपना पूरण करनेवालों के **सानुनि**=शिखर-प्रदेश पर **तस्थतुः**=स्थित होते हैं, **इव**=उसी प्रकार स्थित होते हैं जैसे कि **साधुना अर्वता**=उत्तम घोड़े से कोई भी व्यक्ति अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है। ४. विष्णु के रूप में प्रभु की उपासना करता हुआ व्यक्ति विष्णु ही बनता है और अपनी न्यूनताओं को दूर करता हुआ उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचता ही है।

भावार्थ—हम विष्णु का उपासन करते हुए विष्णु ही बनें और उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचने का लक्ष्य रक्खें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सुतपा ही अर्चना करता है

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति।
या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः ॥ २॥

१. **शिमीवतोः**=शान्तभाव से अपने कर्मों को करनेवाले इन्द्र और विष्णु का **समरणम्**=गमन **इत्था**=सचमुच **त्वेषम्**=दीप्त होता है। इनके कार्य दीप्ति से युक्त होते हैं। २. हे **इन्द्राविष्णू**=सर्वशक्तिमान् (इन्द्र) व सर्वव्यापक (विष्णु) प्रभो! **सुतपाः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का रक्षण करनेवाला उपासक ही **वाम्**=आपको **उरुष्यति**=अपने जीवन में रक्षित करता है और इस प्रकार आपको अपने में धारण करता हुआ आपकी सच्ची स्तुति करता है। ३. यह उन आपका स्तवन करता है **या**=जो आप **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए **प्रतिधीयमानम् इत्**=निश्चय से धारण किये जाते हुए (धारण किये जाने योग्य) **असनाम्**=(असति=to shine) शरीर में दीप्ति प्राप्त करानेवाले अन्न को **अस्तुः कृशानोः**=अपने में आहुत अन्न व घृत को सूर्य तक फेंकनेवाली (असु क्षेपणे) अग्नि के द्वारा **उरुष्यथः**=(अविच्छेदेन प्रवर्तयथः—सा०) निरन्तर प्राप्त कराते हैं। अग्नि में किये गये इन यज्ञों से पर्जन्य=बादल होता है और उससे अन्न उत्पन्न होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला इन्द्र और विष्णु का उपासक बनता है। ये इन्द्र और विष्णु यज्ञों के द्वारा उपासक को दीप्ति देनेवाला अन्न प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तृतीयाश्रम-प्रवेश

ता ईं वर्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजे।
दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः॥ ३॥

१. **ता**=वे इन्द्र और विष्णु **ईम्**=निश्चय से **अस्य**=इस उपासक के **महि पौंस्यम्**=महनीय अथवा महान् बल को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। २. इस प्रकार बढ़े हुए बलवाला उपासक अपने इस

सामर्थ्य को **मातरा**-द्यावापृथिवी में—मस्तिष्क व शरीर में **निनयति**-विशेषरूप से प्राप्त कराता है। इसलिए प्राप्त कराता है कि **रेतसे**=शरीर में वीर्य की वृद्धि के लिए, इस रेतस् के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए तथा **भुजे**=रोगों से अपना रक्षण करने के लिए। ३. इस प्रकार एक घर में जब **पुत्रः**=सन्तान **अवरम्**=अपने से पीछे आनेवाले सन्तान को **दधाति**=धारण करता है, अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जाता है तो उस समय **पितुः**=पिता का **नाम**=नाम **परम्**=और उत्कृष्ट हो जाता है—पिता 'पितामह' बन जाता है। अब इस पितामह का **तृतीयम्**=तृतीय आश्रम प्रारम्भ होता है और यह **दिवः**=प्रकाश के **अधिरोचने**=आधिक्येन दीप्तिवाले लोक में निवास करता है, अर्थात् पिता 'पितामह' बनने पर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है और इस आश्रम में वह सतत स्वाध्याय में प्रवृत्त हुआ जीवन को प्रकाशमय बनाता है—सदा प्रकाश में विचरण करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—इन्द्र और विष्णु उपासक के सामर्थ्य को बढ़ाते हैं। यह सामर्थ्य उसके शरीर को रेतः-शक्तिसम्पन्न करता है और रोगों से बचाता है। इस रेतस् के द्वारा जब वह सन्तान प्राप्त करता है, तब इसके पिता 'पितामह' बनकर तृतीयाश्रम में प्रवेश करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इन, त्राता, अवृक, मीढ्वान्

तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसीनस्य त्रातुरवृकस्य मीळ्हुषः।
यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥ ४॥

१. **अस्य**=इस सर्वव्यापक विष्णु के **इत्**=निश्चय से **तत् तत्**=उस-उस प्रसिद्ध **पौंस्यम्**=पराक्रम को **गृणीमसि**=हम स्तुत करते हैं, जो प्रभु **इनस्य**=सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं, **त्रातुः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण करनेवाले हैं, **अवृकस्य**-(वृक आदाने) हमसे कुछ लेनेवाले नहीं—किसी प्रकार के स्वार्थ के बिना हमारा हित करनेवाले हैं, **मीळ्हुषः**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। प्रभु की प्रत्येक क्रिया जनहित के लिए ही है। २. प्रभु वे हैं जो कि **इत्**=निश्चय से **त्रिभिः**=तीन **विगामभिः**=विशिष्ट गमनों के द्वारा **पार्थिवानि**=इन पार्थिव लोकों को **उरु क्रमिष्ठ**-खूब ही (क्रम्=to pervade, to fill) व्याप्त किये हुए हैं, उस **उरुगायाय**=विशाल गमनोंवाले प्रभु के लिए हम स्तवन करते हैं ताकि **जीवसे**=हम प्रकृष्ट जीवन बिता सकें, अथवा दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु का उपासक भी उपास्य प्रभु की भाँति 'इन, त्राता, अवृक व मीढ्वान्' बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञेय दो क्रमण तथा अज्ञेय तृतीय क्रमण

द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ ५॥

१. प्रभु के तीन **क्रमण**=उद्योग हैं—प्रथम पृथिवी के निर्माण के रूप में, दूसरा अन्तरिक्ष के निर्माण के रूप में और तीसरा क्रमण द्युलोक का निर्माण है। **अस्य स्वर्दृशः**=इस सर्वद्रष्टा प्रभु के **इत् द्वे**-दो ही **क्रमणे**-क्रमणों को पृथिवी व अन्तरिक्ष को **अभिख्याय**=देख व

समझकर **मर्त्यः**=मनुष्य **भुरण्यति**=अपना भरण करता है अथवा (भजते—सा०) प्रभु का उपासन करता है। पृथिवी पर निवास करता हुआ मनुष्य पृथिवी को तो बहुत-कुछ जान ही लेता है, वृष्टि आदि के कारण अन्तरिक्ष से भी इसका परिचय बनता है। पृथिवी और अन्तरिक्ष में प्रभु की महिमा को देखकर यह प्रभु का भजन करता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **तृतीयम्**=द्युलोकरूप तृतीय क्रमण को **नकिः आ दधर्षति**=कोई भी पूर्णरूप से धर्षण नहीं कर पाता है। द्युलोक के आदि-अन्त का चिन्तन करती हुई इसकी बुद्धि भी आकुल हो जाती है और कुछ नहीं समझ पाती। ये **पतत्रिणः**=पंखोंवाले **पतयन्तः**=उड़ते हुए **वयः चन**=पक्षी भी इस द्युलोक का **धर्षण**=पराभव नहीं कर पाते। तीव्र गति से उड़ते हुए ये पक्षी भी आकाश के आदि-अन्त को नहीं देख पाते। अनन्त विस्तारवाला यह द्युलोक है। इसका कहीं आदि-अन्त नहीं। इस द्युलोकरूपी तृतीय क्रमणवाले प्रभु की महिमा का भी कहीं अन्त नहीं।

भावार्थ—प्रभु के दो क्रमण (पृथिवी+अन्तरिक्ष) ही हमारे ज्ञान का विषय बनते हैं, तीसरे द्युलोकरूपी क्रमण के आदि-अन्त को कोई नहीं जानता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कालचक्र-प्रवर्तक

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्॥ ६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को कालचक्र के प्रवर्तक के रूप में स्मरण करते हैं। यह कालचक्र भिन्न-भिन्न नामों से चौरानवे भागोंवाला है—संवत्सर १, अयन (उत्तरायण, दक्षिणायन) २, ऋतुएँ ५ (शिशिर व हेमन्त को मिला दिया है), मास १२, अर्धमास (शुक्ल व कृष्णपक्ष) २४, दिवस ३०, याम (प्रहर) ८, लग्न (मेष-वृषादि) १२। ये सब गतियाँ हैं। विशेषरूप से गतिवाला होने के कारण इन्हें यहाँ 'व्यति' (वि+अत्) कहा गया है। **नामभिः**=भिन्न-भिन्न नामों से **चतुर्भिः साकम्**=चार के साथ **नवतिं च**=नव्वे अर्थात् कुल चौरानवे भागोंवाले **चक्रं न वृत्तम्**=एक चक्र के समान गोलाकार **व्यतीन्**=विशिष्ट गतिवाले इन कालचक्रावयवों को **अवीविपत्**=वे प्रभु कम्पित कर रहे हैं। प्रभु ही इस कालचक्र को चला रहे हैं। २. **बृहत् शरीरः**=वे प्रभु इस ब्रह्माण्डरूप शरीरवाले हैं, **विमिमानः**=सब लोक-लोकान्तरों को विशेष मानपूर्वक वे चला रहे हैं, **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के द्वारा **युवा**=वे प्रभु ही हमारी बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ सम्पृक्त करनेवाले हैं। **अकुमारः**=(अ+कु+मारः) इस पृथिवी को नष्ट न होने देनेवाले हैं। ज्ञान के द्वारा प्रभु हमारे जीवनों से अशुभ को दूर करते हैं और इस प्रकार पृथिवी का रक्षण होता है। वे प्रभु **आहवं प्रति एति**=हमारी पुकार को सुनकर हमारे प्रति आते हैं। हमें उस-उस प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त करने के साधनों का उपदेश (प्रेरणा) देते हैं और उनको प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही कालचक्र के प्रवर्तक हैं। वे ब्रह्माण्डरूप शरीरवाले प्रभु हमारी पुकार को सुनकर हमें प्रार्थनीय वस्तु की प्राप्ति के मार्ग का उपदेश देते हैं और इस प्रकार जीवनों को बुराई से रहित व अच्छाई से युक्त करते हैं।

विशेष—इस सूक्त में विष्णु के तीन क्रमणों का सुन्दरता से चित्रण हुआ है। अगला सूक्त भी प्रभु के ही आराधन से आरम्भ होता है—

[१५६] षट्पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तोत्र व यज्ञ

भवा॑ मि॒त्रो न शेव्यो॑ घृ॒तासु॑ति॒र्विभू॑तद्युम्न एव॒या उ॑ स॒प्रथा॑ः।
अधा॑ ते विष्णो वि॒दुषा॑ चि॒दर्घ्य॑ः स्तोमो॑ य॒ज्ञश्च॒ राध्यो॑ ह॒विष्म॑ता॥ १॥

१. हे **विष्णोः**-सर्वव्यापक प्रभो! आप **मित्रः न**-(प्रमीतेः, त्रायते) मृत्यु व पाप से बचानेवाले साथी के समान **शेव्यः**-सुख देनेवाले **भव**-होओ। आप **घृतासुतिः** हमारे जीवनों में घृत उत्पन्न करनेवाले हैं। 'घृत' का भाव मलों का क्षरण व दीप्ति है। आप मलों का क्षरण करके हमारे जीवनों को नीरोग बनाते हैं और ज्ञान के द्वारा हमारे मस्तिष्कों को दीप्त करते हैं। **विभूतद्युम्नः**=आप प्रभूत व प्रकृष्ट ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, **एवयाः**-गति प्राप्त करानेवाले हैं। ज्ञान देकर ज्ञानपूर्वक कर्म करने की शक्ति भी आप ही प्राप्त कराते हैं **उ** और **सप्रथाः**=सदा विस्तार के साथ रहनेवाले हैं। उपासक के जीवन को भी आप विशाल बनाते हैं। २. **अध**=इसलिए हे प्रभो! **विदुषा**-विद्वान् से **ते स्तोमः**-आपका स्तवन **चित्**-निश्चय से **अर्घ्यः**=समृद्ध करने योग्य है, अर्थात् ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि आपका अधिक-से-अधिक स्तवन करे **च**-और **हविष्मता**-दान की वृत्तिवाले पुरुष से **यज्ञः**-यज्ञ **राध्यः** सिद्ध करने योग्य है। हविष्मान् को चाहिए कि वह यज्ञों द्वारा आपका उपासन करे।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। वे हमें सुखी करनेवाले और ज्ञानदीप्त बनानेवाले हैं। ज्ञानी बनकर हम प्रभु का स्तवन करें और हविष्मान् बनकर यज्ञ के द्वारा प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सायुज्य

यः पू॒र्व्याय॑ वे॒धसे॒ नवी॑यसे सु॒मज्जा॑नये॒ विष्ण॑वे॒ ददा॑शति।
यो जा॒तम॑स्य म॒ह॒तो महि॒ ब्रव॒त्सेदु॒ श्रवो॑भि॒र्युज्यं॑ चि॒द॒भ्य॑सत्॥ २॥

१. **यः**=जो **पूर्व्याय**-सृष्टि से पूर्व होनेवाले 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' **वेधसे**-ज्ञानी **नवीयसे**=नित्य नूतन, अत्यन्त रमणीय व स्तुत्य (नु स्तुतौ) **सुमज्जानये**=स्वयं प्रादुर्भूत होनेवाले (सुमत्-स्वयम्) 'स्वयम्भू' **विष्णवे**=व्यापक प्रभु के लिए **ददाशति**-अपने को अर्पित करता है और **यः**-जो **अस्य**-इस **महतः**=पूज्य, महान् प्रभु के **महि जातं ब्रवत्**-महान् विकास को व्यक्तरूप से प्रतिपादित करता है। **स इत् उ**=वह ही निश्चय से **श्रवोभिः**-ज्ञानों के द्वारा **युज्यं चित् अभि**=उस महान् साथी प्रभु की ओर **असत्**=होता है, प्रभु को प्राप्त होता है। प्रभु के सायुज्य को ज्ञान के द्वारा ही तो हमें प्राप्त करना है। २. 'प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करना, प्रभु की महिमा को संसार में देखना और उसी का प्रतिपादन करना' यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। प्रभु का सायुज्य प्राप्त करने के लिए प्रभु को इस रूप में स्मरण करना चाहिए कि वे 'पूर्व्य' हैं, सदा से हैं, सृष्टि बनने से पहले ही विद्यमान हैं। 'वेधस्' ज्ञानी हैं, 'नवीयान्' अत्यन्त रमणीय व स्तुत्यतम हैं, 'सुमत् जानि' स्वयं होनेवाले हैं अथवा उत्तम ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले हैं, 'विष्णु' सर्वव्यापक हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण करते हुए हम उसी के प्रति अपने को अर्पण करते हैं और उसी में प्रवेश कर जाते हैं, प्रभु हमारे युज्य होते हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करके हम उसके सायुज्य (समीपता) को प्राप्त करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—विष्णुः । **छन्दः**—निचृज्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

तज्जपः, तदर्थभावनम्

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥ ३॥

१. हे **स्तोतारः**=स्तवन करनेवाले स्तोताओ! **तं पूर्व्यम्**=उस सृष्टि से पहले होनेवाले **ऋतस्य गर्भम्**=ऋत व सत्य के धारण करनेवाले, ऋत व सत्य को उजागर अथवा प्रकट करनेवाले प्रभु को **उ**=ही **यथा विद**=जैसे जानते हो, उसी प्रकार **जनुषा**=अपने में सद्गुणों के प्रादुर्भाव से **पिपर्तन**=उस प्रभु को अपने में पूरण करो। जितना-जितना हम प्रभु को जानते हैं, उतना-उतना ही उसका, उसकी दिव्यता का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं। २. इस प्रकार **अस्य**=इस प्रभु के नाम='ओम्'-रूप निज नाम को **चित्**=ही **आ जानन्तः**=जानते हुए अर्थात् अर्थज्ञानपूर्वक **विवक्तन**=उच्चारण करो। 'तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्'। ३. हे **विष्णोः**=सर्वव्यापक प्रभो! आपका स्मरण करते हुए हम **ते**=आपके **महः**=तेज को तथा **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **भजामहे**=अपने में धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—जितना-जितना हम प्रभु को जानते हैं, उतना-उतना उसे धारण करनेवाले बनते हैं। प्रभु का नाम स्मरण करते हुए हम तेज व सुमति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—विष्णुः । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—निषादः ।

प्रकाशयुक्त बल

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते॥ ४॥

१. **मारुतस्य**=प्राणसाधना करनेवाले **अस्य वेधसः**=इस ज्ञानी पुरुष के **तं क्रतुम्**=उस यज्ञात्मक कर्म को **राजा**=वह शासन करनेवाला **वरुणः**=असत्यवादी को पाशों से जकड़नेवाला प्रभु **सचन्त**=सेवन करता है। तं क्रतुम्=इसके उस यज्ञात्मक कर्म को **अश्विना**=प्राणापान **सचेते**=सेवन करते हैं, अर्थात् वरुण के उपासन से तथा प्राणापान की साधना से यह यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। २. **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **उत्तमम्**=उत्कृष्ट **अहर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **दक्षम्**=बल को **दाधार**=धारण करता है **च**=और **सखिवान्**=उत्तम जीवरूप मित्रवाला विष्णुः=सर्वव्यापक प्रभु **व्रजम्**=इन्द्रियरूप समूह को **अपोर्णुते**=वासनारूप आवरण से रहित करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन व प्राणों के साधन से एक ज्ञानी साधक यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। प्रभु उसे प्रकाशयुक्त बल प्राप्त कराते हैं और उसकी इन्द्रियों को वासनारूप आवरण से रहित करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—विष्णुः । **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

'सचथ, सुकृत् व इन्द्र'

आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः।
वेधा अजिन्वत्त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्॥ ५॥

१. **यः**=वह **दैव्यः**=देवों के लिए हित करनेवाले, **सुकृत्तरः**=अत्यन्त उत्कृष्ट कार्यों को करनेवाले **विष्णुः**=व्यापक प्रभु **सुकृते**=उत्तम कर्म करनेवाले **सचथाय**=सबके साथ मिलकर

चलनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आविवाय**=प्राप्त होते हैं। प्रभु 'दैव्य, सुकृत्, विष्णु' हैं। वे 'सुकृत्, सचथ व इन्द्र' को प्राप्त होते हैं। २. वे **त्रिषधस्थः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप तीनों लोकों में साथ ही स्थित होनेवाले **वेधा**=विधाता, ज्ञानी प्रभु **आर्यम्**=आर्य पुरुष को (क) अपने कर्त्तव्य कर्म को करनेवाले, (ख) अकर्त्तव्य से दूर रहनेवाले, (ग) प्रकृत आचरण में स्थित होनेवाले पुरुष को (कर्तव्यमाचरन् कर्ममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः॥) **अजिन्वत्**=प्रीणित करते हैं और **यजमानम्**=इस यज्ञशील उपासक पुरुष को **ऋतस्य भागे**=ऋत के सेवन में **आभजत्**-भागी बनाते हैं। प्रभुकृपा से यज्ञशील उपासक सदा ऋत अटल-नियमन का सेवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम 'सबके साथ मिलकर चलें, जितेन्द्रिय बनें, पुण्यकर्मों में प्रवृत्त हों।' प्रभु उपासक को अनृत से हटाकर ऋत का सेवन करनेवाला बनाते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त सर्वव्यापक प्रभु के उपासन के महत्त्व को व्यक्त करता है। अगला सूक्त 'अश्विनौ' देवता का है—

द्वाविंशोऽनुवाकः

[१५७] सप्तपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

निरन्तर क्रियाशीलता

अबो॑ध्य॒ग्निर्ज्म उदे॑ति॒ सूर्यो॒ व्यु१॒॑षाश्च॒न्द्रा म॒ह्याव॑ो अ॒र्चिषा॑।
आयु॑क्षाताम॒श्विना॒ यात॑वे॒ रथं॒ प्रासा॑वीद्दे॒वः स॑वि॒ता जग॒त्पृथ॑क्॥ १॥

१. **ज्मः**=पृथिवी का यह **अग्निः**=मुख्य देवता अग्नि **अबोधि**=उद्बुद्ध होता है। पृथिवी का देवता अग्नि है। वह अग्निहोत्रादि कार्यों के किये जाने के लिए अग्निकुण्ड में उद्बुद्ध किया जाता है। द्युलोक का देवता **सूर्यः**=सूर्य **उदेति**=द्युलोक में उदित होता है। **मही**=अत्यन्त महनीय अथवा पूजा के लिए सर्वोत्तम समय के रूप में होती हुई यह **चन्द्रा**=आह्लादमयी **उषाः**=उषा **अर्चिषा**=अपनी दीप्तियों से **वि आवः**-प्रकट होती है और अन्धकारों को दूर करती है। संक्षेप में पृथिवी पर अग्नि उद्बुद्ध हुआ है, द्युलोक में सूर्य उदित हुआ है और सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को उषा ने दीप्ति से भर दिया है। इस प्रकार प्रातःकाल पूर्णरूप में प्रकट हो गया है। २. अब—इस समय **अश्विना**-मेरे प्राणापान **यातवे**=जीवनयात्रा में आगे बढ़ने के लिए **रथम्**=इस शरीर-रथ को **आयुक्षाताम्**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त करें। यह **सविता देवः**=प्रेरक, प्रकाशमय सूर्यदेव भी **जगत्**=सम्पूर्ण संसार को पृथक्=अलग-अलग, अपने-अपने कार्यों में प्रेरित करे। हम सबकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राणापान की कृपा से अपने ज्ञान-प्राप्ति व यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्त हों तथा ब्राह्मण अध्ययनाध्यापन में, क्षत्रिय राष्ट्र-रक्षण कार्यों में, वैश्य धनार्जन के लिए व्यापारादि में और शूद्र सेवा के कार्य में प्रवृत्त हो जाएँ।

भावार्थ—प्रातःकाल होते ही सब स्वकर्मों में प्रवृत्त होने का ध्यान करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—धैवतः।

बल, माधुर्य व दीप्ति

यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम्।
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूरसाता भजेमहि॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यत्**=जब **वृषणं रथम्**=इस शक्तिशाली रथ को **युञ्जाथे**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से जोतते हो, अर्थात् आपकी साधना से यह शरीर दृढ़ होता है और इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में सक्षम होती हैं, तब आप **नः क्षत्रम्**=हमारे बल को **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से तथा **मधुना**=माधुर्य से—वाणी तथा मन की मधुरता से **उक्षतम्**=सींच देते हो। हममें बल होता है और वह बल, ज्ञान तथा माधुर्य से युक्त होता है। २. **अस्माकं ब्रह्म**=हमारे ज्ञान को आप **पृतनासु**=संग्रामों में **जिन्वतम्**=प्रीणित करनेवाले होओ। आपकी साधना से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़े और हमें संग्रामों में विजयी बनानेवाला हो। ३. **वयम्**=हम **शूरसाता**=शूरों से सम्भजनीय व सेवनीय इन संग्रामों में **धना**=धनों को **भजेमहि**=प्राप्त करनेवाले हों। प्राणसाधना से हमें संग्रामों में विजय प्राप्त होती है और उस विजय के द्वारा हम अन्नमय आदि सब कोशों को उनके धनों से परिपूर्ण करनेवाले बनते हैं। इस साधना से हम अन्नमयकोश को तेज से, प्राणमयकोश को वीर्य से, मनोमयकोश को ओज व बल से, विज्ञानमयकोश को ज्ञान से तथा आनन्दमयकोश को सहस् से भर पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर बलवान् होता है, मन मधुर तथा मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

त्रिचक्र रथ

अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः।
त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आ वक्षद् द्विपदे चतुष्पदे॥ ३॥

१. यह शरीर अश्विनीदेवों—प्राणापानों का रथ कहाता है, क्योंकि इनके जाते ही यह रथ समाप्त (निष्क्रिय) हो जाता है। सब इन्द्रियों में इन प्राणापानों की शक्ति ही काम करती है। **त्रिचक्रः**=वात-पित्त व कफरूप तीन चक्रोंवाला, **मधुवाहनः**=सब ओषधियों के सारभूत वीर्यरूप मधु का वहन करनेवाला, **जीराश्वः**=वेगवान् इन्द्रियाश्वोंवाला **अश्विनो रथः**=यह प्राणापान का (शरीररूप) रथ **अर्वाङ् यातु**=अन्तर्मुख यात्रावाला हो। २. यह रथ **सुष्टुतः**=उत्तम स्तुतिवाला हो; **त्रिवन्धुरः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीन अधिष्ठानोंवाला हो; **मघवा**=प्रत्येक कोश के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो। **विश्वसौभगः**=सम्पूर्ण सौभाग्यवाला हो, इसमें सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग सौन्दर्यवाले हों। यह रथ **नः**=हमारे **द्विपदे**=सब मनुष्यों के लिए **चतुष्पदे**=गवादि पशुओं के लिए भी **शम् आवक्षत्**=शान्ति प्राप्त करानेवाला हो। इस शरीर से होनेवाले सब कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करनेवाले हों। ३. वात, पित्त, कफ इन तीनों के ठीक होने पर ही यह रथ चलता है, अन्यथा टूट-फूट जाता है, इसलिए इसे त्रिचक्र कहा गया है। वीर्य ही इसमें मधु है। इन्द्रियाँ इसके गतिशील अश्व हैं। अन्नमयादि कोशों में तेजादि ऐश्वर्यों से यह परिपूर्ण है। यह सबके लिए शान्ति प्राप्त कराने का साधन बने।

भावार्थ—यह शरीर प्राणापाण का रथ है। इसके द्वारा हम अपनी जीवन-यात्रा में अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करनेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

शक्ति व माधुर्य

आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवं मधुमत्या नः कशया मिमिक्षतम्।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा॥४॥

१. हे **अश्विना**-प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**-बल और प्राणशक्ति को **आवहतम्**=सर्वथा प्राप्त कराइए। उस बल के साथ **युवम्**-आप दोनों **नः**=हमें **मधुमत्या कशया**=अत्यन्त माधुर्यवाली वाणी से **मिमिक्षतम्**=सिक्त व प्रीणित करो। हममें शक्ति हो और हम सदा मधुरवाणी ही बोलें। २. **आयुः**=हमारे जीवन को आप **प्रतारिष्टम्**=खूब बढ़ा दीजिए और **रपांसि**-शरीरस्थ सब दोषों को **निर्मृक्षतम्**=नितरां नष्ट कर दीजिए। दोषों को दूर करके हमारे जीवन को नीरोग बनाइए। हमारे मन में से **द्वेषः**-द्वेषभाव को भी **सेधतम्**-नष्ट कर दीजिए और **सचाभुवा भवतम्**=हमारे जीवनों में मिलकर कार्य करनेवाले होओ। अपान दोषों को दूर करे और प्राण शक्ति का सञ्चार करे। इस प्रकार निर्मल व सबल बनकर हम अपनी जीवन-यात्रा को उत्तमता से पूर्ण कर सकेंगे।

भावार्थ—प्राणापान हमें बल व माधुर्य दें। इनसे हमें दीर्घजीवन व नीरोगता प्राप्त हो। हम द्वेष से रहित हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

जगती व भुवन=क्रियाशील व समृद्ध

युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थो युवं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
युवमग्निं च वृषणावपश्च वनस्पतीँरश्विनावैरयेथाम् ॥५॥

१. हे **वृषणौ**=शक्तिशाली **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **ह**=निश्चय से **जगतीषु**=गतिशील प्रजाओं में **गर्भम्**=गर्भवत् अन्दर वर्तमान उस प्रभु को **धत्थः**=धारण करते हो, अर्थात् आपकी साधना से ही एक क्रियाशील व्यक्ति अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन कर पाता है। **युवम्**=आप दोनों ही **विश्वेषु**=सब **भुवनेषु अन्तः**=(becoming prosperous) तेज, वीर्यादि सम्पत्तियों से समृद्ध होनेवाले व्यक्तियों में गर्भवत् वर्तमान प्रभु को स्थापित करते हो, अर्थात् प्राणायाम की साधना से ही मनुष्य क्रियाशील बनता है और इन्हीं की साधना से तेजादि समृद्धियों को प्राप्त करता है। इस क्रियाशील व आत्मिक सम्पत्ति से समृद्ध पुरुष में ही प्रभु का दर्शन होता है। २. **युवम्**=आप दोनों ही साधक में **अग्निं च**=अग्नि को भी **ऐरयेथाम्**=प्रेरित करते हो। अग्नितत्त्व ही जीवन व उत्साह का प्रतीक है। इस अग्नितत्त्व के वर्धन के लिए ही आप **अपः**=जलों को **वनस्पतीन् च**=और वनस्पतियों को प्रेरित करते हो। यह साधक जलों और वनस्पतियों का प्रयोग करता हुआ अपने में अग्नितत्त्व का वर्धन करता है और इस अग्नितत्त्व के वर्धन से क्रियाशील व तेजस्विता आदि से समृद्ध बनकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनता है।

भावार्थ—जलों व वनस्पतियों का प्रयोग करता हुआ प्राणसाधक अपने में अग्नितत्त्व का वर्धन करता है। इससे क्रियाशील व तेज-समृद्ध बनकर यह अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

उत्कृष्ट वैद्य

युवं ह स्थो भिषजा भेषजेभिरथो ह स्थो रथ्या३ राथ्येभिः ।
अथो ह क्षत्रमधि धत्थ उग्रा यो वां हविष्मान्मनसा ददाश ॥ ६ ॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **भेषजेभिः**=ओषधियों से **भिषजः स्थः**=रोगों की चिकित्सा करनेवाले हो। प्राणापान शरीर में वीर्यरक्षण के द्वारा सब रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। प्राणसाधना से शरीर के मलों का ही नहीं, मन के मलों का भी नाश होता है। २. **अथो**=और **राथ्येभिः**=शरीररूप रथ के लिए उत्तम इन्द्रियाश्वों से आप **ह**=निश्चयपूर्वक **रथ्या स्थः**=उत्तम रथवाले हो। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों के दोष भी दग्ध हो जाते हैं और ये इन्द्रियाश्व शरीररूप रथ को उत्तमता से आगे ले-चलते हैं। ३. **अथो**=और **ह**=निश्चय से हे **उग्रा**=तेजस्वी प्राणापानो! **यः**=जो **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला, मिताहारी **मनसा**=मन से **वां ददाश**=आपके प्रति अपने को दे डालता है, उसमें आप **क्षत्रम्**=बल को **अधिधत्थः**=खूब धारण करते हो। जब एक व्यक्ति युक्ताहारवाला बनकर प्राणसाधना में दिल से प्रवृत्त होता है तब उसका बल निरन्तर बढ़ता चलता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से नीरोगता प्राप्त होती है। इन्द्रियाँ निर्मल व सबल बनती हैं। उत्कृष्ट बल की प्राप्ति होती है। प्राणापान ही सर्वमहान् वैद्य हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणापान के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है।

॥ इति द्वितीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः

[१५८] अष्टपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वसू, रुद्रा, पुरुमन्तू

वसू रुद्रा पुरुमन्तू वृधन्ता दशस्यतं नो वृषणावभिष्टौ ।
दस्त्रा ह यद्रेक्ण औचथ्यो वां प्र यत्सस्राथे अकवाभिरूती॥ १॥

१. हे **वृषणौ**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **वसू**=रोगादि को दूर करके व बल का धारण करके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हो। **रुद्रा**=(रुत् दुःखं पापं वा, तस्य द्रावयितारौ—सा०) आप शरीर के दुःखों तथा मन के पापों को दूर करनेवाले हो। दोषों का दहन करके ये प्राणापान शरीर को नीरोग व मन को निर्मल बनाते हैं। **पुरुमन्तू**=आप बुद्धि को तीव्र करने के द्वारा ज्ञान का खूब ही वर्धन करनेवाले हो (पुरु=बहुत, मन्तु=ज्ञान)। इस प्रकार **वृधन्ता**=सब प्रकार से वृद्धि करनेवाले हो। २. **अभिष्टौ**=वासनारूप शत्रुओं का आक्रमण होने पर आप **नः**=हमारे लिए **रेक्णः**=धन **दशस्यतम्**=देनेवाले होओ। हे **दस्त्रा**=हमारी सब वासनाओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **यत् ह**=जो निश्चय से **औचथ्यः**=स्तुति करने में उत्तम साधक है वह **वाम्**=आपका ही तो है और **यत्**=जो आप हैं वे भी निश्चय से **अकवाभिः**=अकुत्सित **ऊती** (ऊतिभिः)=रक्षणों से **प्रसस्राथे**=गति करते हैं, अतः आप साधकों के लिए इष्ट धनों को दीजिए ही।

भावार्थ—प्राणापान शरीर के निवास को उत्तम बनाते हैं, मन से पापवृत्तियों को परे हटाते हैं और ज्ञान को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुमति-पुरन्धी

को वां दाशत्सुमतये चिदस्यै वसू यद्धेथे नमसा पदे गोः।
जिगृतमस्मे रेवतीः पुरन्धीः कामप्रेणेव मनसा चरन्ता॥ २॥

१. **कः**=वह व्यक्ति सचमुच आनन्दमय होता है जो कि **अस्यै**=इस **सुमतये चित्**=सुमति के लिए **वां दाशत्**=हे प्राणापानो! आपके प्रति अपना अर्पण करता है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। जो भी व्यक्ति इस प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, वह तीव्रबुद्धि बनकर जीवन के वास्तविक आनन्द को अनुभव करता है। यह व्यक्ति इसलिए आपके प्रति अपना अर्पण करता है **यत्**=कि **वसू**=निवास को उत्तम बनानेवाले आप **नमसा**=नमन के साथ **गोः पदे**=ज्ञान की वाणियों के स्थान में **धेथे**=इसका धारण करते हो। जो भी प्राणसाधक बनता है (क) उसका शरीर में निवास उत्तम होता है, अर्थात् वह नीरोग होता है, (ख) उसके हृदय में नम्रता का भाव होता है, (ग) वह मस्तिष्क में ज्ञान की वाणियों को धारण करता है। २. हे प्राणापानो! **कामप्रेण इव मनसा चरन्ता**=हमारी कामनाओं को पूर्ण करनेवाले मन से ही मानो गति करते हुए आप **अस्मे**=हमारे लिए **रेवतीः**=ऐश्वर्यों से सम्पन्न **पुरन्धीः**=पालक बुद्धियों को **जिगृतम्**=(दत्तम्—सा०) दीजिए। प्राणापान मानो हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं। ये हमें पालन और पूरण करनेवाली बुद्धि को प्राप्त कराएँ। इस बुद्धि से हम सब अभीष्टों को सिद्ध कर पाएँगे।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से सुमति प्राप्त होती है। हम पुरन्धी को प्राप्त करके ऐश्वर्य-सम्पन्न बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

विषय-समुद्र के पार

युक्तो ह यद्वां तौग्र्याय पेरुर्वि मध्ये अर्णसो धायि पज्रः।
उप वामवः शरणं गमेयं शूरो नाज्म पतयद्भिरेवैः ॥ ३ ॥

१. हे प्राणापानो! **यत्**=जब **वाम्**=आप दोनों का यह रथ **ह**=निश्चय से **युक्तः**=इन्द्रियाश्वों से युक्त होता है तब **तौग्र्याय**=(तुज हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले के लिए **पेरुः**=यह पार लगानेवाला होता है। **अर्णसः मध्ये**=विषय-समुद्र के मध्य में **पज्रः**=(पाजसा तीर्णः) बल के द्वारा तरा हुआ यह **विधायि**=स्थापित होता है। प्राणसाधना से वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे यह विषय-समुद्र में डूबता नहीं और जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण कर पाता है। २. हे प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपकी **शरणम्**=शरण को **उपगमेयम्**=समीपता से प्राप्त होता हूँ और **अवः**=रक्षण को प्राप्त होता हूँ **न**=जैसे कि **शूरः**=एक शूरवीर **पतयद्भिः एवैः**=गमनशील घोड़ों के द्वारा **अज्म**=संग्राम को प्राप्त होता है। प्राणापान की साधना भी हमें अध्यात्म-संग्राम में वासनाओं पर विजय पाने के योग्य बना देती है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें विषय-समुद्र में नहीं डूबने देती।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विषयों से दग्ध न होना

उपस्तुतिरौचथ्यमुरुष्येन्मा मामिमे पतत्रिणी वि दुग्धाम् ।
मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम् ॥ ४ ॥

१. हे प्राणापानो! **उपस्तुतिः**=आपका स्तवन **औचथ्यम्**=(उचथ्यपुत्रम्) स्तुति में उत्तम इस औचथ्य को **उरुष्येत्**=वासनाओं का शिकार होने से बचाए, अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ यह स्तोता वासनाओं से अभिभूत न हो। २. **माम्**=मुझ स्तोता को **इमे**=ये **पतत्रिणी**=निरन्तर गति के स्वभाववाले रात्रि व दिन **मा विदुग्धाम्**=मत दोह लें—मुझे ये क्षीणशक्ति न कर दें। विषय-प्रवण व्यक्ति को ये दिन-रात जीर्ण करते चलते हैं और अगली उम्र में ये टूटे किनारे (broken reed) के समान हो जाते हैं। मैं विषयों से ऊपर उठकर स्थिर शक्तिवाला बना रहूँ। ३. **दशतयः**=दस प्रकार का **चितः**=सञ्चित हुआ **एधः**=वासनाग्नि को दीप्ति करनेवाला यह विषय-काष्ठ **माम्**=मुझे **मा धाक्**=जलानेवाला न हो। **यत्**=क्योंकि **वाम्**=आपका यह भक्त **त्मनि**=मन में **बद्धः**=बँधा हुआ **क्षाम्**=पृथिवी को ही—पार्थिव भोग-पदार्थों को ही **प्रखादति**=खाता रहता है। आपकी साधना इसे बन्धन से ऊपर उठाती है और यह अपने को जीर्ण होने से बचा पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना इसलिए करनी कि वासनाओं का आक्रमण हमें विषय-प्रवण करके जीर्ण-शक्ति न कर दे। दस प्रकार के विषय-वासनाग्नि के काष्ठ बनते हैं और वे वासनाओं को दीप्त करते हैं। प्राणसाधना ही इस अग्नि को बुझाती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अश्विनौ । **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

त्रैतन

न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधुः ।
शिरो यदस्य त्रैतनो वितक्षत्स्वयं दास उरो अंसावपि ग्ध ॥ ५ ॥

१. **मा**=मुझे **नद्यः**-ये विषयों के जल (नदनात्) **न गरन्**-निगल न जाएँ। **मातृतमाः**=ये मेरे जीवन को उत्तम बनानेवाले हों। प्रभु ने इनका निर्माण पतन के लिए न करके उत्थान के लिए ही तो किया है। **दासाः**=मेरा उपक्षय करनेवाली (दसु उपक्षये) इन वासनाओं ने **यत्**-जो **ईम्**=निश्चय से **सुसमुब्धम्**-(संकुचितसर्वाङ्गम्—सा०) संकुचित सब अङ्गोंवाले मुझको **अव अधुः**=नीचे स्थापित कर दिया है। वासनाओं के कारण मेरे सब अङ्गों की शक्तियाँ संकुचित हो गई हैं और मेरा पतन हो गया है। २. इस दास—इस विनाश करनेवाली वासना का **यत् शिरः**=जो सिर है उसे **त्रैतनः**-(त्रि-तन्) 'ज्ञान, कर्म व उपासना'—इन तीनों का विस्तार करनेवाला ही **वितक्षत्**=विशेषरूप से काटनेवाला होता है। मेरे त्रैतन बनने पर **दासः**=यह क्षय करनेवाली वासना **स्वयम्**=अपने-आप ही जहाँ अपने सिर को विदीर्ण करे वहाँ **उरः**=अपनी छाती को और **अंसौ अपि**=अपने कन्धों को भी **ग्ध**=विदीर्ण करनेवाली हो (ग्ध-हन्तेर्लुङि रूपम्—सा०) जब मैं ज्ञान, कर्म और उपासना का विस्तार करूँ, उस समय मेरे ज्ञान-विस्तार से इस वासना का शिरच्छेद हो जाए। मेरे कर्म-विस्तार से इसके कन्धे विदीर्ण हो जाएँ और उपासना के विस्तार से इसका उरो विदारण हो जाए। इस प्रकार त्रैतन बनकर मैं वासना का समूलोन्मूलन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ने विषयों को उन्नति-साधन के लिए बनाया है। इनमें फँसकर हम अपना नाश कर बैठते हैं। हम त्रैतन बनें और वासना का उन्मूलन करके विषयों का यथायोग करते हुए उन्नत हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अश्विनौ । **छन्दः**—निचृदनुष्टुप् । **स्वरः**—गान्धारः ।

मामतेय Vs पुरुषार्थ-साधक

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे ।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥ ६ ॥

१. **मामतेयः**=ममता का पुत्र—संसार में विषयों की ममता में फँस जानेवाला व्यक्ति **दीर्घतमाः**=विस्तृत अन्धकारवाला होता है। इसका जीवन अन्धकारमय हो जाता है। यह **दशमे युगे** (युग=a period of five years)=दसवें ही युग में अर्थात् पचास वर्ष की ही अवस्था में **जुजुर्वान्**=अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। २. इसके विपरीत विषयों में न फँसकर, इनका ठीक प्रयोग करनेवाली अतएव **अर्थं यतीनाम्**=धर्मार्थ-काम व मोक्ष—इन पुरुषार्थों की ओर चलनेवाली **अपाम्**=प्रजाओं का **ब्रह्मा**=वेदज्ञान का देनेवाला वह प्रभु **सारथिः भवति**-सारथि होता है। इनके रथ को प्रभु प्रेरित करते हैं, अतः विषय-गर्त में न गिरते हुए ये लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—संसार में मनुष्य ममता में फँसकर नष्ट हो जाता है। पुरुषार्थ-प्राप्ति के लिए चलता हुआ प्रभु से प्रेरित होकर लक्ष्य पर पहुँचता है।

विशेष—सूक्त का सार यही है कि प्राणसाधना मनुष्य को विषयों में फँसने से बचाती है। अगले सूक्त में कहते हैं कि विषय-वासनाओं से बचनेवाला अपने द्यावापृथिवी=मस्तिष्क व शरीर को बड़ा सुन्दर बना पाता है—

[१५९] एकोनषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

जीवन की शोभा

प्र द्यावा॑ य॒ज्ञैः पृ॑थि॒वी ऋ॑ता॒वृधा॑ म॒ही स्तु॑षे वि॒दथे॑षु प्रचे॑तसा।
दे॒वेभि॒र्ये दे॒वपु॑त्रे सु॒दंस॑से॒त्था धि॒या वार्या॑णि प्र॒भूष॑तः॥ १॥

१. मैं **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी का **यज्ञैः**=यज्ञों के हेतु से **प्रस्तुषे**=प्रकर्षेण स्तवन करता हूँ। शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर ही यज्ञों का साधन होता है। ये द्यावापृथिवी ही **ऋतावृधा**=(ऋत=यज्ञ—श्रेष्ठतम कर्म) ऋत का, यज्ञों व श्रेष्ठतम कर्मों का वर्धन करनेवाले हैं। **मही**=ये महत्त्वपूर्ण हैं। **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है। २. **देवपुत्रे**=(देवाः पुत्रा ययोस्ते) दिव्य गुणोंवाले व्यक्ति जिनको (पुनाति त्रायते इति पुत्रः) पवित्र व रक्षित करनेवाले हैं वे **सुदंससा**=शोभन कर्मों से युक्त व दर्शनीय द्यावापृथिवी (मस्तिष्क और शरीर) **देवेभिः**=दिव्य गुणों से तथा **इत्था**=सत्य **धिया**=बुद्धि से **वार्याणि**=वरणीय, चाहने योग्य कर्मों को **प्रभूषतः**=हमारे जीवन में अलंकृत करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के स्वस्थ होने पर हमारा जीवन (क) सद्गुणों से अलंकृत होता है, (ख) सत्य बुद्धि से सुशोभित होता है तथा (ग) उस समय सब वरणीय बातें हमारे जीवन को अलंकृत करती हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही जीवन दिव्य गुणों से सुशोभित होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

विशालता और अमृतत्व

उ॒त म॑न्ये पि॒तुर॒द्रुहो॒ मनो॑ मा॒तुर्महि॒ स्वत॑व॒स्तद्धवी॑मभिः।
सु॒रेत॑सा पि॒तरा॒ भूम॑ चक्रतुरु॒रु प्र॒जाया॑ अ॒मृतं॒ वरी॑मभिः॥ २॥

१. 'द्यौर्वः पिता पृथिवी माता' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार द्युलोक पिता है और पृथिवी माता है। आराधक कहता है कि **उत**=और **अद्रुहः पितुः**=किसी से द्रोह न करनेवाले मस्तिष्करूप द्युलोक के तथा **मातुः**=पृथिवीरूप माता के **मनः**=मन को मैं **महि**=पूजा की वृत्तिवाला तथा **स्वतवः**=आत्मिक बलवाला (स्व=आत्मा, तवस्=बल) **मन्ये**=जानता हूँ। **तत्**=वह यह पूजा की वृत्ति तथा आत्मिक बलवाला मन **हवीमभिः**=प्रार्थनाओं से, प्रभु की आराधनाओं से बनता है। जिस समय मस्तिष्क व शरीर ठीक होते हैं उस समय मन भी उत्तम बनता ही है। उस समय मन में पूजा की वृत्ति उत्पन्न होती है और आत्मिक बल की स्थिति होती है। ऐसे मन को प्राप्त करने के लिए प्रभु का आराधन तो आवश्यक ही है, शरीर व मस्तिष्क को सुन्दर बनाना भी आवश्यक है। **सुरेतसा**=उत्तम रेतस् व शक्तिवाले **पितरा**=मस्तिष्क और शरीर **भूम चक्रतुः**=हृदय की विशालता को उत्पन्न करते हैं। निर्बल शरीर व कुण्ठित मस्तिष्क हृदय को संकुचित बनाते हैं। इस प्रकार ये मस्तिष्क व शरीररूप पिता व माता **वरीमभिः**=(breadth) हृदय की विशालताओं से **प्रजायाः**=प्रजा के **उरु**=विशाल **अमृतम्**=अमृतत्व को **चक्रतुः**=उत्पन्न करते

हैं, अर्थात् विशालता के द्वारा इन्हें नष्ट होने से बचाते हैं। विशालता रक्षण करती है, संकोच-विनाशक है।

भावार्थ—मस्तिष्क और शरीर के उत्तम होने पर हृदय विशाल बनता है और वह अमृतत्व को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—द्यावापृथिव्यौ । **छन्दः**—निचृज्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

सत्यमार्ग

ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर के द्वारा विशाल हृदय को प्राप्त करनेवाले **ते**=वे व्यक्ति ही **सूनवः**=प्रभु के सच्चे पुत्र होते हैं, **स्वपसः**=सदा उत्तम कर्म करनेवाले होते हैं **सुदंससः**=शोभन दर्शन बनते हैं—दर्शनीय जीवनवाले होते हैं। २. ये व्यक्ति **पूर्वचित्तये**=उस सर्वप्रथम प्रभु के ज्ञान के लिए **मही**=पूजा की भावना से पूर्ण **मातरा**=मस्तिष्क व शरीर को **जज्ञुः**=जाननेवाले होते हैं। इनका मस्तिष्क व शरीर प्रभु-पूजन में प्रवृत्त होता है और इस पूजन के द्वारा ये प्रभु को जाननेवाले बनते हैं। ३. इस प्रकार के (मही, मातरा) पूजन की भावना से युक्त मस्तिष्क और शरीर **स्थातुः च जगतः च**=स्थावर व जंगम पदार्थों के—इस चराचर जगत् के **धर्मणि**=धारणात्मक कर्म में **अद्वयाविनः**-दो मार्गों पर न चलकर, दोनों अतियों (extremes) में न जाकर, मध्यमार्ग में चलनेवाले **पुत्रस्य**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र व रोगों से रक्षित बनानेवाले के **सत्यं पदम्**=सत्यमार्ग को **पाथः**-रक्षित करते हैं। 'यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'—जो अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित है, वही तो सत्य है। ये व्यक्ति अद्वयावी व पुत्र बनते हुए इस सत्य के मार्ग पर चलते हैं और चराचर जगत् का धारण करनेवाले होते हैं। ऐसे लोगों से ही वस्तुतः जगत् का धारण किया जाता है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर हम प्रभु-पूजन की वृत्तिवाले बनें और लोक-कल्याणरूप सत्य में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—द्यावापृथिव्यौ । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—निषादः ।

स्तुत्य कर्म व दीप्त जीवन

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यंनव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः ॥ ४ ॥

१. **ते**=वे **मायिनः**=प्रज्ञावाले **सुप्रचेतसः**=उत्कृष्ट प्रज्ञानवाले आराधक शरीर व मस्तिष्क को **ममिरे**=निर्मित करते हैं, बनाते हैं। ये शरीर और मस्तिष्क **जामी**=भगिनियों के समान हैं, परस्पर सम्बन्धवाले हैं। शरीर का प्रभाव मस्तिष्क पर तथा मस्तिष्क का प्रभाव शरीर पर पड़ता ही है। **सयोनी**=ये मस्तिष्क व शरीर समान उत्पत्तिस्थानवाले हैं—दोनों का निर्माण करनेवाला प्रभु एक ही है। **मिथुना**=ये द्वन्द्वात्मक हैं, परस्पर संगत हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। शरीर मस्तिष्क का पूरण करता है और मस्तिष्क शरीर का। **समोकसा**=ये समान गृहवाले हैं, अलग-अलग रहनेवाले नहीं। शरीर न रहे तो मस्तिष्क ने कहाँ रहना, मस्तिष्क न रहे तो शरीर की समाप्ति है। इस प्रकार प्रज्ञावाले, समझदार लोग मस्तिष्क व शरीर दोनों के उत्थान का ध्यान करते हैं। २. शरीर व मस्तिष्क को ठीक करके ये **नव्यं नव्यम्**=स्तुत्य और अधिक स्तुत्य

तन्तुम्=कर्म-तन्तुओं को **आतन्वते**=विस्तृत करते हैं और ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी पुरुष **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में तथा **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय प्रभु में **अन्तः**=अन्दर निवास करते हुए **सुदीतयः**=उत्तम दीप्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीर व मस्तिष्क दोनों का उत्तम सुधार करते हुए स्तुत्य कर्मों को करते हैं तथा ज्ञान व प्रभु में विचरते हुए दीप्त जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

वसुमान् रयि

तद्राधो॑ अ॒द्य स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं व॒यं दे॒वस्य॑ प्रस॒वे म॑नामहे।
अ॒स्मभ्यं॑ द्यावापृथिवी सुचे॒तुना॑ र॒यिं ध॑त्तं॒ वसु॑मन्तं शत॒ग्विन॑म्॥ ५॥

१. **अद्य**=आज, गतमन्त्र के अनुसार दीप्त जीवनवाले बनकर **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=प्रेरक, प्रकाशमय प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **तत्**=उस **वरेण्यम्**=वरणे के योग्य **राधः**=कार्यसाधक धन को **मनामहे**=माँगते हैं, उस धन की याचना करते हैं जो हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। इस धन को हम प्रभु की अनुज्ञा में चलते हुए सुपथ से ही कमाते हैं। धन को हम उस सविता देव का ही मानते हैं। अपने को स्वामी न जानते हुए हम अपने को उस धन का रक्षक-(trustee)-मात्र समझते हैं। २. हे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **रयिं धत्तम्**=उस ऐश्वर्य को धारण करो जो कि **वसुमन्तम्**=सब वसुओंवाला है, अर्थात् निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को देनेवाला है और **शतग्विनम्**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाला है, अर्थात् हमारे लिए जीवनभर सहायक है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क को स्वस्थ व दीप्त बनाकर हम सुपथ से उस ऐश्वर्य का अर्जन करें जो हमें आजीवन वसुओं के जुटाने में सहायक हो।

विशेष—सारा सूक्त मस्तिष्क व शरीर के दीप्त व स्वस्थ बनाने की महिमा से ओत-प्रोत है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१६०] षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'देव, सूर्य, शुचि'

ते हि द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वश॑म्भुव ऋ॒तावा॑री रज॑सो धार॒यत्क॑वी।
सु॒जन्म॑नी धि॒षणे॑ अ॒न्तरी॑यते दे॒वो दे॒वी धर्म॑णा॒ सूर्यः॒ शुचि॑ः॥ १॥

१. **ते**=वे, गत सूक्त में वर्णित **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **हि**=ही **विश्वशम्भुवे**=सब शान्तियों को जन्म देनेवाले हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही सब कल्याण निर्भर होता है। ये द्यावापृथिवी ही **ऋतावरी**=ऋतवाले होते हैं। शरीर व मस्तिष्क के स्वस्थ होने पर ही सब कार्य ऋतयुक्त हुआ करते हैं। २. ये द्यावापृथिवी **रजसः धारयत् कवी**=(धारयन्तौ कविं यौ) हृदयान्तरिक्ष में उस क्रान्तदर्शी प्रभु को धारण करनेवाले होते हैं। शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो तो हृदय में उस क्रान्तदर्शी प्रभु का दर्शन होता ही है। ३. इस प्रकार जब ये द्यावापृथिवी **सुजन्मनी**=उत्तम जन्म या विकासवाले होते हैं, उस समय ये **धिषणे**=(धिष्=to sound) प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाले होते हैं, **देवी**=दिव्य गुणोंवाले या प्रकाशमय

होते हैं, उस समय **अन्तः** इनके अन्तर **धर्मणा**-धारणात्मक कर्मों के साथ **देवः**-प्रकाशमय **सूर्यः**-निरन्तर गतिशील **शुचिः** पवित्र जीवनवाला आत्मा **ईयते**-गति करता है। जैसे द्युलोक व सूर्यलोक के बीच में सूर्य सब लोकों का आकर्षण के द्वारा धारण करता एवं गति करता है, उसी प्रकार मस्तिष्क व शरीर के मध्य हृदय में पवित्र आत्मा का निवास होता है। यह पवित्रात्मा लोकधारक कर्मों को करता हुआ चलता है।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाकर इनके मध्य हृदय में हम 'देव, सूर्य व शुचि' बनकर निवास करें और गतिमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

वपुष्मत्ता

उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः।
सुधृष्टमे वपुष्ये न रोदसी पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत्॥ २॥

१. 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' के अनुसार द्युलोक पिता, पृथिवी माता है। अध्यात्म में ये मस्तिष्क व शरीर हैं। ये **उरुव्यचसा**-अत्यन्त विस्तारवाले—बढ़ी हुई शक्तियोंवाले तथा **महिनी**-प्रभु की पूजा की वृत्तिवाले और इस प्रकार **असश्चता**=विषयों में आसक्त न होते हुए (असज्यमाने) **पिता माता च**=मस्तिष्क और शरीर **भुवनानि रक्षतः**=सब प्राणियों का रक्षण करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही मनुष्य का जीवन ठीक चलता है। मस्तिष्क के ठीक होने से 'ब्रह्म' का तथा शरीर के ठीक होने से 'क्षत्र' का विकास समुचित रूप में होता है। 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियमश्नुताम्'—ब्रह्म व क्षत्र का समुचित विकास होकर जीवन श्रीसम्पन्न हो जाता है। २. **सुधृष्टमे**-इस प्रकार (धर्षति=to come together) परस्पर मिलते हुए ये **रोदसी**-द्यावापृथिवी—मस्तिष्क और शरीर **वपुष्ये न**-शरीर को बड़ा उत्तम बनानेवाले होते हैं। जब मस्तिष्क के ज्ञान और शरीर के बल का मेल होता है तब यह मनुष्य 'वपुष्मान्' प्रतीत होता है। ३. **पिता**-मस्तिष्करूप द्युलोक **यत्**-जब **सीम्**-निश्चय से **रूपैः**-ज्ञान के प्रकाश से, सब पदार्थों के ठीक निरूपण से **अभि अवासयत्**=उत्तम निवास कराता है तब ये शरीर व मस्तिष्क वपुष्मत्ता के लिए साधन बनते हैं। शरीर का सौन्दर्य मुख्यरूप से इस बात पर निर्भर करता है कि हम सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखें और उनका ठीक ही प्रयोग करें।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क दोनों के ठीक होने पर हम उत्तम विकासवाले व वपुष्मान् बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'धेनु, पृश्नि, सुरेतस्, वृषभ'

स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान् पुनाति धीरो भुवनानि मायया।
धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार द्यावापृथिवी की उत्तमता से वपुष्मान् बननेवाला **सः**=वह **वह्निः**=अपने कर्त्तव्यभार का उत्तमता से वहन करनेवाला होता है। **पित्रोः पुत्रः**=यह माता-पिता का सच्चा पुत्र होता है। द्यावापृथिवी दोनों के गुणों को लिये हुए होता है। द्युलोक के प्रकाश और पृथिवी की दृढ़ता से यह सम्पन्न होता है। **पवित्रवान्**=यह पवित्र जीवनवाला होता है। 'ब्रह्म और क्षत्र' के मेल में अपवित्रता सम्भव नहीं। **धीरः**=यह धीर=ज्ञानी पुरुष **भुवनानि**=सब लोकों व

व्यक्तियों का **मायया**=ज्ञान से **पुनाति**=पवित्र करनेवाला होता है। २. **धेनुं च पृश्निम्**=ओषधिरसों से आप्यायित करनेवाली इस पृथिवी को (धेट् आप्यायने, पृश्नि=the earth) तथा **सुरेतसं वृषभम्**=उत्तम शक्तिवाले, वृष्टि आदि से पृथिवी का सेचन करनेवाले द्युलोक को यह **विश्वाहा**=सदा **अस्य शुक्रम्**=इसके (शुच्) दीप्त व शुद्ध करनेवाले **पयः**=ज्ञानदुग्ध को **दुक्षत**=अपने में पूरित करता है। 'धेनु, पृश्नि' आप्यायित करनेवाली पृथिवीमाता के ओषधिरसों का तथा द्युलोकस्थ सूर्यादि की रश्मियों का अथवा वृष्टिजल का यह सेवन करता है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी का सच्चा पुत्र ओषधिरसों का तथा सूर्यरश्मियों व वृष्टिजलों का प्रयोग करता हुआ अपने जीवन को शुक्र=दीप्त बनाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सृष्टि की उत्पत्ति क्यों (सुक्रतूयया)

अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा।
वि यो ममे रजसी सुक्रतूययाजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे॥ ४॥

१. **अयम्**=ये प्रभु **अपसाम्**=कर्मशील **देवानाम्**=देवों में **अपस्तमः**=सर्वाधिक कर्मशील हैं। सूर्यादि सब देव गतिमय हैं, परन्तु इनको गति देनेवाले तो वे प्रभु ही हैं। ज्ञानी पुरुष भी क्रियाशील होते हैं, उन्हें भी क्रियाशक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। क्रिया प्रभु का स्वभाव ही है—'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। २. प्रभु वे हैं **यः रोदसी**-जो इस द्युलोक व पृथिवी-लोक को **विश्वशम्भुवा**=सबके लिए शान्ति उत्पन्न करनेवाला **जजान**=बनाते हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक वस्तुतः हमारा कल्याण करनेवाले हैं। इनके अनुचित प्रयोग से हम कष्ट उठाते हैं। ३. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने **रजसी**=इन द्यावापृथिवी को—अध्यात्म में मस्तिष्क व शरीर को **सुक्रतूयया**=उत्तम कर्मों की इच्छा से **विममे**=विशेष मानपूर्वक बनाया है। सृष्टि का निर्माण इसलिए हुआ है कि इसमें जीव उत्तम कर्मों को करते हुए अन्ततः मोक्ष को सिद्ध कर सकें। ४. इन द्यावापृथिवी को वे प्रभु **अजरेभिः स्कम्भनेभिः**=जीर्ण न होनेवाले स्तम्भों से **समानृचे**=सम्यक् आदृत करते हैं। इन लोकों के स्कम्भन की उन्होंने सुन्दरतम व्यवस्था की है।

भावार्थ—क्रिया करना प्रभु का स्वभाव ही है। प्रभु ने द्युलोक व पृथिवीलोक को शान्ति देनेवाला बनाया है। सृष्टि-रचना का उद्देश्य यह है कि इसमें जीव उत्तम कर्म करते हुए मोक्ष के लिए अग्रसर हो सकें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'महि श्रवः, बृहत् क्षत्रम्'

ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत्।
येनाभि कृष्टीस्ततनाम विश्वहा पनाय्यमोजो अस्मे समिन्वतम्॥ ५॥

१. **ते**=वे **गृणाने**=स्तुति किये जाते हुए **महिनी**=महान् महिमावाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हममें **महि श्रवः**=महनीय ज्ञान को, पूजन की वृत्ति से युक्त ज्ञान को तथा **बृहत् क्षत्रम्**=वृद्धि के कारणभूत बल को **धासथः**=धारण करें। 'द्यावा' का सम्बन्ध 'महि श्रवः' से है तथा 'पृथिवी' का सम्बन्ध 'बृहत् क्षत्र' से है। हमारा मस्तिष्क महनीय द्रव्य से पूर्ण हो तो शरीर वृद्धि के कारणभूत बल से सम्पन्न हो। २. हमें वह ज्ञान और बल दीजिए **येन**=जिससे हम **विश्वहा**=सदा **कृष्टीः**=(कृष्टि=ploughing the soil) कृषि आदि श्रमसाध्य कर्मों को **अभिततनाम**=विस्तृत करनेवाले हों। इन कार्यों के द्वारा **अस्मे**=हममें पनाय्यम् **ओजः**=स्तुत्य

बल को **समिन्वतम्**-पूरित करें—हममें स्तुत्य बल को बढ़ाएँ। कर्म से ही बल बढ़ता है। स्तुत्य बल वही है जो निर्माणात्मक कार्यों में लगता है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी के ठीक विकास से हमारा ज्ञान महनीय हो, बल वृद्धि का कारण बने। ज्ञान और बल के द्वारा हम कृषि आदि उत्तम कर्मों को करते हुए स्तुत्य ओज को प्राप्त करें।

विशेष—इस सूक्त में द्यावापृथिवी का विषय समाप्त होता है। अब अगला सूक्त 'ऋभवः' देवता का आरम्भ होता है—

[१६१] एकषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

महाकुल चमस 'ऋषि आश्रम', 'देव-मन्दिर'

किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन्किमीयते दूत्यं१ कद्यदूचिम।
न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम॥ १॥

१. इस सूक्त में 'चमस' जो सोमपान का पात्र है, यह शरीर ही है। इसमें सोम का पान करना है, शक्ति को पीने का प्रयत्न करना है, इसे शरीर में ही सुरक्षित करना है। इसे पाँचवें मन्त्र में 'देवपान' कहा गया है। देव लोग इसमें सोम पीते हैं। यह चमस एक है, इसे चार करना है—'एकं चमसं चतुरः कृणोतन' (वेद)—अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन चार आश्रमों में विभक्त करके जीवन को व्यतीत करना है। ऐसा करनेवाला 'सुधन्वा' ही है—उत्तम प्रणवरूप धनुष्वाला, जो सदा 'ओम्' का स्मरण करता है। 'प्रणवो धनुः' (ओंकार-प्रणवौ समौ)। इस सुधन्वा के तीन पुत्र हैं—'ऋभु, विश्वा तथा वाज' (६) 'ऋभु' ब्रह्मचारी है, जो ज्ञान से खूब दीप्त होने का प्रयत्न करता है 'उरु भाति'। 'विश्वा' गृहस्थ है जो संसार-यात्रा के चलाने के लिए ऐश्वर्य का अर्जन करता है, विभूतिवाला बनता है। 'वाज' वानप्रस्थ है जो गृह को त्यागकर वनस्थ बनता है (वाज-a sacrifice)। इन तीन आश्रमों में तो प्रत्येक को आना ही है। चौथा इनके साथ 'अग्नि' आ मिलता है। यह 'अग्नि' परिव्राजक है (अग् गतौ, व्रज=गतौ)। यह घूम-फिरकर प्रभु के सन्देश को सब तक पहुँचाता है, प्रभु के दूत-कर्म को करता है। जब यह 'ऋभु, विश्वा व वाज' आदि के समीप आता है तब वे कहते हैं कि—२. **किम् उ श्रेष्ठः**=यह क्या ही श्रेष्ठ है! इसका एक-एक कार्य प्रशस्यतम है। इसका 'उठना-बैठना, चलना-फिरना, बोलना-चालना' सब बड़े श्रीसम्पन्न (graceful) हैं। **किं यविष्ठः**=क्या ही युवतम-सा प्रतीत होता हुआ यह **नः आजगन्**=हमारे समीप प्राप्त हुआ है! इतनी बड़ी अवस्था में भी यह युवा ही प्रतीत होता है। इसकी शक्तियाँ जीर्ण नहीं हुईं। यह **किं कत् दूत्यम्**=क्या ही आनन्दमय दूत-कर्म को करता हुआ **ईयते**=गति करता है! यह उन वाणियों को कहता है **यत् ऊचिम**=जिन वाणियों का हम भी उच्चारण करते हैं, अर्थात् इससे दिये गये उपदेशों को बोलकर हम भी अपने हृदयों में अंकित करने का प्रयत्न करते हैं। ३. आज तक हम इस चमस को 'सोमपान पात्र' न जानकर एक मलपुञ्ज के रूप में ही देखते थे। इस अग्नि के उपदेश से 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' के अनुसार हम इसे ऋषि-आश्रम के रूप में देखने लगे हैं। 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ-इवासते' इस वेदोपदेश के अनुसार हम इसे देव-मन्दिर के रूप में देखने लगे हैं। **चमसम्**=इस सोमपान चमस को **न निन्दिम**=अब मलागार कहकर दूषित नहीं करते। उस चमस को **यः**=जो कि **महाकुलः**=महान् कुलवाला है, यह तो

'ऋषिकुल' है, 'देवकुल' है अथवा उस महान् प्रभु से पैदा किये जाने के कारण ऊँचे घरवाला (महाकुल) है। हे **भ्रातः**=प्रभु के सन्देश का भरण करनेवाले **अग्ने**=परिव्राजक! हम आज से **द्रुणः**=(द्रु गतौ) इस गतिमय शरीर के, जो कि प्रतिक्षण चल रहा है, अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है, उसके **इत्**=निश्चय से **भूतिम्**=ऐश्वर्य को **ऊदिम**=उच्चारित करते हैं। इसके महत्त्व को समझते हुए इसका ठीक ही प्रयोग करते हैं, इसकी पवित्रता को स्थिर रखने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम इस शरीर को घृणित वस्तु न समझकर इसे पवित्र रूप में देखें और इसे पवित्र बनाये रखने के लिए सन्नद्ध हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

चार आश्रम

एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद्वो देवा अब्रुवन्तद्व आगमम्।
सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ॥ २॥

१. गतमन्त्र के अग्नि के द्वारा प्रभु का सन्देश इस रूप में दिया जाता है कि **एकं चमसम्**=इस एक सोमपान के साधनभूत शरीर को **चतुरः कृणोतन**=चार बनाओ। पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम में चलता हुआ यह शरीर 'ऋभु' कहलाये, फिर अगले पच्चीस तक यह 'विश्वा' बने, अगले पच्चीस वर्षों में यह 'वाज' हो और अन्तिम पच्चीस वर्षों में यह 'अग्नि' कहलाये। **वः**=तुम्हें **देवाः**=ज्ञानी पुरुष **तत् अब्रुवन्**=यही बात कहते हैं। मैं भी **तत्**=तभी **वः**=तुम्हें **आगमम्**=प्राप्त होता हूँ। प्रभु-प्राप्ति उसी को होती है जो इस चमस को चार करता है। चारों आश्रमों को सुचारुरूपेण वहन करना ही जीवन की सफलता है। २. **सौधन्वना**=प्रणव-धनुष् को धारण करनेवाले के सन्तानो—उत्तम सुधन्वा बननेवालो! **यदि एव**=यदि ऐसा ही **आ करिष्यथ**=ठीक करोगे तो **देवैः साकम्**=दिव्य गुणों के साथ **यज्ञियासः**=उत्तम जीवनवाले **भविष्यथ**=होओगे।

भावार्थ—जीवन की पवित्रता के लिए आवश्यक है कि हम जीवन को चार आश्रमों में व्यतीत करने का संकल्प करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कर्त्तव्य-निर्देश

अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः।
धेनुः कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु वः कृत्व्येमसि॥ ३॥

१. 'ऋभु, विश्वा व वाज' को 'अग्नि' ने उपदेश दिया। इन्होंने अग्नि के प्रति उन कर्त्तव्यों को व्रत के रूप में स्वीकार किया। उन्हें करके ही तो वे प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—**अग्निं दूतं प्रति**=प्रभु के सन्देशवाह इस परिव्राजक के प्रति **यत्**=जो **अब्रवीतन**=आप लोगों ने कहा कि (क) **अश्वः कर्त्वः**-इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनाना हमारा कर्त्तव्य होगा, (ख) **उत**=और **इह**=इस जीवन में **रथः कर्त्वः**=इस शरीररथ को न टूटने देना—स्वस्थ रखना भी हमारा कर्त्तव्य होगा, (ग) **धेनुः कर्त्वा**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौ का पालन भी हमारा कर्त्तव्य होगा—हम स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करेंगे और (घ) **द्वा**=ब्रह्म और क्षत्र—ज्ञान और बल—इन दोनों को **युवशा कर्त्वा**=युवा बनाये रखना—जीर्ण न होने देना भी हमारा कर्त्तव्य होगा। २. हे **भ्रातः**=प्रभु के सन्देश का भरण करनेवाले अग्ने! **वः**=आपके

उपदिष्ट **तानि**=उन कर्मों को **कृत्वी**-करके **अनु एमसि** हम प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम मन्त्र में संकेतित चारों कर्त्तव्यों का सुन्दरता से पालन करें।

भावार्थ—प्रभु को वही प्राप्त करता है जो—(क) इन्द्रियाश्वों को सबल बनाता है, (ख) शरीररथ को दृढ़ व स्वस्थ रखता है, (ग) ज्ञानवाणियों का अध्ययन करता है और (घ) ब्रह्म व क्षत्र को जीर्ण नहीं होने देता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवन-परिष्कार

चकृवांसं ऋभवस्तदपृच्छत क्वेदभूद्यः स्य दूतो न आजगन्।
यदावाख्यच्चमसाञ्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्नास्वन्तर्न्यानजे॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित कर्त्तव्यों को **चकृवांसः**-पालन करनेवाले **ऋभवः**-'ऋभु, विश्वा और वाज'—ज्ञानदीप्त, ऐश्वर्यसम्पन्न, त्यागी **तत् अपृच्छत** यह बात पूछते हैं कि **यः स्यः**-जो वह **दूतः**-प्रभु का सन्देश देनेवाला अग्नि **नः आजगन्**-हमें प्राप्त हुआ था **क्व इत् अभूत्**=वह कहाँ है? ताकि हम उससे चर्चा करके यह जान सकें कि हमने कर्त्तव्यों को कहाँ तक निभाया है और हमें और क्या करना है? उससे ज्ञान प्राप्त करके हम अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करनेवाले बनें। २. इन कर्त्तव्यों को पूर्ण करने पर **यदा**-जब **त्वष्टा**-संसार का निर्माता—ज्ञानदीप्त प्रभु हमसे **कृतान्**=किये **चतुरः चमसान्**-चार चम्मचों को **अवाख्यत्**-देखता है, अर्थात् 'हमने इस जीवन को चारों आश्रमों में चलते हुए एक को चार भागों में बाँट सा दिया है'—इस बात के देखने पर **आत् इत्**-शीघ्र ही वे निर्माता प्रभु **ग्नासु**=वेदवाणियों के **अन्तः**-अन्दर **नि आनजे**=हमारे जीवनों को निश्चय से अलंकृत करते हैं। जब एक व्यक्ति कर्तव्य-मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है तब प्रभु भी उसके सहायक बनते हैं और इसके जीवन को वेदवाणियों से परिष्कृत कर डालते हैं।

भावार्थ—जब हम अपने जीवन को चारों आश्रमों में चलाने का संकल्प कर लेते हैं तब प्रभु हमारे जीवन को अलंकृत कर देते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा'

हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः।
अन्या नामानि कृण्वते सुते सचाँ अन्यैरेनान् कन्याइ नामभिः स्परत्॥ ५॥

१. **ये**-जो व्यक्ति **देवपानं चमसम्**-देवों से सोमपान के पात्रभूत इस शरीर को **अनिन्दिषुः**=निन्दित करते हैं, जो शरीर को अपवित्र व मलपुञ्ज के रूप में ही देखते रहते हैं, **एनान्**=इनको **हनाम**-हम समाप्त करते हैं **इति**=यह बात **यत्**=जब **त्वष्टा**-निर्माता, ज्ञानदीप्त प्रभु **अब्रवीत्**=कहते हैं तब ये ऋभु आदि समझदार लोग **सुते**=शरीर में इस सोम का सम्पादन करने पर **अन्या नामानि कृण्वते**-अपने अन्य नामों को सार्थक कर लेते हैं। ऋभु 'होता' बनता है। यह अपने में ज्ञान की निरन्तर आहुति देता है। 'विश्वा' 'अध्वर्यु' बनकर यज्ञों को अपने साथ जोड़ता है। वाज 'उद्गाता' बनकर प्रभु का गुणगान करता है और अग्नि 'ब्रह्मा' बनकर वेद-सन्देश सुनाता है। इस प्रकार इनका जीवन यज्ञमय हो जाता है। संक्षेप में भाव यह है कि इस शरीर को घृणित वस्तु समझते रहने की अपेक्षा यह अच्छा है कि हम इसे यज्ञभूमि समझें। इसकी

निन्दा करनेवाले प्रभु से दण्डनीय ही होते हैं। २. **एनान्**=इन **सचान्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से अपना मेल करनेवालों को **कन्या**=यह प्रभु की पुत्री—ज्ञानदीप्त वेदवाणी **अन्यैः नामभिः**=इन होता आदि अन्य नामों से **स्परत्**=प्रीणित करती है (स्पृ प्रीतिबलनयोः) अथवा अन्य नामों से प्रेरणा देती हुई सबल बनाती है। मैं 'होता, अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला व्यक्ति प्रीणित तो होता ही है, वह अपने अन्दर एक शक्ति का भी अनुभव करता है।

भावार्थ—शरीर की निन्दा न करके इसे पवित्र यज्ञभूमि बनाकर हम होता, अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा बनें। ये नाम हमें प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'इन्द्र, अश्विना, बृहस्पति'

इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत।
ऋभुर्विभ्वा वाजो देवाँ अगच्छत स्वपसो यज्ञियं भागमैतन॥ ६॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **हरी युयुजे**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को जोतता है। उसके ये अश्व चरते ही नहीं रहते। ये रथ में जुतकर उसे जीवन-यात्रा में आगे ले-जाते हैं। २. **अश्विना**=प्राणापान **रथम्**=इस शरीररथ को घोड़ों से युक्त करते हैं। यह शरीररथ अश्विनीदेवों का है। प्राणापान के साथ ही इसकी सत्ता है। इन्द्रियाश्वों में भी प्राणापान की शक्ति ही काम करती है। ३. **बृहस्पतिः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी **विश्वरूपाम्**=(विश्वं 'नि'-रूपयति) सम्पूर्ण विद्याओं का निरूपण करनेवाली इस वेदवाणी को अपने में **उपाजत**=समीपता से प्राप्त कराता है। ४. इस प्रकार **ऋभुः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाला, **विभ्वा**=उचित ऐश्वर्य को कमानेवाला, **वाजः**=त्याग द्वारा अपने में शक्ति भरनेवाला—ये सब **देवान् अगच्छत्**=दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। **स्वपसः**=उत्तम कर्मोंवाले होते हुए **यज्ञियं भागम्**=यज्ञ-सम्बन्धी कर्त्तव्य-भाग को **ऐतन**-प्राप्त होते हैं। ५. प्रस्तुत मन्त्र में (क) इन्द्र ही ऋभु बनता है। जितेन्द्रियता के बिना ज्ञान से चमकना सम्भव ही नहीं। जितेन्द्रिय बनकर यह इन्द्रियों को ठीक से कार्यव्यापृत करता है और ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके 'ऋभु' (उरु भाति) बनता है, (ख) अश्विना ही मानो पति-पत्नी हैं। ये गृहस्थ में शरीररथ को जोतकर उचित ऐश्वर्य को कमानेवाले 'विश्वा' बनते हैं, (ग) बृहस्पति ही 'वाज' बनता है। ज्ञान के बिना त्याग सम्भव नहीं।

भावार्थ—इन्द्र 'ऋभु' बनता है, अश्विना 'विश्वा' होते हैं तथा बृहस्पति 'वाज' बनता है। ये सब अपने यज्ञिय कर्त्तव्य-भाग को समुचितरूपेण पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

अश्व से अश्व का तक्षण

निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ताकृणोतन।
सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन॥ ७॥

१. सुधन्वा के पुत्रों में प्रथम ऋभु **धीतिभिः**=ध्यान-धारणाओं के द्वारा **गाम्**=वेदवाणी को **चर्मणा**=चर्म से, उपरले आवरण से **निरअरीणीत**=निर्गत करता है, अर्थात् उसके अन्तर्निहित अर्थ को देखनेवाला बनता है। वेदवाणी के वास्तविक अर्थ को देखने के लिए चित्तवृत्ति को

एकाग्र करके यह उसे आवरण से बाहर करता है। २. 'विश्वा' गृहस्थ में प्रवेश करते हुए **या**=जो 'ब्रह्म और क्षत्र' शक्तियाँ **जरन्ता**=जीर्ण हो रही होती हैं **ता**-उन्हें **युवशा**=पुनर्यौवनवाला **कृणोतन**-करते हैं, अर्थात् अपने ज्ञान और बल को क्षीण नहीं होने देते। ३. **सौधन्वना**-ये सुधन्वा के पुत्र 'वाज' **अश्वात्**=उस व्यापक शक्तिशाली प्रभु से अपने को **अश्वम्**=शक्तिशाली **अतक्षत**=बनाते हैं। प्रभु के उपासन से वे शक्तिशाली बनते हैं। ४. **रथं युक्त्वा**=इस प्रकार शरीर-रथ को इन्द्रियाश्वों से जोतकर ये **देवान् उप अयातन**=देवों के समीप प्राप्त होते हैं। निरन्तर क्रियाशील बनकर अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करते हैं। दिव्य गुणों का वर्धन करते हुए ये प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हम मन्त्रद्रष्टा ऋषि बनते हुए ऋभु बनें, गृहस्थ में भी 'ब्रह्म+क्षत्र' को जीर्ण न होने दें, वनस्थ बनकर प्रभु के सम्पर्क से अपने में शक्ति का संचार करें, सदा क्रियाशील बनकर प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मुञ्जनेजन का पान

इदमुदकं पिबतेत्यब्रवीतनेदं वा घा पिबता मुञ्जनेजनम्।
सौधन्वना यदि तन्नेव हर्यथ तृतीये घा सवने मादयाध्वै॥ ८॥

१. अपने जीवन को गतमन्त्र के अनुसार बनाने के लिए सब देव **इति अब्रवीतन**=यह कहते हैं कि **इदम् उदकम्**=शरीर में उत्पन्न वीर्यरूप जल को जीवन के प्रातःसवन में **पिबत**=अपने शरीर में ही पीने का प्रयत्न करो। **वा घ आ**=निश्चय से **इदम्**=इस **मुञ्जनेजनम्**=(मुञ्ज=to cleanse, निज्=पोषण) पवित्र व पोषण करनेवाले सोम (वीर्य) को **पिबत**=शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करो। २. हे **सौधन्वनाः**=ओम्-रूप उत्तम धनुष्वाले लोगो! **यदि**=यदि **तत् न इव हर्यथ**=इतने से ही आप्तकाम नहीं हो जाते हो तो **घ आ**=निश्चय से **तृतीये सवने**=जीवन के तृतीय सवन में **मादयाध्वै**=आनन्द-प्राप्ति के लिए अवश्य ऐसा करो ही। शरीर में सोम का पान हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, यह पवित्रता व पोषण हमें बड़े महत्त्वपूर्ण लाभ न लगें तो हमें यह ध्यान करके सोमपान करना है कि यह हमारे जीवन-यज्ञ के तृतीय सवन में आनन्द देनेवाला होगा। बाल्यकाल प्रातःसवन है, यौवन माध्यन्दिन सवन है तथा वार्धक्य सायन्तन-सवन है। यह सोमपान हमें वार्धक्य में जीर्ण होने से बचाता है।

भावार्थ—'सोम'-पान 'मुञ्जनेजन' का पान है। सोम शरीर को पुष्ट व पवित्र करता है। यह वार्धक्य में भी उल्लास को स्थिर रखता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आपः, अग्नि व वज्र

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत॥ ९॥

१. **एकः**-एक विद्वान् **इति अब्रवीत्**=यह कहता है कि **आपः भूयिष्ठाः**-शरीरस्थ रेतःकण (आपः=रेतः) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गतमन्त्र के अनुसार ये ही शरीर में व्याप्त होकर इसका पवित्रीकरण व पोषण करते हैं। २. **अन्यः**=दूसरा विद्वान् **इति अब्रवीत्**=यह कहता है कि **अग्निः भूयिष्ठः**-अग्नि-तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'आपः—सोम' यदि

शान्ति का प्रतीक है तो 'अग्नि' शक्ति का प्रतीक है। वस्तुतः शान्ति व शक्ति दोनों का ही महत्त्व है। ३. **एकः**=एक अन्य विद्वान् ने **प्र अब्रवीत्**=प्रकर्षेण यह कहा कि **बहुभ्यः**=इन अनेक शत्रुओं के लिए **वधर्यन्तीम्**=(वधर्=वज्र) वज्र की कामनावाली भावना को ही मैं भूयिष्ठ समझता हूँ। ४. इस प्रकार **ऋता वदन्तः**=ये सब ऋत बातों का प्रतिपादन करते हुए **चमसान्**=इन शरीरों को **अपिंशत**=(to adorn) अलंकृत करते हैं। 'ऋभु' आपः=रेतःकणों के रक्षण को महत्त्व देता है। इनके रक्षण से ही वह दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर ज्ञान से चमक उठता है। 'विभ्वा' अग्नि को महत्त्व देता है। इसी से वह संसार में आगे बढ़ता है, उत्साहमय बना रहकर ऐश्वर्यवान् होता है। 'वाज' वासनाओं के विनाश पर बल देता है। वासनाओं के विनाश के लिए क्रियाशीलतारूप वज्र को अपनाता है। ये सब बातें जीवन के सौन्दर्य को बढ़ानेवाली हैं। रेतःकण शरीर को नीरोग बनाते हैं, अग्नितत्त्व मन में उत्साह को बनाये रखता है और वासना-विनाशक वज्र पवित्रता का प्रमुख साधन बनता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'आपः, अग्नि व क्रियाशीलतारूप वज्र'—तीनों को स्थान दें। ये तीनों मिलकर ही जीवन को अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

ज्ञान, धन व शक्ति

श्रोणामेकं उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम्।
आ निम्रुचः शकृदेको अपाभरत्किं स्वित्पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः॥ १०॥

१. **एकः**=सौधन्वनों में प्रथम 'ऋभु' **श्रोणाम्**=श्रोतव्य **गाम्**=वेदवाणीरूप गौ से **उदकम्**=ज्ञान-जल को **अव अजति**=अपने में नीचे प्रेरित करता है। आचार्य ज्ञान के दृष्टिकोण से उच्चस्थल में है, विद्यार्थी नीचे। आचार्य से यह ज्ञान-जल विद्यार्थी की ओर आता है। विद्यार्थी ने इस ज्ञान को संसार में प्रचरित करना होता है। २. **एकः**=दूसरा 'विभ्वा' **सूनया**=हिंसा से **आभृतम्**=प्राप्त **मांसम्**=मांस को **पिंशति**=(पृथक्करोति—दया०) अपने घर से पृथक् ही रखता है। जहाँ यह मांस-भोजन नहीं करता वहाँ यह भाव भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह हिंसा से धन प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। ३. **एकः**=तीसरा 'वाज'=वासनाओं का त्याग करता हुआ **निम्रुचः**=वासनाओं के अस्त होने के द्वारा **शकृत्**=शक्ति को **अप आभरत्**=आनन्दपूर्वक अपने में भरता है (अप हर्षे—आप्टे)। ४. इस प्रकार **पितरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक—मस्तिष्क व शरीर इन **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों—ऋभु, विभ्वा व वाज के लिए **किं स्वित्**=क्या-क्या **उपावतु**=प्राप्त कराते हैं (अवतिः प्रापणे—सा०) प्रथमाश्रम में ज्ञान प्राप्त होता है तो द्वितीयाश्रम में हिंसाशून्य धन-प्राप्त होता है और वानप्रस्थ में वासनाविनाश के द्वारा शक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—ज्ञान, पवित्र धन तथा शक्ति की प्राप्ति के लिए हमें मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाना है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्नोत्पत्ति व जल-प्राप्ति

उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ॥ ११॥

१. सूर्यकिरणें भी 'ऋभवः' कहलाती हैं (आदित्यरश्मयोऽपि ऋभव उच्यन्ते—नि० ११।१६)।

ये सूर्यकिरणें जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाती हैं, फिर ये जल मेघरूप में होकर बरसते हैं। इस वृष्टि के द्वारा हे **ऋभवः**-आदित्यरश्मियो! **उद्वत्सु** उन्नत प्रदेशों में **अस्मै**-इस 'ऋभु, विभ्वा और वाज' के लिए आप **तृणम्**-भोजन की आधारभूत वनस्पतियों को **अकृणोतन**=करती हो। **निवत्सु**-निम्न प्रदेशों में **अपः**-जलों की व्यवस्था करती हो। हे **नरः**-(नृ नये) अन्न व जल के उत्पादन के द्वारा कार्यों का प्रणयन करनेवाली रश्मियो! आप **स्वपस्यया**=शोभन कर्मों की इच्छा से इस अन्न और जल की व्यवस्था करती हो। इनके अभाव में किन्हीं भी उत्तम कर्मों का हो सकना सम्भव नहीं। २. हे सूर्य किरणो! आप **यत्**-जब रात्रि के समय **अगोह्यस्य**=न छिपने योग्य इस सूर्य के **गृहे**-घर में **असस्तन**-सोती हो (सस्-स्वप्ने) **तत्**-तब **अद्य**-अब **न अनुगच्छथ**-उस सोने की क्रिया का अनुगमन मत करो, अपितु जागरित रहकर अपने जल के वाष्पीकरणरूप कार्य को करनेवाली होओ। रात्रि के समय किरणें मानो अगोह्य आदित्यमण्डल में जा सोती हैं, उनका कार्य रुक-सा जाता है। प्रातः होते ही ये किरणें फिर से अपने कार्य को आरम्भ करती हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणें वृष्टि का कारण बनकर अन्नोत्पत्ति व जल-प्राप्ति का साधन बनती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सूर्य-किरणों की महिमा

संमील्य यद्भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित्तात्या पितरा व आसतुः।
अशपत यः करस्नं व आददे यः प्राब्रवीत्प्रो तस्मा अब्रवीतन॥ १२॥

१. हे (ऋभवः) सूर्य किरणो! **यत्**=जब **भुवना**=सब भुवनों को **सम्मील्य**-मेघसमूहों से आच्छादित करके **पर्यसर्पत**-आप चारों ओर गति करती हो [इन सूर्य-किरणों से ही तो जलों के वाष्पीकरण द्वारा मेघ उत्पन्न होते हैं और सारे आकाश को आवृत कर लेते हैं,] उस समय दिन-रात वर्षा होने पर **तात्या**=तत्कालीन **वः पितरः**=तुम्हारे पिता, अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा **स्वित्**=भला **क्व आसतुः**-कहाँ होते हैं? सूर्य-चन्द्र का तो दर्शन ही नहीं होता, न जाने ये कहाँ चले जाते हैं? २. हे सूर्य-किरणो! **यः**=जो भी **वः**-आपके **करस्नम्**-हाथ को **आददे**-पकड़ता है, अर्थात् जो भी आपको अपने घर में आने से रोकता है उसे आप **अशपत**=शप्त कर देती हैं, नष्ट कर देती हैं। जिन घरों में सूर्य-किरणों का प्रवेश नहीं हो पाता, वहाँ रोग उत्पन्न होकर नाश-ही-नाश होता है। ३. **यः**=जो **प्र अब्रवीत्**=प्रकर्षेण आपके गुणों का स्तवन करता है **तस्मै**-उसके लिए **उ**-निश्चय से **प्र अब्रवीतन**=आप भी स्तवन करती हो, अर्थात् उसके जीवन को सुन्दर बना देती हो। सूर्य-किरणें मेघों को उत्पन्न करती हैं जिनसे सूर्य और चन्द्रमा भी ढक जाते हैं। सूर्य-किरणों को रोकनेवाले, उन्हें अपने घर में प्रविष्ट न होने देनेवाले व्यक्ति का नाश होता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का शंसन करनेवाला व्यक्ति इन सूर्य-किरणों को अपने शरीर पर लेता है और ये सूर्य-किरणें उसके शरीर को नीरोग बनाती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वृष्टि की प्रेरक वायु

सुषुप्वांसं ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत॥ १३॥

१. **सुषुप्वांसः**=(स्वप्=सु+अप्) वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति आदि उत्तम कार्यों को करनेवाली

ऋभवः=सूर्य-किरणें **तत् अपृच्छत**=यह प्रश्न करती हैं कि **अगोह्य**=किसी के द्वारा न ढाँपे जाने योग्य हे सूर्य! **कः**=कौन **नः**=हमारे **इदम्**=इस वृष्टिकर्म को **अबूबुधत्**=(बोधयति) प्रेरित करता है। २. सूर्य-किरणों के इस प्रश्न पर **बस्तः**=सबका वासयिता यह सूर्य **श्वानम्**=(मातरिश्वानम्) अन्तरिक्ष में गति करनेवाली वायु को **बोधयितारम्**=प्रेरक **अब्रवीत्**=कहता है। वृष्टि लानेवाली ये वायुएँ ही 'मॉनसून' कहलाती हैं। सूर्यकिरणों ने जलों को वाष्पीभूत किया और ये वायुएँ उन वाष्पकणों को आकाश में पहुँचाती हैं। ३. हे सूर्यकिरणो! जैसे तुम इस समय इन वायुओं के कार्य को देख रही हो, उसी प्रकार **इदम्**=इस कार्य को **संवत्सरे अद्य**=वर्ष की समाप्ति पर आज के दिन **व्यख्यत**=फिर देखोगी। प्रतिवर्ष समय पर वर्षाऋतु आती है और वायुओं का यह कार्य देखने को मिलता है।

भावार्थ—वायु सूर्यकिरणों द्वारा वाष्पीभूत जलों को आकाश में प्रेरित करके वृष्टि का साधक होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वृष्टि के सहायक देव

दि॒वा या॑न्ति म॒रुतो॒ भूम्या॒ग्निर॒यं वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षेण याति।
अ॒द्भिर्या॑ति॒ वरु॑णः समु॒द्रैर्यु॒ष्माँ इ॒च्छन्तः॑ शवसो नपातः॥ १४॥

१. **मरुतः**=वृष्टि लानेवाली वायुएँ **दिवा यान्ति**=द्युलोकस्थ सूर्य की गरमी से चलती हैं। **भूम्या**=भूमि से **अयं अग्निः**=यह अग्नि उत्पन्न होती है। **वातः**=वायु **अन्तरिक्षेण याति**=अन्तरिक्ष से गति करता है। **वरुणः**=सब रोगों का निवारण करनेवाला जल **अद्भिः समुद्रैः**=जलों व समुद्रों के साथ **याति**=गति करता है। २. ये 'मरुत्, अग्नि, वात व वरुण' हे **शवसः नपातः**=शक्ति को न गिरने देनेवाली सूर्य-रश्मियो! इस वृष्टि-कार्य के लिए **युष्मान् इच्छन्तः**= तुम्हारी कामना करते हैं। सूर्य-किरणें ही वस्तुतः वाष्पीकरणरूप कार्य को प्रारम्भ करके वृष्टि का उपक्रम करती हैं। इस कार्य में 'मरुत्' आदि देव इन सूर्य-किरणों के सहायक होते हैं। इन सब देवों का कार्य होनेपर वृष्टि होती है। यह वृष्टि अन्नोत्पादन के द्वारा हमारी शक्ति का कारण बनती है। इसीलिए इन सूर्यकिरणों का यहाँ 'शवसो नपातः' इन शब्दों में स्मरण किया है।

भावार्थ—'सूर्यकिरणें व मरुत्' आदि देव मिलकर वृष्टि करते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रथम दस मन्त्रों में 'ऋभु, विभ्वा व वाज' तथा 'अग्नि' का ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासी के रूप में सुन्दर चित्रण है। अन्तिम चार मन्त्रों में 'ऋभवः' का अर्थ आदित्य-रश्मि लेकर उनका चित्रण किया है। अगला सूक्त 'अश्व' देवता का है। अश्व अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु या शक्तिशाली जीव।

[१६२] द्विषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**:—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु-प्रवचन

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अ॒र्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋभु॒क्षा म॒रुतः॒ परि॑ ख्यन्।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॑णि॥ १॥

१. दीर्घतमा प्रार्थना करता है कि **नः**=हमें निम्न देव **मा परिख्यन्**=मत छोड़ जाएँ—(क) **मित्रः**=स्नेह की देवता, (ख) **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता, (ग) **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुर्यो

ददाति'=दातृत्व की भावना अथवा 'अरीन् यच्छति' काम क्रोधादि शत्रुओं का नियमन, (घ) **आयुः**-(इ गतौ) गतिशीलता, (ङ) **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व, (च) **ऋभुक्षाः**=(ऋतेन भान्ति; अरु भान्ति इति वा, क्षि गतौ) नियमितता से दीप्त होकर व्यवहार करना अथवा ज्ञानपूर्वक गति तथा (छ) **मरुतः**-प्राण, अर्थात् प्राणसाधना। मित्रादि शब्दों से सूचित होनेवाले सब दिव्य गुण हमारे जीवन का अङ्ग हों। २. हमारे जीवन में यह समय आएगा तभी **यत्**=जब हम **विदथे**=ज्ञान-यज्ञों में प्रभु के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्मों का **प्रवक्ष्यामः**=प्रवचन करेंगे। उस प्रभु का जो कि **वाजिनः**-सर्वशक्तिमान् हैं, **देवजातस्य**=देवों के हृदयों में प्रादुर्भूत होनेवाले हैं, **सप्तेः**=(षप समवाये) प्राणिमात्र में समवायवाले हैं। ३. ज्ञानयज्ञों में एकत्र होकर हम शक्तिशाली, सब देवों में प्रादुर्भूत, सबमें समवेत प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु के प्रिय बनते हैं, उस समय ये सब देव हमारा आश्रय करते हैं। हम महादेव का निवास-स्थान बनने का प्रयत्न करते हुए सब देवों का निवास बन जाते हैं। यह प्रभु का प्रवचन हमारे जीवनों को शुद्ध बनाये रखता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण हमें दिव्यगुणों से युक्त बनाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**:—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शुद्ध धन, शुद्ध अन्न

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥ २॥

१. **यत्**=जब **निर्णिजा**-शुद्ध, अर्थात् शुद्ध उपायों से कमाये हुए **रेक्णसा**=धन से **प्रावृतस्य**=आच्छादित पुरुष के **गृभीतां रातिम्**=ग्रहण किये हुए दान को **मुखतः**=मुख्यरूप से अथवा प्रारम्भ में ही ले-जाते हैं, अर्थात् (क) आध्रः=आधार देने योग्य विकलाङ्ग, दरिद्र पुरुष, (ख) मन्यमानः तुरः=आदरणीय, अज्ञान-अन्धकार के नाशक अध्यापकादि और (ग) राजा=राष्ट्र के व्यवस्थापक जिसके धन के विषय में यह कहते हैं कि 'हमने भी इस धन में से भाग प्राप्त किया है।' २. इस दान देकर यज्ञशेष का सेवन करनेवाले पुरुष के लिए वे प्रभु **सुप्राङ्**-(सु प्र अञ्च्) उत्तमता से, खूब आगे ले-चलनेवाले होते हैं, **अजः**-(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा इसकी सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले होते हैं, **मेम्यत्**=(भृशं हिंसन्—द०) काम-क्रोधादि सब वासनाओं का संहार करनेवाले, **विश्वरूपः**-सब आवश्यक ज्ञानों का निरूपण करनेवाले होते हैं। ३. मेम्यत् शब्द का अर्थ आचार्य ने प्राप्नुवन् भी किया है। इस शुद्ध उपायों से धन कमाने व दान देनेवाले पुरुष को प्रभु प्राप्त होते हैं। यह प्रभु का प्रिय **इन्द्रापूष्णोः**=इन्द्र और पूषा के **प्रियं पाथः**-प्रिय अन्न को भी **अपि एति**-प्राप्त करता है, अर्थात् यह उस अन्न का सेवन करनेवाला बनता है जो इसे इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय बनाता है और पूषा=उत्तमता से अपनी शक्तियों का पोषण करनेवाला बनाता है। इस अन्न का सेवन करके यह जितेन्द्रिय व पुष्टाङ्ग बनता है। इस मन्त्र का आरम्भ 'निर्णिजा रेक्णसा' अर्थात् 'शुद्ध धन' से होता है और समाप्ति पर 'इन्द्रापूष्णोः पाथः' शुद्ध अन्न का सेवन करनेवाला ही शुद्ध धन का अर्जन करता है। अन्नदोष से वृत्तिदोष होकर न्याय-अन्याय सभी साधनों से धन कमाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—हम सुपथ से धन कमाएँ। उचित दान देकर अवशिष्ट धन से अर्जित सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—निषादः।

शत्रुच्छेदक (छाग)

एष च्छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शुद्ध धन व शुद्ध अन्न' का सेवन करनेवाले के लिए कहते हैं कि **एषः छागः**=यह शत्रुओं का छेदन करनेवाला (छो छेदने) **पूष्णः भागः**=पोषक अन्न का ही सेवन करनेवाला (भज सेवायाम्) **विश्वदेव्यः**=अपने में सब दिव्यगुणों को धारण करनेवाला दीर्घतमा (मन्त्र का ऋषि) **अश्वेन**=(अशू व्याप्तौ) सर्वव्यापक **वाजिना**= सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु से **पुरः नीयते**-आगे, अर्थात् उन्नति-पथ पर ले-जाया जाता है। २. **अर्वता**= (अर्व हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु से **यत्**=जब **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति देनेवाले **पुरोळाशम्**=(leavings of an oblation) हुतशेष की **अभि**=ओर (नीयते) ले-जाया जाता है, अर्थात् यज्ञशेष का ही सेवन करने के लिए प्रेरित किया जाता है तब **त्वष्टा**=वह देवशिल्पी—संसार-निर्माता अथवा (त्विष् दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाला प्रभु **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इसको **सौश्रवसाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **जिन्वति**=प्रीणित करता है, उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके इसे आनन्दित करता है। वस्तुतः यज्ञशेष का सेवन चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। शुद्ध चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है और प्रकाश में आनन्द है।

भावार्थ—हम काम-क्रोधादि का छेदन करें। इसके लिए पोषक अन्न का ही सेवन करें। यज्ञशेष का सेवन करते हुए जीवन को दीप्त बनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञिय जीवन

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥ ४॥

१. **यत्**=जब **हविष्यम्**=(हविषि उत्तमम्) जीवन दानपूर्वक अदन में उत्तम होता है, अर्थात् दान देकर यज्ञशेष को ही खाने की वृत्ति होती है, २. **ऋतुशः**-ऋतु के अनुसार **देवयानम्**=देवताओं के मार्ग से चलना होता है, अर्थात् ऋतुचर्या का ध्यान रखते हुए सत्य को ही अपनाना होता है तथा ३. **मानुषाः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले **अश्वम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को **त्रिः**=प्रातः, माध्यन्दिन और सायंतन—इन तीन सवनों में **परिनयन्ति**=अपने विचारों में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान करते हैं, **अत्र**=तो, ऐसा होने पर **पूष्णः**=पूषा का प्रथमो **भागः**=सर्वोत्तम भाग **एति**=इन्हें प्राप्त होता है, अर्थात् इन्हें उत्तम पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं और इनका शरीर उत्तम पुष्टिवाला होता है। ४. अब **अजः**=कभी भी जन्म न लेनेवाला प्रभु अथवा सब प्रेरणाओं (गतियों) को प्राप्त करानेवाला प्रभु **देवेभ्यः**=इन देव वृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञं प्रतिवेदयन्**=यज्ञों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम दानपूर्वक अदन करने-(खाने)-वाले हों, देवयान मार्ग से चलें, दिन के आदि, मध्य व अन्त में प्रभु-स्मरण करनेवाले हों, शरीर को पुष्ट करें और प्रभु से दिये गये यज्ञ को अपनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवन—सप्तहोता यज्ञ

होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार प्रभु ने यज्ञ प्राप्त कराया। अब प्रभु कहते हैं कि **तेन**-उस **स्वरंकृतेन**-उत्तमता से अलंकृत **स्विष्टेन**-उत्तम भावना से किये गये **यज्ञेन**-यज्ञ से तुम **वक्षणा**=अपनी सब प्रकार की उन्नतियों को (वक्ष्-to grow) **आपृणध्वम्**- पूर्ण करनेवाले बनो! हम यज्ञों को उत्तमता तथा उत्तम भावना से करेंगे तो हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी और हमारी खूब उन्नति हो सकेगी। २. उस समय हमारा जीवन मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वर्णित सात गुणोंवाला होगा—(क) **होता**=हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनेंगे, (ख) **अध्वर्युः**-अहिंसात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले होंगे, (ग) **आवयाः**-(अवयजति) अशुभवृत्तियों को अपने से दूर करेंगे, (घ) **अग्निमिन्धः**-अग्निहोत्रादि कर्मों को करनेवाले अथवा ज्ञानाग्नि को अपने में दीप्त करनेवाले होंगे, (ङ) **ग्राव-ग्राभः**-स्तुति की वृत्ति को ग्रहण करनेवाले, अर्थात् सदा प्रभुस्तवन करनेवाले होंगे, (च) **उत**=और **शंस्ता** उत्तम कर्मों का शंसन करनेवाले (छ) **सुविप्रः**=उत्तम ज्ञानी बन पाएँगे। इन सात गुणों से युक्त होने पर हमारा जीवन यज्ञमय बनेगा और यह जीवनरूप सप्त होताओंवाला यज्ञ सुन्दरता से चलेगा।

भावार्थ—हम जीवन को सप्त होताओंवाला यज्ञ बना डालें। इस यज्ञ को उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करते हुए हम अपनी सब उन्नतियों को सिद्ध करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर=यज्ञवेदि

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनं संभरन्त्युतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ ६॥

१. गतमन्त्र में जीवन को यज्ञ बनाने का उल्लेख है। उस 'जीवन-यज्ञ' की यज्ञशाला यह शरीर है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस यज्ञशाला के यूप हैं। इन यूपों—यज्ञस्तम्भों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **यूपव्रस्काः**=(यूपान् व्रश्चन्ति) जो व्यक्ति इन अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों का व्रश्चन द्वारा ठीक निर्माण करते हैं, अङ्गों पर चढ़ी हुई चर्बीरूप मैल की तहों को छील-छालके इन स्तम्भों को ठीक बनाते हैं, **उत**=और २. **ये**=जो **यूपवाहाः**=इन यज्ञस्तम्भों का वहन करनेवाले हैं, अर्थात् इन अङ्गरूप स्तम्भों को यज्ञादि कार्यों में प्रयुक्त करनेवाले हैं, **ये**=जो **अश्वयूपाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव के इन अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों के लिए **चषालम्**-(यूपाग्रभागे स्थाप्यं काष्ठम्) अङ्गरूप स्तम्भों के अग्रभाग में स्थित मस्तिष्करूप चषाल को **तक्षति**=(तक्ष्=तनूकरणे) खूब सूक्ष्म व तीव्र बनाते हैं। ३. ये **च**-और जो **अर्वते**=काम-क्रोधादि की हिंसाकरनेवाले के लिए **पचनं सम्भरन्ति**=बुद्धि के परिपाक को सम्यक् प्राप्त करते हैं, अर्थात् बुद्धि को परिपक्व करके कामादि दोषों से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं, **तेषाम्**-उन सबका **अभिगूर्तिः**-उद्योग **नः इन्वतु**=हमें व्याप्त करनेवाला हो, अर्थात् हम भी इनकी भाँति (क) अपने अङ्गों को चर्बी आदि के तक्षन् से सुडौल बनाएँ, (ख) इन अङ्गों को क्रियाशील बनाए रक्खें, (ग) मस्तिष्क को सुन्दर बनाएँ, (घ) बुद्धि का उत्तम परिपाक करें।

भावार्थ—हम इस शरीर को जीवन-यज्ञ की यज्ञशाला बनाने के उद्देश्य से सब अङ्गों को अति सुन्दर बनाएँ और बुद्धि का उत्तम परिपाक करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु के बन्धुत्व में अन्तःप्रकाश

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम उद्योगशील होते हैं तो **उपप्रागात्**=प्रभु हमें समीपता से प्राप्त होते हैं, हम प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं। प्रभु की समीपता से **मे**=मुझमें **सुमत्**=स्वयं **मन्म**=ज्ञान **अधायि** स्थापित होता है, अर्थात् 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के प्राप्त होने से मुझे अन्तःप्रकाश प्राप्त हो जाता है। **देवानाम् आशाः**=उस समय मुझमें देवों की आशाएँ स्थापित होती हैं। मैं 'अभय, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप व आर्जव'-वाला बनता हूँ। **उप वीतपृष्ठः**=प्रभु की उपासना से मैं कान्त पृष्ठवाला होता हूँ। मेरी पीठ पर पाप की गठड़ी नहीं लदी रहती, उसे परे फेंककर मैं निर्मल पृष्ठवाला होता हूँ। २. वस्तुतः **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **एनम् अनुमदन्ति**- इस प्रभु की उपासना में हर्ष का अनुभव करते हैं। हम भी **देवानां पुष्टे**=दिव्यगुणों का पोषण होने पर **सुबन्धुं चकृम**=उस प्रभु को अपना उत्तम बन्धु बनाते हैं। दिव्यगुणों के पोषण के द्वारा हम देव बनते हैं और महादेव को प्राप्त करने की योग्यतावाले होते जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से अन्तःप्रकाश होता है, देवत्व की वृद्धि होती है, पाप क्षीण, अर्थात् कृष-काय (कमज़ोर), नष्ट नहीं हो जाते हैं और हम भी प्रभु को अपना बन्धु बना पाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

बन्धन व दिव्यता

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये३ तृणं सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥ ८॥

१. **यत्**=जो **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष की **दाम**=ग्रीवा-बन्धन रज्जु है, अर्थात् ग्रीवा व कण्ठ का संयम है, बोल-चाल में युक्तचेष्ट है और २. **अर्वतः**=वासनाओं को हिंसित करनेवाले का **सन्दानम्**=पाद-बन्धन है। 'पद गतौ' से बनकर 'पाद' शब्द गति का प्रतीक है। इस अर्वा की सब गति बड़ी संयत है। कर्मों में यह युक्त-चेष्टावाला है। ३. **या**=जो **अस्य**=इस संयमी पुरुष की **शीर्षण्या**=शिरः-प्रदेश में होनेवाली **रज्जुः**=रज्जु है, अर्थात् विचारों में भी यह संयमवाला है। सब ज्ञानेन्द्रियों को संयत करके यह पवित्र ज्ञानवाला बनता है और जो इसकी **रशना**=कटिप्रदेश में होनेवाली रज्जु है, इसका उदर का संयम है। पेट को संयत करके यह दामोदर बना है। ४. **यत् वा घ**=और जो निश्चय से **अस्य आस्ये**=इसके मुख में **तृणं प्रभृतम्**=तृण, अर्थात् वानस्पतिक भोजन ही प्रकर्षेण प्राप्त कराया गया है तो **ते**=तेरी **सर्वा ता**=ये सब बातें **अपि**=बहुत सम्भव करके (most probably) **देवेषु अस्तु**= दिव्यगुणों की उत्पत्ति का निमित्त बनें।

भावार्थ—कण्ठ, पाद, मस्तिष्क व उदर के संयम तथा वानस्पतिक भोजन से हम अपने जीवन में दिव्यगुणों का विकास करनेवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

कर्म में लगे रहना

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥ ९॥

१. **यत्**=जब **अश्वस्य**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले इस **क्रविषः**=(क्रवि हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले व्यक्ति के समय को **मक्षिका**=धन-सञ्चय (मक्ष=to accumulate) **आश**=खा लेता है, अर्थात् इसका बहुत-सा समय सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन की प्राप्ति में खप जाता है और २. बचा हुआ समय **यत् वा**=यदि निश्चय से **स्वरौ**=(स्वृ शब्दे) शब्दशास्त्र के अध्ययन में बीतता है तथा उससे भी बचे समय में **स्वधितौ**=आत्मतत्त्व के धारण में **रिप्तम्** (लिप्तम्)=लगाव **अस्ति**=है। ३. **शमितुः**=वासनाओं को शान्त करनेवाले इस पुरुष का **यत्**=जो **हस्तयोः**=हाथों में 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'=अर्थात् हस्तसाध्य कार्यों में लगाव है। मुख्य कार्य को करने के बाद यह किसी उपकार्य (hobby) में लगा रहता है। **यत्**=यदि **नखेषु**=छिद्रों में इसका लगाव नहीं, अर्थात् यह दोषयुक्त कर्मों में व्यापृत नहीं होता तो **सर्वा ता**=वे सब बातें **ते**=तेरे **देवेषु अपि अस्तु**=दिव्यगुणों को उत्पन्न करनेवाली हों। खाली होना ही अवगुणों की उत्पत्ति का कारण बनता है। न यह खाली होता है और न अवगुणों का आधार बनता है।

भावार्थ—हम आवश्यक धन की प्राप्ति में, स्वाध्याय में, ध्यान में व किसी उपयोगी उपकार्य में लगे रहें। ताश खेलना आदि दोषयुक्त कर्मों में न लगें। यही दिव्यगुणों की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सात्त्विक व ठीक परिपक्व भोजन

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु॥ १०॥

१. गतमन्त्र में दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख था। इसके लिए स्वास्थ्य का ठीक होना भी अत्यन्त आवश्यक है। स्वास्थ्य का सम्बन्ध भोजन से है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ठीक परिपक्व भोजन चाहिए और मानस-स्वास्थ्य के लिए उसका सात्त्विक होना भी आवश्यक है। इसी विषय को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जो **ऊवध्यम्**=(भक्षितं अपक्कम् आमाशयस्थम्—म०) खाया हुआ अन्न ठीक से पचता नहीं वह **उदरस्य अपवाति**=पेट में दुर्गन्ध का कारण बनता है (गन्धायते—उ०) या वमन आदि द्वारा बाहर हो जाता है (अपगच्छति—म०) और इस प्रकार वातिक रोगों का कारण बनता है। २. भोजन में **यः**=जो **आमस्य**=कच्चेपन का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है और परिणामतः इसके पूर्ण परिपाक न होने से कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ३. अथवा भोजन में जो **क्रविषः**=पैत्तिक विकार के द्वारा हिंसा करने के दोष का गन्धः **अस्ति**=सम्बन्ध है **तत्**=उस दोष को **शमितारः**=सब दोषों को दूर करके शान्ति करनेवाले **सुकृता कृण्वन्तु**=भोजनों को सुसंस्कृत कर दें, अर्थात् भोजनों में से दोषों को पूर्णतया दूर कर दें **उत**=और **मेधम्**=पवित्र सात्त्विक वस्तु को **शृतपाकं पचन्तु**=ठीक परिपाकवाला पकाएँ। उसे न ईषत्पक्व और नहीं अतिपक्व होने दें। ईषत्पक्व कफ-सम्बन्धी विकारों का कारण बनता है और अतिपक्व पित्त-विकारों का कारण होता है। पेट में जाकर ठीक पचन न होने पर वातिक विकार कष्ट देते हैं, अतः भोजन सात्त्विक भी हो और उचित रूप में पका हुआ भी हो।

भावार्थ—हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें तथा वही भोजन करें जिसका ठीक से परिपाक हुआ है। फलों में भी कच्चे व गले-सड़े फलों का प्रयोग न करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

वीर्यरक्षण से रोग-निवारण व दिव्यगुणों का विकास

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥ ११ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब सात्त्विक व ठीक परिपक्व भोजन खाया जाता है तब **अग्निना पच्यमानात्**=शरीर में वैश्वानर अग्नि से पकाये जाते हुए भोजन से उत्पन्न रुधिरादि धातुओं में से **शूलम् अभि**=रोगों का लक्ष्य करके, अर्थात् रोगों को दूर करने के उद्देश्य से **निहतस्य**=निश्चय से प्राप्त कराये गये इस वीर्य का (इन=गतौ, गतिः=प्राप्तिः) **यत्**=जो अंश **ते गात्रात्**=तेरे शरीर से **अवधावति**=दूर जाता है, **तत्**=वह **भूम्याम्**=बीज-वपन की आधारभूत स्त्री में **मा**=मत **आश्रिषत्**=आलिंगन करे, **तृणेषु मा**=तृणतुल्य, तुच्छ विषय-भोगों में तो वह न ही व्ययित (खर्च) हो। एक या अधिक-से-अधिक तीन सन्तानों के बाद यह सन्तानोत्पत्ति में भी व्ययित न हो, भोगविलास में उसके व्यय का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। भोगविलास में इसका अपव्यय मनुष्य की सर्वमहान् मूर्खता है। **तत्**=वह—अधिक सन्तानोत्पत्ति व भोगविलास में व्ययित न हुआ-हुआ वीर्य **उशद्भ्यः**=(उश्=to shine) चमकते हुए **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों के लिए **रातम्**=दिया हुआ **अस्तु**=हो। यह सुरक्षित वीर्य शरीर में रोगों को उत्पन्न नहीं होने देता और मन में दिव्यगुणों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—भोजन से उत्पन्न वीर्य का अधिक सन्तानोत्पत्ति या विलास में व्यय करना मूर्खता है। इसे सुरक्षित रखने पर शरीर रोगाक्रान्त नहीं होते और हमारे मनों में दिव्यगुणों का विकास होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

आचार्य का कर्तव्य

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥ १२ ॥

१. **ये**-जो आचार्यगतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी में वीर्यरक्षण की भावना पैदा करके विद्यार्थी को **वाजिनम्**=शक्तिशाली व दृढ़शरीरवाला तथा **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञानवाला, परिपक्व बुद्धिवाला **परिपश्यन्ति**=देखते हैं और २. **ये**=जो आचार्य **ईम्**=निश्चय से **आहुः**=कहते हैं कि **सुरभिः**=(क) तू दीप्त ज्ञानाग्नि के कारण उत्तम बुद्धिमान् (wise, learned) हुआ है, (ख) स्वास्थ्य के कारण चमकते हुए सुन्दर शरीरवाला (shining, handsome) हुआ है तथा (ग) मन में उत्तम गुणोंवाला (good, virtuous) बना है—ऐसा तू **निर्हर इति**=निश्चय से ज्ञान को दूर-दूर तक ले जानेवाला बन—हम तो बस यही चाहते हैं। ३. **ये च**=और जो आचार्य **अर्वतः**=काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले इस विद्यार्थी से **मांसभिक्षाम्**-उसके मांस (जीवन) की ही भिक्षा को **उपासते**=माँग लेते हैं, अर्थात् इसे यह कहते हैं कि अपने जीवन को लोकहित के लिए दे डाल, ४. **तेषाम्**=उन, लोकहित के लिए विद्यार्थियों को शक्तिशाली व ज्ञानी बनानेवाले आचार्यों का **अभिगूर्तिः**=उद्योग **उत उ**=निश्चय ही **नः इन्वतु**=हमें व्याप्त करे, अर्थात् हम भी इन्हीं आचार्यों में से एक बनें और विद्यार्थियों को ज्ञान देकर उनसे लोकहित में प्रवृत्त होने की गुरुदक्षिणा लें।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि (क) विद्यार्थी को दृढ़ शरीरवाला बनाएँ (वाजिनम्), (ख) उसे परिपक्व ज्ञानवाला करें (पक्वम्), (ग) उसे सुरभि बनाएँ—मस्तिष्क में दीप्त, शरीर में दृढ़ व हृदय में दिव्यगुणोंवाला, (घ) उसे ऐसा बनाकर ज्ञान फैलाने का निर्देश करे (निर्हर इति), (ङ) उससे लोकहित में जीवन खपा देने की दक्षिणा माँगे (मांसभिक्षामुपासते)।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

शरीर-रचना का सौन्दर्य

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम् ॥ १३॥

१. इस शरीर में वैश्वानर अग्नि के द्वारा 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस्, वीर्य' इन धातुओं का परिपाक होता है। मांस को सब धातुओं का प्रतिनिधि मानकर इस शरीर को यहाँ 'मांस्पचनी उखा' (देगची) के रूप में कहा गया है। **मांस्पचन्याः उखायाः**=मांसादि धातुओं के परिपाकवाली उखा का **यत्**=जो **नीक्षणम्**-निश्चय से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ईक्षण का प्रकार है—दो आँखों से एक ही वस्तु का दिखना, दो कानों से एक ही शब्द का सुन पड़ना आदि सब बातें इन ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले ईक्षण में अद्‌भुत ही हैं। इसी प्रकार इस शरीर में जो **यूष्णः**=रस के **आसेचनानि**=सेचन करनेवाली **या**=जो **पात्राणि**-(पा रक्षणे) रक्षण ग्रन्थियाँ हैं, इनसे विविध रस निकलकर शरीर के स्वास्थ्य को सिद्ध करते हैं। ये सब **अश्वम्**-कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव को **परिभूषन्ति**-अलंकृत करते हैं और २. जो यह **अपिधाना**-सारे शरीर को ढकनेवाली **ऊष्मण्या**=शरीर की गर्मी को सुरक्षित रखनेवाली त्वचा है, यह भी क्रियाशील पुरुष को सुभूषित करती है। इसी प्रकार **चरूणाम्**-ज्ञानेन्द्रियों से जिनका ग्रहण व चरण=भक्षण होता है, उनके **अङ्काः**-अन्दर पड़नेवाले संस्कार (Impressions) और फिर उन संस्कारों के अनुसार होनेवाली **सूनाः**=प्रेरणाएँ (Inspirations) इस अश्वम्=क्रियाशील पुरुष को **परिभूषन्ति**-अलंकृत करती हैं। 'किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानवाहिनी नाड़ियों के द्वारा अन्दर विषयज्ञान का अंकन होकर फिर क्रियावाहिनी नाड़ियों के द्वारा कर्मेन्द्रियों को कर्म की प्रेरणा मिलती है'—यह सब अद्‌भुत ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—यह शरीर एक 'मांस्पचनी उखा' है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार, ग्रन्थियों से रसों का सञ्चार, त्वचा से गरमी का रक्षण, ज्ञानवाहिनी व क्रियावाहिनी नाड़ियों का सम्मिलित व्यापार, ये सब बातें अद्‌भुत ही हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

क्रियाओं में संयम व अमांस भोजन

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्बीशमर्वतः ।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इस सुन्दर शरीर में स्थित होकर तेरा **निक्रमणम्**-बाहर आना जाना, **निषदनम्**=उठना-बैठना, **निवर्तनम्**-विविध चेष्टाएँ करना **यत् च**=और जो **अर्वतः**-वासनाओं का संहार करनेवाले का **पड्बीशम्**=पाद-बन्धन, अर्थात् गति का नियमन है, **ते**-तेरी **ता सर्वा**-वे सब बातें **देवेषु अपि अस्तु**-दिव्यगुणों के निमित्त ही हों, अर्थात् अनावश्यक रूप में घर से बाहर न जाकर घर में ही उठना-बैठना, क्लबों में न जाना—सज्जनों के साथ ही उठना-बैठना, हँसी व प्यार में भी अनुपयुक्त चेष्टा न करना तथा सब क्रियाओं पर

नियन्त्रण तुझे उत्तम, दिव्य स्वभाववाला बनाए। २. **यत् च पपौ**=और तू जो जल पीता है, **यत् च**=और जो **घासिम्**=घास **जघास**=खाता है, अर्थात् मांस-भोजन से दूर रहकर वानस्पतिक भोजन ही करता है, यह तुझमें दिव्यगुणों की उन्नति का कारण बने। मांस-भोजन मानव-स्वभाव में क्रूरता लानेवाला होता है, अतः देव इससे दूर ही रहते हैं। 'पिशितं (मांसम्) अश्नाति इति पिशाचः, क्रव्यं अत्ति इति क्रव्यादः' इन व्युत्पत्तियों से यह स्पष्ट है कि मांस-भोजन पिशाचों व क्रव्यादों, अर्थात् राक्षसों का ही काम है।

भावार्थ—सब क्रियाओं में संयम तथा मद्य-मांस से रहित वानस्पतिक भोजन हममें दिव्यगुणों की वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कामाग्नि-शमन

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाले **त्वा**=तुझे **अग्निः**=कामाग्नि **मा ध्वनयीत्**=मत ध्वनित करे। कामाग्नि से सन्तप्त मनुष्य संयोग में मधुर गाने गाता रहता है और वियोग में विरहतप्त शब्दों का उच्चारण करता रहता है। यहाँ संयोग में भी ध्वनि है, वियोग में भी ध्वनि है। यह कामाग्नि **धूमगन्धिः**=ज्ञानाग्नि को बुझाकर धूम का सम्पर्क करनेवाली है, अर्थात् इसकी प्रबलता में ज्ञान पर आवरण पड़ जाता है और अज्ञान के धूम का उद्भव हो जाता है। २. कहीं ऐसा होकर तेरी वह **भ्राजन्ती**=चमकती हुई **जघ्रिः**=सब अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाली **उखा**=शरीररूपी देगची **अभिविक्त**=भय-कम्पित न हो उठे। इसकी सब ज्योति व सब उत्तम बातें कामाग्नि में अस्त हो जाती हैं। ३. यह तू अच्छी प्रकार समझ ले कि **इष्टम्**=(इष्टम् अस्य अस्ति इति तम्) यज्ञशील पुरुष को **वीतम्**=(गति, प्रजनन) क्रियाशीलता के द्वारा सद्गुणों का विकास करनेवाले को **अभिगूर्तम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिए यत्नशील को **वषट्कृतम्**=प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाले **तम् अश्वम्**=उस क्रिया में व्याप्त रहनेवाले पुरुष को **देवासः**=दिव्यगुण **प्रतिगृभ्णन्ति**=ग्रहण करते हैं, अर्थात् यह पुरुष अपने में दिव्य गुणों का विकास करनेवाला होता है।

भावार्थ—कामवासना ज्ञान पर पर्दा डालकर शरीररूप उखा को मैला व दूषित कर देती है। सतत यज्ञादि क्रियाओं में लगा रहनेवाला ही दिव्य गुणों को अपना पाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दैवी सम्पत्ति का उद्भावन

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
सन्दानमर्वन्तं पड्बीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति ॥ १६॥

१. **प्रिया**=निम्न प्रिय बातें तुझे **देवेषु**=दिव्य गुणों में **आयामयन्ति**=(आगमयन्ति) प्राप्त कराती हैं, अर्थात् इन बातों के कारण तेरे जीवन में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। 'कौन-सी प्रिय वस्तुएँ'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **यत्**=जो **अश्वाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले (अश् व्याप्तौ) क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **वासः**=प्रकृति-विज्ञान के वस्त्र को **उपस्तृणन्ति**=आच्छादित करते व फैलाते हैं (spread, expand), (ख) इस प्रकृति-विज्ञान के

वस्त्र के साथ **अधीवासम्**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मविद्या के वस्त्र को भी आच्छादित करते हैं। यहाँ प्रकृति-विज्ञान 'वास:' है तो आत्मज्ञान 'अधीवास:' है। प्रकृति-विज्ञान जीवन को सुन्दरता से बिताने के लिए सब आवश्यक साधन प्राप्त कराता है तो ब्रह्मविज्ञान उन साधनों के अयोग व अतियोग से बचाकर यथायोग करने की क्षमता प्राप्त कराता है। २. (ग) **या**=जो **अस्मै**=इस क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **हिरण्यानि**=हितरमणीय वस्तुएँ प्राप्त करायी जाती हैं, ज्ञान के परिणामरूप 'अभय, सत्त्वसंशुद्धि' आदि वे सब दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। ये सब 'हिरण्य' हैं। 'वास' व 'अधीवास' ने इस विद्यार्थी के मस्तिष्क को उज्ज्वल किया था तो ये 'हिरण्य' उसके हृदय को रमणीय बनाते हैं। ३. (घ) इसे जो **अर्वन्तम्**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **सन्दानम्**=उदर व कटिबन्धन प्राप्त कराते हैं। यह उदर-संयम उपस्थ-संयम का सर्वमहान् साधन है। इस संयम से सब बुराइयाँ स्वत: विनष्ट हो जाती हैं, इसीलिए 'सन्दानम्' को 'अर्वन्तम्' विशेषण दिया गया है। (४) (ङ) **पड्बीशम्**=सन्दान के साथ इसे वे पाद-बन्धन भी प्राप्त कराते हैं, अर्थात् इसकी गति व चाल-ढाल को बड़ा नियमित करते हैं। यह गति का नियमित करना ही अनुशासन है। ये सब बातें विद्यार्थी को दिव्य गुणों से संगत करनेवाली होती हैं। इन दिव्य गुणों का प्रापण 'अश्व'—क्रियाशील के लिए ही होता है, अकर्मण्य के लिए नहीं।

भावार्थ—आचार्य कर्मठ विद्यार्थी को 'प्रकृतिविज्ञान, आत्मविज्ञान, हितरमणीय गुणों के प्रति रुचि, भोजन का संयम व गति-नियमन' प्राप्त कराके दैवी सम्पत्तिवाला बनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ता:। **छन्द:**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।

'सामृत' पाणि से दिया गया दण्ड

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि॥ १७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से अनुशिष्ट होकर इन्द्रियाश्वों का अधिष्ठाता बनता है। आचार्य ने अपने 'महस्'=तेज से विद्यार्थी को यथासम्भव शीघ्र ही शिक्षित करने का प्रयत्न किया है। शूकृतस्य=(शीघ्रशिक्षितस्य—द०)। इस कार्य में उसे कभी-कभी विद्यार्थी को दण्ड भी देना पड़ता है। यह दण्ड हाथ-पाँव के प्रहार से भी हो सकता है (पार्ष्ण्या=heel से), वाणी के द्वारा झिड़कने से भी (कशया)। आचार्य कहते हैं कि इन दण्डों को तुम ऐसा समझना जैसे **स्रुच्**=चम्मच से यज्ञों में हवि डालता हो। आचार्य ज्ञान देकर उन दण्डों के कष्टों को विस्मारित कर देते हैं। २. आचार्य विद्यार्थी से कहते हैं कि **सादे**=शरीर-रथ के उत्तम सञ्चालक शिष्य! **महसा**=तेजस्विता से **शूकृतस्य**=शीघ्र शिक्षित किये गये **ते**=तुझे **यत्**=जो **पार्ष्ण्या वा**=एड़ी से या **कशया वा**=(कश वाङ्नाम) वाणी से झिड़कने के द्वारा **तुतोद**=मैंने कभी-कभी पीड़ित किया है, तो तू स्पष्ट समझ लेना कि **ता**=वे सब दण्ड तो इस प्रकार के हैं **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच से **हविष:**=हवि का **अध्वरेषु**=यज्ञों में प्रक्षेपण होता है। इन दण्डों के द्वारा तेरी वृत्ति को मैंने इधर-उधर से हटाकर ज्ञानप्रवण करने का प्रयत्न किया है। ३. इस प्रकार **ते**=तेरी **ता**=उन सब दण्ड-पीड़ाओं को **ब्रह्मणा**=ज्ञानप्राप्ति के द्वारा **सूदयामि**=नष्ट करता हूँ। तुझे इस प्रकार कड़े नियन्त्रण में रहने से प्राप्त हुआ-हुआ ज्ञान सब पीड़ाओं को भुलानेवाला होगा। आचार्य दयानन्द 'सूदयामि' का अर्थ 'प्रापयामि' करते हैं। आचार्य कहते हैं कि सब दण्डों का उद्देश्य यही है कि तू किसी प्रकार अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला बने। मैं अपने अपमान से

उद्विग्न होकर दण्ड नहीं देता, केवल तेरे हित के लिए अमृतमय हाथों से ही दण्ड देता हूँ।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को जो दण्ड देते हैं वह तो यज्ञ में स्रुच् से हवि-प्रक्षेपण के समान है। उसके द्वारा आचार्य विद्यार्थी के जीवन में ज्ञान की आहुतियाँ देने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'विद्यार्थी', 'आचार्य' व 'ज्ञान'

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त॥ १८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य से ठीक अनुशासन में चलाया जाता हुआ विद्यार्थी **स्वधितिः**=अपना धारण करनेवाला बनता है—इधर-उधर न भटककर मन को एकाग्र करने में समर्थ होता है। यह स्वधिति **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवबन्धोः**=दिव्य गुणों को अपने में बाँधनेवाले तथा उस देव प्रभु के बन्धुभूत **अश्वस्य**=सदा क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाले आचार्य के **चतुःस्त्रिंशत्**=चौंतीस **वङ्क्रीः**=गूढ़ ज्ञानों (knotty) को **समेति**=प्राप्त होता है (वङ्क्=गति=ज्ञान)। ऊपर मन्त्रसंख्या सोलह में इन्हें 'वासः' और 'अधीवासः' शब्दों से स्मरण किया है। विद्यार्थी ज्ञान तभी प्राप्त कर पाता है जब वह 'स्वधिति' हो। आचार्य का आदर्श 'वाजी', 'देवबन्धु', व 'अश्व' होना है। ज्ञेय वस्तुएँ तेंतीस देव तथा चौंतीसवें महादेव हैं। इनका ज्ञान ही क्रमशः 'अभ्युदय व निःश्रेयस' का साधक है। आचार्य **वयुना**=इन ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान के द्वारा **गात्रा**=विद्यार्थी के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को **अच्छिद्रा**=दोषरहित **कृणोतु**=करे। ३. विद्यार्थी आचार्य से दिये हुए ज्ञान का **अनुघुष्य**=आचार्य के पश्चात् उच्चारण करके, उच्चारण द्वारा उस ज्ञान को आत्मसात् करके **परूः परूः**=एक-एक पर्व के, जोड़ के **विशस्त**=दोष का छेदन करे (छिन्न—द०)। विद्यार्थी आचार्य के अनुकूल होगा तो आचार्य विद्यार्थी के जीवन को निर्दोष बना पाएँगे।

भावार्थ—विद्यार्थी एकाग्रवृत्तिवाला हो (स्वधितिः), आचार्य 'वाजी, देवबन्धु व अश्व' हों। विद्यार्थी आचार्य से चौंतीस ज्ञानों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दीप्त व सबल

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ताता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥ १९॥

१. **एकः**=विद्यार्थी के जीवन-निर्माण में मुख्य भाग लेनेवाला आचार्य **त्वष्टुः**=(त्विष् दीप्तौ) बुद्धि के दृष्टिकोण से चमकनेवाले **अश्वस्य**=शरीर में घोड़े के समान शक्तिवाले व क्रियाशील विद्यार्थी का **विशस्ता**=विशेषरूप से दोषों का छेदन करनेवाला होता है। २. **द्वा यन्तारा भवतः**=इस निर्माणकार्य में दो ही बातें नियामक होती हैं—आचार्य सब क्रियाओं को दो ही दृष्टिकोणों से करते हैं—(क) विद्यार्थी मस्तिष्क में 'त्वष्टा'—दीप्त बने तथा (ख) शरीर में 'अश्व' के समान शक्तिशाली हो। ३. इन दो नियामक तत्त्वों के साथ **तथा**=उसी प्रकार **ऋतुः**=ऋतु भी नियामक होती है। आचार्य चाहता है कि विद्यार्थी ऋतुओं के अनुसार सब कार्यों को नियमितता (regularity) से करनेवाला बने। ठीक समय पर खाए, ठीक समय पर सो जाए

और ठीक समय पर ही जाग उठे—सब क्रियाएँ समय पर करे। ४. **या ते**-यह जो मैं तेरे **गात्राणाम्** अङ्गों के दोषों को **ऋतुथा**-ऋतु के अनुसार **कृणोमि**-दूर करने का प्रयत्न करता हूँ तो **अग्नौ** प्रगतिशील तुझमें **ताता**=उन-उन **पिण्डानाम्**-बलों को (पिण्ड-might, strength, power) **प्रजुहोमि** आहुत करता हूँ। इन दोषों को दूर करने के प्रयत्न के द्वारा तुझे प्रत्येक अङ्ग में सशक्त बनाता हूँ। ५. वस्तुतः आचार्य का यज्ञ यही है कि वह विद्यार्थीरूप अग्नि में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्तिरूप हव्य की आहुति दे और इस प्रकार विद्यार्थी के जीवन को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य यही है कि वह विद्यार्थी को 'त्वष्टा' व 'अश्व'-दीप्त व सबल बनाए, विद्यार्थी के अङ्ग प्रत्यङ्ग को सबल करे। यही आचार्य का यज्ञ है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अगृध्नु तथा विशस्ता' आचार्य

मा त्वा॑ तपत्प्रि॒य आ॒त्माऽपि॒यन्तं॒ मा स्वधि॑तिस्त॒न्व१॒ आ ति॑ष्ठिपत्ते।
मा ते॑ गृध्नुर॑विश॒स्ताति॒हाय॑ छि॒द्रा गात्रा॑ण्य॒सिना॒ मिथू॑ कः॥ २०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब आचार्य विद्यार्थी के जीवन का सुन्दर निर्माण करता है तब इस विद्यार्थी को शरीर व आत्मा का विवेक होने के कारण शरीर में इतनी आस्था नहीं रहती कि इसे छोड़ते हुए उसे कष्ट हो। वह शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान रखता है, परन्तु उसे इसमें ही पड़े रहने का आग्रह नहीं होता, अतः कहते हैं कि—**अपियन्तम्**=इस शरीर को छोड़कर जाते हुए तुझे, अथवा ब्रह्म को प्राप्त होते हुए तुझे **प्रियः आत्मा**-अत्यन्त प्रिय सुख-दुःख का भोक्ता प्राण **मा तपत्** सन्तप्त न करे। तुझे प्राणों से पृथक् होने का सन्ताप न हो। २. **स्वधितिः**=आत्मतत्त्व का धारण **ते**=तुझे **तन्वः**-शरीर का **मा आतिष्ठिपत्**-स्थापित करनेवाला न बनाए, अर्थात् शरीर के जाने से तू अपने को जाता हुआ न समझे। आचार्य ने तुझे इस प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया है कि तू शरीर को ही 'मैं' न समझकर उसे एक गृह या वस्त्र के रूप में देखे। ३. ऐसा न हो कि आचार्य **गृध्नुः**=धन के विषय में लोभवाला होता हुआ **अविशस्ता**=ठीक ज्ञान न देकर दोषों को दूर करनेवाला न होता हुआ **छिद्रा अतिहाय**=दोषों को छोड़कर, अर्थात् बिना ही दोषों के छुड़ाए **मिथू**=यों ही झूठ मूठ **गात्राणि**-तेरे अङ्गों को **असिना कः**-तलवार से छिन्न करे, अर्थात् तुझे ज्ञानादि की उन्नति के मिस सदा ही दण्ड देनेवाला हो। तुझसे धन लेने के लिए तुझे झूठ-मूठ यों ही दण्डित न करे।

भावार्थ—शरीर व आत्मा के विवेक के कारण हमें प्राणों का वियोग पीड़ित करनेवाला न हो। इस विवेक-प्राप्ति के लिए हमें अलोभी व ज्ञान द्वारा दोषों को दूर करानेवाले आचार्य प्राप्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मर्त्यलोक से देवलोक में

न वा उ॑ ए॒तन्म्रि॑यसे॒ न रि॑ष्यसि दे॒वाँ इदे॑षि प॒थिभि॑: सु॒गेभि॑:।
हरी॑ ते॒ युञ्जा॒ पृष॑ती अभूता॒मुपा॑स्थाद्वा॒जी धुरि॒ रास॑भस्य॥ २१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'गृध्नुः अविशस्ता' आचार्य से शरीर व आत्मा का विवेक प्राप्त

करनेवाला शिष्य मृत्युशय्या पर भी व्याकुल न होता हुआ अपने को प्रेरणा देता है कि **वै उ**=निश्चय से **एतत्**=यह तू **न म्रियसे**=मरता नहीं, **न रिष्यसि**=तू तो हिंसित होता ही नहीं। यदि यह शरीर छूट भी जाए तो **इत्**=निश्चय से **सुगेभिः पथिभिः**=सरल व अकुटिल मार्गों पर चलने से तू **देवान् एषि**=देवों को प्राप्त होता है, अर्थात् इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर देवलोक में जन्म लेनेवाला बनता है। यह मरना नहीं है, उत्कृष्ट लोक में जन्म लेना है। २. देवलोक में जन्म लेने का अधिकारी तू इसलिए बन सका कि **ते**=तेरे ये **हरी**=कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व **युञ्जा**=सदा कर्मों में लगे रहनेवाले तथा **पृषती**=(पृष सेचने) तेरे जीवन को ज्ञान से सिक्त करनेवाले **अभूताम्**=हुए हैं। ३. यह इसलिए हो सका कि **रासभस्य**=(गृ शब्दे से गुरु, रास् शब्दे से रासभ) गुरुओं के **धुरि**=अग्रभाग में **वाजी**= (वाज=शक्ति, ज्ञान, त्याग व क्रिया) शक्तिशाली, ज्ञानी व त्यागपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला (अगृध्नु) आचार्य **आस्थात्**=तुझे प्राप्त हुआ। ऐसे आचार्य की कृपा से ही ज्ञानी व ज्ञानपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला बनकर तू देवलोक का अधिकारी बना है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीरत्याग को मृत्यु समझकर भयभीत नहीं होता, उसे तो निश्चय है कि 'वह जन्म भी लेगा तो उत्कृष्ट लोक में लेगा', अतः भय का प्रश्न ही नहीं रहता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अभ्युदय

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम्।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान्॥ २२॥

१. **वाजी**=ज्ञानी, शक्तिशाली व त्यागपूर्वक कर्मों में लगा हुआ आचार्य **नः**=हमारे लिए **सुगव्यम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों के समूह को **कृणोतु**=करे। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम बनें। **स्वश्व्यम्**=हमें उत्तम कर्मेन्द्रिय-समूह को प्राप्त कराए। हमारी सब कर्मेन्द्रियाँ भी कर्म करने में खूब सशक्त हों। २. इस प्रकार उत्तम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करके जब हम गृहस्थ में आएँ तो हमारे लिए **पुंसः पुत्रान्**=वीर पुरुषों के पुत्रों को, अर्थात् वीर सन्तानों को **उत**=और **विश्वापुषम् रयिम्**=सबका पोषण करनेवाले धन को प्राप्त कराएँ। हमारे सन्तान वीर हों और हम धन को अपने विलास में व्यय न करके सभी के पोषण के लिए ही उसका उपयोग करें। ३. इस प्रकार सुन्दर गृहस्थ को बितानेवाले **नः**=हमारे लिए **अदितिः**=हमारे व्रत को खण्डित न होने देनेवाला आचार्य **नः**=हमारे लिए **अनागास्त्वम्**=निरपराधता को **कृणोतु**=करे, अर्थात् हमारा जीवन व्रतनिष्ठ होकर अपराधशून्य हो। ४. **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला आचार्य **नः**=हमारे लिए **क्षत्रम्**=बल को **वनताम्**=विजय करे, हमें कर्म-व्यापृतता व त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से सबल बनाए। यह बल हमें सभी क्षतों (चोरों, आघातों अथवा हानियों) से बचानेवाला होगा।

भावार्थ—आचार्य 'वाजी, अदिति, अश्व व हविष्मान्' हो। वह हमें 'सुगव्य, स्वश्व्य, वीरपुत्र, विश्वापुष रयि, अनागसत्व व क्षत्र' को प्राप्त कराए। यही इस लोक का उत्कर्ष व अभ्युदय है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त क्रिया में व्याप्त रहनेवाले 'अश्व' का चित्रण करता है। आचार्य को स्वयं 'अश्व' होते हुए विद्यार्थी को भी अश्व बनाना है। अगले सूक्त में भी इसी अश्व का वर्णन

है—

[१६३] त्रिषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्येनस्य पक्षा, हरिणस्य बाहू

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥ १॥

१. वैदिक साहित्य में आचार्य का नाम 'समुद्र' भी है। आचार्य को ज्ञान का समुद्र तो होना ही है। उसे सदा 'स+मुद्' प्रसन्न मनोवृत्तिवाला भी होना है। कभी भी क्रोध न करते हुए उसे सदा विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कराना है। 'तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे'=ब्रह्मचर्यसूक्त के इस मन्त्रभाग में आचार्य को समुद्र कहा ही है। **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र, प्रसन्नमनोवृत्तिवाले आचार्य से **उद्यन्**=उदय को प्राप्त होता हुआ **उत वा**=अथवा **पुरीषात्**=सबका पालन करनेवाले गृहस्थ से उदय को प्राप्त होता हुआ यह व्यक्ति **जायमानः**=निद्रा की समाप्ति पर आविर्भूत जीवनवाला होता हुआ **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **यत्**=जो **अक्रन्दः**=प्रभु का आह्वान करता है और २. इसके **पक्षा**=(पक्ष परिग्रहे) ज्ञान व उपासनारूप पंख **श्येनस्य**=श्येन के होते हैं। 'श्यैङ् गतौ' से बनकर श्येन शब्द गति का प्रतिपादक है। यह ज्ञानपूर्वक कर्म करता है और अपने कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान से प्रभु का उपासन करता है। इस प्रकार इसका ज्ञान भी कर्म के लिए है और उपासन भी कर्मों द्वारा ही होता है। ३. इसकी **बाहू**=भुजाएँ **हरिणस्य**=हरिण की होती हैं (हृ हरणे, वा हृ प्रयत्ने) इसके सारे प्रयत्न औरों के कष्टों को हरने के लिए होते हैं। इसकी भुजाएँ क्रियाशील होती हैं और वे सब क्रियाएँ औरों के दुःखों को दूर करने के लिए होती हैं। ४. अब हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष! **ते महि जातम्**=तेरा यह महान् विकास वास्तव में ही **उपस्तुत्यम्**=स्तुति के योग्य है।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन यही है कि—(क) हम उठते ही प्रभु का आराधन करें, (ख) ज्ञानपूर्वक कर्म करें, कर्मों द्वारा ही प्रभु का अर्चन करें, (ग) हमारे सब प्रयत्न औरों के दुःखों का हरण करनेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'त्रित, इन्द्र, गन्धर्व, वसु'

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ २॥

१. **यमेन**=उस सर्वनियामक प्रभु से **दत्तम्**=दिये हुए **एनम्**=इस (अश्वम्) इन्द्रियरूप अश्व को **त्रितः**=ज्ञान, कर्म, उपासना का विस्तार करनेवाला 'त्रि-त' (त्रीन् तनोति) **आयुनक्**=इस शरीररूप रथ में जोतता है, अर्थात् यह आलसी न होकर सदा क्रियाशील होता है। इसके इन्द्रियरूप अश्व चरते ही नहीं रहते, सदा जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ते हैं। वस्तुतः इस क्रियाशीलता के कारण ही वह 'त्रित' बन पाता है। २. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **एनम्**=इस इन्द्रियाश्व पर **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृत्व (आधिपत्य, अधिकार) करता है। इस अधिष्ठातृत्व के कारण ही यह **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है (प्रथ विस्तारे)। ३. **गन्धर्वः**=(गां धारयति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला **अस्य**=इस इन्द्रियाश्व की **रशनाम्**=मनरूप लगाम को **अगृभ्णात्**=ग्रहण करता है। मन के धारण से ही

इन्द्रियों का धारण होता है। मन को जीत लिया तो इन्द्रियाँ भी जीत ली जाती हैं। मन के द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत करके ही यह 'गन्धर्व' बनता है, अर्थात् ज्ञान की वाणियों का धारण कर पाता है। ४. **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसु **अश्वम्**=इस इन्द्रियाश्व को **सूरात्**=सूर्य से **निरतष्ट**=(to form, to create) बनाते हैं। सूर्य से इस अश्व के बनाने का अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य निरन्तर गतिशील है, उसी प्रकार इन इन्द्रियाश्वों को भी यह वसु गतिशील बनाता है। यह गतिशीलता ही इसके निवास को उत्तम बनाकर इसे वसु बनाती है।

भावार्थ—इन्द्रियाश्व को शरीर में जोतनेवाला 'त्रित' बनता है। इसका अधिष्ठाता 'इन्द्र' होता है। इसकी मनरूप लगाम को धारण करनेवाला 'गन्धर्व' बनता है, सूर्य की भाँति इसे गतिशील रखनेवाला 'वसु' होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'यम, आदित्य, त्रित'

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'इन्द्र' बनकर जब तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तब **यमः असि**=इन इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाला होता है। इस नियमन से तू **आदित्यः असि**=सब दिव्यगुणों का आदान करनेवाला होता है। हे **अर्वन्**=बुराइयों का संहार करनेवाले! तू **गुह्येन व्रतेन**=हृदयरूप गुहा के साथ सम्बद्ध ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने से **त्रितः असि**=शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों की शक्ति का विस्तार करनेवाला हुआ है। २. इस गुह्य व्रत को धारण करने से तू **सोमेन**=सोम-शक्ति=वीर्यशक्ति से **समया**=समीपता से **विपृक्तः असि**=विशेषरूप से युक्त हुआ है और इस सोमरक्षण के कारण **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **ते**=तेरे **त्रीणि बन्धनानि**=तीन बन्धनों को **आहुः**=कहते हैं। 'सोम' ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और समिद्ध ज्ञानाग्नि से 'ऋग्, यजुः, साम' के साक्षात्कार से प्रकृति, जीव और परमात्मा का ज्ञान होता है। यह त्रिविध ज्ञान ही तेरे मस्तिष्क के त्रिविध बन्धन हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों का नियामक 'यम' है। यह गुणों का आदान करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है। ब्रह्मचर्यव्रत के द्वारा यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' का विकास करके 'त्रित' होता है। यह मस्तिष्क में त्रिविध ज्ञान को सुबद्ध करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नवधा भक्ति—नौ व्रत

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **ते दिवि**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धनानि आहुः**=तीन बन्धनों को कहते हैं। तेरे मस्तिष्क में 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञानरूप तीन बन्धन होते हैं। ऋग्वेद के द्वारा तू प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करता है, यजुर्वेद के द्वारा जीव का ज्ञान तथा साम के द्वारा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। ये ज्ञान ही तेरे तीन बन्धन होते हैं। २. **अप्सु त्रीणि**='आपोमयाः प्राणाः' प्राण ही 'आपः' हैं। इनके विषय में तेरे तीन बन्धन हैं। ये तीन बन्धन ही 'भूः, भुवः, स्वः', 'प्राण, अपान, व्यान' या 'स्वास्थ्य, ज्ञान व जितेन्द्रियता' कहलाते हैं। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में तू स्वस्थ बनता है, मस्तिष्क में ज्ञानी तथा मन में जितेन्द्रियवृत्तिवाला

बनता है। ३. **समुद्रे अन्तः**-इस अन्तःसमुद्र में (स+मुद्) मोद के साथ रहनेवाले हृदयान्तरिक्ष में भी **त्रीणि**-तीन बन्धन हैं। तू हृदय में तीन व्रत धारण करता है कि—यहाँ 'काम' को प्रविष्ट नहीं होने दूँगा, 'क्रोध' से सदा अनाक्रान्त रहूँगा, 'लोभ' से अभिभूत नहीं होऊँगा। ४. **उत इव** (अपि च) और इस प्रकार अपने को नौ बन्धनों में बाँधकर **वरुणः**-श्रेष्ठ बना हुआ तू (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) **मे छन्त्सि**-मेरी अर्चना करता है। प्रभु की वास्तविक पूजा यही है कि मनुष्य (क) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करे, (ख) स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय बने, (ग) काम, क्रोध, लोभ से ऊपर उठे। हे **अर्वन्**-वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! यही वह नवधाभक्ति है **यत्र**=जिसमें **ते**-तेरे **परमं जनित्रम्**-सर्वोत्तम विकास को **आहुः**-कहते हैं। जीव की सर्वोत्तम उन्नति यही है कि वह अपने को इन नौ व्रतों के बन्धनों में बाँधकर प्रभु की नवधा भक्ति करनेवाला बने।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा भक्त वही है जो 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करता है, 'स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय' बनता है, 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है। यही उसका परम विकास भी है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

व्रतों द्वारा पवित्रता व शान्ति

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित व्रतबन्धनों द्वारा शक्तिशाली बननेवाले जीव! **इमा**=ये व्रत ही तेरे **अवमार्जनानि**-जीवन को परिमार्जित करनेवाले हैं। व्रतों से जीवन पवित्र बनता है। **इमा**-ये व्रत ही **सनितुः**=संविभागपूर्वक खानेवाले **ते**-तुझमें **शफानाम्**-शान्तियों के **निधाना**- स्थापित करनेवाले होते हैं। व्रती जीवनवाला व्यक्ति लोभ से ऊपर उठ जाने के कारण सदा सबके साथ बाँटकर खाता है, परिणामतः लड़ाई-झगड़े होते ही नहीं और जीवन शान्त बना रहता है। २. **अत्र**-यहाँ, इन व्रतों में ही **ते**-तेरी **भद्राः**-कल्याणकर **रशनाः**=मेखलाओं—कटिबन्धनों को **आ अपश्यम्**=देखता हूँ, अर्थात् तू इन पुण्यव्रतों का दृढ़ता से पालन करता है। **याः**=ये कटिबन्धन—दृढ़ निश्चय **ऋतस्य**=तेरे सत्यव्रतों का **अभिरक्षन्ति**-रक्षण करते हैं और **गोपाः**=तेरी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले होते हैं। व्रत इन्द्रियों को विषयों में फँसने से बचाते हैं।

भावार्थ—व्रतों में ही जीवन की पवित्रता है, शान्ति है। इन व्रतों का दृढ़ निश्चय से पालन करने पर इन्द्रियाँ सुरक्षित रहती हैं और विषय-पङ्क में फँसने से बच जाती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्यद्वार से प्रभु की प्राप्ति

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥ ६॥

१. गतमन्त्रानुसार व्रतों द्वारा जीवन को पवित्र बनानेवाले से प्रभु कहते हैं कि **ते मनसा**-तेरी मननशीलता के द्वारा **आत्मानम्**-अपने को **आरात् अजानाम्**=तेरे समीप ही जानता हूँ, अर्थात् मैं देखता हूँ कि मननशीलता के द्वारा तू मेरे समीप पहुँचता जाता है। २. **अवः**=(अवस्तात्)

इस निचले प्रदेश से **दिवा**=आकाश में **पतङ्गं पतयन्तम्**-सूर्य की ओर जाते हुए तुझे जानता हूँ। देवयान मार्ग से जानेवाले इस सूर्यद्वार से ही उस अव्ययात्मा, अमृतपुरुष को प्राप्त किया करते हैं—'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'। मैं तेरे **पतत्रि**=इस सूर्य की ओर निरन्तर चलनेवाले **शिरः**=मस्तिष्क को **अरेणुभिः**=रजोविकार से रहित—रजोगुण से ऊपर उठे हुए **सुगेभिः**=सरल **पथिभिः**=मार्गों से **जेहमानम्**=गति करते हुए को देखता हूँ, अर्थात् तू मस्तिष्क में निरन्तर ऊपर उठने की भावना को धारण करता है। तू रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्गों का आक्रमण (अतिक्रमण) करता है और इसी का परिणाम है कि तू सूर्यद्वार से मेरे समीप पहुँच रहा है। यह व्रती पुरुष निरन्तर ऊपर उठता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—एक व्रती पुरुष रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्ग से चलता हुआ शिखर पर पहुँचता है। यह सूर्यद्वार से प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु-दर्शन

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः॥ ७॥

१. गतमन्त्रानुसार सात्त्विक मार्ग से चलनेवाला व्यक्ति कहता है कि—**अत्र**=यहाँ, इस सात्त्विक मार्ग में **ते**=आपके **उत्तमं रूपम्**=पुरुषोत्तमरूप को—सात्त्विक आनन्दरूप को **आ अपश्यम्**=समन्तात् देखता हूँ। **जिगीषमाणम्**=आपका यह रूप मेरी सब वासनाओं को जीतने की कामना करता है। आपके रूप को देखने पर मेरी सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। आपके इस रूप को देखने पर **गोःपदे**=वेदवाणी के शब्दों में मैं **इषः आ** (अपश्यम्)=अपने जीवन के लिए प्राप्त होनेवाली प्रेरणाओं को देखता हूँ। २. इन प्रेरणाओं के अनुसार चलनेवाला **ते मर्तः**=तेरा व्यक्ति—तेरा उपासक **यदा**=जब **अनु**=यज्ञ करने के पश्चात् यज्ञशेष के रूप में **भोगम् आनट्**=भोगों को प्राप्त करता है **आत् इत्**=तो यह **ग्रसिष्ठः**=सर्वोत्तम भोजन करनेवाला होता है। बिना यज्ञ किये, स्वयं सब खा जानेवाला तो 'केवलाघो भवति केवलादी'—शुद्ध पाप को ही खाता है। यज्ञशेष का भोक्ता अमृत का सेवन करता है। यज्ञशेष ही अमृत है। ३. यह तेरा उपासक **ओषधीः अजीगः**=ओषधियों का ही सेवन करता है, वानस्पतिक भोजन ही इसे प्रिय होते हैं। प्रभु-भक्त कभी भी मांसाहार की ओर नहीं झुक सकता।

भावार्थ—सात्त्विक मार्ग पर चलनेवाला प्रभु के सर्वोत्तम रूप का दर्शन करता है। यह वेदवाणी की प्रेरणा के अनुसार यज्ञशेष का सेवन करता हुआ मांस-भोजन से सदा दूर रहता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सर्वानुकूलता

अनु त्वा रथो अनु मर्यो अर्वन्ननु गावोऽनु भगः कनीनाम्।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मनुष्य प्रभु-दर्शन का प्रयत्न करता हुआ यज्ञशेष के रूप में वानस्पतिक भोजनों का ही सेवन करता है तब **रथः**=यह शरीर-रथ **त्वा अनु**=तेरे अनुकूल होता है। यह स्वस्थ होकर तेरी यात्रा की पूर्ति में सहायक होता है। **मर्यः अनु**=मनुष्य तेरे अनुकूल

होता है—लोगों से तेरा विरोध नहीं होता। अविरोध में चलता हुआ तू उन्नति-मार्ग में आगे बढ़ पाता है। २. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **गावः अनु**=इन्द्रियाँ तेरे अनुकूल होती हैं। ये विषय-पङ्क में न फँसकर ज्ञानों व यज्ञों को सिद्ध करनेवाली होती हैं। **कनीनां भगः अनु**=कन्याओं का सौभाग्य तेरे अनुकूल होता है। तेरी पुत्रियाँ जहाँ जाती हैं, वहाँ वे अपने उत्तम व्यवहारों से तेरे यश को बढ़ाती हैं और जो कन्याएँ तेरे यहाँ पुत्रवधू के रूप में आती हैं, वे भी तेरे घर के सौभाग्य को बढ़ानेवाली होती हैं। ३. **व्रातासः**=मनुष्य के समाज **तव अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और **सख्यम् ईयुः**=तेरी मैत्री को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार समाज में भी तेरी स्थिति उत्तम होती है। ४. **देवाः**=सब देव, अर्थात् सूर्य-चन्द्र-तारे आदि सब प्राकृतिक शक्तियाँ **अनु**=तेरे अनुकूल होती हैं और ते **वीर्यं ममिरे**=तेरी शक्ति का निर्माण करती हैं। इन देवों की अनुकूलता से तेरी शक्ति बढ़ती है और तेरा स्वास्थ्य अति सुन्दर होता है।

भावार्थ—जीव के सात्त्विक होनेपर ही सारे संसार की अनुकूलता होती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'हिरण्यशृङ्ग, अयः पाद, मनोजवा'

हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत्।
देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत्॥ ९॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अर्वन्तम् अधि अतिष्ठत्**=इन्द्रियाश्व का अधिष्ठाता बनता है, अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करता है यह **हिरण्यशृङ्गः**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योतिर्मय शिखरवाला होता है। इसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है। **अस्य पादः**=इसके पाँव **अयः**=लोहे के होते हैं, अर्थात् यह चलने में थक नहीं जाता। 'मस्तिष्क उज्ज्वल, पाँव दृढ़' यह इसका जीवन होता है। २. प्रभु परमैश्वर्यशाली होने से इन्द्र हैं, यह भी **अवरः इन्द्रः**=छोटा इन्द्र ही बनता है और **मनोजवा आसीत्**=मन के वेगवाला होता है। इसकी मानस शक्तियाँ शिथिल नहीं पड़ जातीं। ३. **देवाः**=विद्वान् अतिथि **इत्**=निश्चय से **अस्य**=इसके **अद्यं हविः**=खाने योग्य सात्त्विक भोजनों को **आयन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् इसके घर पर अतिथियों का आना-जाना बना रहता है। इनका आना-जाना इसे सदा उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष दीप्त ज्ञानवाला, दृढ़ शरीरवाला व प्रबल मानस शक्तियोंवाला बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ईर्मान्त सिलिकमध्यम

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।
हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥ १०॥

१. गतमन्त्र के जितेन्द्रिय पुरुष **ईर्मान्तासः**=(ईर्यते इति ईर्यः, प्रेरितः अन्तः येषां ते) प्रेरित अन्तोंवाले होते हैं। शरीर का एक अङ्ग मस्तिष्क है तो दूसरा पाँव। इनका मस्तिष्क भी सब विषयों में खूब चलता है और परिणामतः ज्ञानदीप्त है तथा इनके पाँव भी सुदृढ़ व खूब गतिशक्तिवाले हैं। **सिलिकमध्यमासः**=(सिलिकः क्लिष्टः मध्यमः उदरः येषां ते—सा०) इनका उदर कृश होता है, वह पीठ से जा मिला होता है। उदर के पूर्ण संयमवाले होते हुए ये पेट को बढ़ने

नहीं देते। २. इन्हीं बातों का यह परिणाम है कि ये **शूः**=शीघ्रता से **सं रणासः**=युद्धों में सम्यक् विजयवाले होते हैं, **दिव्यासः**=दिव्य-वृत्तियोंवाले बनते हैं और **अत्याः**=सतत क्रियाशील होते हैं। वासना-संग्राम में विजय क्रियाशीलता से ही प्राप्त होती है यह विजय इन्हें दिव्य बनाती है। २. **हंसाः इव**=हंसों की भाँति ये **श्रेणिशः**=श्रेणियों में होकर **यतन्ते**=यत्न करते हैं; जैसे हंस श्रेणी बनाकर आकाश में उड़ते हैं, उसी प्रकार ये सहकारी समितियाँ बनाकर संसार-यात्रा में चलते हैं, सम्मिलित रूप से धनार्जन करते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि समाज में न कोई बहुत धनी होता है, न निर्धन। अधिक धनी होकर अतिभुक् (overfed) होने की आशंका नहीं रहती, और निर्धन होकर ये भूखे नहीं रह जाते। ठीक भोजन प्राप्त करते हुए ये स्वस्थ व सबल बनते हैं। ३. ये **अश्वाः**=शक्तिशाली कार्यों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष **यत्**=जो **दिव्यम् अज्मम्**=दिव्य मार्ग है, उसी का **आक्षिषुः**=व्यापन करते हैं, अर्थात् ये सदा दिव्य मार्ग पर ही चलते हैं।

भावार्थ—हम दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ पाँववाले हों, हमारा उदर कृश हो। हम युद्धों में विजयी, दिव्यगुणोंवाले व गतिशील बनें। सहकारी समितियाँ बनाकर सम्मिलित रूप में धनार्जन करें। शक्तिशाली बनकर दिव्यमार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर पतयिष्णु, चित्त ध्रजीमान्

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तव चित्तं वातइव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥ ११॥

१. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **तव शरीरम्**=तेरा शरीर **पतयिष्णु**=खूब गतिवाला हो। शक्तिशाली बनकर तू प्रत्येक अङ्ग के दृष्टिकोण से गतिवाला हो। तेरे जीवन में अकर्मण्यता व आलस्य का स्थान न हो। २. **तव चित्तम्**=तेरा चित्त **वात इव**=वायु की भाँति **ध्रजीमान्**=गतिवाला हो। तेरी चेतना पूर्णरूप में बनी रहे। तेरी मानस शक्तियाँ स्फूर्ति-सम्पन्न हों। ३. **तव शृङ्गाणि**=तेरी ज्ञान-दीप्तियाँ (शृङ्गम् इति ज्वलितो नामधेयम्) **पुरुत्रा**=अनेक स्थानों में, विविध विषयों में **विष्ठिता**=विशेषरूप से स्थित हों। तू सब प्रकृति-विज्ञानों व आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाला बने। ४. तेरी ज्ञानदीप्तियाँ **अरण्येषु**=एकान्त, नीरव स्थानों में, शहरों की चहल-पहल से दूर आश्रमों में **जर्भुराणा**=खूब विकसित होती हुई **चरन्ति**=गतिवाली होती हैं। तू ज्ञान के अनुसार क्रिया करनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारा शरीर गतिशील हो, चित्त में विज्ञान-कुशलता हो, हमारी ज्ञानदीप्तियों की विविधता का विकास हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः॥ १२॥

१. प्रभु का उपासक **वाजी**=शक्तिशाली बना हुआ **शसनम्**=वासनाओं के हिंसन को **उप प्रागात्**=समीपता से प्राप्त करता है। प्रभु की समीपता के कारण यह वासनाओं का संहार कर पाता है तथा **अर्वा**=यह वासनाओं का संहारक **देवद्रीचा मनसा**=प्रभु की ओर जानेवाले मन

से—प्रभु में लगे हुए मन से **दीध्यानः**-दीप्त हो उठता है। प्रभु के तेज से उपासक भी तेजस्वी हो जाता है। २. अब इस उपासक से **अजः**-(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला प्रभु **पुरः नीयते**-आगे प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह सदा प्रभु को अपने सामने आदर्श के रूप में रखता है, उसके समान ही दयालु व न्यायकारी बनने का प्रयत्न करता है। प्रभु को स्मरण करता हुआ उसके गुणों को धारण करने के लिए यत्नशील होता है। यह प्रभु ही **अस्य नाभिः**-इस उपासक की सब क्रियाओं का केन्द्र होता है। इसकी सब क्रियाएँ उसी से सम्बद्ध होती हैं—प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से ही की जाती हैं। यह भोजन भी इसी उद्देश्य से करता है कि प्रभु के इस शरीर को स्वस्थ रखता हुआ मैं प्रभु का प्रिय बनूँगा। ३. ये **कवयः**-क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी **रेभाः**-स्तोता लोग **पश्चात्** उस प्रभु के पीछे **अनुयन्ति** अनुकूलता से चलते हैं। अपने जीवन को प्रभु के आदर्श को सामने रखकर पालने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली बनकर हम वासनाओं का संहार करें। प्रभु में मन लगाकर हम दीप्त-जीवनवाले हों। प्रत्येक कार्य को प्रभु स्मरण से प्रारम्भ करें। प्रभु ही हमारे केन्द्र हों। हम ज्ञानी स्तोता बनकर अनुकूलता से कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ब्रह्मलोक में

उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ अच्छा पितरं मातरं च।
अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्या अथा शास्ते दाशुषे वार्याणि॥ १३॥

१. **अर्वान्**—('न' लोपाभावः छान्दसः) वासनाओं का संहार करनेवाला यह व्यक्ति **उपप्रागात्**=परमात्मा के समीप वहाँ पहुँचता है **यत्**-जो कि **परमं सधस्थम्**=सर्वोत्कृष्ट मिलकर रहने का स्थान है (सह+स्थ)। यही ब्रह्मलोक है इसमें 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' यह ज्ञानी ब्रह्म के साथ विचरण करता है। २. यहाँ पहुँचने के लिए यह अपने जीवन के प्रारम्भ में **पितरं मातरं च अच्छ**-पिता व माता की ओर गया (अच्छ-ओर), अर्थात् माता-पिता के शिक्षणालय में इसने उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त किया। माता ने इसे सच्चरित्र बनाया तो पिता ने इसे सदाचार में शिक्षित किया। ३. सच्चरित्र व सदाचारी बनकर **अद्य हि**=आज निश्चय से यह **जुष्टतमः**=अत्यन्त प्रीतिवाला होकर **देवान्**-देववृत्ति के विद्वान् आचार्यों को **गम्याः**-प्राप्त हुआ। **अथ**-अब आचार्य भी **दाशुषे**=इस अपने प्रति अर्पण करनेवाले विद्यार्थी के लिए **वार्याणि**=वरणीय ज्ञानों को **आशास्ते**=चाहता है। विद्यार्थी आचार्य के प्रति अपना अर्पण करता है और आचार्य विद्यार्थी के लिए अधिक-से अधिक वाञ्छनीय ज्ञान देने की कामना करता है। ४. इस ज्ञान को प्राप्त करके ही अब यह संसार-यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करके अपने वास्तविक घर ब्रह्मलोक में पहुँचनेवाला बनेगा। यह ब्रह्मलोक ही परम सधस्थ है। आज यह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर चुका होगा—ब्रह्मनिष्ठ हो चुका होगा।

भावार्थ—माता के शिक्षणालय में 'सच्चरित्र', पिता के शिक्षणालय में 'सदाचारी' व आचार्य के समीप रहकर 'ज्ञानी' बनकर हम जीवन-यात्रा को सुन्दरता से निभाकर ब्रह्मलोक में पहुँचने के अधिकारी बनें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कर्मों में लगे रहनेवाले 'अश्व' नामक पुरुष की उन्नति व अन्त में मोक्ष-प्राप्ति का उल्लेख करता है। अब अगला सूक्त 'दीर्घतमा'—अन्धकार को विदारण करनेवाले का अन्तिम सूक्त है। इसमें यह प्रभु का दर्शन करता हुआ कहता है कि—

[१६४] चतुःषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु, जीव व प्रकृति

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ १॥

१. प्रभु कैसे हैं **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर **पलितस्य**=पालयिता **होतुः**=दानशील **तस्य**=उस प्रभु का **मध्यमः भ्राता**=मध्य में रहनेवाला भ्राता जीव **अश्नः**=खानेवाला है। वे प्रभु सुन्दर हैं, संसार का पालन करनेवाले हैं, वे होता हैं। उसने प्रकृति के विविध अंशों को विविध प्राणियों के लिए दिया हुआ है। जीव प्रभु और प्रकृति के मध्य में है। न तो वह प्रभु के समान पूर्ण चेतन है और न प्रकृति के समान एकदम जड़। अपनी मध्यम स्थिति के कारण यह खाता भी है और स्वाद से खाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु का **तृतीयः भ्राता**=तीसरा भाई—प्रकृति **घृतपृष्ठः**=चमकते हुए पृष्ठवाली है (घृ दीप्ति)। इसका उपरला आवरण चमकीला है। इसकी चमक जीव को अपनी ओर खेंचती है। वेदमाता कहती है—इसका तो पृष्ठ ही चमकीला है। हे जीव! यह ऊपर की चमक तुझे आकृष्ट न कर ले। ३. प्रकृति में आसक्त न होकर यह **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पालक तथा **सप्तपुत्रम्**=सात पुत्रों के समान (पुत्र=which is produced) सात लोकों का निर्माण करनेवाले प्रभु को **अपश्यम्**=देखेगा। प्रभु ने इस ब्रह्माण्ड में 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्'—इन सात लोकों का निर्माण किया है। योगमार्ग में चलते हुए सातवीं भूमिका में पहुँचकर हम सत्यलोक में जन्म लेते हैं। उस समय हम प्रभु की अधिक-से-अधिक ज्योति को धारण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'सुन्दर, पालक व दाता' हैं। जीव प्रकृति व ब्रह्म के मध्य में रहता हुआ सब भोगों को भोगता है। प्रकृति से बना संसार सोने की भाँति चमकीला है। यहाँ हमें प्रभु का दर्शन करके सातवें सत्यलोक में पहुँचना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सब भुवनों का वाहक रथ

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥

१. **रथम्**=इस शरीररूप रथ में **सप्त**=सात प्रदीप **युञ्जन्ति**=जुड़े हुए हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'—इन शब्दों में वेद इन दीपकों का उल्लेख कर रहा है। शब्द के लिए दो कान, गन्धज्ञान के लिए दो नासाविवर, रूप को दिखाने के लिए दो आँखें तथा रस-विज्ञान के लिए जिह्वा। इन सातों दीपकों के ठीक प्रज्वलित रहने पर हमारा रथ प्रकाश में गति करेगा। इनके बुझ जाने पर अन्धकार में टकराकर टूट-फूट जाएगा। २. यह शरीर-रथ **एकचक्रम्**=विलक्षण चक्रोंवाला है। इसमें मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सारे ही चक्र अद्भुत एवं विलक्षण हैं। ३. इस शरीररूपी रथ को **एकः अश्वः**=मुख्य प्राण जोकि **सप्तनामा**=सात नामोंवाला है, **वहति**=वहन कर रहा है। 'प्राणा वाव इन्द्रियाणि' प्राण ही ये सब इन्द्रियाँ हैं, अतः नाक, आँख आदि ये सभी नाम उस प्राण के ही हैं। इन सातों नामोंवाला यह मुख्य प्राण ही इस शरीर का धारक व संचालक है। ४. यह **चक्रम्**=शरीर-चक्र **त्रिनाभि**=तीन बन्धनोंवाला है (णह्

बन्धने)। शरीर में ये तीन बन्धन 'इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि' हैं। ये तीन ही मनुष्य के महान् शत्रु (काम) का अधिष्ठान बनते हैं। ये तीनों **अजरम्**-अत्यन्त गतिशील (agile) हैं। इन्द्रियाँ और मन तो चञ्चल हैं ही, वासनात्मक बुद्धि भी कभी समाहित व स्थिर नहीं होती। ये तीनों **अनर्वम्**-अहिंसित, नष्ट न होनेवाले हैं, अतः मनुष्य को स्थूल शरीर पर शक्ति न लगाकर इनके ही उत्कर्ष में जुटना चाहिए। ५. यह शरीररूपी रथ वह है **यत्र** जहाँ **इमा विश्वा भुवना**-इस ब्रह्माण्ड के सभी लोक **अधितस्थुः**=ठहरे हुए हैं। मस्तिष्क द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष है तथा पाँव पृथिवीलोक हैं। इन सब लोकों में रहनेवाले देव भी इस पिण्ड के अन्दर रह रहे हैं। सूर्य चक्षु के रूप में, चन्द्रमा मन के रूप में तथा अग्नि वाणी के रूप में यहाँ विद्यमान है। इस प्रकार यह शरीर ब्रह्माण्ड के सभी देवों का अधिष्ठान है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ अद्भुत है। यह सब लोकों का अधिष्ठान है। उन लोकों के अधिपति सब देव भी यहाँ उपस्थित हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सप्तचक्र 'रथ' का वर्णन

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥ ३॥

१. **इमं रथं अधि**=इस शरीररूपी रथ पर **ये**-जो **सप्त**-(सप्=to sip) ज्ञान का आचमन करनेवाले सात **अधितस्थुः**=रक्षकों के रूप में खड़े हैं। वेद ने इनका उल्लेख 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन शब्दों में किया है। शरीर में ये सात ऋषि ज्ञान-जल का आचमन करते हुए इसकी रक्षा कर रहे हैं। २. **सप्तचक्रम्**=यह शरीर 'सप्तचक्र' है। प्रत्येक चक्र में पृथक्-पृथक् देव बैठे हैं। इनका आदर करना (सेच्=to honour, to worship), इनका उचित विकास व प्रयोग करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। **सप्त अश्वाः वहन्ति**=सात इन्द्रियरूपी अश्व इसे स्थान से स्थानान्तर पर ले-जा रहे हैं। ये इन्द्रियरूपी अश्व प्राण के साथ जुड़े हुए हैं (सप्=to connect, सप्त-connected)। ३. **सप्त**=सात **स्वसारः**=प्राण **अभि संनवन्ते**=बड़ी सुन्दरता से इन्हें फिर-फिर नया बना देते हैं। ये प्राण ही शरीर को सम्यक् गति देनेवाले और विविध कार्यों को करनेवाले हैं। ४. **यत्र**-इस शरीररूप रथ में प्रभु ने **गवां सप्त नाम निहिता**=(गो=diamond) रत्नों का सप्तक स्थापित किया है। 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य'—ये सात धातुएँ ही सात रत्न हैं। ये शरीर को रमणीय बनाते हैं, अतः रत्न हैं। इनके विकृत होने पर शरीर रोगी हो जाता है।

भावार्थ—शरीररूपी रथ पर सात ऋषि बैठे हुए हैं, सात प्राण=इन्द्रियाँ इसका सञ्चालन कर रही हैं, प्रभु ने इसमें सात रत्न स्थापित किये हुए हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जिज्ञासु का विद्वानों के समीप जाना

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्॥ ४॥

१. पिछले दो मन्त्रों में शरीर-रथ का वर्णन करके इस मन्त्र में रथी का वर्णन करते हैं। उस रथी को **कः ददर्श**-'क' देखता है। **क**=कामनाशील और पुरुषार्थी उसे देखता है। **प्रथमं**

जायमानम्=वह आत्मतत्त्व पहले से ही प्रादुर्भूत है—'अग्रे समवर्त्तत'—पहले ही है। २. यह एक आश्चर्य की बात है **यत्**=कि **अनस्था**=स्वयं अस्थिरहित होता हुआ भी **अस्थन्वन्तम्**=अस्थियों के पञ्जरवाले इस शरीर को **बिभर्ति**=धारण कर रहा है। प्रतीत तो यह होता है कि शरीर को अस्थियों ने धारण किया हुआ है, परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। आत्मतत्त्व के शरीर को छोड़ने पर यह शरीर धराशायी हो जाता है। २. उस आत्मतत्त्व का चिन्तन करने पर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि **भूम्याः**=इस पार्थिव शरीररूप रथ का **असुः**=यह प्राण, **असृक्**=रुधिर व **आत्मा**=रथी **क्वस्वित्**=भला कहाँ-कहाँ रहते हैं? असु प्राण हैं। इनके विरेचन-पूरण का क्रम चलता ही रहता है। **असृज्**=रुधिर है। 'अस् दीप्तौ' यही शरीर की दीप्ति का कारण है। आत्मा रथी है। इसी के कारण रथ की गति होती है। 'ये प्राणादि शरीर में कहाँ हैं'—यह प्रश्न उत्पन्न होते ही **कः**=प्रबल कामनावाला व्यक्ति **विद्वांसम्**=विद्वान् के पास **एतत् प्रष्टुम्**=यह प्रश्न पूछने के लिए **उपगात्**=जाता है।

भावार्थ—विरल पुरुष ही आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं। शरीर-रचना को समझने के लिए जिज्ञासु ज्ञानी के पास उपस्थित होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आदिगुरु 'वत्स बष्कय'

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ५॥

१. पिछले मन्त्र में जिज्ञासु विद्वान् के समीप गया था। वह जिज्ञासु इस रूप में प्रश्न करता है—**पाकः**=पक्तव्य प्रज्ञानवाला मैं **मनसा**=पूर्ण हृदय से **पृच्छामि**=पूछता हूँ—मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं और आप भृगु=परिपक्वमति हैं, अतः आपसे पूछता हूँ। २. **अविजानन्**=विशेषरूप से न जानता हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि **देवानाम्**=सूर्यादि देवों के **एना**=ये **निहिता**=रक्खे हुए **पदानि**=चरण व स्थान कहाँ-कहाँ हैं? आत्मरूप महादेव के साथ सूर्यादि सभी देव इस शरीर में प्रविष्ट होकर कहाँ-कहाँ रह रहे हैं? यह बात मैं आपसे पूछता हूँ। ३. **कवयः**=तत्त्वदर्शी, ज्ञानी लोग **सप्त तन्तून्**=(तनू विस्तारे) जिनमें ज्ञान का विस्तार किया गया है उन सात गायत्री आदि छन्दों के **वितत्निरे**=ज्ञानरूप ताने को तनते हैं। वेद का सारा ज्ञान इन सात छन्दों में ही दिया गया है। इसका अध्ययन करके मनुष्य क्रान्तदर्शी बनते हैं और मनकों में ओत-प्रोत सूत की भाँति ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत परमात्मा को प्राप्त करते हैं। सब प्राणियों में स्थित उस प्रभु को देखकर ये सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करते हैं और सर्वभूतहित में जुटे रहते हैं। उनका जीवन सतत क्रियाशील होता है। वे ज्ञान का ताना तानते ही इसलिए हैं कि **ओतवा उ**=उसमें कर्म का बाना बुना जाए। ४. हम इन ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु ये ज्ञानी **वत्से**=सदा स्पष्टरूप से बोलनेवाले **बष्कये**=सत्य के प्रकाशक प्रभु की **अधि**= अधीनता में ज्ञान का लाभ किया करते हैं (बट् इति सत्य नाम, कष-शासने)।

भावार्थ—मैं क्रान्तदर्शी विद्वानों से आत्मविषयक जिज्ञासा को पूछता हूँ कि इस पिण्ड में किस-किस देव ने कहाँ-कहाँ चरण रक्खे हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रश्नकर्ता

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ६॥

१. **अचिकित्वान्**=अविद्वान् होता हुआ, इस शरीर और शरीरी के रूप को ठीक-ठीक न समझता हुआ **चित्**-ही **अत्र**=इस मानव-जीवन में **चिकितुषः कवीन्**=ज्ञानी, क्रान्तदर्शी आपसे **पृच्छामि**=पूछता हूँ। मानव-देह की सफलता के लिए मैं आप विद्वानों से इस अध्यात्म के प्रश्न को जानने का प्रयत्न करता हूँ। २. आप ज्ञानी हैं, क्रान्तदर्शी हैं। इसके विपरीत मैं **न विद्वान्**=नासमझ हूँ। मेरे लिए तो सारा संसार पहेली-सा बना हुआ है। मैं वादविवाद के लिए नहीं अपितु जिज्ञासु के रूप में **विद्मने**-ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। आप कवि हैं। मैं आपके प्रकाश से अपने हृदयान्धकार को दूर करने के लिए उस प्रभु के विषय में कुछ पूछता हूँ **यः**-जो **इमा**=इन **षट्**=छह **रजांसि**=लोकों को **वि**=अलग-अलग—अपने-अपने स्थान में **तस्तम्भ**=थामे हुए है। सभी लोक उस प्रभु के आश्रय में अत्यधिक तीव्र गति से चलते हुए भी टकराते नहीं, क्या अद्भुत व्यवस्था है! ४. मैं छह लोकों के धारक प्रभु के विषय में जानना चाहता हूँ। मैंने ऐसा सुना है कि सातवाँ लोक जो **अजस्य**=अजन्मा प्रभु के **रूपे**=स्वरूप में ही विद्यमान है, **एकं किमपि स्वित्**=वह एक जो इन लोकों की भाँति लोक है भी या नहीं। वह तो प्रभु का अपना रूप ही है। 'सत्यम्' यह उस लोक का नाम है। इस प्रभु के विषय में ही मैं पूछता हूँ।

भावार्थ—नासमझ होने के कारण मनुष्य ज्ञानियों की शरण में जाए और इस संसार तथा परमात्मा के सम्बन्ध में उनसे पूछे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रवचनकर्ता=उपदेष्टा

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥७॥

१. **इह**=इस मानव-जीवन में **ब्रवीतु**=स्पष्ट शब्दों में उपदेश करे। कौन? **यः**=जो **ईम्**=अब (ईम्=now) **अङ्ग**=(well, in deed, true) ठीक-ठीक **वेद**=जानता है। किसे? **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर-ही-सुन्दर **वेः**=(goer) क्रियाशील प्रभु के **निहितं पदम्**=रक्खे हुए चरण को। वे प्रभु (वाम) सुन्दर हैं, क्योंकि (वि) क्रियाशील हैं। सौन्दर्य का क्रियाशीलता से सम्बन्ध है। क्रियाशीलता ही मनुष्य को स्वस्थ बनाकर सौन्दर्य प्रदान करती है। प्रवचनकर्त्ता को भी क्रियाशीलता द्वारा सौन्दर्य प्राप्त करना है। प्रवचनकर्ता भी वह तभी बन सकेगा जब प्रभु के तीनों चरणों—उत्पत्ति, पालन और संहार को समझेगा। २. इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न होने के कारण ही **अस्य**=इसके **शीर्ष्णः**=सिर की **गावः**=ज्ञानेन्द्रियाँ **क्षीरम्**=ज्ञानरूपी दूध को **दुह्रते**=जनता के मानस में पूरण करती हैं। उसका प्रवचन जनता के मन व मस्तिष्क को ज्ञान से भर देता है। जैसे क्षीर मधुर होता है वैसे ही उसकी वाणी से निकलनेवाले शब्द मधुर होते हैं। ३. ये प्रवचनकर्त्ता **वव्रिम्**=रूप, तेजस्विता को **वसानः**=आच्छादित करने के हेतु से (हेतौ शानच्) **पदा**=(पद गतौ) क्रियाशीलता के द्वारा **उदकम्**=(आपो रेतो भूत्वा) वीर्यशक्ति को **अपुः**=अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं। वीर्य की सुरक्षा से तेजस्विता आती है। प्रवचनकर्ता की यह तेजस्विता श्रोताओं पर छा-सी जाती है और वह उन्हें प्रभावित कर पाता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी, मधुरभाषी एवं तेजस्वी ही उपदेष्टा हो सकता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उपदेश कौन प्राप्त करते हैं

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥८॥

१. मन्त्र के चौथे चरण में कहते हैं कि **नमस्वन्तः**=नमस्वाले, अर्थात् नम्रता से युक्त **इत्**=ही **उप**=आचार्य के समीप पहुँचकर **वाकम्**=उपदेश को (वच्+घञ्) वेदवाणी को **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। आचार्य सौम्य शिष्यों को ही प्रेम से उपदेश देते हैं। उपदेश ग्रहण करनेवाले का प्रथम गुण (नम्रता) भक्ति व सेवावृत्ति है। इस नम्र शिष्य के अन्य गुणों का उल्लेख प्रथम तीन चरणों में इस प्रकार हुआ है—२. **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाला विद्यार्थी **पितरम्**=ज्ञानप्रद आचार्य के पास **ऋते**=सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त आता है। विद्यार्थी वही हो सकता है, जिसमें जीवन-निर्माण की भावना है। यह आचार्य के पास सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए आता है। ३. जब एक विद्यार्थी इस प्रकार की भावना से आचार्यकुल में आता है तभी वह **मनसा**=हृदय से और हृदय भी कैसा? **धीति अग्रे**=जिसमें कर्म सर्वप्रधान है, अर्थात् श्रम की प्रबल भावना से युक्त होकर **हि**=ही वह आचार्य के पास **संजग्मे**=सम्यक् गमन करता है। ४. **सा**=जीवन-निर्माण का अभिलाषी विद्यार्थी ही **बीभत्सुः**=आचार्य के साथ अपने को बाँधने की इच्छावाला होता हुआ **गर्भरसा**=गर्भरस से—रहस्यमय ज्ञान के जल से **निविद्धा**=हृदय के अन्तस्तल तक सिक्त होता है।

भावार्थ—जीवन-निर्माण के अभिलाषी को विनीतभाव से आचार्य-चरणों में पहुँचकर अपने को ज्ञान-जल से सिक्त करना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सरलता, उदारता, वेदज्ञान

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

१. **माता**=जीवन-निर्माण की इच्छावाला शिष्य आचार्य से **युक्ता आसीत्**=जोड़ा जाता है। कहाँ? **दक्षिणायाः धुरि**=दक्षिणा के जुए में। आचार्य विद्यार्थी को (दक्षिण) सरल और उदार बनाकर संसार में भेजता है। २. 'यह विद्यार्थी आचार्य-कुल में कब तक रहे?' इस प्रश्न का उत्तर है कि वह विद्यार्थी **वृजनीषु**=जीवन-संघर्ष (Battles and struggles) में **अन्तः गर्भः**=अन्तर्गर्भ के समान **अतिष्ठत्**=ठहरता है। आचार्य उसे तब तक गर्भ में रखता है जब तक वह परिपक्व न हो जाए। आचार्य शिष्य की प्रलोभनों व वासनाओं से रक्षा करता है। ३. आचार्यकुल में रहता हुआ वह **वत्सः**=आचार्य का वत्स बनने का प्रयत्न करता है। आचार्य वेदमन्त्र बोलते हैं, यह भी **अनु**=आचार्य के पीछे, ठीक आचार्य के उच्चारण के अनुसार **अमीमेत्**=शब्द करता है। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ विद्यार्थी **गाम्**=वेदवाणी को **अपश्यत्**=देखता है, अर्थात् उसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। ४. कौन-सी वेदवाणी का **विश्वरूप्यम्**=(विश्वविषयनिरूपणवतीम्) जो वेदवाणी सब सत्य-विद्याओं के निरूपणवाली है। उस वेदवाणी को यह शिष्य **त्रिषु योजनेषु**=तीनों योजनाओं में देखता है। उसके तीनों अर्थों को देखने का प्रयत्न करता है। ऋग्वेद मुख्य रूप से प्रकृति—सभी विज्ञानों का प्रतिपादन करता हुआ 'विज्ञानवेद' कहलाता है। इसमें सभी (Natural Sciences) का समावेश हो जाता है। यजुर्वेद जीव के कर्त्तव्य—सभी यज्ञों का निरूपण करता हुआ 'कर्मवेद' कहलाता है। सब (Social Sciences) का इसमें प्रतिपादन है। साम अध्यात्म (Metaphysics) का उपदेश करता हुआ 'उपासनावेद' कहलाता है। अथर्व अस्वस्थ पुरुष व राष्ट्र का वेद है। इसमें रोगों, युद्धों, राज्य-व्यवस्थाओं व चिकित्साओं का सम्पूर्ण विषय आ गया है। विद्यार्थी आचार्य से इनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता है, (अपश्यत्) इन्हें स्पष्टरूप में समझ लेता है।

भावार्थ—जीवन-निर्माण का अभिलाषी अपने-आपको आचार्य के साथ जोड़कर जहाँ उदार और सरल बनता है वहाँ वेदों का ज्ञान भी प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तीन माताएँ, तीन पिता

ति॒स्रो मा॒तॄस्त्रीन्पि॒तॄन्बिभ्र॒देक॑ ऊ॒र्ध्वस्त॑स्थौ॒ नेम॒व ग्ला॑पयन्ति।
म॒न्त्रय॑न्ते दि॒वो अ॒मुष्य॑ पृ॒ष्ठे वि॑श्व॒विदं॒ वाच॒मवि॑श्वमिन्वाम्॥ १०॥

१. **तिस्त्रः**=तीन **मातॄः**=माताओं को और **त्रीन्**=तीन **पितॄन्**=पितरों को **बिभृतः**=धारण करता हुआ **एकः**=अद्वितीय प्रभु **ऊर्ध्वः**=सृष्टि की समाप्ति पर भी **तस्थौ**=अपने चैतन्यरूप में ठहरता है। अपनी सृष्टि के आरम्भ में वह पुनः ज्ञान प्राप्त कराता है, फिर गुरु-शिष्य-परम्परा का उपक्रम चल पड़ता है। विद्यार्थी पूर्ण यत्न से ज्ञान प्राप्त करता है और आचार्य पुत्रवत् स्नेह रखते हुए उसे ज्ञान से भरने के लिए यत्नशील होते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति करने और कराने में ये दो **ईम्**=निश्चय से **न अव ग्लापयन्ति**=ग्लानि को प्राप्त नहीं होते। इस कार्य में कभी ऊबते नहीं। चौबीस, चवालीस और अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले वसु, रुद्र एवं आदित्य ही तीन माताओं—जीवन-निर्माताओं के रूप में स्मरण किये गये हैं। विज्ञानकाण्ड का उपदेश देनेवाले आचार्य 'अग्नि' हैं, कर्मकाण्ड का ज्ञान देनेवाले आचार्य 'वायु' हैं और उपासना-तत्त्व को समझानेवाले आचार्य 'सूर्य' हैं। ये ही तीन पितर हैं। २. ये आचार्य और शिष्य **अमुष्य दिवः पृष्ठे**=उत्कृष्ट ज्ञान के स्तर पर स्थित हुए-हुए **विश्वविदम्**=सब विषयों का ज्ञान देने में समर्थ **वाचम्**=वेदवाणी का **मन्त्रयन्ते**=परस्पर विचार करते हैं। इस वेदवाणी की ओर विरले ही चलते हैं, क्योंकि **अविश्वमिन्वाम्**=यह असर्वव्यापिनी है। इसका प्रवेश सब जगह नहीं हो पाता। कोई विरला ही इस आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—अद्वितीय प्रभु सृष्टि के आरम्भ में वेदवाणी का ज्ञान प्रदान करते हैं, परन्तु विरले व्यक्ति ही इस ओर चलकर आत्म-परमात्म-सम्बन्धी विषय में रुचि लेते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

काल-चक्र

द्वाद॑शारं न॒हि तज्जरा॑य॒ वर्व॑र्ति च॒क्रं परि॒ द्यामृ॒तस्य॑।
आ पु॒त्रा अ॑ग्ने मिथु॒नासो॒ अत्र॑ स॒प्त श॒तानि॑ विंश॒तिश्च॑ तस्थुः॥ ११॥

१. अब ज्ञान व मोक्ष-प्राप्ति के लिए अ-क्षर—कभी जीर्ण न होनेवाले कालचक्र का उपदेश करते हैं—**द्वादशारम्**=यह कालचक्र बारह अरोंवाला है। बारह मास ही इसके बारह अरे हैं। **तत्**=यह **चक्रम्**=काल-चक्र निरन्तर चला जा रहा है। यह निश्चय से **जराय नहि**=कभी जीर्ण नहीं होता। २. यह चक्र तो **द्यां परि**=इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र **वर्वर्ति**= नित्य चलता ही चला जा रहा है, **ऋतस्य**=यह काल-चक्र बिल्कुल ऋत=नियमित गतिवाला है। ३. **अग्ने**=यह काल-चक्र आगे-ही-आगे चलता चल रहा है, अतः यह अग्नि है। दिन और रात इस अग्नि के **पुत्राः**=पुत्र हैं जो कि **मिथुनासः**=मिथुन=द्वन्द्व के रूप में हैं—'दिवस' पुमान् है तो 'रजनी' स्त्री। दिवस कार्य का और रात्रि विश्राम की प्रतीक है। ये दिन और रात हमें कार्य में पुनः-पुनः प्रवृत्त करके 'पवित्र बनाये' रखते हैं और हमारा त्राण करते हैं, अतः ये 'पु त्र' कहलाते हैं। **अत्र**=इस काल-चक्र में **आ**=सर्वत्र **सप्त शतानि**=सात सौ **च**=और **विंशतिः**=बीस, अर्थात् सात सौ बीस दिन-रात **तस्थुः**=ठहरे हुए हैं। इस लोक के समान ब्रह्माण्ड के सभी लोकों में

इनकी संख्या इसी प्रकार है।

भावार्थ—काल-चक्र निरन्तर चलता हुआ कभी जीर्ण नहीं होता। यह नियमित गतिवाला है। इसके बारह मास-रूप बारह चक्र हैं और दिन-रात रूपी ७२० सात सौ बीस पुत्र हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

कालचक्र

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्॥ १२॥

१. यह कालचक्र **पञ्चपादम्**=पाँच पादवाला है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन—ये पाँच कर्म ही इसकी गति के द्योतक हैं। क्रिया की गति ही काल के रूप में नापी जाती है। क्रिया समाप्त और काल भी समाप्त। **पितरम्**=भूत, भव्य सभी को जन्म देनेवाला होने से यह काल सबका पिता है। **द्वादशाकृतिम्**=यह बारह मासरूपी आकृतियोंवाला है। इस द्वादशाकृति काल में वह आकृति भी आती है जब सूर्य की तीव्र किरणों से पृथिवीस्थ समुद्र वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र के रूप में परिणत हो जाता है, अतः इस काल को **दिवः परे अर्धे**=द्युलोक के उत्कृष्ट स्थान में **पुरीषिणम्**=जलवाला **आहुः**=कहते हैं। जब यह काल आता है तब ग्रीष्म के घर्म से आर्त प्राणियों को आनन्दित करता है। २. इसी काल का वर्णन **अथ इमे अन्ये**=अब ये दूसरे विद्वान् **आहुः**-इस रूप में भी कहते हैं कि **विचक्षणम्**=अपनी हजारों आँखों से देखनेवाला यह काल **सप्तचक्रे**=सात चक्रों और **षट् अरे**=छह अरोंवाले **उपरे**=(उपरमन्ते अस्मिन् प्राणिनः, उपरताः प्राणिनोऽत्र इति वा) प्राणियों के उपरमण (enjoyment) व उपराम—दीर्घ विश्राम के स्थानभूत इस **संवत्सर**=वर्ष में **अर्पितम्**=अर्पित हैं। यह वर्ष सप्तचक्र है। सप्ताह के सात दिन सात चक्र हैं और छह ऋतुएँ छह अरे हैं।

भावार्थ—पाँच पाद और बारह आकृतियोंवाला, आकाश के ऊपरी अर्ध भाग से पृथिवी का पोषण करनेवाला काल पिता कहलाता है। इसी काल को सात चक्र और छह अरों से युक्त भी कहा जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भूगोल (The globe of our earth)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥ १३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित कालचक्र में पृथिवी आदि ग्रहों का निर्माण हुआ। हमारी पृथिवी भी एक चक्र के रूप में है। **तस्मिन्**=उस **परिवर्तमाने**=निरन्तर गतिशील में **पञ्चारे चक्रे**=पाँच अरोंवाले—पाँच भागों में विभक्त भूचक्र में **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आतस्थुः**=ठहरे हुए हैं। २. इस भूचक्र के अक्ष पर कितना भार है! परन्तु **तस्य**=उस भूमि का **अक्षः**=अक्ष **भूरिभारः**=अत्यधिक भारवाला होता हुआ भी **न तप्यते**=सन्तप्त नहीं होता। 'कितना दृढ़ होगा वह अक्ष'—यह सोचकर ही मनुष्य का मस्तिष्क चकरा जाता है। इतना ही नहीं, सामान्य चक्रों में तो रगड़ से घिस-घिसाकर चक्रनाभि शीर्ण हो जाती है, परन्तु यह चक्र **सनात्**=सदा से **सनाभिः**=समान नाभिवाला होता हुआ **एव**=भी **न**=नहीं **शीर्यते**=शीर्ण होता। लौकिक रथ का अक्ष तो भार से भग्न हो जाता है और नाभि चौड़ी-सी हो जाया करती है, परन्तु इस भूचक्र के अक्ष और नाभि कितने अद्भुत हैं कि उनमें किसी प्रकार का विकार अर्बों वर्षों में भी नहीं

आ पाता। यह सोचकर निर्माता की अद्भुत महिमा का स्मरण हो जाता है।

भावार्थ—इस निरन्तर गतिशील भूचक्र में पाँच भागों में बटे हुए सब प्राणी ठहरे हुए हैं। इसका अक्ष इतना सुदृढ़ है कि वह अत्यधिक भार का वहन करता हुआ भी जीर्ण-शीर्ण नहीं होता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पृथिवी-चक्र

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥ १४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित भूचक्र का वर्णन करते हुए कहते हैं—**चक्रम्**=यह भूचक्र **सनेमि**=समान नेमिवाला है। अक्ष व नाभि की भाँति इसकी (नेमि) परिधि भी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। यह चक्र **अजरम्**=अजर है; बुढ़ापे से रहित है। यह नहीं कि यह कार्य नहीं कर रहा हो; यह तो **विवावृते**=सूर्य के चारों ओर तीव्र गति से बारम्बार घूम रहा है। २. **उत्ताना-याम्**=यह उत्तान भूचक्र अपनी कीली पर घूमता सदा से सूर्य की परिक्रमा करता चला आ रहा है। इस भूचक्र पर **दश**=अवस्था या विकास के दृष्टिकोण से दस स्थितियों में वर्तमान पुरुष **युक्ताः**=अपने-अपने व्यापार में लगे हुए **वहन्ति**=जीवन का वहन कर रहे हैं। मनुष्य की आयु सामान्यतः सौ वर्ष है। वह दस दशतियों में बाँटी जा सकती है। सब मनुष्य भिन्न-भिन्न दशतियों में हैं। कुछ विरल व्यक्ति ही नवीं या दसवीं दशति तक पहुँचते हैं। उन्हें वेद में 'नवग्व' व 'दशग्व' कहा है। प्रयत्न तो मनुष्य का यही होना चाहिए कि वह 'नवग्व व दशग्व' बने। यदि हम 'युक्ताः'—प्रत्येक कार्य में युक्तचेष्ट—नपी-तुली क्रियावाले होंगे तो अवश्य वहाँ तक पहुँच पाएँगे। २. **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य का प्रकाश **रजसा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में स्थित अन्तरिक्षलोक से **आवृतम्**–आवृत होकर **एति**=पहुँचता है। इस प्रकार हम प्रचण्ड किरणों से झुलस नहीं जाते। **तस्मिन्**=इस रजःआवृत सूर्यप्रकाश में ही **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आर्पिता**=अर्पित हैं। यदि यह प्रकाश हम तक बिना आवरण के ही आता तो हम सब झुलस जाते। यदि यह आता ही नहीं तो भी जीवन असम्भव हो जाता, अतः हम सबकी स्थिति इस सूर्यप्रकाश पर ही निर्भर करती है।

भावार्थ—सब प्राणी भूचक्र की गतिशीलता और सूर्य के प्रकाश के कारण पृथिवी पर जीवन धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

शक्ति न कि स्वाद (धामशः न कि रूपशः)

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥ १५॥

१. **साकं जानाम्**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन आत्मा के साथ शरीर में प्रवेश करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियों और मन का कार्य साथ-साथ ही चलता है। मन के साथ होने पर ही ये इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। इन छह के अतिरिक्त **सप्तथम्**=एक सातवाँ बुद्धितत्त्व भी है जिसे **एकजम्**=(एक=मुख्य) मुख्य आत्मतत्त्व के साथ रहनेवाला **आहुः**=कहते हैं। आत्मतत्त्व इस शरीररूपी रथ का रथी है तो बुद्धि सारथि। २. इस उत्तम बुद्धिरूप सारथि से नियन्त्रित ये **षट्**=छह **यमाः**=इन्द्रियाँ **इति**–नियन्त्रित कहलाती हैं **इत्**=यह ठीक ही है। नियन्त्रित अवस्था में ये छह (मन+ज्ञानेन्द्रियाँ)

जीवात्मा के लिए **ऋषयः**=तत्त्वज्ञान का दर्शन करानेवाले होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के साथ संयत होने की अवस्था में ये **देवजाः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले होते हैं। संयत होने पर ये निर्विषय रहकर हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति के साधन बनेंगे। यात्रा की पूर्ति के लिए घोड़े सबल भी होने चाहिएँ। ३. इनकी सबलता के लिए प्रभु ने **तेषाम्**=उन सब इन्द्रियरूप घोड़ों के **धामशः**=शक्ति के दृष्टिकोण से **इष्टानि**-वाञ्छनीय पदार्थ **विहितानि**=बनाये हैं। ४. ये ही सांसारिक भोज्य पदार्थ जब **रूपशः**=सौन्दर्य व स्वाद के लिए सेवन किये जाते हैं तब ये **विकृतानि**=विकृत होकर **स्थात्रे**=शरीररूप रथ पर रहनेवाले अधिष्ठाता जीव के लिए **रेजन्ते**=कम्पित, विचलित करनेवाले हो जाते हैं। सारा नाड़ी-संस्थान नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

भावार्थ—यदि मन और ज्ञानेन्द्रियाँ—ये छह नियन्त्रित रहें तो मनुष्य देव और ऋषि बनता है; विपरीत अवस्था में आसुरीवृत्तियाँ पनपती हैं और शरीर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्त्री होते हुए पुमान्, पुत्र होते हुए पिता के भी पिता

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥ १६॥

१. एक संयमी पुरुष कह सकता है कि **स्त्रियः सतीः**=स्त्री होते हुए भी **तान् उ**=उन इन्द्रियों को ही **मे**=मेरे लिए तो **पुंसः आहुः**=पुमान् कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादिवाले विषयों से मेल कराती हैं। इस (मेल) संघात कराने के कारण ही उन्हें 'स्त्रियः' शब्द से कहा जाता है। शब्दादि विषयों का हरण करने से ये '**स्त्रियाँ**' ही हैं और इस हरण के द्वारा ही जीव को विषयासक्त करके ये उसका (संघात) विनाश कर रही हैं; परन्तु ये ही इन्द्रियाँ संयत होने पर रक्षक बन जाती हैं। अब ये 'स्त्रियाँ' न होकर 'पुंसः' बन जाती हैं। २. इन्द्रियों की इस द्विरूपता को **पश्यत्**=देखनेवाला व्यक्ति ही **अक्षण्वान्**=उत्तम आँखोंवाला है; न **विचेतत्**=इस द्विरूपता को न समझनेवाला **अन्धः**=अन्धा है। ये इन्द्रियाँ विषयों में ले-जाकर, क्षणिक आनन्द के भोग में फँसाकर हमें समाप्त भी कर सकती हैं और संयत होकर, उत्कृष्ट ज्ञान-प्राप्ति का साधन होते हुए, कण-कण में प्रभु-महिमा का दर्शन कराती हुई ये हमारी रक्षा करनेवाली भी हो सकती हैं। सामान्य मनुष्य अपने कल्याण का मार्ग न देख सकने के कारण अन्धा ही है। ३. परन्तु **यः**=जो **ईम्**=अब **आचिकेत**=इन इन्द्रियों के स्वरूप का अनुशीलन करके इन्हें सर्वथा समझ लेता है **सः**=वह तो **कविः**=ज्ञानी बनता है और **पुत्रः**=(पूञ्+त्र) ज्ञान से अपना पवित्रीकरण करके रक्षण करनेवाला होता है। जो इन्द्रियाँ विषयों में फँसाकर मारनेवाली थीं, वे ही अब अन्तर्मुख होकर आत्म-दर्शन करानेवाली होती हैं। विषयों के तत्त्व को समझने के कारण हम कवि बनते हैं—गहराई तक, तत्त्व तक पहुँचनेवाले बनते हैं। विषय-पंक में न फँसकर अपने को पवित्र रख पाते हैं और दुःखों में फँसने से अपने को बचा पाते हैं। ४. इस प्रकार **यः**=जो **ताः**='स्त्रियः' शब्द से कही गई इन इन्द्रियों को **विजानात्**=अच्छी प्रकार समझ लेता है **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=रक्षकों में रक्षक बनता है, अर्थात् महान् रक्षक तो यही हुआ है।

भावार्थ—इन्द्रियों और विषय-भोगों के वास्तविक स्वरूप को समझनेवाला ही सबसे महान् रक्षक है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदाध्ययन के चार लाभ

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित्सूते नहि यूथे अन्तः॥ १७॥

१. **गौः**=वेदवाणी **पदा**=अपने अर्थगमन पदों से **वत्सम्** उच्चारण करनेवाले (वद्) प्रिय जीव को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **उद् अस्थात्**=उन्नत स्थान में स्थित करती है। वेदवाणी का एक-एक शब्द उच्चरित होता हुआ हमें उच्च प्रेरणा देता हुआ अन्त में मोक्ष तक ले जाता है। २. वेदवाणी दो प्रकार से हमारा धारण करती है—**अवः**-निचले क्षेत्र में **परेण**=पर के द्वारा और **परः**-पर क्षेत्र में **एना**-इस **अवरेण**-अवर के द्वारा। वेदवाणी के शब्द 'अपराविद्या' और 'पराविद्या'—दोनों ही विद्याओं के प्रतिपादक हैं। अपराविद्या प्रकृति का ज्ञान देती है तो पराविद्या आत्मतत्त्व का। इस कारण इनको क्रमशः 'अवः' और 'परः' शब्दों से कहा गया है। अवर प्रकृति द्वारा विद्या के क्षेत्र में परपदों से धारण का अभिप्राय यह है कि पराविद्या उसे विलासमय जीवन से बचाकर ब्रह्म की ओर ले जाती है। अवर विद्या के प्रतिपादक पद परक्षेत्र में उसका धारण इस प्रकार करते हैं कि प्रकृति में सौन्दर्य और व्यवस्था को दिखाते हुए ये उसे प्रभु की महिमा को समझने के योग्य बनाते हैं। अवर पद उसे प्रभु-भक्त बनाते हुए परक्षेत्र में धारण करते हैं। ३. **सा**-वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चती) पृथिवी पर गति करती हुई **कं स्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर जाती है। वेदवाणी के अवरपद यदि पृथिवी पर हैं—पृथिवी व पार्थिव (प्राकृतिक) देवों (पदार्थों) का बोध देते हैं तो परपद पार्थिव पदार्थों के प्रणेता प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। ४. ब्रह्मदर्शन हमें जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त कराता है, अतः **क्व स्वित् सूते**=भला, फिर यह जन्म कहाँ देती है, इसे जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसका मोक्ष हो जाता है। यदि वेद का स्वाध्याय करनेवाला एक जन्म में इतना ऊँचा न उठ पाये और उसे जन्म लेना ही पड़े तो यह वेदवाणी उसे **हि**-निश्चय से **यूथे अन्तः न**=सामान्य लोक-समूह में जन्म नहीं देती, उसका जन्म उच्चकुलों में होता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन के चार लाभ हैं—(क) यह हमें प्रकृतिविद्या व विज्ञान में निष्णात बनाता है, (ख) ब्रह्म का दर्शन कराता है, (ग) मोक्ष प्राप्त कराता है और (घ) उच्चकुल में जन्म देता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पिता का अनुवेदन

अ॒वः प॒रेण॑ पि॒तरं॒ यो अ॑स्यानु॒वेद॑ प॒र ए॒नाव॑रेण।
क॒वी॒यमा॑नः॒ क इ॒ह प्र वो॑च॒द् दे॒वं मनः॒ कुतो॒ अधि॒ प्रजा॑तम्॥ १८॥

१. **अवः**=प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**-पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से और (परेण) पराविद्या के क्षेत्र में **एना अवरेण**=इन अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **पितरम्**=पालक को **अनुवेद**=जानता है, वह **प्रवोचत्**=प्रवचन करता है। प्रकृति विद्या और ब्रह्मविद्या—दोनों के परस्पर संगत हो जाने पर मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के रक्षक प्रभु का साक्षात्कार कर पाता है। 'अनुवेद' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि (अनु) प्रकृति के ज्ञान के पश्चात् ही प्रभु का साक्षात् होता है। २. अपरा और पराविद्या को जोड़कर प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति जब किसी भी प्राकृतिक वस्तु का प्रयोग करता है तो **कवीयमानः**=कवि की भाँति आचरण करनेवाला होता है। वह वस्तुओं के तत्त्व को समझता है। तत्त्वज्ञान के कारण उन पदार्थों का ठीक ही प्रयोग करता है और पदार्थों के सौन्दर्य में सौन्दर्य के निर्माता को देखता है। **कः**=वह आनन्द में रहता है। वह स्थितप्रज्ञ बन जाता है। **इह**=(प्रवोचत्) यह क्रान्तदर्शी, सदा प्रसन्न मानव-जीवन में प्रवचन करता है। प्रकाश प्राप्त कर वह उस प्रकाश को औरों को भी देता है। ३. उस प्रकाश के फैलाने में वह अपने सुखों को तिलाञ्जलि देता है। वस्तुतः **कुतः अधि**-पृथिवी

से, पार्थिव भागों से ऊपर उठकर (कु=पृथिवी, तस्=से) उसमें **देवं मनः**=दैवी वृत्तिवाला मन **प्रजातम्**=उत्पन्न हो चुका है। यह दैव मन तो देने का ही पाठ पढ़ता है।

भावार्थ=अपरा और पराविद्या के मेल से मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है। यह मनुष्य सदा आनन्द में रहता है और उस प्रकाश को सर्वत्र फैलाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

रजोगुण से ऊपर

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥ १९॥

१. वेदों में **ये**=जो **अर्वाञ्चः**=अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं **तान् उ**=उनको ही **पराचः**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य **आहुः**=कहते हैं। अपराविद्या के प्रतिपादक मन्त्रों के समझने पर एक-एक प्राकृतिक पदार्थ में प्रभु की महिमा दिखने लगती है। २. इसके विपरीत **ये**=जो वेदवाक्य **पराञ्चः**=पराविद्या के प्रतिपादक हैं **तान्**=उनको ही **अर्वाचः**=अपराविद्या के प्रतिपादक **आहुः**=कहते हैं। वस्तुतः कर्ता की रचना को समझने के लिए कर्ता का समझना भी आवश्यक है। ३. अपरा और परा विद्याएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं। **न**=जैसे एक रथ के दो पहिये **धुरा**=अक्ष से **युक्ताः**=जुड़े हुए रथ की अग्रगति के साधक होते हैं, उसी प्रकार परस्पर जुड़ी हुई ये दोनों विद्याएँ मनुष्य के उत्थान का साधन होती हैं। ये दोनों विद्याएँ एक-दूसरे की पूरक होती हुई **रजसः वहन्ति**=मनुष्य को रजोगुण से ऊपर उठा देती हैं। इन दोनों विद्याओं को अपनाकर मनुष्य सदा सत्त्व गुण में अवस्थित रहता है। ४. ये अपरा व पराविद्या के प्रतिपादक वेदवाक्य कौन-से हैं जो मनुष्य को रजोगुण से ऊपर उठाने का कारण बनते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है—**तानि**=ये वेदवाक्य वे हैं **या**=जिनको **इन्द्रः**=इन्द्र **च सोमः**=और सोम मिलकर **चक्रथुः**=साक्षात् किया करते हैं। इन्द्र का अभिप्राय इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी से है और (सोम) सौम्यता की मूर्ति आचार्य का प्रतिपादन कर रहा है। आचार्य ज्ञान का समुद्र है और विद्यार्थी जितना जितेन्द्रिय बनेगा उतने ही अंश में वह सत्यविद्याओं का ग्रहण करनेवाला बनेगा।

भावार्थ—अपरा और पराविद्याओं का साथ-साथ अभ्यास करने से जीवन-रथ आगे बढ़ता है और मनुष्य रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित रहता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दो सुपर्ण

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ २०॥

१. **द्वा**=दो—परमात्मा और आत्मा **सुपर्णा**=उत्तम पालन और पूरणरूप कर्मों को करनेवाले हैं (पृ पालनपूरणयोः)। परमात्मा का पालनरूप कर्म एकदम प्रत्यक्ष है। उसने गर्भस्थ बालक के पालन की व्यवस्था कितने सुन्दर रूप में की है! हमें सतत प्रेरणा देकर हमारी न्यूनताओं को दूर करके वह हमारा पूरण भी कर रहा है। गृहस्थ सन्तान के पालन व पूरण में प्रयत्नशील होता है, वानप्रस्थ विद्यार्थियों को ज्ञान से पूरण करता है और संन्यासी तो प्रभु का सन्देशवाहक ही हो जाता है। २. **सयुजा**=ये दोनों एक साथ ही हृदयदेश में रहनेवाले हैं। ३. **सखाया**=ये परस्पर मित्र हैं। ४. परमात्मा और जीव दोनों ही **समानं वृक्षम्**=एक ही संसाररूपी वृक्ष का

परिषस्वजाते=आलिंगन करते हैं। दोनों इस संसार में रहते हैं। ५. **तयोः**= उन दोनों में से **अन्यः**=एक, जीव **पिप्पलम्**=इस संसार-वृक्ष के फल को **स्वादु**=स्वाद से **अत्ति**=खाता है, परन्तु **अन्यः**=दूसरा, परमात्मा **अनश्नन्**=फलों का किसी प्रकार से भोग न करता हुआ **अभिचाकशीति**=चारों ओर देखता है। जीव खाता है, प्रभु देखता है और यदि जीव स्वाद से खाने लगता है तो सर्वद्रष्टा होने से वह प्रभु उसे समुचित दण्ड देते हैं।

भावार्थ—परमात्मा और आत्मा दोनों सुपर्ण हैं, सखा हैं और परस्पर मित्र हैं। इन दोनों में जीव भोक्ता है और परमात्मा भोग न करता हुआ साक्षी है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीव में प्रभु का प्रवेश

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ २१॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर परमात्मा और जीव के भेद का उल्लेख इन शब्दों में हुआ था कि जीव तो (स्वादु अत्ति) स्वाद लेकर खाता है और प्रभु **(अनश्नन्)** भोगों से परे हैं। प्रभु की आवश्यकता शून्य है, जीव का भी आदर्श यही होना चाहिए। २. हमारी इन्द्रियाँ भोगों के लिए लालायित होने की बजाय **यत्र**=जब **सुपर्णाः**=इन्द्रियाँ उत्तम गतिवाली होकर **अनिमेषम्**=बिना पलक मारे अर्थात् दिन-रात, निरन्तर **विदथा**=ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से **अमृतस्य**=ऋचाओं के, ज्ञान के **भागम्**=सेवनीय अंश का **अभिस्वरन्ति**=सब ओर से उच्चारण व सेवन करती हैं **अत्र**=उस समय **इनः**=सबका स्वामी और **विश्वस्य भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक **सः**=वह प्रभु **धीरः**=धीमान्, प्राणिमात्र पर अनुग्रह की बुद्धिवाला प्रभु **पाकम्**=ज्ञान से परिपक्व और अतएव निर्मल मनवाले **मा**=मुझमें **आ विवेश**=प्रविष्ट होता है, मुझे प्राप्त होता है। प्रभु **(इनः)** स्वामी हैं, अतः सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। जीव भी इन्द्रियों का स्वामी बनकर रक्षक बनता है। वस्तुतः क्षमता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक बल व चरित्र की उच्चता—इन तीनों की आवश्यकता है और ये तीनों जितेन्द्रियता से ही साध्य हैं। इस जितेन्द्रियता से ही उच्च ज्ञान को प्राप्त होकर मनुष्य के मन का ठीक परिपाक होता है। उस परिपक्व मन में सत्त्वगुण का प्रकाश होने पर प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के उत्तम गतिवाली होने पर और मन के निर्मल होने पर प्रभु के दर्शन होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्वादिष्ठतम फल

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ २२॥

१. **यस्मिन्**=जिस **वृक्षे**=संसार-वृक्ष पर **मध्वदः**=बड़े स्वाद से इस वृक्ष के फलों को खानेवाले **सुपर्णाः**=अपने पालन के लिए बड़े प्रयत्न से विविध भोगों का अपने भण्डार में पूरण करनेवाले (पृ पालनपूरणयोः) जीव **निविशन्ते**=(निविश=to be attached to) अनुरक्त व आसक्तिवाले हो जाते हैं। २. **च**=और इस आसक्ति के कारण **विश्वे**=इसमें प्रविष्ट हुए-हुए, अर्थात् उलझे हुए ये जीव **अधिसुवते**=खूब अधिकता से उन विषय-भोगरूप फलों का लाभ करते हैं (विषयान् लभन्ते, उद्यन्ति—सा०)। ३. **तस्य**=उसी संसार-वृक्ष का **इत्**=ही **स्वादु**

अग्रे=स्वादिष्ठों में अग्रगण्य, अर्थात् सर्वाधिक स्वादु **पिप्पलम्**=मोक्षरूप फल है, ऐसा **आहुः**=विद्वान् लोग कहते हैं, परन्तु उस मोक्षरूप फल को वह **नो**=नहीं **नशत्**=प्राप्त होता है **यः**=जो कि **पितरम्**=उस वृक्ष के व उस वृक्ष पर रहनेवाले सब जीवरूप सुपर्णों के रक्षक पिता को **न**=नहीं **वेद**=जानता है। ४. इस संसार में जीव प्रकृतिरूप वृक्ष के फलों को स्वाद से खाता है, अतः वह मध्वद् (मधु=मधुरता से अद्=खानेवाला) कहलाता है। यदि मनुष्य सांसारिक भोगों से ऊपर उठने का प्रयत्न करे तो वह संसार के सर्वोत्तम फल (अपवर्ग) मोक्ष को पाने का अधिकारी बनेगा।

भावार्थ—जो संसार के पालक परमेश्वर को जान लेता है, वह सांसारिक भोगों में आसक्त न होकर संसार के स्वादिष्ठतम फल मोक्ष को प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

तीन बातों को समझना

यद् गा॒य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं त्रैष्टु॑भाद् वा॒ त्रैष्टु॑भं नि॒रत॑क्षत।
यद् वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत्तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः॥ २३॥

१. **यत्**=सचमुच **गायत्रे**=यज्ञ में (गायत्रो यज्ञः—गो० पू० ४।२४) **गायत्रम्**=पुरुष (गायत्री वै पुरुषः—ऐ० ४।३) **अधिआहितम्**=अधीन करके रखा गया है, अर्थात् पुरुष का जीवन यज्ञ के अधीन है। उसके जीवन से यज्ञ को हटा दिया जाए तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। यह यज्ञ केन्द्र है, यही स्वर्ग प्राप्त करानेवाला है। **वा**=और **त्रैष्टुभात्**=त्रिवेदविद्या के स्तवन के द्वारा अपने में कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों को स्थिर करने के द्वारा **त्रैष्टुभम्**=अपने जीवन को तीन सुखों से सम्बद्ध **निरतक्षत**=किया करते हैं। मानव-जीवन को सुखी बनने के लिए ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय करना होगा। प्रभु की उपासना पवित्र कर्मों से होती है। इस प्रभु-आराधना का परिणाम आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—तीनों दुःखों की समाप्ति के रूप में होता है। तीनों दुःखों की निवृत्ति होकर मनुष्य का जीवन तीन सुखों से सम्बद्ध होता है। उसके शरीर, मन व बुद्धि स्वस्थ रहते हैं। सब भूतों के प्रति निर्द्वेषता के कारण निर्भयता रहती है और सब देवों की अनुकूलता होने से उसे सब आवश्यक वस्तुएँ सुलभ रहती हैं। ३. **वा**=और तीसरी बात यह है **यत्**=कि **जगत् पदम्**=अन्त में सबसे शरण में जाने योग्य वह प्रभु **जगति**=इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में **आहितम्**=स्थित है, व्याप्त है। ४. **ये**=जो मनुष्य **इत्**=निश्चय से **तत्**=उपर्युक्त तीन बातों को **विदुः**=जान लेते हैं, वे **अमृतम्**=मोक्ष को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—(क) पुरुष यज्ञमय है, (ख) ज्ञान, कर्म, उपासना के समन्वय से ही त्रिविध सुख उपलब्ध हो सकते हैं, (ग) वह प्रभु संसार के कण-कण में व्याप्त है—इन तीन बातों को जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दिन दूनी रात चौगुनी

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॥ २४॥

१. **गायत्रेण**=यज्ञ के द्वारा **अर्कम्**=उपासना, पूजा (Prayer) को **प्रतिमिमीते**=सम्यक्तया सिद्ध करता है, अर्थात् प्रभु की वास्तविक पूजा यज्ञ के द्वारा सिद्ध होती है। पुरुषसूक्त में कहा

है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:'—देव लोग यज्ञरूप विष्णु की यज्ञ के द्वारा ही उपासना करते हैं। २. **अर्केण**-इस अर्चना से **साम**=सच्ची शान्ति की प्राप्ति होती है। इस अर्चना से हमारा जीवन त्रिविध तापों से रहित होकर शान्तिमय हो सकेगा। ३. **त्रैष्टुभेन**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—त्रिविध तापों के समाप्त होने पर ही **वाकम्**=ज्ञान की प्राप्ति होती है। शारीरिक व्याधि, मानसिक चिन्ता व बुद्धि की मलिनता तो ज्ञान-प्राप्ति में बाधक हैं ही, यदि आधिभौतिक शान्ति न हो तब भी ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार भूकम्प, बाढ़, अतिवृष्टि आदि आधिदैविक अशान्तियाँ भी ज्ञान प्राप्ति में विघ्न हैं। सब प्रकार से शान्त वातावरण में ही ज्ञान का उद्भव होता है। ४. ज्ञान प्राप्ति का ठीक उपक्रम हो जाने पर **वाकेन**=ज्ञान से **वाकम्**=ज्ञान **द्विपदा चतुष्पदा**=दिन दूना और रात चौगुना (by leaps and bounds) बढ़ने लगता है। पहले गुरु सुझा रहे थे, अब तो हमें स्वयं सूझने लगा। हम ज्ञान-मार्ग पर छलाँगें मारते हुए आगे बढ़ चलते हैं और अन्त में स्थिति यह आती है कि—५. **अक्षरेण**=सर्वव्यापक, अविनाशी प्रभु के द्वारा **सप्त वाणी**-सात छन्दों से युक्त वेदवाणी को हम **मिमते**=मापने लगते हैं। हृदयस्थ प्रभु हमें वेद का साक्षात्कार कराने लगते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के द्वारा उपासना होती है, इस उपासना से शान्ति मिलती है, शान्ति से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अन्त में प्रभु से प्रातिभिक (Intutional) ज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

पृथिवी पर ही स्वर्ग

जगता सिन्धुं दिव्य॑स्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्य॑पश्यत्।
गायत्रस्य॑ समिध॑स्तिस्र आ॑हुस्ततो॑ मह्ना प्र रि॑रिचे महित्वा॥ २५॥

१. प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति ही ज्ञान की चरम सीमा है। इस बात को मन्त्र में इस रूप में कहा गया है कि—२. **जगता**=सर्वगत, सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वं वा इदमात्मा जगत्) प्रभु के द्वारा उपासक **सिन्धुम्**=अपने ज्ञान-समुद्र को (वाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः—तां० ब्रा० ६।४।७) **दिवि**=द्युलोक में, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर **अस्तभायत्**-थामता है, अर्थात् इस प्रातिभ ज्ञान के द्वारा जीव का ज्ञान उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। इसका परिणाम 'संज्ञानम्' परस्पर मेल होता है। सब प्रकार के द्वेष व मल समाप्त होकर हम सचमुच ही स्वर्ग में अवस्थित होते हैं। ३. इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य **रथन्तरे**-इस पृथिवी पर ही (रथन्तरं हीयं पृथिवी—श० १।७।२।१७) **सूर्यम्**-स्वर्ग को (स्वर्गो वै लोकः, सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्—श० १२।९।२।८) **परि अपश्यत्**=चारों ओर देखता है। मनुष्य के ज्ञान-प्रधान बनने पर वह आनन्दमयी स्थिति में पहुँचता है। ज्ञान से निष्कामता आती है और निष्कामता से स्वर्ग की प्राप्ति। ज्ञान से द्वेष और कलह समाप्त होकर मृत्यु भी समाप्त हो जाती है। पारस्परिक द्वेष से शून्य होने पर मनुष्य भूमण्डल पर स्वर्ग को ही उतरा हुआ देखेगा। ४. यह ज्ञान जिसका परिणाम स्वर्ग है गायत्र से उत्पन्न हुआ था। 'गायत्र से उपासना, उपासना से शान्ति, शान्ति से ज्ञान'—इस ज्ञानक्रम में ज्ञानसिन्धु का आदिस्रोत **गायत्र**=यज्ञ ही है। **गायत्रस्य**=इस यज्ञ की **समिधः**=दीप्ति के साधन **तिस्रः**=तीन **आहुः**=कहे गये हैं। यज् धातु के तीन अर्थों में 'देवपूजा, संगतिकरण, दान' में उन तीन समिधाओं का संकेत है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमात्मा—इन पाँच देवों की पूजा, इनके साथ संगतिकरण और इनके प्रति अपने दान (समर्पण) से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ५. **ततः**=उस ज्ञान-प्राप्ति से ही मनुष्य **मह्ना**=बल और **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से

प्रररिचे=अपने समान योनिवाले सभी पुरुषों को लाँघ जाता है (Excels)। मनुष्य की शक्ति और महिमा इसी बात में है कि उसने भूलोक को स्वर्गलोक बना दिया है।

भावार्थ—मनुष्य अपने ज्ञान को सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचाकर अपनी शक्ति और महिमा से मर्त्यलोक को स्वर्गलोक में परिवर्तित कर देता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्वाध्याय और प्रवचन

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम्॥ २६॥

१. पिछले मन्त्रों में ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन होता आ रहा है। ज्ञान-प्राप्ति का एक आवश्यक साधन है 'गोदुग्ध का प्रयोग'। इसी के लिए कहते हैं—मैं **सुदुघाम्**=सुगमता से दोहने योग्य **धेनुम्**=दूध से प्रीणित करनेवाली **एताम्**=इस गौ को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। इस प्रकार मन्त्र के शब्द 'गोदुग्ध-पान' के महत्त्व का वर्णन कर रहे हैं, परन्तु मन्त्र का मुख्यार्थ वेदवाणीरूप गौ के विषय में है। जिज्ञासु विद्यार्थी कहता है कि मैं (उपह्वये) वेदवाणीरूप गौ को अपने समीप बुलाता हूँ। (एताम्) यह वेदवाणी जिसको मैं पुकारता हूँ (सुदुघाम्) सुख से दोहने योग्य है। यह पढ़ने में कठिन नहीं है, (धेनुम्) यह ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली है। २. **एनाम्**=इस वेदवाणीरूप गौ का (सुहस्तः) सिद्धहस्त, पढ़ाने में निपुण **गोधुक्**=वेदवाणीरूप गौ का ग्वाला ही **दोहत्**=दोहन करता है। प्रवचन-पटुता ही आचार्य की सुहस्तता है। ३. यह **सुहस्त सविता**=चारों वेदों का ज्ञाता आचार्य **श्रेष्ठं सवम्**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का **नः**=हमारे लिए **साविषत्**=अभिषव करे (दुहे, निचोड़े)। उत्तम ज्ञान वही है जो एकाङ्गीन न होकर सर्वाङ्गीण हो। ३. सविता और सुहस्त आचार्यों के समीप रहता हुआ विद्यार्थी अनुभव करता है कि **घर्मः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलिनताओं के क्षरण से आचार की उज्ज्वलता तथा ज्ञान की दीप्ति **अभीद्धः**=मुझमें चारों ओर दीप्त हो उठी है। आचार्य ने उसे सदाचार व ज्ञान का ग्रहण कराके चमका दिया है। ४. गुरुदक्षिणा के समय मैं **तत् उ**=आचार्य से प्राप्त उसी ज्ञान को **सु-प्रवोचम्**=बड़े उत्तम प्रकार से प्रजा में प्रचारित करता हूँ। आचार्य के प्रवचन से मैं स्वाध्याय-सक्षम बन सका, उस ऋण से अनृण होने के लिए अब मैं प्रवचन करूँगा। ये स्वाध्याय और प्रवचन मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ कर्म हैं।

भावार्थ—कुशल आचार्य के चरणों में बैठकर हम वेदवाणी का स्वाध्याय करें, फिर प्रवचन द्वारा उसे जन-जन में पहुँचाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदज्ञान का साधन व लाभ

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्यागा॑त्।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय॥ २७॥

१. यह वेदवाणी (क) **हिंकृण्वती**=हिङ्कार करती हुई (रश्मय एव हिङ्कारः—जै० उ० १।३३।९) हिंकार शब्द रश्मियों=किरणों का वाचक है। यह वेदवाणी ज्ञान-रश्मियों को फैलाकर अज्ञानान्धकार को दूर करती है, (ख) **वसुपत्नी वसूनाम्**=यह (यज्ञों) उत्तम कर्मों की पालिका है। वेदाध्ययन से मनुष्य की उत्तम कर्मों में रुचि उत्पन्न होती है, (ग) **अश्विभ्यां पयः दुहाम्**=(सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ अश्विनौ—द०) सुशिक्षित स्त्री-पुरुषों के लिए यह वेदवाणी

क्रियाशील बनानेवाले ज्ञान-दुग्ध का दोहन करती है, अर्थात् उन्हें अकर्मण्यता से दूर करके क्रियावान् बनाती है, (घ) **इयम् अघ्न्या**=यह 'अघ-घ्नी' (निरु० ११।४३।३) है, पापों को नष्ट करनेवाली है। यह शुभ प्रवृत्ति को उत्पन्न करके अशुभ प्रवृत्ति को समाप्त करनेवाली है, (ङ) **सा**=वह वेदवाणी **महते सौभगाय वर्धताम्**=महान् सौभाग्य के लिए होती है। जिस घर में ब्रह्म-घोष होता है, उस घर में अशुभ समाप्त होकर शुभ-ही-शुभ का विस्तार होता है। २. यह वेदवाणी इतने लाभों को देनेवाली होकर प्रत्येक से पढ़ने योग्य है। इसके ज्ञान का प्रकार यह है कि—(क) **मनसा वत्सम्**=मन से, पूरे ध्यान से उच्चारणवाले को **इच्छन्ती** चाहती हुई **अभ्यगात्**=यह प्राप्त होती है। वस्तुतः वेदमन्त्रों को समझने के लिए सर्वोत्तम साधन पूर्ण एकाग्रता से इसके मन्त्रों का उच्चारण ही है, (ख) इस वेदवाणी को समझने के लिए दूसरा साधन अघ्न्या शब्द से सूचित हो रहा है। यह अहन्तव्य है, इसके स्वाध्याय में विच्छेद नहीं आना चाहिए।

भावार्थ—वेदवाणी अज्ञानान्धकार को दूर करती है, उत्तम कर्मों में रुचि उत्पन्न करती है, क्रियाशील बनाती है, अशुभ वृत्तियों को समाप्त करती है और घर को सुन्दर बनाती है। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए दो साधन हैं—मन से इसके मन्त्रों का उच्चारण और अविच्छिन्नरूप से प्रतिदिन इसका स्वाध्याय।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदरूपी गौ बोलती है (निर्माण न कि ध्वंस)

गौर॑मीमे॒दनु॑ व॒त्सं मि॒षन्तं॑ मू॒र्धानं॒ हिङ्ङ॑कृणो॒न्मात॒वा उ॑।
सृक्वा॑णं घ॒र्मम॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः॥ २८॥

१. **गौ**=यह वेदवाणीरूप गौ **अमीमेत्**=शब्द करती है, बोलती है। लोग कहते हैं वेद क्या पढ़ें, समझ में तो आते ही नहीं। ऐसी बात नहीं है; वेदरूपी गौ बोलती है, परन्तु **अनु**=पीछे। किसके पीछे? (क) **वत्सम्**=उच्चारण करनेवाले के और (ख) **मिषन्तम्**=जो इसे ध्यान से देखता है (मिष्=to look at)। अभिप्राय यह है कि वेदवाणी उसके लिए मूक है जो इसे न तो पढ़े और न इसे ध्यान से देखे और विचारे। जो भी मनुष्य श्रद्धापूर्वक पढ़ेगा, उसे यह वेदवाणी अवश्य समझ में आएगी। २. यह वेदवाणी ध्यानपूर्वक पढ़नेवाले के **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **हिङ् अकृणोत्**=ज्ञानरश्मियों से जगमगा देती है, क्यों? **मातवा उ**=इसलिए कि वह उत्तम ज्ञानी बनकर निर्माण का कार्य कर सके। वेदज्ञान मनुष्य को निर्माण का ही उपदेश देता है, ध्वंस का नहीं। ३. **सृक्वाणम्**=(सृज्=उत्पन्न करना) उत्पादक **घर्मम्**= तेज को **अभिवावशाना**=पाठक के लिए चाहती हुई यह वेदवाणी अपने पाठक को **मायुम्**= (माया=ज्ञान) ज्ञानवाला **मिमाति**=बनाती है। इस प्रकार यह वेदवाणी **पयोभिः**=अपने ज्ञानरूपी दुग्ध से **पयते**=अपने पाठक को आप्यायित करती है, बढ़ाती है।

भावार्थ—श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय करने से मनुष्य का मस्तिष्क ज्ञानरश्मियों से जगमगा उठता है, वह निर्माणात्मक कर्म ही करता है, ध्वंसात्मक नहीं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अव्यक्त से व्यक्त की ओर

अ॒यं स शि॑ङ्क्ते॒ येन॒ गौर॒भीवृ॑ता॒ मिमा॑ति मा॒युं ध्व॒सना॒वधि॑ श्रि॒ता।
सा चि॒त्तिभि॒र्नि हि च॒कार॒ मर्त्यं॑ वि॒द्युद्भव॑न्ती॒ प्रति॑ व॒व्रिमौ॑हत॥ २९॥

१. **अयं सः**=यह वेदाध्येता **शिङ्क्ते**=अव्यक्त ध्वनि करता है, अर्थात् वेदार्थ व्यक्त न होने पर भी श्रद्धापूर्वक उसका पाठ करता है। कौन? **येन**=जिसने **गौः**=वेदवाणी को **अभीवृता**=अपने ध्यान को चारों ओर से हटाकर वरा है, अर्थात् उसी में अपने मन को केन्द्रित किया है। २. यह वेदाध्येता श्रद्धापूर्वक पढ़ता है और परिणामतः **ध्वसनौ**=अज्ञान के ध्वंस में **अधिश्रिता**=लगी हुई यह वेदवाणी उस पुरुष को **मायुम्**=ज्ञानी **मिमाति**=बनाती है। ३. **सा**=वह वेदवाणी **हि**=निश्चय से **चित्तिभिः**=कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञानों के द्वारा **मर्त्यम्**=मनुष्य को **निचकार**=ऊँचा उठाती है (निकार=lift up) और अन्त में ४. **विद्युत्**=विशेष रूप से द्योतमान **भवन्ती**=होती हुई **वव्रिम्**=अपने रूप को **प्रति औहत**=प्रकट करती है। ५. एवं वेदज्ञान का क्रम यह है—(क) मनुष्य श्रद्धापूर्वक वेदाध्ययन में लगे, अर्थ न भी समझ में आये तो भी उसका पाठ करे, (ख) धीरे-धीरे यह वेदवाणी उसके अज्ञान को नष्ट करती हुई उसे ज्ञानी बनाएगी, (ग) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के द्वारा उसके आचरण व व्यवहार के मापक को ऊँचा करेगी, और अन्त में (घ) यह वेदवाणी उसके समक्ष स्पष्ट हो जाएगी। वह ऋषि बन जाएगा।

भावार्थ—जो श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय करेगा वह शनैः-शनैः ज्ञान से चमकता हुआ ऋषि बन जाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

बद्ध व मुक्त जीव का स्वरूप

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ३०॥

१. जब तक जीव विकर्मों या सकाम कर्मों के कारण **पस्त्यानाम्**=इन शरीररूप गृहों के **मध्ये**=बीच में **आ शये**=निवास करता है तब तक उसका स्वरूप निम्न प्रकार का होता है—(क) **अनत्**=यह प्राण-अपान, श्वासोच्छ्वासादि की क्रिया को चलाता है, (ख) **तुरगातु**=यह तूर्ण गमन है, बड़ी तीव्रता से सब व्यापारों को करनेवाला है, (ग) **जीवम्**=इसी के कारण शरीर जीवनवाला (जीवनवत्, living) कहलाता है। यह गया और देह निर्जीव हुई, (घ) **एजत्**=इसके कारण ही यह शरीर गतिवाला है, (ङ) **ध्रुवम्**=अविचलित है, स्थिर है। शरीर चल है, आत्मा अचल। २. इस प्रकार बद्धावस्था में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करके मुक्तात्मा का चित्रण करते हैं। निष्काम कर्मों के द्वारा जब यह जीव इस शरीर में बद्ध नहीं होता तो **मृतस्य**=इस प्राणत्याग कर देनेवाले शरीर का **जीवः**=जिलानेवाला आत्मा, शरीर को छोड़ने के बाद भी, अर्थात् मुक्त हो जाने पर भी (क) **चरति**=विचरता है, क्रियाशील होता है। कहाँ विचरता है? ब्रह्म के साथ विचरता है। (ख) जब तक जीव शरीर में था तब तक सब क्रियाएँ इन्द्रियों के द्वारा होती थीं; अब वे किस प्रकार होती हैं? इसका उत्तर है—**स्वधाभिः**=अपनी धारक शक्तियों के द्वारा, (ग) यह मुक्तात्मा **अमर्त्यः**=अब मरणधर्मा नहीं, (घ) इस मुक्तात्मा में **मर्त्येन**=मर्त्य वस्तु से **असयोनिः**=समान स्थानवाला नहीं है। इसका अब किसी भी मर्त्य वस्तु से सम्बन्ध नहीं रहता।

भावार्थ—बद्धजीव मुक्त होकर सर्वोच्च स्थिति में पहुँच जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मुक्तात्मा

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ३१॥

१. मुक्त कौन हो सकता है? उत्तर है—**गोपाम्**-इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले को **अनिपद्यमानम्**=फिर-फिर विविध योनियों में नीचे न गिरते हुए को **अपश्यम्**=मैंने देखा है, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष ही मुक्त हुआ करता है। इन्द्रियों को वश में करके यह मुक्त पुरुष क्या करता है? **आ च परा च**-समीप और दूर, हमारी ओर आनेवाले और हमसे दूर जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **चरन्तम्**=विचरण करते हुए को मैंने देखा है। मुक्तात्मा सर्वत्र विचरता है। जहाँ हम हैं वहाँ भी आता है और हमसे दूर अन्य लोक-लोकान्तरों में भी जाता है। २. **सः**=वह मुक्तात्मा **सध्रीचीः**-(सह अञ्चति) जिन शरीरों से हमारे साथ उठता-बैठता है उन शरीरों को **वसानः**-धारण करने के स्वभाववाला होता है। **सः विषूचीः**-(विश्वग् अञ्चतीः) वह चारों ओर विविध लोकों में जानेवाले शरीरों को भी धारण करता है। ३. इस प्रकार विविध शरीरों को धारण करता हुआ यह मुक्तात्मा **भुवनेषु अन्तः**=नाना लोकों में **आवरीवर्ति**=चारों ओर फिर-फिर आवर्तन किया करता है।

भावार्थ—मुक्तात्मा मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर नाना लोक-लोकान्तरों में जन्म लेते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गर्भस्थ जीव का चित्रण

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥ ३२॥

१. **यः**-जो पिता **ईम्**=निश्चय से **चकार**=अपने वीर्यदान से इसके शरीर को बनाता है **सः**=वह पिता भी **अस्य न वेद**-इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। हम अपनी सन्तान के भूत-भविष्यत् के विषय में कुछ भी नहीं जानते। २. माता के तो वह गर्भ में है, वह तो देख रही है। क्या वह भी उसे नहीं जानती? इसका उत्तर है—**यः**=जो व्यक्ति **ईम्**=अब **ददर्श**=देख रहा है **तस्मात्**=उससे भी **इत् नु**=सचमुच अब **हिरुक्**=वह अन्तर्हित है, छिपा हुआ है। **सः**=वह **मातुः योना**=माता की ही योनि में **अन्तः**-अन्दर ही **परिवीतः**=उल्ब (foctus) और जरायु (The outer skin of embryo) से परिवेष्टित है। वहाँ छिपा बैठा है। बिल्कुल बन्द, ज़रा भी दिखता नहीं। स्पष्ट है कि किसी तीव्र समस्या में उलझा है इसलिए सोचने में निमग्न है। ४. यह गर्भस्थ जीव किस समस्या में उलझा है? **बहु प्रजाः**=अरे मैं तो कितने ही जन्मों का भागी बना हूँ [बहुजन्मभाक्—सा०, बह्व्यः प्रजाः (जन्मानि) यस्य सः]। क्या सदा इसी चक्र में उलझा रहूँगा? यह सोचकर वह **निर्ऋतिम्**=बहुत ही दुःख में **आविवेश**=प्रविष्ट होता है, अर्थात् अत्यन्त दुःखी हो जाता है।

भावार्थ—माता और पिता इस गर्भस्थ जीव के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जरायु में लिपटा हुआ जीव अपनी अवस्था का चिन्तन करते हुए अत्यन्त दुःखी हो जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सृष्टि में परमेश्वर की क्या आवश्यकता?

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ ३३॥

१. विज्ञान की प्रारम्भिक ज्योति से जब जीव के नेत्र खुलते हैं तो उसकी विचारधारा इस रूप में होती है कि **द्यौः**=द्युलोक **मे**=मेरा **पिता**-रक्षक है। सूर्य के द्वारा वृष्टि उत्पन्न करके

द्युलोक ही तो मेरा रक्षण कर रहा है। सम्भवत: प्रारम्भ में जीवन का सूत्रपात भी द्युलोक से ही हुआ था, अत: वही मेरा **जनिता**=उत्पादक भी है। **अत्र**=इसी द्युलोक में कार्यकारणभाव की शृंखला की अन्तिम कड़ी का **नाभिः**=बन्धन है (नह् बन्धने)। २. **इयम्**=यह **मही**=महनीय—आदर के योग्य **पृथिवी**=विस्तृत भूमि **मे**=मेरी **बन्धुः**=मित्रवत् हितकारी है। अन्न इत्यादि के उत्पादन द्वारा जीवन की सुबद्धता का हेतु है और **माता**=मेरे जीवन की निर्मात्री है। ३. इन **उत्तानयोः**=ऊर्ध्वतान—उत्तमता से विस्तृत **चम्वोः**=पृथिवी तथा आकाशरूप पात्रों का **योनिः**=शक्ति के मिश्रण का स्थान **अन्तः**=मध्य में, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में है। ४. **अत्र**=यहाँ अन्तिरिक्ष में ही **पिता**=द्युलोक **दुहितुः**='दूरे हिता'=दूरस्थ पृथिवी के **गर्भम्**=गर्भ को **आधात्**=स्थापित करता है। अन्तरिक्ष से ही वृष्टि आदि होकर पृथिवी में अन्नादि को उत्पन्न करने की शक्ति स्थापित की जाती है। ५. इस प्रकार द्युलोक तथा पृथिवीलोक की शक्ति अन्तरिक्षलोक में संगत होकर संसार का सम्यक् पालन हो जाता है। इस सारे पालनकार्य में प्रभु की आवश्यकता नहीं, अत: उसे क्यों मानें? यह विचार सदा अर्धवैज्ञानिक को उत्पन्न होता है और वह नास्तिक-सा बन जाता है। यह विचार ही मनुष्य को संसार में बद्ध करता है।

भावार्थ—द्युलोक और पृथिवीलोक की शक्तियाँ अन्तरिक्ष में संगत होकर संसार का सम्यक् पालन-पोषण करती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

चार प्रश्न

पृच्छामि॑ त्वा॒ पर॒मन्तं॑ पृथि॒व्याः पृ॒च्छामि॒ यत्र॒ भुव॑नस्य॒ नाभिः॑।
पृ॒च्छामि॑ त्वा॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतः॑ पृ॒च्छामि॑ वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म॥ ३४॥

१. **त्वा**=तुझसे, जिसका ध्यान प्रभु की ओर नहीं जा रहा उससे **पृच्छामि**=मैं पूछता हूँ कि **पृथिव्याः**-इस पृथिवी का **परम् अन्तम्**=परला सिरा क्या है? अथवा अन्तिम उद्देश्य क्या है? (पर=अन्तिम, अन्त=उद्देश्य)। हमें यहाँ पृथिवी पर क्यों भेजा गया है? हमें इसे क्या बनाना है। २. मैं तुझसे उस वस्तु को **पृच्छामि**=पूछता हूँ **यत्र**=जहाँ कि **भुवनस्य नाभिः**=सारे ब्रह्माण्ड की नाभि है, केन्द्र है, बन्धन-स्थान है। क्या द्युलोक ही वह नाभि है, सारा कार्यकारणभाव क्या द्युलोक में ही विश्रान्त है? ३. **त्वा**=तुझसे **पृच्छामि**=पूछता हूँ कि **वृष्णः**=तेजस्वी **अश्वस्य**=निरन्तर मार्ग को व्याप्त करनेवाले पुरुष की **रेतः**=शक्ति किसमें है? ४. मैं **पृच्छामि**=तुझसे पूछता हूँ **वाचः**=वाणी के **परमं व्योम**=परम आकाश को।

भावार्थ—मन्त्र में चार प्रश्न पूछे हैं, अगले मन्त्र में उनका उत्तर देखिए—

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

चार उत्तर

इ॒यं वेदिः॒ परो॒ अन्तः॑ पृथि॒व्या अ॒यं य॒ज्ञो भुव॑नस्य॒ नाभिः॑।
अ॒यं सोमो॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतो॑ ब्र॒ह्मायं वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म॥ ३५॥

१. गतमन्त्र के पहले प्रश्न का उत्तर है—**इयं वेदिः**=यह वेदि ही—जिस वेदि (कर्म-स्थली) पर बैठे हुए हम विचार कर रहे हैं, इस **पृथिव्या**=भूमि का **परः अन्तः**=अन्तिम सिरा है। प्रत्येक वर्तुल वस्तु जहाँ से आरम्भ होती है, वहाँ ही उसकी समाप्ति भी होती है। इस प्रकार बड़े सरल शब्दों में पृथिवी की वर्तुलता का संकेत हुआ है, परन्तु वास्तविक उत्तर तो यह है कि यह वेदि ही इस पृथिवी का अन्तिम उद्देश्य है। हमें इस भूमि को यज्ञवेदि बनाने का प्रयत्न

करना चाहिए, यही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। वेद में पृथिवी को 'देवयजनि' शब्द से सम्बोधित किया ही गया हैं। यह देवों के यज्ञ करने का स्थान है। क्या हम देव न बनेंगे? २. दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**=यह यज्ञ सारे ब्रह्माण्ड की नाभि है। यज्ञ के कारण ही ब्रह्माण्ड नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता। माता में यज्ञ की भावना न होती तो किसी सन्तान का पालन न होता। लोगों में यज्ञ की वृत्ति न होती तो कोई भी सामाजिक संस्था न चलती। कोई भी राष्ट्र न पनपता। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। ३. तीसरे प्रश्न का उत्तर है—**अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः**=यह सोम (Semen) वीर्य ही तेजस्वी, अनथक पुरुष की शक्ति है। यही वस्तुतः उसे तेजस्वी व अनथक बना रही है। इसके न रहने पर निस्तेज हो पुरुष थक जाता है। मनुष्य को चाहिए कि इस पृथिवी को यज्ञवेदि समझे, इसे भोगस्थान न बना दे और भोगों का शिकार बनकर कहीं अपनी शक्ति को समाप्त न कर ले। ४. चौथे प्रश्न का उत्तर इस रूप में है—**ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम**=यह ब्रह्म ही वाणी का परम आकाश है। शब्द आकाश का गुण है, परन्तु आकाश के आकाशत्व का कारण भी परमेश्वर है। प्रभु आकाश का भी आकाश है—परम आकाश है। हम सबका धारण प्रभु से होता है। इस प्रकार सोचनेवाला व्यक्ति बद्धावस्था से ऊपर उठकर मुक्तावस्था में पहुँचता है।

भावार्थ—आध्यात्मिक प्रश्नों के उठाने से प्रभु का ज्ञान होता है और मनुष्य बद्धावस्था से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सात अर्धगर्भ और उनका अधिष्ठाता विष्णु

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ ३६॥

१. **सप्तार्धगर्भा**=महत्तत्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात ही **भुवनस्य**=सारे ब्रह्माण्ड की **रेतः**=शक्तियाँ हैं व (रीङ् गतौ) उत्पत्ति के स्थान हैं। २. ये सात नाना प्रकार से संसार का **विधर्मणि**=धारण करने में **तिष्ठन्ति**=लगे हैं, परन्तु **विष्णोः प्रदिशा**=उस परमेश्वर के शासन से ही ये सब कार्य चल रहे हैं। ३. जो **विपश्चितः**=विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले होते हैं **ते**-वे **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा और **ते**=वे **मनसा**=मनन के द्वारा **परिभुवः**=उन पदार्थों का चारों ओर से (परि) विचार करनेवाले (भुव्=अवकल्कन, चिन्तन), सब दृष्टियों से सोचनेवाले **विश्वतः**=सब ओर से **परि भवन्ति**=इन्द्रियों का परिभव करते हैं। जिधर-जिधर से भी मन बाहर जाने का यत्न करता है, उधर-उधर से ही उसे अपने वश में करके अन्दर स्थिर करते हैं।

भावार्थ—केवल सप्त-अर्ध गर्भों की शक्ति को देखनेवाले, परमेश्वर को भूलकर, भोगवाद में फँस जाते हैं। ज्ञान के अधिष्ठाता विष्णु के देखने पर इन्द्रिय-संयम द्वारा भोगवाद से ऊपर उठकर मोक्ष की ओर चलते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मन से बँधा हुआ

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ ३७॥

१. **यदि वा इदं अस्मि**='यह हूँ या यह हूँ' इस प्रकार ठीक-ठीक अपने रूप को **न**

विजानामि=मैं नहीं जानता। २. न जानने का कारण यह है कि मैं **निण्यः**=अन्तर्हित हूँ, ढका हुआ-सा हूँ। ढके हुए होने का कारण यह है कि **मनसा**=मन से **सन्नद्धः**=सम्बद्ध होकर **चरामि**=मैं यहाँ संसार में विचर रहा हूँ। मन ने मुझे बुरी तरह बाँधा हुआ है। ३. परन्तु **यदा**=जब कभी प्रभुकृपा से सत्सङ्ग आदि के क्रम से **मा**=मुझे **ऋतस्य**=सब सत्य वाणियों का प्रकाश करनेवाली **प्रथमजा**=सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई वेदवाणी **आगन्**=प्राप्त होती है तो उस समय **आत् इत्**=उसके बाद अविलम्ब ही **अस्याः वाचः**=इस वेदवाणी से मैं **भागम्**=भजनीय, सेवनीय आत्मस्वरूप को **अश्नुवे**=प्राप्त कर लेता हूँ, जान लेता हूँ।

भावार्थ—विषयों में फँसा होने के कारण मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ। प्रभुकृपा से वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करके मैं व्यसनों से बचकर आत्मतत्त्व का दर्शन करता हूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अक्षर पुरुष का ज्ञान कठिन है

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ ३८॥

१. जीव कर्मानुसार **अपाङ्**=कभी स्थावर व पक्षी-मृगादि की निचली योनियों में **एति**=जाता है और कभी **प्राङ्**=ऋषि-मुनि आदि की उत्कृष्ट योनियों को प्राप्त होता है। कर्मानुसार ऊपर व नीचे की योनियों में आना-जाना लगा ही रहता है। जिस समय यह जीव शरीर को छोड़कर जाता है उस समय **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **गृभीतः**=युक्त हुआ-हुआ जाया करता है। २. **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा जीव कर्मानुसार जब किसी शरीर में प्रवेश करता है तो **मर्त्येन**=मरणधर्मा शरीर के साथ यह भी **सयोनिः**=समान जन्मवाला होता है। 'जीव उत्पन्न हुआ' इस वाक्य का प्रयोग इसलिए होता है कि यह अक्षर, क्षर के साथ संयुक्त होता है। ३. **ता**=ये दोनों—क्षर=शरीर और अक्षर=आत्मा **शश्वन्ता**=सनातनकाल से मिलते चले आ रहे हैं। यह क्षर और अक्षर का मेल इस पृथिवी पर ही होता है, ऐसी बात भी नहीं, **विषूचीना**=ब्रह्माण्ड में चारों ओर—भिन्न-भिन्न लोकों में ये जानेवाले होते हैं। इतना ही नहीं, ये **वियन्ता**=विरुद्ध-विरुद्ध स्थितियों में जानेवाले होते हैं। ४. परन्तु क्या ही आश्चर्य का विषय है कि प्रत्येक व्यक्ति **अन्यम्**=इस शरीर को तो **निचिक्युः**=जानते हैं, परन्तु **अन्यम्**=आत्मतत्त्व को **न**=नहीं **निचिक्युः**=जानते।

भावार्थ—मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार उच्च और निम्न भिन्न-भिन्न योनियों और लोकों में जन्म लेता है। यह आश्चर्य है कि वह शरीर को जानता है, परन्तु आत्मतत्त्व की ओर उसका ध्यान ही नहीं है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु के ज्ञान से पारस्परिक प्रेम

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ३९॥

१. **ऋचः**=ऋचाएँ—गुणवर्णनात्मक सभी मन्त्र **अक्षरे**=अविनाशी प्रभु का वर्णन कर रहे हैं जो कि **परमे**=सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रकृति 'अपरा' है, जीव 'पर' है और प्रभु 'परम' हैं। ये ऋचाएँ उस प्रभु का वर्णन करती हैं जो कि **व्योमन्**=(वि ओम् अन्) जिनके एक कन्धे पर प्रकृति है और दूसरे पर जीव। (वी=प्रकृति 'गति-प्रजनन-कान्ति-असन व खादन' का यही तो आश्रय

है, अन्-प्राणित होनेवाला जीव)। ये ऋचाएँ उस प्रभु में स्थित हैं **यस्मिन्**-जिसमें कि **विश्वे देवाः**-सब देव **अधिनिषेदुः**=अधीन होकर निषण्ण—स्थित हो रहे हैं। २. **यः**-जो **तत् न वेद**-उस प्रभु को नहीं जानता **ऋचा**-वह ऋचाओं से **किं करिष्यति**=क्या लाभ प्राप्त करेगा? **ये** जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस व्यापक प्रभु को जानते हैं **ते इमी**=वे ये लोग **समासते**=इस संसार में सम्यक् आसीन होते हैं, वे परस्पर प्रेम से उठते-बैठते हैं।

भावार्थ—सब ऋचाओं का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है जोकि अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधार है। उसी प्रभु में सब देव निषण्ण हैं। प्रभु को नहीं जाना तो ऋचाओं का कुछ लाभ नहीं 'आचारहीनं न पुनन्तु वेदाः'। प्रभु को जाननेवाले परस्पर प्रेम से व्यवहार करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

हमें भगवान् बनानेवाली 'गौ'

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ ४०॥

१. मिलकर उठने-बैठने के लिए सात्त्विक बुद्धि आवश्यक है। सात्त्विक बुद्धि के लिए गोदुग्ध का सेवन आवश्यक है, अतः गौ का उल्लेख इस मन्त्र में हुआ है—**सूयवसात्**=(सु+यवस्+आत्) उत्तम तृणादि खानेवाली **अघ्न्ये**=हे अहन्तव्य गौ! तू **हि**=निश्चय से **भगवती**-ऐश्वर्यवाली **भूयाः**=हो **अथ उ**=और **वयम्**=हम भी **भगवन्तः**=उत्तम ऐश्वर्यवाले **स्याम**=हों। २. तू **विश्वदानीम्**=सदा **तृणम्**-तृण **अद्धि**=खा तथा **आचरन्ति**=चारों ओर भिन्न-भिन्न पशुचर स्थानों में चरती हुई **शुद्धम्**-शुद्ध **उदकम्**=पानी **पिब** पी। ३. गोदुग्ध हमारे लिए अधिक से-अधिक उपयोगी हो इसके लिए आवश्यक है कि (क) गौ को जो चरी दी जाए वह उत्तम हो, (ख) वह शुद्ध जल पिए, (ग) वह एक जगह बँधी न रहे, चरने के लिए गोचरभूमियों में जाए।

भावार्थ—उत्तम तृण खानेवाली और उत्तम जल पीनेवाली गौ के दुग्ध का सेवन हमें भगवान्—वीर्य, ज्ञान और शोभा-सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु का अनेक रूपों में वर्णन

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥ ४१॥

१. **सलिलानि**-सत्—परमात्मा में लीन विविध ज्ञानों को हममें **तक्षती**=बनाती हुई **गौरीः**=वेदमाता—वेदवाणी **मिमाय**=शब्द करती है। ज्ञान यहाँ सलिल शब्द से कहा गया है, क्योंकि सारे ज्ञान का अधिष्ठान अन्त में परमात्मा में ही होता है। २. यह वेदवाणी **परमे**=सर्वोत्कृष्ट **व्योमन्**=प्रकृति व जीवात्मा के आधारभूत परमात्मा का वर्णन करती है। उस वर्णन को करती हुई कभी **एकपदी**=एक पदवाली होती है, अर्थात् अद्वितीय परमात्मा का ही वर्णन करती है। कभी यह वेदवाणी **द्विपदी**-परमात्मा और आत्मा का साथ-साथ ज्ञान देती है। कभी **सा**=यह वेदवाणी **चतुष्पदी**=चार रूपों में आत्मा का चित्रण करती है। फिर यह वेदवाणी **अष्टापदी**=पञ्चभूतों, मन, बुद्धि और अहंकार इन अष्टमूर्तियों का ज्ञान देती है। कभी हम इस वेदवाणी को **नवपदी**=नौ द्वारों का ज्ञान देती हुई पाते हैं। ३. इस प्रकार वेदवाणी एकपदी आदि रूपों में **बभूवुषी**=हुई-हुई हमारे सामने उपस्थित होती है। वास्तविकता तो यह है कि यह **सहस्राक्षरा**=सहस्रों रूप में उस प्रभु का वर्णन करती है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें जिससे प्रभु के विविध रूपों को जानकर जीवन को ऊँचा उठा सकें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—वाक्, आपः। **छन्दः**—भुरिग् बृहती। **स्वरः**—गान्धारः।

अपरा विद्या व परा विद्या

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्त्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥ ४२ ॥

१. **तस्याः**=गतमन्त्र में वर्णित उस वेदवाणी से **समुद्राः**=ज्ञान के सब समुद्र **अधिविक्षरन्ति**=इस पृथिवी पर विविध रूपों में बहते हैं। यह वेदवाणी ही सब सत्य-विद्याओं का आदिस्रोत है। ऋग्वेद का दूसरा नाम विज्ञानवेद है, **तेन**=उस विज्ञान से **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाएँ **जीवन्ति**=जीती हैं। चारों दिशाओं में रहनेवाले प्राणियों का जीवन विज्ञान पर ही निर्भर है। २. **ततः**=इस सृष्टि-विद्या=अपराविद्या से **अक्षरम्**=अविनाशी प्रभु का अमृतज्ञान **क्षरति**=टपकता है। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपनी रचना में उस प्रभु की महिमा को दृष्टिगोचर कराता है। अपने शरीर की बनावट को देखकर किसका सिर झूम नहीं जाता! प्रभु की विचित्र कारीगरी को देखकर प्रभु-भक्त कह उठता है कि **तत्**=पराविद्या से ज्ञात उस प्रभु को ही आश्रय करके **विश्वम्**=यह सारा संसार **उपजीवति**=जी रहा है। प्रभु ने ही देवों में उस-उस शक्ति को रक्खा है। पृथिवी में उत्पादक शक्ति, सूर्य में बादलों को जन्म देने की शक्ति उसी की दी हुई है। इस प्रकार सोचने पर मनुष्य प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है, उसमें विनीतता आती है।

भावार्थ—अपरा और परा विद्या दोनों ही वेदवाणी से उत्पन्न होती हैं। अपरा विद्या मृत्यु से बचाती है और पराविद्या हमें विनीत बनाकर मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—शकधूमः, सोमः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धूएँ से अग्नि का ज्ञान

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ ४३ ॥

१. **शकमयम्**=(शकृन्मयं शुष्कगोमयसम्भूतम्) उपलों से उठे हुए **धूमम्**=धूएँ को **आरात्**=(नाति दूरे) कुछ ही दूर पर **अपश्यम्**=मैंने देखा है और **एना**=इसे **विषूवता**=व्याप्तिवाले, चारों ओर फैले हुए **अवरेण**=समीप ही विद्यमान धूएँ से **परः**=(परस्तात् तत्कारणभूतमग्निम्) दूर आँखों से ओझल अग्नि को मैंने जाना है। संसार में प्राकृतिक पदार्थ हमारी आँखों के सामने हैं। (अपराविद्या) विज्ञान के अध्ययन से हम उन पदार्थों की महिमा को स्पष्ट देखते हैं। यह रचना रचयिता के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न कर देती है। जैसे धूएँ से अग्नि का ज्ञान होता है उसी प्रकार रचना से रचयिता का ज्ञान होता है। २. प्रभु का दर्शन परिपक्व बुद्धिवाला ही कर पाता है। प्रभु इस महान् ब्रह्माण्ड के शकट के खेंचनेवाले बड़े 'अनड्वान्' हैं, जीव छोटी सी गृहस्थ की गाड़ी को खींचने के कारण छोटा 'उक्षा' है। इस **पृश्निं उक्षाणम्**=छोटे बैल को **वीराः**=(व्याप्तविद्याः) ज्ञानशूर आचार्य **अपचन्त**=ज्ञान के द्वारा परिपक्व बुद्धिवाला बनाते हैं। ३. इस छोटे उक्षा का परिपाक ही—अबोध बालक को सुबोध बनाना ही **प्रथमानि धर्माणि**=मुख्य कर्त्तव्य **आसन्**=थे। वस्तुतः माता-पिता व आचार्य का सबसे महान् कर्त्तव्य यही है कि वे अपने बालकों को विज्ञान की शिक्षा से सुशिक्षित करें।

भावार्थ—हम कार्य से कारण को खोजें, अपराविद्या से पराविद्या की ओर चलें, परिपक्व बुद्धि होकर प्रभु के दर्शन करने में समर्थ बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः सूर्यो वायुश्च। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तीन केशियों का ज्ञान

त्रयः के॒शिन॑ ऋतु॒था वि च॑क्षते संवत्स॒रे व॑पत॒ एक॑ एषाम्।
विश्व॒मेको॑ अ॒भि च॑ष्टे शची॑भि॒र्ध्राजि॒रेक॑स्य ददृशे॒ न रू॒पम्॥ ४४॥

१. **त्रयः**=तीन **केशिनः**=(काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा) प्रकाशमय पदार्थ हैं। प्रकृति हिरण्यमय—चमकती है। आत्मा जब तक है शरीर को चमकाये रखता है। प्रभु तो सहस्रों सूर्यों के समान चमकीले हैं ही। ज्ञानी लोग 'छोटे उक्षाओं' को **ऋतुथा**=(ऋत=light, splendour) प्रकाश के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना इन पदार्थों का ज्ञान सम्भव है, उतना-उतना **विचक्षते**-बतलाते हैं। ये ज्ञानशूर अपने शिष्यों को ज्ञान देकर परिपक्व करते हैं। २. **एषाम् एकः**-इन तीनों में से एक, अर्थात् प्रकृति **संवत्सरे**=उचित काल में **वपते**=बीजों का सन्तान करती है, एक बीज को अनेक बीजों में करके उनका फैलाव करती है (वप्=बीज का 'सन्तान'—फैलाव)। ३. परन्तु यह फैलाव प्रभु की अध्यक्षता में हो रहा है। **एकः**=अद्वितीय प्रभु **शचीभिः**=अपनी विविध शक्तियों से **विश्वम्**=इस सारे ब्रह्माण्ड को **अभिचष्टे**-देख रहा है। प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति के फैलाव में गलती नहीं होती। ४. **एकस्य**-एक जीव की **ध्राजिः**=दौड़=चहल-पहल **ददृशे**=दिखती है। यह शरीर में रहता हुआ इधर-उधर भागता हुआ नज़र आता है, परन्तु **रूपं न**=इसका रूप हमारी आँखों का विषय नहीं बनता।

भावार्थ—वीर-ज्ञानी लोग त्रैत—ईश्वर, जीव प्रकृति का ज्ञान देकर छोटे उक्षा का परिपाक करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—वाक्। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

केवल चतुर्थांश

च॒त्वारि॒ वाक्परि॑मिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्राह्म॒णा ये म॑नी॒षिणः॑।
गुहा॒ त्रीणि॒ निहि॑ता॒ नेङ्ग॑यन्ति तु॒रीयं॑ वा॒चो म॑नु॒ष्या॑ वदन्ति॥ ४५॥

१. **वाक्**=(वाचः) सम्पूर्ण वाणी के **पदानि**=प्रतिपाद्य विषय (पद गतौ) **चत्वारि**=चार की संख्या से **परिमिता**-मपे हुए हैं। ऋग्वेद का विषय प्रकृति-विज्ञान है। यजुर्वेद का विषय कर्म है। साम उपासना का वेद है तो अथर्व आरोग्यशास्त्र, युद्ध व राजनीतिशास्त्र है। **तानि**=इन सभी को **ये**=जो **ब्राह्मणाः**=ब्रह्मज्ञान की रुचिवाले और **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले व्यक्ति ही **विदुः**=जानते हैं। २. ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की ओर ब्राह्मणों और मनीषियों का ही ध्यान खिंचता है। सामान्य मनुष्यों में तो **गुहा**-हृदयरूप गुफा में **निहिता**=रखे हुए **त्रीणि**=ये ऋग्यजुः और सामरूप मन्त्र **न इङ्गयन्ति**=नाममात्र भी गतिवाले नहीं होते। ये बीज के रूप में ही वहाँ पड़े रहते हैं, इनका किञ्चित् मात्र भी विकास नहीं होता। **मनुष्याः**=सांसारिक मनुष्य तो **वाचः**=वाणी के **तुरीयम्**=चतुर्थांश को ही **वदन्ति**-उच्चारित करते हैं। साधारण मनुष्यों का झुकाव इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति की ओर ही होता है। ये ज्ञान, कर्म, उपासना के बीजों को विकसित नहीं कर पाते। उनके पल्ले वाणी का चतुर्थांश ही आता है।

भावार्थ—वाणी चार भागों में विभक्त है। उनमें से साधारण मनुष्य के पल्ले में वाणी का चौथा भाग ही आता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आत्मबोध

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑द॒न्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥ ४६॥

१. जिस सत्ता की ओर साधारण लोगों का ध्यान नहीं है, उस सत्ता को ही **विप्राः**=ज्ञानी लोग, जो अपने को उत्तम भावनाओं से भरना चाहते हैं (वि+प्रा=भरना) **इन्द्रम्**=सर्वैश्वर्यशाली, **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहमय, **वरुणम्**=श्रेष्ठ, **अग्निम्**=सबसे अग्रस्थान में स्थित (अग्रणी) **आहुः**=कहते हैं। **अथ उ**=और **सः**=वह सत्ता ही **दिव्यः**=(द्युषु सूक्ष्मेषु पदार्थेषु भवः) सब सूक्ष्म पदार्थों में होनेवाली है, **सुपर्णः**=पालन आदि उत्तम कर्मों को करनेवाली है और **गरुत्मान्**=ब्रह्माण्ड-शकट के महान् भार को उठानेवाली है। **एकं सत्**=उस अद्वितीय सत्ता को ये ज्ञानी **बहुधा**=भिन्न-भिन्न नामों से **वदन्ति**=कहते हैं। **अग्निम्**=वह आगे ले-चलनेवाली सत्ता है, **यमम्**=सबका नियमन करनेवाली है और उसे **मातरिश्वानम्**=(मातरि अन्तरिक्षे शयति वर्धते) अन्तरिक्ष में वर्धमान, सारे आकाश में व्याप्त **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—परमात्मा एक ही है, परन्तु गुण-कर्म-स्वभावों के अनुसार उस अद्वितीय सत्ता के अनेक नाम हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्वर्ग में कौन जाते हैं?

कृ॒ष्णं नि॒यानं॒ हर॑यः सुप॒र्णा अ॒पो वसा॑ना॒ दिव॒मुत्प॑तन्ति।
त आव॑वृत्र॒न्त्सद॑नादृ॒तस्यादिद् घृ॒तेन॑ पृथि॒वी व्यु॑द्यते॥ ४७॥

१. **दिवम्**-वे स्वर्ग को **उत्पतन्ति**=जाते हैं। कौन? **अपो वसानः**=कर्मों को धारण करनेवाले। जो व्यक्ति राग-द्वेष छोड़कर अपने नियत कर्मों को करते हैं वे सात्त्विक कर्ता स्वर्ग को जाते हैं। २. **सुपर्णाः**=उत्तम ढंग से अपना पालन और पूरण करनेवाले लोग स्वर्गलाभ करते हैं। ३. इसी उद्देश्य से ये लोग **हरयः**=इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाले होते हैं। विषयों की ओर गई हुई इन्द्रियों को ये वापस लाते हैं। कहाँ?—**नियानम्**=बाड़े में। जैसे गौओं का स्वामी गायों को बाड़े में बन्द कर देता है इसी प्रकार यह व्यक्ति भी अपनी इन्द्रियरूप गौओं को विषयरूपी खेतों में चरने से रोकने के लिए उन्हें बाड़े में बन्द कर देता है। किस बाड़े में?—**कृष्णम्**=यह बाड़ा कृष्ण है। 'कृष्' शब्द कृषि व उत्पादक श्रम का वाचक है, 'ण' शब्द ज्ञान का। एवं यह बाड़ा उत्पादक श्रम और ज्ञान से बना हुआ है। कर्मेन्द्रियों को वह उत्पादक श्रम में लगाये रखता है और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में। ४. यह व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को असत्य की ओर नहीं जाने देता, परन्तु जब कभी **ते**=ये सत्यमार्ग पर चलनेवाले लोग **ऋतस्य सदनात्**=सत्य के इस निवासस्थान से **आववृत्रन्**=लौट आते हैं, अर्थात् फिसल जाते हैं तो **आत् इत्**=शीघ्र ही **पृथिवी**=यह लोक **घृतेन**=स्खलनों से (घृ=क्षरण—टपकना) **व्युद्यते**=गीला हो जाता है, अर्थात् उनका जीवन कितनी ही गलतियों से परिपूर्ण हो जाता है। एक बार गिरे तो गिरते ही चले जाते हैं, जीवन का पतन हो जाता है।

भावार्थ—कर्मरत, अपना पालन व पूरण करनेवाले, अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाले स्वर्ग में जाते हैं। सत्यमार्ग से फिसलने पर पतित हो जाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—संवत्सरात्मा कालः। छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कालचक्र का उपदेश

द्वा॒द॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।
तस्मि॒न्त्सा॒कं त्रि॑श॒ता न श॒ङ्क्वो॑ऽर्पि॒ताः ष॒ष्टिर्न च॑ला॒च॒लासः॑॥ ४८॥

१. **द्वादश प्रधयः**-बारह प्रधियों-(fellys)-वाला **एकं चक्रम्**-एक चक्र है, **त्रीणि नभ्यानि**-तीन उसकी नाभियाँ हैं। २. **तस्मिन्**-उस चक्र में **साकम्**-साथ साथ **त्रिशता न षष्टिः**-तीन सौ और साठ (न=च) **शंकवः न**=अरे से **अर्पिताः**-अर्पित हैं अरे जो कि **चलाचलासः**=अत्यन्त चलायमान हैं। ३. **तत्**=इस कालचक्र को **क उ चिकेत्**-कौन समझता है? ४. सामान्यतः चक्र में एक प्रधि होती है, एक नाभि होती है। यहाँ बारह प्रधियाँ और तीन नाभियाँ हैं। इसके अरे भी ३६० हैं और वे निरन्तर चल रहे हैं। वस्तुतः ये ३६० अरे वर्ष के ३६० दिन हैं। बारह प्रधियाँ बारह मास हैं और तीन नाभियाँ तीन ऋतुएँ हैं। यह कालचक्र निरन्तर गतिमान् है, हम भी निरन्तर आगे बढ़ते रहें। यह चक्र है और चक्र की नेमि ऊपर-नीचे होती रहती है, इस बात का ध्यान करते हुए सुख-दुःख में सम रहना चाहिए। तीन ऋतुएँ गर्मी, सर्दी और वर्षा हैं। हम सदा उत्साहित, शान्त और मधुरभाषी हों। इस कालचक्र के रहस्य को विरले ही समझ पाते हैं।

भावार्थ—निरन्तर गतिशील कालचक्र हमें भी निरन्तर आगे बढ़ने की और सुख-दुःख में सम होने की शिक्षा दे रहा है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सरस्वतीः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सरस्वती की उपासना से लाभ

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒यो यो म॑यो॒भूर्येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि।
यो र॑त्न॒धा व॑सु॒विद्यः सु॒दत्रः॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः॥ ४९॥

१. **सरस्वति**-हे ज्ञान की अधिष्ठातृ देवि! **इह**=इस मानव-जीवन में **तम्**=उस स्तन को **धातवे कः**=हमारे पालन के लिए कर **यः**=जो **ते स्तनः**=तेरा ज्ञान पयोधर **शशयः**=(तेरे) सोये हुए जैसी स्थिति में भी हमारे लिए है। 'शश प्लुतगतौ' जो मनुष्य को प्लुतगतिवाला, अत्यन्त क्रियाशील बनाता है। २. **मयोभूः**=यह स्तन व स्तनजन्य ज्ञान-दुग्ध **मयः**=सुख का **भूः**=पैदा करनेवाला है। यह ज्ञान आरोग्यसुख को देनेवाला है। ३. **येन**=जिस स्तन से **विश्वा वार्याणि**=सब वरणीय भावनाओं का तू **पुष्यसि**=मानव-मन में पोषण करती है। ज्ञानी पुरुष के मन में दिव्य भावनाओं का विकास होता है, राग-द्वेष उसे तुच्छ प्रतीत होते हैं। ४. **यः**=जो स्तन **रत्नधा**-रमणीय धनों का धारण करनेवाला है। ज्ञान से मनुष्य उत्तम धनों को प्राप्त करता है, ५. **वसुवित्**=ज्ञान हमें वासक स्थाई अथवा रक्षक धन प्राप्त कराता है और उस धन को प्राप्त कराता है, ६. **यः**=जो **सुदत्रः**=उत्तम दान के द्वारा हमारा त्राण करनेवाला है। ज्ञानी मनुष्य ऐहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ दान के द्वारा आमुष्मिक (पारलौकिक) कल्याण का भी संचय कर लेता है।

भावार्थ—ज्ञान के छह लाभ हैं। यथा—(१) ज्ञानी अत्यन्त क्रियाशील बनता है, (२) ज्ञान-आरोग्य-सुख को देनेवाला है, (३) ज्ञानी दिव्य भावना-युक्त होकर राग-द्वेष रहित हो जाता है, (४) ज्ञान से रमणीय—उत्तम धन प्राप्त होते हैं, (५) ज्ञान से हमें आरक्षक-धन प्राप्त होता है और (६) ज्ञान द्वारा प्राप्त धन सर्व कल्याणकारी होता है। हमें ज्ञान प्राप्त करके जीवन में आगे बढ़ना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—साध्याः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वे मुख्य धर्म

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ५०॥

१. **देवाः**=देव **यज्ञेन**=यज्ञ से **यज्ञम् अयजन्त**=यज्ञ का **यजन**=पूजन करते हैं, यज्ञ से विष्णु की पूजा करते हैं। परमात्मा सर्वव्यापक और सबका हित करते हैं, इसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति को व्यापक बनाकर हम भी सर्वव्यापक के उपासक बन पाते हैं। विष्णु बनने के लिए मनुष्य यज्ञशील बने। यज्ञ की भावना है—देवपूजा=बड़ों का आदर, संगतिकरण=अपने बराबरवालों के साथ मिलकर चलना, दान=अपने से छोटों को सदा कुछ देना। २. यज्ञ में ये ही तीन भावनाएँ हैं। देवों के कर्म इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत होते हैं। **तानि धर्माणि**=ये तीन ही धर्म **प्रथमानि आसन्**=मुख्य व व्यापक धर्म थे। **ते**=इन तीन धर्मों का पालन करनेवाले वे देव **महिमानः**=महिमावाले होते हुए, अर्थात् उत्तम यश को प्राप्त करते हुए **ह**=निश्चय से **नाकं सचन्त**=स्वर्ग का सेवन करते हैं, अर्थात् सुखमय स्थिति में विराजते हैं। उनका यह जीवन यशस्वी व सुखी होता है। ३. इस जीवन की समाप्ति पर वे उन लोकों को प्राप्त होते हैं **यत्र**=जहाँ कि **पूर्वे**=अपने अन्दर यज्ञ की भावना का पूरण करनेवाले **साध्याः**=साधनामय जीवनवाले **देवाः**=ज्ञानी लोग **सन्ति**=होते हैं, अर्थात् इन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। यज्ञ की भावना पूर्ण होने पर तो मोक्ष मिलता ही है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवन के तीन लाभ हैं—(क) यशःप्राप्ति, (ख) सुखमय स्थिति और (ग) उत्तम लोकों की प्राप्ति। इन लाभों की प्राप्ति के लिए हमें अपना जीवन उत्तम बनाना ही चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यः पर्जन्योऽअग्नयो वा। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

देवों के साथ पगड़ी का विनिमय

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ ५१॥

१. **समानम्**=जीवन देनेवाला व सदा सम मात्रा में रहनेवाला **एतत् उदकम्**=यह जल सूर्य-किरणों द्वारा ग्रीष्मकाल में **उत् च एति**=वाष्पीभूत होकर ऊपर उठता है **च**=और फिर ऊपर के ठण्डे वायुमण्डल में घनीभूत होकर **अहभिः**=वर्षाकालीन दिनों में **अव एति**=नीचे बरसता है। २. इस वर्षा की घटना को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि **पर्जन्याः**=परा तृप्ति को पैदा करनेवाले ये जल **भूमिं जिन्वन्ति**=इस पृथिवी को प्रीणित करते हैं। वर्षा क्या होती है मानो प्राण ही बरसता है। दूसरी ओर **अग्नयः**=अग्नियों में डाले जानेवाले हविर्द्रव्य **दिवम्**=द्युलोक को **जिन्वन्ति**=प्रीणित करते हैं। हविःद्रव्य आदित्यलोक तक पहुँचते हैं। इनसे मिश्रित जल अत्यन्त गुणकारी होता है। यज्ञ करना व वर्षा का होना। यह मनुष्यों व देवों का पगड़ी बदलना है।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों। बस हम देवों के मित्र बन जाते हैं, वे देव हमें वर्षा-जल से तृप्त कर देते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सरस्वान् सूर्यो वा। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आचार्य के गुण

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि॥५२॥

सरस्वन्तम्=ज्ञान के समुद्र आचार्य को **अवसे**=रक्षा के लिए **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है, उसे पापों से बचाकर अन्त में मोक्ष प्राप्त कराता है। प्राचीनकाल में विद्यार्थी आचार्य को पुकारता था और आचार्य से स्वीकृति मिलने पर उसके सामने उपस्थित होकर श्रद्धा से ज्ञान का श्रवण करता था। इस आचार्य की विशेषताएँ निम्न हैं—१. **दिव्यम्**=आचार्य दिव्य हो। वह दिव्य गुणों को अपने में अवतरित करनेवाला हो। २. **सुपर्णम्**-विद्यार्थियों का उत्तम प्रकार से पालन करनेवाला हो। ३. **वायसम्**=(वय् गतौ) आचार्य क्रियाशील होना चाहिए। वह आलसी व प्रमादी न हो। ४. **बृहन्तम्**=आचार्य सदा विशाल हृदय हो। ५. **अपां गर्भः**=(आपः-रेतः) वीर्यशक्ति का ग्रहण करनेवाला, उसे अपने अन्दर ही सुरक्षित रखनेवाला हो। ६. **दर्शतं ओषधीनाम्**=आचार्य ओषधियों में सबसे अधिक सुन्दर है। ओषधि का अर्थ है दोषों को जलानेवाली। जैसे ओषधियाँ स्थूल शरीर के मलों को जला देती हैं, इसी प्रकार आचार्य मानस व बौद्धिक मलों का दहन कर देते हैं। ७. अन्त में आचार्य **अभीपतः**=चारों ओर से आनेवाले जिज्ञासुओं को **वृष्टिभिः**=ज्ञान की वृष्टि से **तर्पयन्तम्**=तृप्त करते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त सात गुणों से अलंकृत आचार्य ही आदर्श युवकों का निर्माण करके राष्ट्र का कल्याण करते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कालचक्र के महत्त्व को समझते हुए योगाभ्यास, आचार्य के सान्निध्य में ज्ञान-प्राप्ति और यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश देता है। अब आगे अगस्त्य का सूक्त आरम्भ होता है। इसके आरम्भ में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य त्रयी का वर्णन है—

त्रयोविंशोऽनुवाकः

[१६५] पञ्चषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विद्यार्थी की कर्त्तव्य त्रयी

कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः।
कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया॥१॥

१. आचार्यकुल में रहते हुए **सवयसः**=समान आयुष्यवाले **सनीळाः**=एक ही आचार्यकुलरूप गृह में रहनेवाले **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले वे विद्यार्थी **कया शुभा**=आनन्द देनेवाली, **समान्या**-(सम् आन) सम्यक् प्राणित करनेवाली ज्ञान की वाणी से **संमिमिक्षुः**=अपने को सिक्त करते हैं (मिह सेचने) और **कया मती**=आनन्द प्राप्त करानेवाली बुद्धि से अपने को युक्त करते हैं। आचार्यकुल में रहते हुए इनका मुख्य कार्य यही होता है कि ये ज्ञान का सम्पादन करें और अपनी बुद्धि का संवर्धन करें। २. **कुतः एतासः**=कहाँ-कहाँ से आये हुए **एते**=ये विद्यार्थी **शुष्मम्**=शत्रुओं का शोषण करनेवाले प्रभु को **अर्चन्ति**-पूजते हैं। **वृषणः**=ये शक्तिशाली **वसूया**=वसुओं की प्राप्ति की कामना से उस प्रभु का अर्चन करते हैं। इन वसुओं के द्वारा ही तो वे अपने जीवन में निवास को सुन्दर बना पाएँगे। ३. मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क)

आचार्यकुल में रहनेवाले विद्यार्थी बहुत भिन्न अवस्था के न हों (सवयसः), (ख) सब समान रूप से आचार्यकुल में निवास करते हों, (ग) वहाँ रहते हुए इन्हें ज्ञान प्राप्त करना है और बुद्धि को सूक्ष्म बनाने का यत्न करना है, (घ) शक्तिशाली प्रभु का अर्चन करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनना है और वसुओं को प्राप्त करके दीर्घ जीवनवाला होना है।

भावार्थ—विद्यार्थी का कर्त्तव्य है—(क) ज्ञान का अर्जन, (ख) बुद्धि की सूक्ष्मता का साधन, और (ग) प्रभुपूजन के द्वारा सशक्त बनना।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रसादसम्पन्न विशाल हृदय

कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त।
श्येनाँइव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम॥ २॥

१. **युवानः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने साथ अच्छाई का मिश्रण करनेवाले व बुराई को अपने से दूर करनेवाले युवक **कस्य**=उस आनन्दमय प्रभु के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों का **जुजुषुः**=सेवन करते हैं और वह **कः**=आनन्दमय प्रभु **मरुतः**=इन प्राणसाधकों को **अध्वरे**=अहिंसात्मक यज्ञरूप कर्मों में **आववर्त**=आवृत्त करता है—प्रभु इन साधकों को विषयों से पराङ्मुख करके यज्ञप्रवण करते हैं। २. प्रभु सदा यह ध्यान करते हैं कि **अन्तरिक्षे**=(अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग में **श्येनान् इव ध्रजतः**=गतिशील बाज़ नामक पक्षियों के समान गति करते हुए इन प्राणसाधकों को **केन**=आनन्दयुक्त—प्रसादयुक्त **महा**=विशाल **मनसा**=मन से **रीरमाम**=नितराम् आनन्दित करें। प्रभुकृपा से उन व्यक्तियों का मन आनन्दित तथा विशाल होता है जो सदा क्रियाशील जीवन बिताते हैं और मध्यमार्ग में चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने स्तोताओं की वृत्तियों को यज्ञिय बनाते हैं, इनके हृदयों को प्रसाद व विशालता प्रदान करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भक्त का उपालम्भ

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **माहिनः सन्**=अत्यन्त महिमावाले होते हुए **कुतः**=क्यों **एकः यासि**=अकेले ही गति कर रहे हो? हमें भी तो अपने पीछे आने दीजिए। और **सत्पते**=हे सज्जनों के रक्षक! **किम्**=क्या **ते**=आपका यह एकाकी विचरण **इत्था**=ठीक है? इस प्रकार आप सज्जनों के रक्षक भी कैसे कहला सकते हैं? सज्जनों से मिलने पर ही तो आप उनका रक्षण करेंगे। **समराणः**=(सम् ऋ) हमसे संगत होते हुए आप **संपृच्छसे**=हमसे इस प्रकार प्रार्थना किये जाते हो कि **हरिवः**=हे उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले—उत्तम इन्द्रियाश्वों को हमारे लिए प्राप्त करानेवाले प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका ज्ञान **अस्मे**=हमारे लिए है **तत्**=उसे **नः**=हमारे लिए **शुभानैः**=शुभ शब्दों से **वोचेः**=प्रतिपादित कीजिए। आपसे इस ज्ञान को प्राप्त करके ही हम अपने कल्याण को सिद्ध कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु की महिमा इसी में है कि वे सज्जनों के रक्षण में प्रवृत्त हैं और जिज्ञासुओं के लिए शुभ ज्ञान प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान, बुद्धि व सोम

ब्रह्मा॑णि मे म॒तयः॒ शं सु॒तासः॒ शुष्म॑ इयर्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ अद्रिः॑।
आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्य॒न्त्युक्थेमा हरी॑ वहत॒स्ता नो॒ अच्छ॑॥ ४॥

१. प्रभु प्राणसाधकों से कहते हैं कि **मे**-मेरे **ब्रह्माणि**-ये वेदरूप ज्ञान, **मतयः**-मुझसे दी गई बुद्धियाँ, **सुतासः**=मेरी व्यवस्था से उत्पन्न किये गये सोमकण—ये सब **शम्**-शान्ति देनेवाले हैं। 'ज्ञान, बुद्धि व शक्ति' मनुष्य के जीवन को सुन्दर बनानेवाले हैं। सोम के रक्षण से **शुष्मः**=शत्रुशोषक बल **इयर्ति**=प्राप्त होता है। **मे**-मेरा यह **अद्रिः**-मेघ **प्रभृतः**=(प्रकृष्टं भृतं येन) प्रकृष्ट भरणवाला है। मेघजल वस्तुतः नीरोगता व दीर्घायुष्य प्राप्त करानेवाला है, मेघजल शरीर में सौम्य शक्ति को उत्पन्न करता है। २. **आशासते**=सब मेरी ही प्रार्थना करते हैं, **उक्था**-सब स्तोत्र **प्रतिहर्यन्ति**=मेरी ही कामना करते हैं—सब स्तोत्र मुझे ही प्राप्त होते हैं। **ता**=वे **इमा**=ये **हरी**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **नः**-हमारी **अच्छ**=ओर ही **वहतः**=प्राप्त कराते हैं। ये इन्द्रियाश्व इसीलिए दिये गये हैं कि इनके द्वारा हम जीवन-यात्रा में उन्नति करते हुए प्रभु को प्राप्त हों।

भावार्थ—'ज्ञान, बुद्धि व सोम' प्रभु द्वारा प्राप्त कराये गये हैं ताकि हम जीवन को शान्त बना सकें और अन्ततः प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इन्द्रियों का निरोध व आत्मशक्ति से अपने को अलंकृत करना

अतो॑ व॒यम॑न्त॒मेभि॑र्युजा॒नाः स्वक्ष॑त्रेभिस्त॒न्व१ः॒ शुम्भ॑मानाः।
म॒हो॑भि॒रेताँ॒ उप॑ युज्महे॒ न्विन्द्र॑ स्व॒धामनु॒ हि नो॑ ब॒भूथ॑॥ ५॥

१. हे प्रभो! **अतः**-इस प्रकार—गत मन्त्र के अनुसार आपसे दिये गये ज्ञान, बुद्धि और बल के द्वारा **वयम्**-हम **अन्तमेभिः**=अन्तिकतम—समीप रहनेवाली—विषयों में न भटकनेवाली—इन्द्रियों से **युजानाः**=युक्त होते हुए तथा **स्वक्षेत्रेभिः**=आत्मिक बलों से **तन्वः**= शरीरों को **शुम्भमानाः**-शोभित करते हुए **महोभिः**-उपासना व पूजा के द्वारा प्राप्त तेजों के द्वारा **एतान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **उपयुज्महे**-समीपता से अपने साथ सङ्गत करते हैं। इनको भटकने न देकर हम अन्दर ही धारण करते हैं। उपनिषत् के शब्दों में 'आवृत्तचक्षु' बनते हैं। २. **नु**-अब—इन्द्रियों को अपने अन्दर धारण करने पर **इन्द्र**=हे परमात्मन्! **स्व-धाम्-अनु**-आत्मतत्त्व के धारण के अनुसार **हि**=निश्चय से आप **नः**=हमारे **बभूथ**=होते हो। जितना-जितना हम आत्मा का धारण करते हैं, उतना-उतना हम प्रभु के होते जाते हैं। प्राकृतिक भोगों की ओर जाना प्रकृति का हो जाना है। इन भोगों से ऊपर उठकर आत्मतत्त्व को अपनाना ही प्रभु का बन जाना है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को अन्दर ही निरुद्ध करें। आत्मशक्तियों से अपने को शोभित करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु अपनी सहायता करनेवालों का रक्षक है

क्व१ स्या वो॑ मरुतः स्व॒धासी॒द्यन्मामेकं॑ स॒मध॑त्ताहि॒हत्ये॑।
अ॒हं ह्यु१ग्रस्त॑वि॒षस्तुवि॑ष्मा॒न्विश्व॑स्य॒ शत्रो॒रन॑मं वध॒स्नैः॥ ६॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर प्रार्थना थी कि 'हमारे आत्मतत्त्व के धारण के अनुसार आप

हमारे होइए।' प्रभु इन प्रार्थना करनेवाले मरुतों से कहते हैं कि हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=आपकी **स्या**=वह **स्व-धा**=आत्मतत्त्व की धारणा **क्व आसीत्**=कहाँ गई? (कहाँ है) **यत्**=जो तुम **मां एकम्**=मुझ अकेले को ही **अहि-हत्ये**=इस वासनारूप वृत्र के मारने में **समधत्त**=स्थापित करते हो। तुम भी तो वासना को जीतने का प्रयत्न करो। हाँ, तुम प्रयत्न करोगे तो मैं तुम्हारा सहायक बनूँगा ही। २. **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **उग्रः**=तेजस्वी व शत्रुभयंकर हूँ, **तविषः**=बलवान् हूँ **तुविष्मान्**=महत्त्व से युक्त हूँ। **विश्वस्य शत्रोः**=सब शत्रुओं का **वधस्नैः**=(वध स्ना=शौचे:) वध द्वारा शोधनों से **अनमम्** (अन्तर्भावितण्यर्थः) वश में करनेवाला हूँ (अनमयम्) मैं तुम्हारे इन वासनारूप शत्रुओं को अवश्य विनष्ट करूँगा, परन्तु तुम्हें भी तो आत्मतत्त्व के धारण का प्रयत्न करना चाहिए। तुम्हारी स्वधा के अनुपात में ही मेरी सहायता तुम्हें प्राप्त होगी।

भावार्थ—वासना-विनाश के लिए प्रयत्न करनेवालों ही को प्रभु का साहाय्य अवश्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'शक्तिप्रदाता' प्रभु

भूरि॑ चक॒र्थ॒ युज्ये॑भिर॒स्मे स॑मा॒नेभि॑र्वृषभ॒ पौंस्ये॑भिः।
भूरी॑णि॒ हि कृ॒णवा॑मा शविष्ठेन्द्र॒ क्रत्वा॑ मरुतो॒ यद्वशा॑म॥ ७॥

१. हे **वृषभ**=शक्तिशालिन्! हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! आपने **युज्येभिः**=हमारे साथ संगत होनेवाले **समानेभिः**=(सम् आनयति) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले **पौंस्येभिः**=बलों से **अस्मे**=हमारे लिए **भूरि चकर्थ**=बहुत-कुछ दिया है। हमें इन बलों को देकर आपने जीवन-यात्रा में सफल होने योग्य बनाया है। २. हे **शविष्ठ**=शक्तिशालिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम इन शक्तियों को प्राप्त करके **हि**=निश्चय से **भूरीणि**=पालन व पोषणात्मक कर्मों को **कृणवाम**=करनेवाले बनें (भूरि=भृ धारणपोषणयोः)। शक्ति का प्रयोग हम सदा पालन व पोषणात्मक कर्मों में करें। ३. हम **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले **यत्**=जो **वशाम**=चाहें (wish) वह **क्रत्वा**=कर्म के द्वारा ही चाहें। हमारी प्रार्थनाएँ पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही हों।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति देते हैं। शक्ति प्राप्त करके हम पालनात्मक कर्मों में व्यापृत हों। हमारी प्रार्थना पुरुषार्थ के साथ हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुगाः, विश्वश्चन्द्राः' आपः

वधीं॑ वृ॒त्रं म॑रुत इन्द्रि॒येण॒ स्वेन॒ भामे॑न तवि॒षो ब॑भू॒वान्।
अ॒हमे॒ता मन॑वे वि॒श्वश्च॑न्द्राः सु॒गा अ॒पश्च॑कर॒ वज्र॑बाहुः॥ ८॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **स्वेन इन्द्रियेण**=(इन्द्रियम्=वीर्यं, बलम्) अपनी शक्ति से **वृत्रं वधीम्**=मैंने वासना को नष्ट किया है। मैं **भामेन**=तेजो दीप्ति से **तविषः**=बलवान् **बभूवान्**=हुआ हूँ। प्रभु महादेव हैं। इन्द्र के रूप में वे वृत्र का विनाश करनेवाले हैं। जीव भी '**इन्द्र**' है। इसे भी वासनारूप वृत्र को नष्ट करके अपने नाम को सार्थक करना है। २. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **वज्रबाहुः**=सदा क्रियाशील हाथोंवाला **एताः**=इन **सुगाः**=उत्तम गति के कारणभूत **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **विश्वश्चन्द्रः**=सब प्रकार से आह्लादजनक **चकर**=करता हूँ। ये रेतःकण 'सुगाः' उत्तम गति का कारण हैं, 'विश्वश्चन्द्राः' आह्लाद को प्राप्त करानेवाले हैं। इनके रक्षण के लिए 'वज्रबाहुः'=क्रियाशील हाथोंवाला होना आवश्यक है। 'मनवे' शब्द यह संकेत कर रहा है कि इन रेतःकणों के महत्त्व

का मनन करनेवाला ही इनका रक्षण करेगा।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा वासना को नष्ट करके हम उत्तम गतिवाले व आनन्दमय शक्तिशाली जीवनवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अनुपम' प्रभु

अनु॑त्तमा ते मघवन्न॒कि॒र्नु न त्वावाँ॑ अस्ति दे॒वता॒ विदा॑नः।
न जाय॑मानो॒ नश॑ते॒ न जा॒तो यानि॑ करि॒ष्या कृ॑णु॒हि प्र॑वृद्ध॥ ९॥

१. हे **मघवन्**-ऐश्वर्यवान् प्रभो! **नु**=निश्चय से **अनुत्तम**=आपसे अप्रेरित **नकिः**=कुछ भी नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में एक-एक कण आपसे ही प्रेरित हो रहा है। चराचर के प्रेरक आप ही हैं। **त्वावान्**=आप जैसा **विदानः**-ज्ञानी, **देवता**=कोई भी देव **न**-नहीं है। प्रभु सर्वज्ञ हैं, अपने ज्ञान से सबको दीप्त कर रहे हैं। २. **प्रवृद्ध**=हे सब गुणों से बढ़े हुए प्रभो! आप **यानि**=जिन **करिष्या**-वृत्रवधादिरूप कर्मों को **आकृणुहि**=सम्यक् करते हैं, उन्हें **न जायमानः**=न तो उत्पन्न होनेवाला और **न जातः**=न उत्पन्न हुआ-हुआ **नशते**=व्याप्त करता है। आपके समान न किसी की शक्ति है, न ज्ञान है, अतः कोई भी आपके कर्मों का व्यापन नहीं कर सकता। आपका सब-कुछ अनुपम है। आपका बनकर मैं भी वृत्रवधादि कार्य करूँ। आपके सहाय से मैं इन वासनाओं का विनाश क्यों न कर पाऊँगा!

भावार्थ—ब्रह्माण्ड में प्रभु से अप्रेरित कुछ भी नहीं। उनके कर्मों का कोई भी व्यापन नहीं कर सकता।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ओज, शत्रुधर्षण व बुद्धि

एक॑स्य चिन्मे वि॒भ्व१॒॑स्त्वोजो॒ यो नु द॑धृ॒ष्वान्कृ॒णवै॑ मनी॒षा।
अ॒हं ह्यु१॒॑ग्रो म॑रुतो॒ विदा॑नो॒ यानि॒ च्यव॒मिन्द्र॒ इदी॑श एषाम्॥ १०॥

१. प्रभु प्राणसाधकों से कहते हैं कि **एकस्य चित् मे**=अद्वितीय जो मैं, उसकी **ओजः**=शक्ति **विभु**=व्यापक **अस्तु**=हो। **दधृष्वान्**=शत्रुधर्षक मैं **नु**=अब **या**=जिन भी कर्मों को **कृणवै**=करता हूँ, उन्हें **मनीषा**=बुद्धिपूर्वक ही करता हूँ। प्रभु की प्रत्येक कृति में बुद्धि प्रतिभासित होती है। वेदों की वाक्य-रचना भी बुद्धिपूर्वक है। कर्मों की पूर्ण सफलता का रहस्य तीन बातों में ही है—(क) ओज, (ख) शत्रुधर्षण, (ग) बुद्धि। जो भी मनुष्य इन तीन बातों को सिद्ध करके कर्म करेगा, वह अवश्य सफल होगा। ३. हे प्राणसाधको! **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **उग्रः**=तेजस्वी हूँ, **विदानः**=ज्ञानी हूँ, **यानि**=जिन भी वसुओं की ओर मैं **च्यवम्**=जाता हूँ **एषाम्**=इन सबका **ईशः**=ईश **इत्**=ही होता हूँ। **इन्द्रः**=मैं ही तो इन्द्र हूँ, परमैश्वर्यशाली हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से 'ओज, शत्रुधर्षण व बुद्धि' को सिद्ध करके हम प्रत्येक कर्म को सलतापूर्वक करनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जितेन्द्रिय, शक्तिसम्पन्न व यज्ञशील

अम॑न्दन्मा मरुत॒ः स्तोमो॒ अत्र॒ यन्मे॑ नरः॒ श्रुत्यं॒ ब्रह्म॑ च॒क्र।
इन्द्रा॑य॒ वृष्णे॒ सुम॑खाय॒ मह्यं॒ सख्ये॒ सखा॑यस्त॒न्वे॑ त॒नूभि॑ः॥ ११॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधको! **अत्र**=इस जीवन में **स्तोमः**=वह स्तुति **मा**=मुझे **अमन्दन्**=हर्षित

करती है, **यत्**=जिस **श्रुत्यं ब्रह्म**=श्रवणयोग्य स्तवन को हे **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगो! आप **मे**=मेरे लिए **चक्र**=करते हो। जो भी प्राणसाधक बनकर उन्नति-पथ पर चलता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, वह प्रभु का प्रिय बनता ही है। २. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले, **वृष्णे**=ऐश्वर्य का वर्षण करनेवाले, **सुमखाय**=उत्तम यज्ञशील **मह्यम्**=मुझ **सख्ये**=सखा के लिए **सखायः**=मित्र बनकर आप लोग **तनूभिः**=शरीरों से **तन्वे**=(तनू विस्तारे) मेरे विस्तार के लिए होओ, अर्थात् तुम्हारे शरीरों से होनेवाली सब क्रियाएँ मेरे गुणों का प्रतिपादन करनेवाली हों। मेरी भाँति ही तुम्हारी क्रियाएँ 'दया, न्याय' आदि गुणों से युक्त हों। मेरी वास्तविक स्तुति तो यही है कि 'तुम मेरे जैसे बनो।' तुम भी इन्द्र, वृषन् व सुमख बनने का यत्न करो।

भावार्थ—हम अपने सनातन सखा प्रभु के समान ही 'इन्द्र, वृषन् व सुमख' बनकर प्रभु का सच्चा स्तवन करें। यही सच्चा प्रभु-स्तवन है कि हम 'जितेन्द्रिय, शक्तिसम्पन्न व यज्ञशील' बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु में प्रीतिवाले

एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम्॥ १२॥

१. **एव**=गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से स्तवन करने पर **इत्**=निश्चय से **एते**=ये **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **मा प्रति रोचमानाः**=मेरे प्रति प्रीति-(रुचि)-वाले होते हुए **अनेद्यः श्रवः**=प्रशस्त ज्ञान को **दधानाः**=धारण करनेवाले और **इषः**=मेरी प्रेरणाओं को **आदधानाः**=सर्वथा धारण करनेवाले बनते हैं। २. **संचक्ष्या**=उन प्रेरणाओं से अपने कर्त्तव्यों को ठीक प्रकार से देखकर ये **मरुत् चन्द्रवर्णाः**-(चदि आह्लादे) आह्लादमय वर्णवाले होते हुए, सदा प्रसन्नवदन रहते हुए **अच्छान्त**=अपने को यश से आच्छादित करते हैं **च**=और **नूनम्**=निश्चय से हे **मरुतः**=मरुतो! तुम इस प्रकार **छदयाथ**=अपने को पापों से अपवारित करते हो, तुमपर पापों का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—हमारी प्रभु में प्रीति हो। हम प्रशस्त ज्ञान को धारण करें, प्रभु-प्रेरणाओं को सुनते हुए अपने कर्त्तव्यों को जानें। सदा प्रसन्नवदन, यशस्वी व पापों से अनाक्रान्त बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तवन व ज्ञान

को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखीँरच्छा सखायः।
मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषां भूत नवेदा म ऋतानाम्॥ १३॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **नु**=निश्चय से **अत्र**=यहाँ **कः**=वह आनन्दमय प्रभु **वः**=तुम्हें **मामहे**=महत्त्व प्राप्त कराता है। तुम संसार में **सखायः**=मित्र बनकर **सखीन् अच्छ**=समान ख्यान व ज्ञानवाले व्यक्तियों के प्रति **प्र यातन**=जानेवाले होओ। परस्पर ज्ञान की चर्चा करते हुए अपने जीवनों को अधिकाधिक पवित्र बनानेवाले बनो। २. **चित्राः**=(चित् र) ज्ञान में गति करनेवाले तुम **मन्मानि**=स्तोत्रों (Hymns) को **अपिवातयन्तः**=प्राप्त करते हुए, अर्थात् स्तुति करते हुए **मे**=मेरे **एषाम्**=इन **ऋतानाम्**=सत्य ज्ञानों के **नवेदाः**=जाननेवाले (ज्ञातारः) **भूत**=होओ। ३. यहाँ मरुतों को प्रभु का उपदेश यह है कि वे परस्पर मिलकर ज्ञान-चर्चा करनेवाले बनें। प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु से दिये गये सत्य ज्ञानों को पूर्णतया जाननेवाले हों। यहाँ 'भूत नवेदाः' के स्थान में 'भूतन वेदाः' यह पदपाठ अधिक संगत हो सकता है। प्रस्तुत पदपाठ में भी 'नवेदाः' का अर्थ 'न न जाननेवाले' अर्थात् पूर्णतया जाननेवाले ही करना उचित है। '**न**

अवेदाः=नवेदाः' में पररूप समझना चाहिए।

भावार्थ—प्राणसाधना करते हुए हम खूब प्रभुस्तवन करें और सदा ज्ञान में ही विचरण करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'बुद्धिप्रदाता' प्रभु

आ यद्दुवस्याद्दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा।
ओ षु वर्त मरुतो विप्रमच्छेमा ब्रह्माणि जरिता वो अर्चत्॥ १४॥

१. **न**-अब (न सम्प्रत्यर्थे) **यत्**-जब **कारुः**=कुशलता से कर्मों को करनेवाला **दुवसे**=(दुवस्-wealth) धन-प्राप्ति के लिए **दुवस्यात्**-प्रभु की परिचर्या करता है (दुवस्यति= worships) तो उस समय **मान्यस्य**-पूजा-योग्य प्रभु की **मेधा**-बुद्धि **अस्मान्**=हमें **आचक्रे**=(to help, give aid) सहायता देती है, अर्थात् जब भी एक पुरुषार्थी प्रभु का उपासन करता है तो प्रभु उसे बुद्धि प्राप्त कराते हैं और यह बुद्धि उसे धनादि प्राप्त कराने में सहायक होती है। २. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! तुम **उ**=निश्चय से **विप्रम्**-विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभु की **अच्छ**=ओर **सु**=अच्छी प्रकार **आवर्त**-आवृत्त होओ। तुम प्रभु के सदा अभिमुख होओ, कभी उससे पराङ्मुख न होओ। ३. **जरिता**=(जरिते=come near) सबको समीपता से प्राप्त होनेवाला वह प्रभु **इमा ब्रह्माणि**=इन ज्ञान की वाणियों को **वः**-तुम्हारे लिए **अर्चत्**-(to cause to shine) दीप्त करता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु बुद्धि देते हैं, ज्ञान की वाणियों को उसके लिए दीप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—धैवतः।

'इष, वृजन, जीरदानु'

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १५॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**-तुम्हें **एषः**-यह **स्तोमः**-स्तुतिसमूह **आयासीष्ट**=प्राप्त हो। तुम स्तुति करनेवाले बनो! २. उस **मान्दार्यस्य**=सदा आनन्दमय **मान्यस्य**=पूजनीय **कारोः**=कुशलकर्ता की **इयं गीः**=यह वेदवाणी (आयासीष्ट) तुम्हें प्राप्त हो। यह वेदवाणी तुम्हें आनन्दित करनेवाली हो, तुम्हारे जीवनों को यशस्वी बनाए और तुम्हें कुशलतापूर्वक कर्म करनेवाला बना दे। **एषा**=यह **तन्वे**=शक्तियों के विस्तार के लिए तुम्हें (आयासीष्ट) प्राप्त हो। ३. इस वेदवाणी के द्वारा **वयाम्**=(वयम्) हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन व बल को तथा **जीरदानुम्**=(जीवनम्—द०) उत्तम जीवन को (जीर=quick, दानु=खण्डन) अथवा शीघ्रता से वासनाओं के विनाश को **विद्याम्**-प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें। इनसे हमें 'प्रेरणा, पापनिवृत्ति व उत्तम जीवन' प्राप्त होगा।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त ज्ञान-प्राप्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। यह ज्ञान ही पाप को नष्ट करके हमें अपवित्रता से ऊपर उठाएगा। अगले सूक्त का ऋषि भी यही 'अगस्त्य मैत्रावरुणि' है—

इति द्वितीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

[१६६] षट्षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

शक्ति व प्रभु का प्रकाश

तन्नु वोचाम रभसाय जन्मने पूर्वं महित्वं वृषभस्य केतवे।
ऐधेव यामन्मरुतस्तुविष्वणो युधेव शक्रास्तविषाणि कर्तन॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! हम **नु**=अब आपके **तत्**=उस **पूर्वम् महित्वम्**=पूरण करनेवाली महिमा को अथवा (पूर्व=of the first rank) सर्वोत्कृष्ट महत्त्व को **वोचाम**=कहते हैं। आपकी साधना **रभसाय जन्मने**=प्रचण्डतायुक्त (robust) जीवन के लिए होती है। प्राणसाधना से जीवन शक्तिशाली बनता है। यह प्राणसाधना **वृषभस्य**=शक्तिशाली प्रभु के **केतवे**=ज्ञान के लिए होती है। प्राणसाधना से अशुद्धि का नाश होकर ज्ञानदीप्ति से आत्मा का साक्षात्कार होता है। २. हे **मरुतः**=प्राणो! तुम **यामन्**=इस जीवन-यात्रा में **ऐधा इव**=(तेजांसि इव) तेजस्विताओं के समान होते हो और **तुविष्वणः**=महान् स्वनवाले होते हो। इस प्राणसाधना से हृदय की मलिनता का नाश होकर हृदयस्थ प्रभु की महनीय प्रेरणा की वाणी सुनाई पड़ती है। ३. **शक्राः**=हे शक्तिशाली प्राणो! तुम **युधा इव**=मानो युद्ध के द्वारा **तविषाणि**-बलों को **कर्तन**=उत्पन्न करते हो। प्राण वासनाओं के साथ युद्ध करके उनके पराजय के द्वारा हृदय में शक्ति का सञ्चार करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन शक्तियुक्त बनता है और प्रभु के प्रकाशवाला होता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

माधुर्य व क्रीड़क की मनोवृत्ति

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः।
नक्षन्ति रुद्रा अवसा नमस्विनं न मर्धन्ति स्वतवसो हविष्कृतम्॥ २॥

१. हमारे प्राण (मरुत्) **नित्यं सूनुं न**=(औरसं पुत्रमिव—सा०) औरस पुत्र को जैसे माता-पिता भृत व पोषित करते हैं, उसी प्रकार **मधुबिभ्रतः**=माधुर्य को धारण करते हुए **क्रीळाः**=सब कर्मों को क्रीड़ा का रूप देते हुए **उपक्रीळन्ति**=परमात्मा की समीपता में इस सब खेल को करते हैं। प्राणसाधना से जीवन में (क) माधुर्य उत्पन्न होता है—खिजने की वृत्ति नष्ट हो जाती है, (ख) सब कार्य क्रीड़क की मनोवृत्ति (sportsman-like spirit) में होते हैं, मनुष्य हार-जीत में समवृत्ति का रह पाता है, (ग) प्रभु का सान्निध्य बना रहता है। २. ये प्राण **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों के होने पर **घृष्वयः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। ज्ञानाग्नि में सब शत्रुओं का दहन हो जाता है। **रुद्राः**=रोगों का विद्रावण करनेवाले प्राण **नमस्विनम्**=प्रभु के प्रति नमस्वाले व्यक्ति को **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नक्षन्ति**=प्राप्त होते हैं। प्रभु का स्तोता इन प्राणों के द्वारा रक्षित होता हुआ सदा नीरोग बना रहता है। ३. **स्वत-वसः**=आत्मा के बलवाले ये प्राण **हविष्कृतम्**=हवि देनेवाले, यज्ञशील पुरुष को न **मर्धन्ति**-हिंसित नहीं करते। प्राणसाधना से यज्ञवृत्ति उत्पन्न होती है और यह साधक हविष्कृत् बनता है। यह हविष्कृत् प्रभु का सच्चा उपासक होता है और प्रभु के बल से बलवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से माधुर्य, क्रीड़क की मनोवृत्ति, प्रभु का सान्निध्य, नीरोगता व आत्मिक बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धन का पोषण

यस्मा ऊमासो अमृता अरासत रायस्पोषं च हविषा ददाशुषे।
उक्षन्त्यस्मै मरुतो हिताइव पुरू रजांसि पयसा मयोभुवः॥ ३॥

१. **यस्मै**-जिसके लिए **ऊमासः**-रोगों से रक्षित करनेवाले **अमृताः**=असमय की मृत्यु से बचानेवाले प्राण **रायस्पोषम् च**=धन के पोषण को भी **अरासत**=देते हैं, उस **हविषा ददाशुषे**=हवि के द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले **अस्मै**-इस उपासक के लिए **मरुतः**=प्राण **हिताः इव**=हितकर मित्रों के समान **रजांसि**=इसके शरीरस्थ भिन्न-भिन्न लोकों को—सब अङ्गों को **पुरुः**=पालन व पूरणात्मक प्रकार से **उक्षन्ति**=सिक्त करते हैं। (क) प्राणसाधना से शरीर में शक्ति का रक्षण होता है, (ख) इससे यह साधक धन कमाने के योग्य बनता है, (ग) प्राणसाधना से वृत्ति की पवित्रता के कारण यह भोगों में न फँसकर धन का यज्ञों में विनियोग करता है, (घ) इस यज्ञात्मक वृत्ति के कारण इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्ति-सम्पन्न बने रहते हैं। २. इस प्रकार प्राण इस साधक के लिए पयसा=आप्यायन के द्वारा **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसका एक-एक अङ्ग शक्ति से पूर्ण होता है और इस प्रकार यह कल्याणयुक्त जीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्राण हमें नीरोग व शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। इससे हमें धन के पोषण की योग्यता प्राप्त होती है और हम उन धनों को भोगों में व्यय न करके यज्ञों में लगाते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

विश्व का भयभीत होना

आ ये रजांसि तविषीभिरव्यत प्र व एवासः स्वयतासो अध्रजन्।
भयन्ते विश्वा भुवनानि हर्म्या चित्रो वो यामः प्रयतास्वृष्टिषु॥ ४॥

१. प्राणसाधना होने पर इन्द्रियरूप अश्व इधर-उधर भटकते नहीं। उस समय हे प्राणो! **ये**=जो **रजांसि**=शरीर के सब लोकों को—अङ्ग-प्रत्यङ्गों को **तविषीभिः**=शक्तियों से **आ अव्यत**=पूर्णरूप से आच्छादित कर लेते हैं (व्ये=संवरणे) वे **वः**=आपके **एवासः**=इन्द्रियरूप अश्व **स्व-यतासः**=आत्मा द्वारा नियन्त्रित हुए-हुए **अध्रजन्**=तीव्र गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनती हैं और साथ ही आत्मा नियन्त्रित होता है। उस समय इन इन्द्रियों की गति अत्यन्त प्रबल होती है। २. प्राणसाधकों की इन गतियों से **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **भयन्ते**=काँप उठते हैं, **हर्म्या**=सब महल भी काँप उठते हैं। इनकी हलचल से सभी प्रभावित होते हैं। बड़े-बड़े राजा भी इनकी उपेक्षा नहीं कर पाते। हे मरुतो! **वः**=आपकी **यामः**=गति **चित्रः**-अद्भुत होती है। **ऋष्टिषु प्रयतासु**=अस्त्रों के उठाये हुए होने पर जैसे सामान्य लोग भयभीत हो उठते हैं, उसी प्रकार इन प्राणसाधकों की गति सभी को हिला देती है। ऐसे ही व्यक्ति प्रचार द्वारा सुधार-कार्य करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ सबल बनती हैं। ये आत्माधीन होती हुई प्रबल गतिवाली होती हैं। ऐसे पुरुषों की गति से सर्वत्र हलचल हो जाती है। ये सारे समाज में प्रबल क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

दीप्त गायनवाले वायु

यत्त्वेषयामा नदयन्त पर्वतान्दिवो वा पृष्ठं नर्या अचुच्यवुः।
विश्वो वो अज्मन्भयते वनस्पती रथीयन्तीव प्र जिहीत ओषधिः॥५॥

१. **यत्**=जब **त्वेषयामाः**=दीप्त गमनोंवाले मरुत् (प्रबल वायुएँ) **पर्वतान्**=पर्वतों को **नदयन्त**=गुञ्जायमान कर देते हैं—गुफाओं में वायु के प्रवेश से पर्वत गूँज-सा उठता है **वा**=अथवा **नर्याः**=वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन करते हुए नर-हितकारी **मरुत् दिवः पृष्ठम्**-द्युलोक के पृष्ठ को **अचुच्यवुः**=क्षरित कर देते हैं, अर्थात् द्युलोक से वृष्टिकणों के रूप में जल को नीचे भेजते हैं, उस समय हे मरुतो! **वः**=आपके **अज्मन्**=(passage) मार्ग में **विश्वः वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **भयते**=भयभीत होती हैं, गिरने के भय से काँप उठती हैं। **ओषधिः**=सब ओषधियाँ इस प्रकार **प्रजिहीत**=गतिवाली हो उठती हैं **इव**=जैसे कि **रथयन्ती**=रथ की कामना से रथारूढ़ हुई कोई स्त्री गतिमय हो जाती है।

भावार्थ—वायुओं के तीव्र गति से चलने पर पर्वत-कन्दराएँ गूँज उठती हैं, द्युलोकस्थ मेघ वृष्टिजल टपकाने लगते हैं और सब वनस्पतियाँ कम्पित हो उठती हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सुमति का पूरण

यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुनारिष्टग्रामाः सुमतिं पिपर्तन।
यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती रिणाति पश्वः सुधितेव बर्हणा॥६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=आप **उग्राः**=तेजस्वी हैं **अरिष्टग्रामाः**=अहिंसित इन्द्रियसमूहवाले हैं। आप **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **नः**=हमारे लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **पिपर्तन**=हममें पूरित करनेवाले होओ। तेजस्वी, प्राणसाधना करनेवाले आचार्यों से हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो। **यत्र**=जहाँ **वः**=तुम्हारी **क्रविर्दती**=हिंसक दाँतोंवाली **दिद्युत्**=ज्ञानरूपी विद्युत् **रदति**=अज्ञानान्धकार का विलेखन करती है, वहाँ **पश्वः**=पाशविक वासनाओं को **रिणाति**=नष्ट कर देती है **इव**=जैसे कि **सुधिता**=उत्तमता से प्रेरित की गई **बर्हणा**=हेति—नाशकशक्ति किसी पशु को नष्ट करती है। आचार्य को जहाँ विद्यार्थी को सुमति प्राप्त करानी है, वहाँ उसे ज्ञान देकर उसकी पाशविक भावना को भी नष्ट करना है।

भावार्थ—आचार्य प्राणसाधना के द्वारा तेजस्वी व अहिंसित इन्द्रियोंवाले बनकर विद्यार्थियों में सुमति व ज्ञान को परिपूर्ण करें। इस ज्ञानवज्र के द्वारा उनकी पाशविक वृत्तियों को नष्ट करें।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रेष्ठ पुरुष

प्र स्कम्भदेष्णा अनवभ्रराधसोऽलातृणासो विदथेषु सुष्टुताः।
अर्चन्त्यर्कं मदिरस्य पीतये विदुर्वीरस्य प्रथमानि पौंस्या॥७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्यों से सुमति प्राप्त करनेवाले **प्रस्कम्भदेष्णाः**=प्रकर्षेण दान को धारण करनेवाले बनते हैं, ये निरन्तर दानशील होते हैं। **अनवभ्रराधसः**=(अभ्रष्टहविरादिधनाः) इनका हविरूप धन कभी नष्ट नहीं होता। ये सदा हवि का स्वीकार करते हैं, दानपूर्वक ही अदन करनेवाले होते हैं, **अलातृणासः**=(अलं पर्याप्तं आतर्दनाः शत्रूणाम्—सा०) हवि की वृत्ति से

काम-क्रोधादि शत्रुओं के खूब ही संहार करनेवाले होते हैं। हवि के द्वारा लोभ नष्ट हो जाता है, लोभ के नाश से कामक्रोधादि भी समाप्त हो जाते हैं, **विदथेषु सुष्टुताः**=ज्ञानयज्ञों में ये उत्तम स्तवनवाले होते हैं (शोभनं स्तुतं येषाम्)। २. **मदिरस्य**-मद व हर्ष के कारणभूत सोम के **पीतये**=शरीर में ही पान के लिए ये प्राणसाधक पुरुष **अर्कम्**-उस उपासनीय प्रभु को **अर्चन्ति** अर्चित करते हैं। 'प्रभु-उपासना' वासनाओं को विनष्ट करके उन्हें सोम के पान व रक्षण के योग्य बनाती है। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए ये पुरुष **वीरस्य**=वीर प्रभु के **प्रथमानि पौंस्या**=सर्वोत्कृष्ट बलों को **विदुः**=जानते हैं, अर्थात् प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठ पुरुष 'दानशील, हवि का धारण करनेवाले, कामादि शत्रुओं के संहारक, स्तोता व उपासना के द्वारा सोम के रक्षक—प्रभु की शक्ति को प्राप्त करनेवाले' होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन

शतभुजिभिस्तमभिह्रुतेरघात्पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत।
जनं यमुग्रास्तवसो विरप्शिनः पाथना शंसात्तनयस्य पुष्टिषु॥ ८॥

१. हे **मरुतः**-प्राणो! **यम्**-जिसको **आवत**-आप रक्षित करते हो **तम्**=उसे **शतभुजिभिः**=सौ वर्ष पर्यन्त पालित होनेवाले **पूर्भिः**=शरीरों के द्वारा **अभिह्रुतेः**=कुटिलता से तथा **अघात्**=पाप से **आ रक्षत**=बचाये रखते हो। प्राणसाधना का पहला परिणाम यह है कि शरीर सौ वर्ष पर्यन्त बड़ा स्वस्थ बना रहता है, दूसरा यह कि मन में कुटिलता व पाप की वृत्ति नहीं रहती। २. हे **उग्राः**=तेजस्वी **तवसः**-बलवान् **विरप्शिनः**=महान् अथवा विशिष्ट स्तुति-शब्दोंवाले (रप्-शब्द) प्राणसाधको! आप **यं जनम्**-जिस मनुष्य को **पाथन**-रक्षित करते हो वह **तनयस्य पुष्टिषु**-सन्तानों का पोषण होने पर **आ शंसात्**-शंसन करनेवाला हो। ब्रह्मचर्याश्रम में जिसे तेजस्वी, बलवान्, प्रभुस्तवन करनेवाले ज्ञानी आचार्य प्राप्त होते हैं और उसे अशुभ मार्ग में जाने से बचाते हैं, वह व्यक्ति सद्गृहस्थ बनकर सन्तानों का समुचित पोषण करता है। इस पोषण-कार्य की समाप्ति पर वह गृहस्थ के बोझ से मुक्त होकर स्वयं पाठन व प्रचार-कार्य में व्यापृत होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले बनें। उत्तम आचार्यों द्वारा सुरक्षित जीवनवाले होकर सद्गृहस्थ बनें और गृहस्थ को समुचित रूप से निभाकर पाठन व प्रचार-कार्य में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

राष्ट्र के सैनिक

विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वो मिथस्पृध्येव तविषाण्याहिता।
अंसेष्वा वः प्रपथेषु खादयोऽक्षो वश्चक्रा समया वि वावृते॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=(म्रियन्ते, न पलायन्ते) राष्ट्ररक्षक सैनिको! **वः रथेषु**=तुम्हारे रथों पर **विश्वानि भद्रा**=सब कल्याणकर वस्तुएँ **आहिता**=रखी हैं, सब आवश्यक युद्ध सामग्री वहाँ विद्यमान है, सब आवश्यक आयुध उसमें रखे हैं। **मिथः**=परस्पर **स्पृध्या इव**=स्पर्धा से ही मानो **तविषाणि**=(आहिता) तुममें बलों का स्थापन हुआ है। एक-दूसरे के साथ बल के दृष्टिकोण से स्पर्धा करते हुए ये सैनिक अपने को खूब बलवान् बनाते हैं। २. **प्रपथेषु**=युद्ध-यात्राओं के

प्रकृष्ट मार्गों में **वः**=तुम्हारे **अंसेषु**=कन्धों पर **खादयः**=(खाद्=to hurt) शत्रुनाशक अस्त्र हैं और **वः**=तुम्हारे **अक्षः**=रथ का धुरा (axle) **चक्रा समया**=चक्रों के समीप **विवावृते**=विशिष्ट वर्तनवाला होता है, अर्थात् तुम्हारा रथ कभी शिथिल गतिवाला नहीं होता।

भावार्थ—सैनिकों के रथ आयुध-सम्पन्न हैं। सैनिक परस्पर स्पर्धा से बलों को बढ़ानेवाले हैं। इनके कन्धों पर अस्त्र हैं। इनके रथ सदा गतिशील हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सैनिकों की शोभा

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे॥ १०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित मरुतों (सैनिकों) की **नर्येषु**=नर-हितकारी **बाहुषु**=भुजाओं में **भूरीणि भद्रा**=खूब ही कल्याणकर कर्म आश्रित हैं। ये सैनिक राष्ट्र के भरणात्मक कार्यों में सदा लगे रहते हैं। युद्ध का अवसर न होने पर भी ये राष्ट्रोपयोगी अन्य निर्माणात्मक कार्यों में भाग लेनेवाले होते हैं। २. ये **वक्षःसु**=छातियों पर **रुक्माः**=स्वर्ण-पदकों को **धिरे**-धारण करते हैं, जो स्वर्ण-पदक **रभसासः अञ्जयः**=इनके शक्तियुक्त कर्मों को प्रकट करनेवाले हैं। ३. **अंसेषु**=इनके कन्धों पर **एताः**=(shining) चमकते हुए अस्त्र होते हैं, **पविषु**=इनके वज्रादि अस्त्रों में **क्षुराः**=क्षुरे के समान तेज़ धार होती हैं। इस प्रकार ये सैनिक **वयः पक्षान्**=जैसे पक्षी पंखों को धारण करते हैं, उसी प्रकार **श्रियः**=शोभाओं को **वि अनुधिरे**=विशेषरूप से धारण करते हैं। शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिक अत्यन्त शोभायमान होते हैं।

भावार्थ—सैनिक सदा राष्ट्रहितकारी कार्यों में व्यापृत रहते हैं। उनके बल के कार्यों के सूचक स्वर्ण-पदक उनके वक्षःस्थलों को सुशोभित करते हैं। ये शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिक खूब ही शोभायमान होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधक पुरुष

महान्तो मह्ना विभ्वो३ विभूतयो दूरेदृशो ये दिव्याइव स्तृभिः।
मन्द्राः सुजिह्वाः स्वरितार आसभिः संमिश्ला इन्द्रे मरुतः परिष्टुभः॥ ११॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **मह्ना**=अपनी महिमा से **महान्तः**=आदरणीय, **विभ्वः**=विशिष्ट शक्तिवाले, **विभूतयः**=ऐश्वर्यसम्पन्न, **दूरेदृशः**=दूर से ही दिखनेवाले, अर्थात् अपने यश व तेज से इस प्रकार प्रकाशमान होते हैं **इव**=जैसे कि **दिव्याः**=द्युलोक में होनेवाले पिण्ड **स्तृभिः**=तारों से चमकते हैं। २. **मन्द्राः**=ये आनन्दमय स्वभाववाले, **सुजिह्वाः**=उत्तम जिह्वावाले, अर्थात् मधुरभाषी तथा **आसभिः**=मुखों से **स्वरितारः**=सदा स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। ३. **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **संमिश्लाः**=सम्यक् मेलवाले ये **मरुत्**=प्राणसाधक पुरुष **परिष्टुभः**=सदा स्तुतियुक्त होते हैं। अपने सब कार्यों को करते हुए ये प्राणसाधक लोग प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु स्मरणपूर्वक ही इनके सब कार्य होते हैं, इसी कारण ये 'महिमा से महान्, विशिष्ट शक्तिवाले, ऐश्वर्यसम्पन्न, प्रकाशमान, आनन्दमय व मधुरभाषी' होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य आत्मतत्त्व की ओर झुकता है और प्रभु का उपासक बनकर उत्तम जीवनवाला होता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

क्रोध व ईर्ष्या से दूर

तद्वः सुजाता मरुतो महित्वनं दीर्घं वो दात्रमदितेरिव व्रतम्।
इन्द्रश्चन त्यजसा वि ह्रुणाति तज्जनाय यस्मै सुकृते अराध्वम्॥ १२॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **सुजाताः**-आप उत्तम विकासवाले होते हो और **वः**-आपका **तत्**=वह **महित्वनम्**=महत्त्व तथा **वः**=आपका **दात्रम्**-दान **दीर्घम्**=(अत्यायतमविच्छिन्नम्—सा०) अति विस्तृत व अविच्छिन्न होता है। आपका यह दान तो **अदितेः व्रतम् इव**=इस अदीना देवमाता (प्रकृति) के व्रत के समान है। प्रकृति सब उपभोगों को प्राप्त कराती हुई इस अपने दानकार्य को विच्छिन्न नहीं होने देती। इसी प्रकार प्राणसाधक पुरुष अपने दान के व्रत को विच्छिन्न नहीं होने देते। २. **यस्मै**=जिस **सुकृते**=पुण्यशील **जनाय**=व्यक्ति के लिए **अराध्वम्**=आप धन प्राप्त कराते हो **तत्**-उसे **इन्द्रः चन**-प्रभु भी **त्यजसा** (anger, envy) क्रोध व ईर्ष्या से **विह्रुणाति**-पृथक् करता है। प्राणसाधक पुरुष के सम्पर्क से अन्य लोग भी प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। इस प्राणसाधना से उनमें भी उत्तम वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं। ऐसे लोगों को प्रभु क्रोध व ईर्ष्यादि अवाञ्छनीय प्रवृत्तियों से पृथक् रखते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से वृत्तियाँ शुभ होती हैं और व्यक्ति क्रोध व ईर्ष्यादि से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

उत्कृष्ट चतुष्क सम्बन्ध

तद्वो जामित्वं मरुतः परे युगे पुरू यच्छंसममृतास आवत।
अया धिया मनवे श्रुष्टिमाव्या साकं नरो दंसनैरा चिकित्रिरे॥ १३॥

१. **मरुतः**-प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=आपका **तत् जामित्वम्**-वह प्रसिद्ध बन्धुत्व **परे युगे**-उत्कृष्ट चतुष्क में होता है (युग शब्द चार के लिए भी प्रयुक्त होता है) आपका जीवन 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष'-रूप चारों पुरुषार्थों को लेकर चलता है। आप धर्मपूर्वक कमाते हुए संसार के उचित काम्य पदार्थों का सेवन करते हुए मोक्ष को सिद्ध करते हो। **यत्**=क्योंकि आप **अमृतासः**=संसार के विषयों के पीछे न मरते हुए—नीरोग होते हुए **पुरु**=पालक व पूरक **शंसम्**-ज्ञान को **आवत**-अपने में सुरक्षित करते हो। वस्तुतः ज्ञान वही है जो हमारे शरीरों को रोगों से बचाये और मन में न्यूनता न आने दे। सांसारिक विषयों में फँसने पर मनुष्य इस उत्कृष्ट ज्ञान की उपेक्षा करके व्यर्थ की बातों को ही जानने में लगा रहता है। २. हे मरुतो! आप **अया**-इस **धिया**-बुद्धि के द्वारा **मनवे**-विचारशील पुरुष के लिए **श्रुष्टिम्**- (prosperity, happiness) समृद्धि व सुख को **आव्य**=सुरक्षितरूप में प्राप्त कराके **नरः**-औरों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले बनकर **दंसनैः**=(act, deed) कर्मों के **साकम्**-साथ **आचिकित्रिरे**=जाने जाते हो। आप अपने कर्मों से प्रसिद्धि पाते हो, सदा यशस्वी कर्मोंवाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुषों का सम्बन्ध उत्कृष्ट 'धर्मार्थकाममोक्ष' से होता है। वे औरों को ज्ञान देकर उनकी सुख-समृद्धि बढ़ानेवाले होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अभीष्टि-लाभ', अभ्युदय और निःश्रेयस

येन दीर्घं मरुतः शूशवाम युष्माकेन परीणसा तुरासः।
आ यत्ततनन्वृजने जनास एभिर्यज्ञेभिस्तदभीष्टिमश्याम्॥ १४॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **युष्माकेन**=आपसे प्राप्त करने योग्य **येन**=जिस **परीणसा**=पालन व पूरण के द्वारा **तुरासः**=त्वरावाले होते हुए (त्वर) अथवा वासनाओं का संहार करते हुए (तुर्वी) **दीर्घम्**=दीर्घजीवन को **शूशवाम**=बढ़ानेवाले हों तथा **जनासः**=शक्तियों का विकास करनेवाले लोग **वृजने**=संग्राम में—काम-क्रोधादि से होनेवाले युद्ध में **यत्**=जो **आततनन्**=अपनी विजय को विस्तृत करते हैं, **एभिः यज्ञेभिः**=इस 'वासना-संहार द्वारा दीर्घजीवन की प्राप्ति तथा काम-क्रोधादि संग्राम में विजयरूप' उत्तम कर्मों के द्वारा (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) हम **तत्**=उस **अभीष्टिम्**=वाञ्छनीय वस्तु को **अश्याम**=प्राप्त करनेवाले हों। २. प्राणसाधना का पहला परिणाम शरीर पर इस रूप में होता है कि वासनाक्षय से शरीर में शक्ति की वृद्धि होकर दीर्घजीवन प्राप्त होता है, दूसरा परिणाम यह है कि अध्यात्म संग्राम में विजय प्राप्त करके हम शारीरिक स्वास्थ्य की भाँति मानस स्वास्थ्य को भी प्राप्त करनेवाले बनते हैं। ३. शारीरिक स्वास्थ्य से 'अभ्युदय'-रूप इष्टि की प्राप्ति होती है और मानस स्वास्थ्य से हम 'निःश्रेयस' की प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'स्वस्थ शरीर' बनकर हम अभ्युदय को सिद्ध करें और स्वस्थ मनवाले बनकर निःश्रेयस के अधिकारी हों।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तोम और गीः

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १५॥

इस मन्त्र का अर्थ १६५।१५ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—'अगस्त्य' ऋषि द्वारा दृष्ट मरुत् देवतावाले अगले दोनों सूक्त भी इसी मन्त्र के साथ समाप्त होंगे। वस्तुतः प्राणसाधना का यही लाभ है कि मन में स्तोम हो, मस्तिष्क में गीः=ज्ञान की वाणी तथा हम इस प्राणसाधना से 'प्रेरणा, पापवर्जन व दीर्घजीवन' को प्राप्त करें।

[१६७] सप्तषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रक्षण, प्रेरणा, धन, शक्ति

सहस्रं त इन्द्रोतयो नः सहस्रमिषो हरिवो गूर्ततमाः।
सहस्रं रायो मादयध्यै सहस्रिण उप नो यन्तु वाजाः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते**=आपकी **ऊतयः**=रक्षाएँ **सहस्रम्**=हजारों हैं, सहस्रों प्रकारों से आप हमारा रक्षण करते हैं। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! आपकी **सहस्रम् इषः**=सहस्रशः (हजारों) प्रेरणाएँ **नः**=हमारे लिए **गूर्ततमाः**=उद्यततम हों। आपकी प्रेरणाएँ हमारे जीवनों में प्रसुप्त न रहें, वे जागरित हों। हम उनके अनुसार चलते हुए अपने इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनानेवाले हों। २. आपके **सहस्रं रायः**=सहस्रों धन **मादयध्यै**=हमारे जीवन में आनन्द उत्पन्न करनेवाले हों। आपकी प्रेरणा से धनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम आनन्द को सिद्ध करनेवाले हों। ३. आपकी **सहस्रिणः वाजाः**=हजारों शक्तियाँ **नः**=हमें **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। आपके दिये हुए धनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम शक्तिसम्पन्न बनें।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें 'रक्षण, प्रेरणा, धन व शक्ति' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

रक्षण व ज्ञान देने का कार्य

आ नोऽवोभिर्मरुतो यान्त्वच्छा ज्येष्ठेभिर्वा बृहद्दिवैः सुमायाः ।
अध यदेषां नियुतः परमाः समुद्रस्य चिद्धनयन्त पारे ॥ २ ॥

१. **मरुतः**-प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से **नः**-हमारे **अच्छ**-अभिमुख **आयन्तु**-आएँ। वस्तुतः ऐसे पुरुषों द्वारा होनेवाला रक्षण ही उत्तम होता है। २. **वा**=और **सुमायाः**=उत्तम प्रज्ञावाले ये प्राणसाधक **ज्येष्ठेभिः**=प्रशस्यतम **बृहद्दिवैः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञानों से हमें प्राप्त हों। ये हमें उन श्रेष्ठ ज्ञानों को देनेवाले हों जो हमारी वृद्धि के कारण बनते हैं। ३. **अध**=अब **यत्**-क्योंकि **एषाम्**=इनके **नियुतः**=निश्चय से अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होनेवाले इन्द्रियाश्व **परमाः**-अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं, अतः वे इन्द्रियाश्व **समुद्रस्य चित् पारे**-(समुद्रस्य इव हि कामः । नैव कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य—तै० २।२।५।६) काम के पार **धनयन्त**=(दधन्ति) धारण करते हैं। सदा कर्त्तव्यों में व्यापृत मनुष्य का मन कामादि वासनाओं से ऊपर उठा रहता है, एवं कार्यों में व्यापृत इन्द्रियाश्व हमें वासना-समुद्र में डूबने से बचाते हैं।

भावार्थ—रक्षणात्मक कार्यों व ज्ञान देने के कार्यों को प्राणसाधना करनेवाले पुरुष ही अच्छी प्रकार कर पाते हैं। चूँकि ये लोग सदा कर्मों में लगे रहते हैं, अतः वासना-समुद्र में नहीं डूबते।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

घोर अन्धकार में प्रकाश

मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः ।
गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक् ॥ ३ ॥

१. प्राणसाधक वे हैं **येषु**-जिनमें **सुधिता**=सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में धारण की गई **घृताची**=मलों का क्षरण व ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाली (घृत+अञ्च), **हिरण्यनिर्णिक्**=हितरमणीय रूपवाली (निर्णिक्-रूप) वेदवाणी **मिम्यक्ष**=संगत होती है (म्यक्षतिः गतिकर्मा), अर्थात् इन्हें यह वेदवाणी प्राप्त होती है। यह वेदवाणी इन्हें इस प्रकार प्राप्त होती है **न**=जैसे **उपरा ऋष्टिः**=मेघमाला में होनेवाली विद्युत्। मेघ और विद्युत् के संग की भाँति इन प्राणसाधकों व ज्ञान की वाणियों का संग होता है। घने नील वर्णवाली मेघमाला व विद्युत् की उपमा इसलिए दी गई है कि जीवन के अत्यन्त अन्धकारमय प्रसंग में यह ज्ञान की वाणी विद्युत् की भाँति प्रकाश करनेवाली होती है। २. यह ज्ञान की वाणी **गुहा चरन्ती**=हृदयरूप गुफा में विचरण करती हुई **मनुषः न योषा**=मनुष्य की पत्नी के समान होती है। जैसे पत्नी पति की पूरिका होती है, वैसे ही यह मनुष्य की पूर्णता का कारण बनती है। ३. **सभावती**=सभावाली यह ज्ञानवाणी अर्थात् सभाओं में उच्चारण की जाती हुई यह वाणी **विदथ्या संवाक् इव**=ज्ञान व यज्ञों में उत्तम वाणी के समान होती है। यह ज्ञान को बढ़ानेवाली व यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधकों में उस ज्ञान की वाणी का सम्पर्क होता है जो (क) घोर अन्धकार में प्रकाश देनेवाली है, (ख) जो कमियों को दूर करके जीवन को पूरण करती है तथा (ग) ज्ञान व यज्ञों का वर्धन करनेवाली होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रो मरुच्च। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

रोदसी का अपनोदन

परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः।
न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः॥ ४॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **शुभ्राः**=मल व दोष से रहित शुभ्र जीवनवाले बनते हैं, **अयासः**=ये निरन्तर गतिशील होते हैं। ये मरुत् **यव्या**=(यु) दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाली **साधारण्या इव**=जो सबके लिए समानरूप से हित करनेवाली, सबकी माता के समान है (स्तुता मया वरदा वेदमाता) उस वेदवाणी से **परा मिमिक्षुः**=उत्कृष्ट रूप से संगत होते हैं। प्राणसाधना का पहला लाभ यही है कि ज्ञान दीप्त हो उठता है। २. ये **घोराः**=उत्कृष्ट, तेजस्वी जीवनवाले प्राणसाधक **रोदसी**=अपने द्यावापृथिवी को **न अपनुदन्त**=दूर नहीं करते, नष्ट नहीं करते। इनका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त होता है तो शरीररूप पृथिवी बड़ी दृढ़ होती है। ३. इस प्रकार ये **वृधम्**=वृद्धि का **जुषन्त**=सेवन करनेवाले होते हैं और सब प्रकार की उन्नति करते हुए ये **देवाः सख्याय**=देववृत्ति के पुरुष इस प्रभु की मित्रता के लिए होते हैं। उन्नति का अभिप्राय यही तो है कि शरीर में 'अजर व अमर' बनना, मन में 'सुमनस् व सुपर्वा' (उत्तम गुणों को भरनेवाला) बनना तथा मस्तिष्क में 'विबुध व दिवौकस्' (ज्ञान का विकास करनेवाला) बनना। यही देव बनना है। देव बनकर हम महादेव के मित्र होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा सम्बन्ध ज्ञान के साथ होता है, शरीर व मस्तिष्क उत्तम बनते हैं, वृद्धि को प्राप्त करते हुए हम देव बनकर महादेव के मित्र बन पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रो मरुच्च। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

उपासक के जीवन में 'असुर्या' का प्रवेश

जोषद्यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः।
आ सूर्येव विधतो रथं गात्त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या॥ ५॥

१. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **असुर्या**=(असुरस्य इयम्) प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु की पुत्री के समान यह वेदवाणी **जोषत्**=हमारा सेवन करती है, हमें प्राप्त होती है। यह **विषितस्तुका**=विशेषरूप से बद्ध-केशसंघवाली—विशिष्ट ज्ञान की रश्मियोंवाली (केश=प्रकाशरश्मि) उस महान् असुर (प्रभु) की पुत्री **सचध्यै**=हमारे साथ संगमनवाली होती है, उस समय यह **रोदसी**=सम्पूर्ण द्यावापृथिवी के पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाली वाणी **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्याः) मनुष्यों का हित करने के मनवाली होती है। सब पदार्थों का ज्ञान देती हुई यह उनका कल्याण करती है। २. यह **सूर्या इव**=सूर्य की भाँति चारों दिशाओं में प्रकाश फैलाती हुई **विधतः**=उपासक के, नियमपूर्वक स्वाध्याय के द्वारा 'सरस्वती' की आराधना करनेवाले के **रथं गात्**=रथ को प्राप्त होती है। **त्वेषप्रतीका**=यह दीप्त अंगोंवाली—प्रकाशमय वेदवाणी **नभसः इत्या न**=सूर्य के आगम के समान है। वेदवाणी के प्राप्त होते ही सारा अन्तःकरण इस प्रकार दीप्त हो उठता है, जैसे कि सूर्य के आगमन से सारा आकाश।

भावार्थ—यह वेदवाणी प्रभु की पुत्री के समान है। दीप्त अंगोंवाली है। द्युलोक से पृथिवीलोक तक के सारे पदार्थों का ज्ञान देती है। सरस्वती के आराधक के जीवन में इसका प्रवेश इस प्रकार होता है जैसे आकाश में सूर्य का। यही वेदवाणी से हमारा परिणय (विवाह) है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

युवति का आस्थापन

आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम् ।
अर्को यद्वो मरुतो हविष्मान्गायद्गाथं सुतसोमो दुवस्यन् ॥ ६ ॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी को **असुर्या**=महान् प्राणशक्ति के सञ्चारक प्रभु की पुत्री कहा था। यह युवति है। गुणों का सम्पर्क करनेवाली व अवगुणों को हम से विपृक्त करनेवाली। इस **युवतिम्**=युवति को **युवानः**=वे उपासक जो सदा दुर्गुणों को दूर करके भद्र को अपने साथ संगत करते हैं, **आस्थापयन्त**=अपने में स्थापित करते हैं। यह युवति हमें शुभे **निमिश्लाम्**=शुभ कर्मों में जोड़नेवाली है तथा **विदथेषु पज्राम्**=ज्ञानयज्ञों में बलवाली है, अर्थात् ज्ञानयज्ञों में प्रेरित करके हमें शक्तिशाली बनानेवाली है। हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **यत्**=जब **वः**=तुममें जो भी व्यक्ति **अर्कः**=वेदवाणी के मन्त्रों द्वारा प्रभु का अर्चन करनेवाला बनता है और **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला होता है, वह **सुतसोमः**=अपने में सोम-(वीर्य)-शक्ति का उत्पादन करनेवाला होकर **दुवस्यन्**=प्रभु की परिचर्या करता हुआ **गाथं गायत्**=प्रभु की गुण-गाथाओं को गाता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें शुभ में प्रेरित करती है। ज्ञानयज्ञों के द्वारा हमारे बल को बढ़ाती है। प्रभु का उपासक 'हविष्मान् व सुतसोम' होता है। वेदवाणी ही मनुष्य को उपासक बनाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

प्राणसाधना के तीन लाभ

प्र तं विवक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति ।
सचा यदीं वृषमणा अहंयुः स्थिरा चिज्जनीर्वहते सुभागाः ॥ ७ ॥

१. **यः**-जो **एषां मरुताम्**-इन प्राणों की व प्राणसाधक पुरुषों की **वक्म्यः**=कथन करने योग्य (प्रशंसनीय) **सत्यः महिमा अस्ति**-सत्य महिमा है **तम्**=उस महिमा को **प्रविवक्मि**=मैं प्रकर्षेण प्रतिपादित करता हूँ। २. **यत्**=क्योंकि यह **ईम्**=निश्चय से **सचा**=(सच समवाये) उस प्रभु से मेलवाला होता है, अतः यह **वृषमणाः**=धर्मयुक्त मनवाला होता है—प्रभुस्मरण के कारण अशुभ वृत्तियों के आक्रमण से बच जाता है। **अहंयुः**=(अह व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाला होता है अथवा उचित आत्मगौरव की भावनावाला होता है तथा **सुभागाः**=सदा उत्तम भजनीय (सेवनीय) धनोंवाला होता हुआ **चित्**=निश्चय से **स्थिरा जनीः**=स्थिर शक्तिविकासों को (जन्=प्रादुर्भावे) **वहते**=धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हमारा प्रभु से मेल होता है, (ख) हमारी वृत्ति धार्मिक बनती है, (ग) शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्राणसाधना और शुद्धि

पान्ति मित्रावरुणाववद्याच्चयत ईमर्यमो अप्रशस्तान् ।
उत च्यवन्ते अच्युता ध्रुवाणि वावृध ईं मरुतो दातिवारः ॥ ८ ॥

१. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान **अवद्यात्**=पाप से **पान्ति**=बचाते हैं। प्राणसाधना से अशुभ वृत्तियों का क्षय होता है। प्राणसाधना के होने पर **अर्यमा उ**=अर्यमा भी **ईम्**=निश्चय से

अप्रशस्तान्=सब अप्रशस्त बातों को **चयते**=नष्ट करता है। अर्यमा का भाव है 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन। प्राणसाधना करने पर प्राणापान सब दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। दोष-दहन से सब अवद्य=पाप दूर हो जाते हैं। हम काम-क्रोधादि का नियमन करके अर्यमा बनते हैं। यह अर्यमा सब अप्रशस्त बातों को नष्ट करनेवाला होता है। २. ये प्राणसाधक **ध्रुवाणि उत**=अत्यन्त दृढ़मूल हुई-हुई वासनाओं को भी **च्यवन्ते**=हिला देनेवाले होते हैं और **अच्युता**=कभी न हिलाई जा सकनेवाली वासनाओंको भी च्युत कर देते हैं। ३. इस प्रकार हे **मरुतः**=प्राणो! यह **दातिवारः**=(दत्तहविर्लक्षणधनः—सा०) वरणीय धनों का दान करनेवाला साधक **ईम्**=निश्चय से **वावृधे**=बढ़ता है। लोभ को जीतकर यह दान देनेवाला बनता है और इस दानवृत्ति से यह शुभ मार्ग पर और अधिक आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा जीवन शुद्ध बनता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का धर्षण

नही नु वो मरुतो अन्त्यस्मे आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः।
ते धृष्णुना शवसा शूशुवांसोऽर्णो न द्वेषो धृषता परि ष्ठुः॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **नु**=निश्चय से **अस्मे**=हमारे **अन्ति**=समीप के अर्थात् काम-क्रोधादि अन्तःशत्रु तथा **आरात्तात् चित्**=दूर के शत्रु भी—बाह्य शत्रु भी **वः शवसः**=तुम्हारी शक्ति के **अन्तम्**=अन्त को **नहि आपुः**=प्राप्त नहीं करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना से कामादि अन्तःशत्रु तो नष्ट होते ही हैं, बाह्य शत्रु भी इस प्राणसाधक का पराभव नहीं कर सकते। २. **ते**=वे प्राणसाधक **धृष्णुना**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **शवसा**=बल से **शूशुवांसः**=बढ़ते हुए **द्वेषः**=शत्रुओं को **धृषता परिष्ठुः**=धर्षण के द्वारा पराभूत करते हैं (give them a crushing defeat)। इस प्रकार पराभूत करते हैं न-जैसे कि **अर्णः**-जल अपनी विरोधिनी धूल को पराभूत करता है। जल धूल को एक न उड़ती रहनेवाली मिट्टी के रूप में परिवर्तित कर देता है। प्राणसाधक भी काम को प्रेम में, क्रोध को करुणा में व लोभ को त्याग में परिवर्तित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वह बल मिलता है जो सब शत्रुओं का धर्षण कर देता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु के प्रिय

वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठा वयं श्वो वोचेमहि समर्ये।
वयं पुरा महि च नो अनु द्यून्तन्न ऋभुक्षा नरामनु ष्यात्॥ १०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के द्वारा अन्तः व बाह्य शत्रुओं का नाश करके **वयम्**=हम **अद्य**=आज **इन्द्रस्य**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **प्रेष्ठाः**=प्रियतम होते हैं। **वयम्**-हम **श्वः**-अगले दिन भी प्रभु के प्रिय बनते हैं। 'अद्य श्वः' यह शब्दविन्यास 'आजकल' का वाचक है। हम जब शत्रुओं का नाश करनेवाले बनते हैं तो प्रभु के प्रिय होते हैं। प्रभु-प्रिय होते हुए हम **समर्ये**=(संग्रामे यज्ञे वा—सा०) मनुष्यों के एकत्र होने के स्थानों में अर्थात् युद्धों व यज्ञों के प्रसंग में **वोचेमहि**=उस प्रभु को ही पुकारनेवाले हों। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही तो हम इन युद्धों व यज्ञों में सफल हो पाएँगे। २. **च वयम्**=और हम **पुरा**=सबसे पहले **अनुद्यून्**-दिन-प्रतिदिन **नः**=अपनी **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति

को (वोचेमहि) माँगनेवाले हों। हम सदा पूजा की मनोवृत्तिवाले बने रहें। यह वृत्ति ही हमें महत्त्व प्राप्त कराएगी। ३. **तत्**=ऐसा होने पर **ऋभुक्षाः**=वह महान् प्रभु **नः**=हम **नराम्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवालों के **अनुष्यात्**=अनुकूल हो—हमारे लिए सब अभिमत वस्तुओं को देनेवाला हो।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को जीतकर हम प्रभु के प्रिय बनें। संग्रामों व यज्ञों में प्रभु की आराधना करें। प्रभु से ही पूजा की मनोवृत्ति व अभिमत वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'मान्दार्य, मान्य, कारु' का स्तवन

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ११॥

इस मन्त्र की व्याख्या १६५।१५ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—इस सूक्त का मुख्य विषय यही है कि प्रभु के रक्षणों को प्राप्त करके हम शक्तिशाली बनें (१), तथा शत्रुओं का विजय करके प्रभु के प्रिय बनें (१०)। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१६८] अष्टषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अन्यूनता—अनतिरिक्तता

यज्ञायज्ञा वः समना तुतुर्वणिर्धियंधियं वो देवया उ दधिध्वे।
आ वोऽर्वाचः सुविताय रोदस्योर्महे ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः॥ १॥

१. हे मरुतः=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=तुम्हारी **यज्ञा यज्ञा**=प्रत्येक यज्ञ में **समना**=समता—न न्यूनता, न अधिकता **तुतुर्वणिः**=त्वरा से विघ्नों व शत्रुओं का विजय करनेवाली हो (तूर्णवनिः—यास्क)। तुम प्रत्येक उत्तम कार्य को युक्तचेष्ट होकर करने से निर्विघ्नतया पूर्ण करनेवाले बनो। कार्य का सबसे बड़ा विघ्न यही है कि वह अति व अल्परूप में किया जाता हुआ फलप्रद नहीं होता। २. हे मरुतो! **वः**=(यूयम्—सा०) आप **देवयाः**=देवों को प्राप्त करनेवाले होते हुए **उ**=निश्चय से **धियं धियं**=प्रत्येक ज्ञान व उत्तम कर्म को **दधिध्वे**=धारण करते हो। (धी-प्रज्ञानाम, कर्मनाम—नि०)। माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में रहते हुए ये प्राणसाधक उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके उत्तम कर्मों को ही करनेवाले बनते हैं। ३. हे मरुतो! **वः**=तुम्हें **सुवृक्तिभिः**=उत्तम स्तुतियों व दोषवर्जन से **अर्वाचः आववृत्याम्**=मैं अपने अभिमुख करूँ, ताकि **सुविताय**=मेरे जीवन में सुवित हो—दुरित से मैं दूर होऊँ। **रोदस्योः महे**=द्यावापृथिवी के महत्त्व के लिए मैं आपको अपने अभिमुख करूँ। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक इस प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानोज्ज्वल बने और शरीररूप पृथिवीलोक बड़ा दृढ़ हो। **अवसे**=मैं अपने रक्षण के लिए इन प्राणों को अपने अभिमुख करता हूँ। इस प्राणसाधना से मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) प्रत्येक कर्म युक्तरूप में होता है, (ख) ज्ञान की वृद्धि होती है, (ग) दुरितों से दूर होकर हम सुवितों को अपनाते हैं, (घ) मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर बनते हैं, (ङ) किसी प्रकार के रोग व वासना का आक्रमण नहीं होता।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्रेरणा व प्रकाश की ओर

वव्रासो न ये स्वजाः स्वतवस इषं स्वरभिजायन्त धूतयः।
सहस्त्रियासो अपां नोर्मय आसा गावो वन्द्यासो नोक्षणः॥ २॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **वव्रासो न**=(व्रज गतौ, सद्यो गन्तारः—द०) शीघ्र गतिशील पुरुषों के समान होते हैं अथवा (वव्रिः, इति रूपनाम—सा०) उत्तम रूपवाले होते हैं, **स्वजाः**=आत्मशक्ति का विकास करनेवाले **स्वतवसः**=आत्मिक बलवाले **ये**=जो पुरुष हैं, वे **इषम्** (अभि)=प्रेरणा की ओर तथा **स्वः अभि**=आत्म-प्रकाश की ओर **जायन्त**=अग्रसर होते हैं, अर्थात् ये प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलते हैं और इस प्रेरणा से उन्हें प्रकाश प्राप्त होता है। इसी कारण **ये धूतयः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले होते हैं। २. ये लोग **सहस्त्रियासः**=हजारों **अपाम् ऊर्मयः न**=जलों की लहरों के समान होते हैं। जिस प्रकार नदी में तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार इनके हृदय उल्लासों से तरंगित रहते हैं। इनका उत्साह सदा बना रहता है। ३. **आसा**=मुख से ये **गावः**=गौओं के समान होते हैं। गौएँ जैसे दूध देती हैं, उसी प्रकार ये लोग मुख से ज्ञानदुग्ध देनेवाले होते हैं। ४. **उक्षणः न**=जलों से सींचनेवाले मेघों के समान ये साधक सर्वत्र ज्ञान का सेचन करते हुए **वन्द्यासः**=वन्दनीय व स्तुति के योग्य होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष-प्रभु की प्रेरणा व प्रकाश में चलते हुए वासनाओं को कम्पित करके दूर भगा देते हैं। ये उल्लासमय हृदयवाले होते हुए सदा ज्ञानजल से सभी का सेचन करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

क्रियाशीलता व भोजन

सोमासो न ये सुतास्तृप्तांशवो हृत्सु पीतासो दुवसो नासते।
एषामंसेषु रम्भिणीव रारभे हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च सं दधे॥ ३॥

१. मरुत् अर्थात् प्राण वे हैं **ये**=जो **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः न**=सोमकणों के समान हैं। ये हमारे जीवनों में **तृप्तांशवः**=ज्ञान की किरणों को हर्षित करनेवाले हैं (तृप्=to gladden)। सोमकण सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। प्राण इन सोमकणों को रक्षित करके बुद्धि का वर्धन करनेवाले होते हैं। ये सोमकण, प्राणसाधना के द्वारा, **पीतासः**=शरीर में ही रक्षित किये हुए **हृत्सु**=हृदयों में **दुवसः न**=परिचर्या—उपासना करनेवालों के समान **आसते**=आसीन होते हैं, अर्थात् मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ये ज्ञानवर्धक हैं और हृदय के दृष्टिकोण से उपासना की वृत्तिवाले हैं, एवं प्राणसाधना हमें ज्ञानी व उपासक बनाती है। २. **एषाम्**=इन प्राणसाधकों के **अंसेषु**=कन्धों पर **रम्भिणी इव**=आश्रय लेनेवाली के समान **रारभे**—वेदवाणीरूप 'युवति' (१।१६७।६ के अनुसार) आश्रय करती है, मानो वेदवाणी का इसके साथ परिणय हो जाता है **च**=और **हस्तेषु**=इनके हाथों में **खादिः**=खाद्य भोजन **च**=तथा **कृतिः**=क्रियाशीलता **संदधे**=(सं धीयते) सम्यक् धारण की जाती है। वेदवाणी के अनुसार क्रियाओं को करते हुए ये अपने भोजन का अर्जन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मस्तिष्क में ज्ञान तथा हृदय में उपासना की वृत्ति उत्पन्न होती है।

इस साधना से हमारा वेदवाणी से परिणय होता है और हम क्रियाशील बनकर अपने भोजन को कमानेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

कशया-त्मना

अव स्वयुक्ता दिव आ वृथा ययुरमर्त्याः कशया चोदत त्मना।
अरेणवस्तुविजाता अचुच्यवुर्दृळ्हानि चिन्मरुतो भ्राजदृष्टयः॥ ४॥

१. गत मन्त्र में वर्णित प्राणसाधक पुरुष **अव**-(away) विषयों से दूर होकर **स्वयुक्ता**-आत्मतत्त्व से युक्त हुए-हुए **वृथा**=अनायास ही (easily) **दिवः**=ज्ञानों को—प्रकाशों को **आ ययुः**=प्राप्त होते हैं। इन्हें अन्तःप्रकाश प्राप्त होने लगता है। इस अन्तःप्रकाश के कारण **अमर्त्याः**=ये विषय-वासनाओं के पीछे नहीं मरते और न ही रोगाक्रान्त होते हैं। २. ये साधक **कशया**=(कशा-वाङ्—नि०) वेदवाणी से तथा **त्मना**=आत्मा से **चोदत**=अपने को प्रेरित करते हैं। इनका जीवन वेदवाणी के अनुसार होता है और ये अन्तःस्थित आत्मा की प्रेरणा से कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसी का यह परिणाम है कि ये **अरेणवः**=पाप की धूलि से मलिन नहीं होते, **तुविजाताः**=महान् विकासवाले होते हैं। ३. **भ्राजदृष्टयः**=देदीप्यमान आयुधोंवाले—दीप्त इन्द्रियों, मन व बुद्धिवाले **मरुतः**=प्राणसाधक **दृळ्हानि चित्**=बड़ी दृढ़ भी वासनाओं को **अचुच्यवुः**=हिला देनेवाले होते हैं, दृढ़मूल वासनाओं को भी विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञान प्राप्त करके वेदवाणी के अनुसार अन्तःप्रेरणा के अनुकूल जीवन बिताते हैं। दृढ़मूल वासनाओं को भी विनष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'श्रद्धा'-कर्म-'विद्या'

को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति त्मना हन्वेव जिह्वया।
धन्वच्युत इषां न यामनि पुरुप्रैषा अहन्यो३ नैतशः॥ ५॥

१. हे **ऋष्टिविद्युतः**=अपने 'इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप' आयुधों से चमकनेवाले **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=तुम्हारे **अन्तः**=अन्दर स्थित हुआ-हुआ **कः**=वह (अनिरुक्त) आनन्दमय प्रभु **त्मना**=स्वयं **रेजति**=तुम्हें चला रहा है। उसी प्रकार चला रहा है **इव**-जैसे **जिह्वया**=जिह्वा से **हन्वा**=हनुओं को चलाया जाता है। दो हनुओं के बीच में जिह्वा है। इसी प्रकार इस साधक की श्रद्धा व विद्या के बीच में कर्म होता है। श्रद्धा एक हनु है, विद्या दूसरी हनु। इनके बीच में कर्मरूप जिह्वा है। २. **इषां यामनि**=प्रभु-प्रेरणाओं के मार्ग पर चलते हुए ये **धन्वच्युतः न**=अन्तरिक्ष से (धन्व) उदक का स्रावण करनेवाले मेघों के समान हैं। जैसे मेघ औरों के सन्ताप को हरता है, उसी प्रकार ये साधक अपनी क्रियाओं से औरों के कष्टों को दूर करते हैं। ३. ये व्यक्ति **पुरुप्रैषाः**=वासनाओं को खूब ही कुचलनेवाले होते हैं (प्रैष= crushing) और **एतशः न**=उस घोड़े के समान होते हैं जोकि **अहन्यः**=न मारने योग्य है। बिना ही चाबुक के आघात के जैसे एक उत्तम घोड़ा मार्ग पर चलता है, उसी प्रकार ये व्यक्ति स्वतः ही धर्ममार्ग पर चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक प्रभु से सञ्चालित जीवनवाले होते हैं। श्रद्धा और विद्यापूर्वक कर्मों को करते हैं। वासनाओं को कुचलकर धर्ममार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

परले पार

क्व स्विदुस्य रजसो महस्परं क्वावरं मरुतो यस्मिन्नायय।
यच्च्यावयथ विथुरेव संहितं व्यद्रिणा पतथ त्वेषमर्णवम्॥ ६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **अस्य महः रजसः**=इस विशाल ब्रह्माण्ड का **परं क्वस्वित्**=परला सिरा कहाँ? और **क्व अवरम्**=निचला सिरा कहाँ? इन दोनों में तो आकाश-पाताल का अन्तर है। हे प्राणसाधको! इस परले सिरे से निचला सिरा बहुत पीछे रह गया है। यह परला सिरा सचमुच (पर) उत्कृष्ट है; **यस्मिन् आयय**=जिसमें आप अब आ गये हो। इस अश्मन्वती नदी के अवर किनारे पर सब अशुभों को छोड़कर आप शिव वाजोंवाले परले किनारे पर पहुँच गये हो। २. **यत्**=जब आप **संहितम्**=बड़ी दृढ़ता से मानसक्षेत्र में स्थापित वासनाओं को **विथुरा इव**-अत्यन्त शिथिल वस्तुओं के समान **च्यावयथ**=पृथक् कर देते हो तो **अद्रिणा**=आदरणीय प्रभु के साथ **विपतथ**=विशिष्ट मार्ग पर गति करते हो और **त्वेषम्**=दीप्त **अर्णवम्**=ज्ञान-समुद्र को (विपतथ) प्राप्त करते हो। वेद में वेदज्ञान के लिए 'रायः समुद्राँश्चतुरः' इन शब्दों में समुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है।

भावार्थ—हमें इस संसाररूपी अश्मन्वती नदी के परले पार पहुँचना है। उसके लिए प्राणसाधना के द्वारा वासनाओं का उन्मूलन करना है। वासना के उन्मूलन के लिए ही प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्यों को करना है और ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्वाध्याय में प्रवृत्त होना है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अमवती, जञ्जती

सातिर्न वोऽमवती स्वर्वती त्वेषा विपाका मरुतः पिपिष्वती।
भद्रा वो रातिः पृणतो न दक्षिणा पृथुज्रयी असुर्येव जञ्जती॥ ७॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः सातिः**-आपकी प्राप्ति अर्थात् साधना द्वारा आपको अपनाना **न अमवती**=रोगोंवाला नहीं है, अर्थात् आपकी साधना से साधक नीरोग बनता है। आपकी यह प्राप्ति नीरोगता देने के कारण **स्वर्वती**=सब सुखों को देनेवाली है, **त्वेषा**=दीप्तिवाली है। प्राणसाधना से अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति होती ही है। **विपाका**=आपकी साधना ज्ञान के द्वारा हमारे जीवनों को परिपक्व करनेवाली है, **पिपिष्वती**=वासनाओं को यह पीस देनेवाली है। २. हे प्राणो! **वः रातिः**=पूर्वार्द्ध में वर्णित आपकी देन 'नीरोगता, सुख, दीप्ति, परिपक्वता व वासनाविनाश' **भद्रा**=कल्याण करनेवाली हैं। वस्तुतः ये सब वस्तुएँ मिलकर ही कल्याण है। आपकी देन इस प्रकार कल्याण करनेवाली है **न**=जैसे **पृणतः**=दान देनेवाले का **दक्षिणा**=दान कल्याण करता है। दान लोभवृत्ति को नष्ट करके वासनाओं का उन्मूलन करता है, इस प्रकार यह प्राणसाधना वासनाओं का पेषण करती है। ३. यह प्राणसाधना **पृथुज्रयी**=खूब वेगवाली है। नीरोगता लाकर हमारे जीवनों में स्फूर्ति देनेवाली है। **असुर्या इव**=उस महान् असुर—प्राणशक्ति के दाता प्रभु की प्राप्ति के लिए साधनभूत है, तथा **जञ्जती**=हमारे सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाली है। प्राणसाधना से हमारा प्रभु से मेल होता है और हमारे सब शत्रुओं का विनाश होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सर्वथा नीरोग बनाती है व हमारे जीवनों का ठीक परिपाक करके हमें प्रभु से मिलाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

मानस जप व वासना-विनाश

प्रति ष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति।
अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रुष्णुवन्ति॥ ८॥

१. **यदि**=यदि **मरुतः**=प्राण, प्राणसाधना के होने पर **घृतम्**=हमारे जीवनों में मलों के क्षरण को तथा ज्ञानदीप्ति को **प्रुष्णुवन्ति**=सींचते हैं, अर्थात् हमें स्वस्थ व दीप्त मस्तिष्क बनाते हैं तो **सिन्धवः**=(स्यन्दते) नदियों की भाँति कर्म-प्रवाह में चलनेवाले व्यक्ति **पविभ्यः**=(पवि=speech) ज्ञानवाणियों के द्वारा **प्रतिष्टोभन्ति**=वासनाओं को रोकनेवाले बनते हैं। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए ये व्यक्ति वासनाओं से ऊपर उठते हैं। २. वासनाओं से ये इसलिए भी ऊपर उठ पाते हैं **यत्**=क्योंकि ये लोग **अभ्रियां वाचम्**=हृदयान्तरिक्ष में होनेवाली—नामजपन की वाणी को **उदीरयन्ति**=उच्चरित करते हैं। इस मानस जप का यह भी परिणाम होता है कि इनके हृदय में अशुद्ध भाव उत्पन्न ही नहीं होते। ३. इस प्रकार वासनाओं का विनाश होने पर **पृथिव्याम्**=इनके शरीर में **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तियाँ **अवस्मयन्त**=मुस्करा उठती हैं, विकसित हो जाती हैं। इनका अन्नमयकोश तेज से, प्राणमयकोश वीर्य से, मनोमयकोश ओज व बल से, विज्ञानमयकोश मन्यु से तथा आनन्दमयकोश सहस् से परिपूर्ण हो उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनोनिरोध होकर एकाग्र मन से मानस जप होने पर सब व्यसनों का विनाश होकर शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

महान् प्रभु का प्रादुर्भाव

असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमयासां मरुतामनीकम्।
ते सप्सरासोऽजनयन्ताभ्वमादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्॥ ९॥

१. **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्) गत मन्त्र के अनुसार दीप्तियों का अपने साथ सम्पर्क करनेवाला प्राणसाधक पुरुष **महते रणाय**=महान् सौन्दर्य के लिए, जीवन को अत्यन्त रमणीय बनाने के लिए **अयासाम्**=निरन्तर गतिशील **मरुताम्**=प्राणों के **त्वेषम्**=दीप्त **अनीकम्**=बल को **असूत**=अपने में उत्पन्न करता है। प्राणसाधक प्राणसाधना से दीप्तियुक्त बल को प्राप्त होता है। उसका बल भी बढ़ता है और ज्ञान की दीप्ति भी। **ते**=वे **सप्सरासः**=(सप् समवाये, सृ गतौ) प्रभु के मेल के साथ गतिवाले पुरुष **अभ्वम्**=उस महान् प्रभु को **अजनयन्त**=अपने में प्रादुर्भूत करते हैं और **आत् इत्**=इस प्रभु के पादुर्भाव के साथ ही वे अपने अन्दर **इषिराम्**= गतियों के कारणभूत **स्वधाम्**=आत्मधारण-शक्ति को **पर्यपश्यन्**=देखते हैं। इनमें उस आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिससे कि ये गतिशील बने रहते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्राणों के दीप्ति-बल को सिद्ध करके श्रद्धा से प्रभु में गति करता हुआ प्रभु का दर्शन करता है और अपने में उस आत्मधारण-शक्ति को अनुभव करता है जो उसे सतत क्रियामय बनानेवाली होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

इषं, वृजनं, जीरदानुम्

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १०॥

१६५।१५ पर यह मन्त्र व्याख्यात हुआ है।

विशेष—इस सूक्त का मुख्य विषय यही है कि प्राणसाधना के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होते हुए हम प्रभु का दर्शन करें। अगले सूक्त में इस प्रभु का ही 'इन्द्र'-रूप में वर्णन है—

[१६९] एकोनसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

विघ्नविनाशक प्रभु

महश्चित्त्वमिन्द्र यत एतान्महश्चिदसि त्यजसो वरूता।
स नो वेधो मरुतां चिकित्वान्त्सुम्ना वनुष्व तव हि प्रेष्ठा॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **चित्**=निश्चय से **महः**=महान् हैं, **यतः**=क्योंकि आप **एतान्**=इन प्राणसाधकों को **महः चित् त्यजसः**=बड़ी-बड़ी भी कठिनताओं से (त्यजस्=difficulty) **वरूता असि**=निवारण करनेवाले हैं। प्राणसाधकों की कठिनताओं को दूर करके आप उनका रक्षण करते हैं। २. हे **वेधः**=सृष्टि के विधाता प्रभो! **सः**=वे आप **नः मरुताम्**=हम प्राणसाधकों का **चिकित्वान्**=ध्यान करते हुए उन **सुम्ना**=(happiness) सुखों को **वनुष्व**=दीजिए जो कि **हि**=निश्चय से **तव**=आपके **प्रेष्ठा**=प्रियतम हैं। हम अल्पज्ञता के कारण अवाञ्छनीय वस्तुओं की भी प्रार्थना कर सकते हैं। आप सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होते हुए हमारे हित की साधक वस्तुओं को ही हमें प्राप्त कराएँगे।

भावार्थ—यह भी प्रभु की महिमा ही है कि उसने प्राणसाधक में अद्भुत शक्ति रक्खी है। इसके द्वारा हम सब विघ्नों से ऊपर उठकर उत्तम सुखों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कर्म से 'वासना-निरोध तथा उत्कृष्ट धन-प्राप्ति'

अयुज्रन्त इन्द्र विश्वकृष्टीर्विदानासो निष्षिधो मर्त्यत्रा।
मरुतां पृत्सुतिर्हासमाना स्वर्मीळ्हस्य प्रधनस्य सातौ॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों में **ते**=वे प्राणसाधक पुरुष **विश्वकृष्टीः**=श्रमसाध्य कृषि आदि निर्माणात्मक सब कर्मों को (कृष् ति=कृष्टि=कृषि) **अयुज्रन्**=अपने साथ संयुक्त करते हैं। इस प्रकार उत्तम कर्मों में लगे हुए ये **विदानासः**=ज्ञानी बनते हैं और **निष्षिधः**=व्यसनों का अपने से निषेध करते हैं, अपने जीवन में व्यसनों का प्रवेश नहीं होने देते। २. **मरुताम्**=इन प्राणसाधक पुरुषों की **पृत्सुतिः**=(पृङ् व्यायामे, षुञ् अभिषवे) यह श्रम के कर्मों द्वारा उत्पादन-क्रिया **हासमाना**=दिन-प्रतिदिन विकसित होती चलती है। ये अधिकाधिक श्रमशील होकर निर्माण करने में लगते हैं। यह 'पृत्सुति' इनके लिए **स्वर्मीळ्हस्य**= सुखों के सेचन करनेवाले **प्र-धनस्य**=प्रकृष्ट धनों की **सातौ**=प्राप्ति का निमित्त बनती है। श्रमशील कर्मों में लगे रहने से जहाँ ये वासनाओं से बचे रहते हैं, वहाँ सुखप्रद उत्तम धन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—श्रमसाध्य उत्तम कर्मों में लगे रहने से मनुष्य (क) वासनाओं को रोक पाता है, (ख) प्रकृष्ट धन को प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञानी पुरुषों का यही मार्ग है। इस प्रकार वे वासनानिरोध से 'निःश्रेयस' को तथा उत्कृष्ट धन से 'अभ्युदय' को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

सनातन महान् वेदज्ञान

अभ्यक्सा त॑ इन्द्र ऋष्टिर॒स्मे सने॒म्यभ्वं॑ म॒रुतो॑ जुनन्ति।
अ॒ग्निश्चि॒द्धि ष्मा॑त॒से शु॑शु॒क्वानापो॒ न द्वी॒पं दध॑ति॒ प्रयां॑सि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते**=आपकी **ऋष्टिः**=गतिशीलता (ऋष्=to go), वासनाओं का संहार (ऋष्=to kill) तथा ज्ञान (ऋषिर्दर्शनात्) **अस्मे अभ्यक्**=(to wards, near) हमें समीपता से प्राप्त हो। **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **सनेमि**-उस पुराण, सनातन **अभ्वम्**=महान् वेदज्ञान को **जुनन्ति**=(जुन्=to move) अपने में प्रेरित करते हैं। वेदज्ञान शाश्वत है, महान् है। यह प्रभु का नित्य ज्ञान है और सब सत्य विद्याओं का आधार है। प्राणसाधना से हृदय पवित्र होता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार हम इस वेद ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य बनते हैं। २. इस ज्ञान को प्राप्त करके यह **अतसे शुशुक्वान्**=शुष्ककाष्ठों में दीप्त होनेवाली **अग्निः चित् हि स्म**-निश्चय से अग्नि ही बनता है। जैसे अग्नि दीप्त होती है, यह दीप्त मस्तिष्कवाला बनता है। ज्ञानदीप्त होकर ये लोग उसी प्रकार **प्रयांसि दधति**=प्रयत्नों को धारण करते हैं **न**-जैसे कि **आपः**=जल **द्वीपम्**=एक द्वीप को। 'द्विर्गता आपो यस्मिन्'—इस व्युत्पत्ति से द्वीप वह होता है जिसके इधर भी जल होते हैं, उधर भी। इसी प्रकार इन ज्ञानदीप्त लोगों के इधर भी प्रयत्न होते हैं, उधर भी, अर्थात् ऐहलौकिक प्रयत्नों से ये अभ्युदय को सिद्ध करते हैं तो पारलौकिक प्रयत्नों से निःश्रेयस को।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करानेवाला 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

दान व माधुर्य

त्वं तू न॑ इन्द्र॒ तं र॒यिं दा॒ ओजि॑ष्ठया॒ दक्षि॑णयेव रा॒तिम्।
स्तुत॑श्च॒ यास्ते॑ च॒कन॑न्त वा॒योः स्तनं॒ न मध्वः॑ पीपयन्त॒ वाजैः॑॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**-आप **नः**=हमें **तु**=निश्चय से **तं रयिं दाः**=वह धन दीजिए **इव**=जैसे आप **ओजिष्ठया**=ओजस्वी बनानेवाला **दक्षिणया**=दक्षिणा के हेतु से **रातिम्**=देने योग्य धन को दिया करते हैं। वस्तुतः प्रभु धन देते इसलिए हैं कि हम उसका दान में विनियोग करें। धन मुख्य रूप में उपयोग के लिए नहीं मिलता। धन का प्रथम उद्देश्य दान और दूसरा उद्देश्य भोग होता है। इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें। २. **च याः स्तुतः**=जो स्तुति करनेवाले उपासक लोग हैं वे **ते वायोः**=तुझ वायु की—गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले की **चकनन्त**=कामना करते हैं, वे **वाजैः**=अन्नों से **स्तनं न**=जैसे दूध को उसी प्रकार (वाजैः) त्याग व ज्ञान के द्वारा **मध्वः**=माधुर्य का **पीपयन्त**=वर्धन करते हैं। आपको प्राप्त करने के लिए यह माधुर्य आवश्यक है।

भावार्थ—उपासक धन का मुख्य विनियोग दान के रूप में करते हैं और प्रभु का स्तवन करते हुए त्याग व ज्ञान के द्वारा अपने जीवन में माधुर्य का वर्धन करते हैं। उपासक दानशील व मधुर जीवनवाला होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

धन+सत्संग

त्वे राय इन्द्र तोशतमाः प्रणेतारः कस्य चिदृतायोः।
ते षु णो मरुतो मृळयन्तु ये स्मा पुरा गातूयन्तीव देवाः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**-परमात्मन्! **त्वे रायः**-आपके पास वे धन हैं जो **तोशतमाः**=(तुश निबर्हणे) वासनाओं का संहार करनेवाले हैं। वे धन **कस्य चित्**=आनन्दमय स्वभाववाले **ऋतायोः**=यज्ञशील पुरुष को **प्रणेतारः**=आगे ले-चलनेवाले हैं अर्थात् ये धन उसकी चिन्ताओं को नष्ट करके उसे सुखी करते हैं, साथ ही यज्ञों को करने के लिए सक्षम बनाते हैं। ये ही धन ऋतायु से भिन्न किसी पुरुष को प्राप्त हो जाते हैं तो उसे शराब-मांस में प्रवृत्त कर देते हैं। ये धन प्रायः अन्याय-मार्गों से ही अर्जित किये हुए होते हैं। २. धन के दुष्परिणामों का ध्यान करते हुए लोग प्रार्थना करते हैं कि **ते**=वे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष अपने उत्तम उपदेशों के द्वारा **नः**=हमें **सुमृळयन्तु**=अच्छी प्रकार सुखी करें **ये**=जो कि **स्म**=निश्चय से **पुरा**=हमसे पूर्व **देवाः**=देववृत्ति के बनकर सदा **गातूयन्ति इव**=मार्ग पर चलने की ही कामना करते हैं (इव=एव), अर्थात् सदा यज्ञों के प्रति जाने की ही इच्छा रखते हैं। इनके सम्पर्क में आने से हम भी धनों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही करेंगे और धन के दुष्परिणामों से बचे रहेंगे। गत मन्त्र के अनुसार धन का मुख्य विनियोग तो वस्तुतः दान ही है। यह समझ लेने पर हम अपनी आवश्यकताओं को व्यर्थ में न बढ़ाते हुए अपने को इस संसार-समुद्र में डुबा नहीं लेते।

भावार्थ—हमें सदा सुमार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधकों का संग प्राप्त हो। उनकी प्रेरणा से हम भी धनों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करनेवाले बनें और इस प्रकार वैषयिक वृत्तियों से बचे रहें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

धन का मुख्य प्रयोजन दान

प्रति प्र याहीन्द्र मीळ्हुषो नॄन्महः पार्थिवे सदने यतस्व।
अध यदेषां पृथुबुध्नास एतास्तीर्थे नार्यः पौंस्यानि तस्थुः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! आप **महः**=पूजा की वृत्तिवाले **मीळ्हुषः**=प्राजापत्य यज्ञ में धनों की वर्षा करनेवाले—उदारता से दान देनेवाले **नॄन्**=प्रगतिशील पुरुषों को **प्रति प्र याहि**=प्राप्त होओ। इनको प्राप्त होकर इनके **पार्थिवे सदने**=हृदयान्तरिक्षरूप पार्थिव गृह में **यतस्व**=(Stir up, rouse) स्थित होकर इन्हें उत्साहित कीजिए। आपकी प्रेरणा से ये धनों के और भी अधिक देनेवाले हों। २. आपकी प्राप्ति होने पर **अध**=अब **एषाम्**=इन दान की वृत्तिवाले पुरुषों में **यत्**=जब कुछ **पृथुबुध्नासः**=विशाल आधारवाले **एताः**=(श्वेताः, shining) शुद्ध, दीप्त जीवनवाले मनुष्य होते हैं, वे **पौंस्यानि तस्थुः**=बलों का अधिष्ठातृत्व करते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **अर्यः**=एक वैश्य **तीर्थे**=घाट पर (वैश्य लोग **तीर्थों**=घाटों पर) स्थित नावों के द्वारा दूर-दूर जाकर व्यापार करते हैं। ये 'पृथुबुध्न एत' लोग भी बलों का अधिष्ठातृत्व करते हुए अपने जीवन को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु उन्हें ही प्राप्त होते हैं जो धनों का लोकहित के कार्यों में विनियोग करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वासनाओं के आक्रमण से रक्षण

प्रति॑ घो॒राणा॑मे॒ताना॑म॒यासां॑ म॒रुतां॑ शृण्व आय॒ताम॑ुप॒ब्दिः।
ये मर्त्यं॑ पृतना॒यन्त॒मूमै॑र्ऋणा॒वानं॒ न प॒तय॑न्त॒ सर्गैः॑॥ ७॥

१. **घोराणाम्**=उदात्त, उत्कृष्ट अथवा रोग व वासनादि शत्रुओं के लिए भयंकर **एतानाम्**-(Shining) निर्मलता को उत्पन्न करने के कारण दीप्त, **अयासाम्**=निरन्तर गतिशील, **आयताम्**=शरीर में सर्वत्र गति करते हुए **मरुताम्**=प्राणों का **उपब्दिः**-स्तुतिवचन **प्रतिश्रृण्वे**-प्रतिदिन सुनाई पड़ता है। प्राणसाधक का जीवन उदात्त (घोर) बनता है, ज्ञान से दीप्त होता है। इसमें गमनशीलता होती है। यह प्राणसाधक सदा क्रियाशील होता हुआ प्रभु का स्मरण करता है। २. मरुत्=प्राण वे हैं, **ये**=जो **पृतनायन्तम्**=वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले **मर्त्यम्**=मनुष्य को **ऊमैः**=रक्षणों के साथ **पतयन्त**=प्राप्त होते हैं। **न**=जिस प्रकार **ऋणावानम्**-ऋणी पुरुष के प्रति **सर्गैः**=दृढ़ निश्चय के साथ पतयन्त=जाते हैं। ऋणी से ऋण वापस लेने के लिए जैसे धनी पुरुष दृढ़ निश्चय के साथ जाता है, उसी प्रकार मरुत् (प्राण) साधना करनेवाले को रक्षण के उद्देश्य से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष को वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कैसी सम्पत्तियाँ

त्वं माने॑भ्य इन्द्र वि॒श्वज॑न्या रदा॑ म॒रुद्भिः॑ शु॒रुधो॑ गोअ॑ग्राः।
स्तवा॑नेभिः स्तवसे देव दे॒वैर्वि॒द्यामे॒षं वृ॒जनं॑ जी॒रदा॑नुम्॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **मानेभ्यः**=पूजा करनेवालों के लिए—उपासकों के लिए **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **विश्वजन्याः**=सर्वलोकहितकारी अथवा सब शक्तियों के विकास के लिए उत्तम **शुरुधः**=शोक को रोकनेवाली, दुःखों को दूर करनेवाली **गो अग्राः**=ज्ञानवाणियों के प्रमुख स्थानवाली—ज्ञान-प्राप्ति के साधनों को जुटाने में लगनेवाली सम्पत्तियों को **रदा**-लिखते हैं, अर्थात् प्राप्त कराते हैं। २. इन सम्पत्तियों को प्राप्त करके ये देव आपका स्तवन करते हैं। आपके स्तवन के अभाव में इन सम्पत्तियों की ही विपत्तियाँ बन जाने की आशंका होती है। ये सम्पत्तियाँ विश्वजन्य नहीं रहतीं, भोगविलास का साधनमात्र रह जाती हैं, ये शोकवर्धक होती हैं और मनुष्य को ज्ञान से दूर ले-जाती हैं। इसलिए **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **स्तवानेभिः**-द्युतिशील **देवैः**=इन देववृत्ति के पुरुषों से **स्तवसे**=स्तुति किये जाते हैं। इस प्रकार स्तुति से आराधित आपसे हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन को **व जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु की पूजा करें। प्रभु हमें वे सम्पत्तियाँ दें जोकि सर्वलोकहितकारी—हमारी सब शक्तियों का विकास करनेवाली, शोक को दूर करनेवाली व ज्ञान का उपकरण बननेवाली हों।

विशेष—इस सूक्त का विषय यही है कि हम धन तो प्राप्त करें, परन्तु वह धन हमारे ह्रास का कारण न होकर वृद्धि का ही कारण बने। इस बात के लिए अगले सूक्त में कहते हैं कि हम व्रती जीवनवाले हों और प्राणशक्ति के वर्धन के उद्देश्य से ही सब क्रियाओं को करें—

[१७०] सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

चित्त की अस्थिरता

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यद् अद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥ १॥

१. इन्द्र और अगस्त्य के संवाद के रूप में यह सूक्त है। इन्द्र परमैश्वर्यशाली प्रभु है, अगस्त्य—'अगं अस्यति' कुटिलता को छोड़नेवाला जीव है। जीव व्रत लेता है, परन्तु उसे छोड़ बैठता है या कई बार तो प्रारम्भ ही नहीं करता। प्रभु कहते हैं **नूनं न अस्ति**=निश्चय से पहले तो जीव व्रत लेता ही नहीं, फिर उसे आज ही आरम्भ करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। **नो श्वः**=कल भी वह आरम्भ नहीं होता। 'कल-कल' के रूप में वह टलता ही रहता है। इसी कारण **कः**=कौन है जो **तत् वेद**=उस स्थिति को जाने **यत् अद्भुतम्**=जो अद्भुत है। प्राणसाधना का व्रत लें, उस व्रत का दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक पालन करें तो योग की उन सिद्धियों को क्यों न प्राप्त करेंगे जोकि वस्तुतः ही अद्भुत हैं। २. परन्तु **अन्यस्य**=सामान्य मनुष्य का **चित्तम्**=चित्त **संचरेण्यम्**=चरणशील है, भटकनेवाला है। इसीलिए यह किसी भी व्रत को दीर्घकाल तक निभा नहीं पाता। **उत**=और **आधीतम्**=(आध्यातं चिन्तितम्—सा०) सोची हुई बात भी **विनश्यति**=(णश अदर्शने) दो दिन बाद जीवन में दिखती नहीं। 'चार दिन की चाँदनी और फिर अँधेरी रात'। यह कहावत ही प्रायः उनके जीवन पर सदा लागू रहती है। उन्नति हो तो कहाँ से हो?

भावार्थ—चित्त की अस्थिरता के कारण व्रतों का पालन नहीं होता और उन्नति सम्भव नहीं होती।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

इन्द्र के भ्राता मरुत्

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः॥ २॥

१. अगस्त्य 'इन्द्र' को सम्बोधन करके कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **किम्**=क्या आप **नः**=हमें **जिघांससि**=(हन् गतौ) प्राप्त होने की—हमारे प्रति आने की कामना करते हैं? हम भी तो **तव भ्रातरः**=आपके भाई ही हैं। आाप हमें प्राप्त हों तो हम **मरुतः**=मितभाषी होते हुए (मितराविणः) खूब क्रियाशील बनें (महद् द्रवन्तीति वा)। २. **तेभिः**=उन अपने भाइयों के साथ रहते हुए आप **साधुया**=सुन्दरता से **कल्पस्व**=उनके जीवन को बनाइए। **नः**=हमें **समरणे**=इस जीवन-संग्राम में **मा वधीः**=नष्ट मत होने दीजिए। आपके साहाय्य से हम अपने सब शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों और उनकी शक्ति से हम वासनाओं का संहार करके अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अतिमान से दूर होना

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि॥ ३॥

१. **अगस्त्य**-जीव ने गत मन्त्र में इन्द्र से कहा था कि हम भी तो आपके भाई मरुत् हैं। इस पर इन्द्र कहता है कि हे **अगस्त्य**=कुटिलगति को छोड़नेवाले जीव! **नः भ्रातः**=हमारे भाई! **सखा सन्**-हमारे मित्र होते हुए तुम **किम्**=क्यों **अति मन्यसे**-अतिमान करते हो हमारा ध्यान न करके अन्य ही बातों में उलझे रहते हो। २. हमने **ते मनः यथा**-तेरा मन जिस प्रकार का है उसे **हि**-निश्चय से **विद्म**=समझ लिया है। तू **इत्**-निश्चय से **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए इस मन को **न दित्ससि**-नहीं देना चाहता। कुछ देर तो तुझे अन्य बातों से हटकर मनोयोग से हमारे साथ भी बात करनी ही चाहिए। अपने सखा की एकदम उपेक्षा करना भी क्या ठीक है?

भावार्थ—मनुष्य को प्रभु स्मरण अवश्य करना चाहिए। प्रभु से दूर होते ही अतिमान हमें आ घेरता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

जीवन को यज्ञमय बनाना

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै॥ ४॥

१. प्रभु कहते हैं कि अतिमान को छोड़कर ऐसा करो कि तुम्हें दी गईं 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सब **वेदिम्**=इस मानव-शरीररूप वेदि को **अरं कृण्वन्तु**-अलंकृत करें और **पुरः**= सबसे पूर्व इस वेदि में **अग्निम्**=ज्ञानाग्नि को **समिन्धताम्**=समिद्ध करें। आचार्यों की कृपा से इस ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' की समिधाएँ डाली जाएँ। इसे लोकत्रयी के पदार्थों का खूब ज्ञान हो। २. **तत्र**=वहाँ—उस ज्ञानयज्ञ में **अमृतस्य**=उस अमृत प्रभु का **चेतनम्**=ज्ञान हो। अमृत प्रभु के ज्ञान से तुम्हारा जीवन भी अमृतवाला हो। तुम संसार के विषयों के पीछे ही मरनेवाले न रह जाओ। इस प्रकार इस शरीररूप यज्ञवेदि में **ते यज्ञम्**=तेरे इस जीवन-यज्ञ को **तनवावहै**=हम और आप मिलकर विस्तृत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण यही है कि हम शरीर को यज्ञवेदि समझें। इसमें ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा देखें। प्रभु से मिलकर जीवन को यज्ञ का रूप दें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वसुपति व मित्रपति का पूजन

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि॥ ५॥

१. 'अगस्त्य' इन्द्र का आराधन करते हुए कहता है कि हे **वसुपते**=सब धनों के स्वामिन्! **त्वम्**=आप ही **वसूनाम् ईशिषे**=सब धनों के ईश हो। हे **मित्रपते**-सब मित्रों के रक्षक प्रभो! **त्वम्**=आप ही **मित्राणाम्**=अपने को पापों व मृत्यु से बचानेवालों के (प्रमीतेः त्रायते), **धेष्ठः**=अधिक-से-अधिक उत्तमता से धारण करनेवाले हो। वस्तुतः आप ही सब वसुओं को प्राप्त कराके हमें पापों व मृत्यु से बचने के योग्य बनाते हो। २. हे **इन्द्र**= परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**-आप **मरुद्भिः**=हम मितरावी व क्रियाशील पुरुषों के साथ **संवदस्व**=अनुकूल होओ। हमें सदा आपकी प्रेरणा प्राप्त हो और **अध**-अब आप **ऋतुथाः**= समय-समय के अनुसार **हवींषि**=हमारी हवियों को **प्राशान**-ग्रहण करनेवाले हों। हम आपकी प्रेरणा को प्राप्त करके सदा हविवाले बनें (हु दानादनयोः) त्यागपूर्वक अदन ही हमारे जीवन का सूत्र हो। इसी से तो

हम आपके अधिक-से-अधिक समीप प्राप्त होनेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सब वसुओं के द्वारा हमारा धारण करते हैं। प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए हम हविर्मय जीवनवाले हों।

विशेष—सूक्त का सार यह है कि मनुष्य व्रती हो (१)। प्रभु के सहाय से अध्यात्म-संग्राम में विजयी हो (२)। थोड़ी देर के लिए प्रतिदिन प्रभु का ध्यान अवश्य करना (३)। ज्ञानयज्ञ के द्वारा प्रभु की उपासना करना (४)। उस प्रभु को ही सब वसुओं का पति जानना (५)। अगले सूक्त का ऋषि भी अगस्त्य ही है—

[१७१] एकसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणायाम के लाभ

प्रति व एना नमसाहमेमि सूक्तेन भिक्षे सुमतिं तुराणाम्।
रराणता मरुतो वेद्याभिर्नि हेळो धत्त वि मुचध्वमश्वान्॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **एना नमसा**=इस नमन के साथ हे **मरुतः**=प्राणो! **वः प्रति एमि**=तुम्हारे प्रति आता हूँ। प्राणायाम करता हुआ मैं जहाँ प्राणसाधना करता हूँ, वहाँ प्रभु के प्रति नमन भी करता हूँ। २. इस प्राणायाम व प्रभु-नमन के साथ मैं **सूक्तेन**=(सु+उक्त) मधुर शब्दों के द्वारा **तुराणाम्**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापृत होनेवाले (त्वरा संभ्रमे) अथवा वासनाओं का संहार करनेवाले (तुर्वी हिंसायाम्) आचार्यों की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **भिक्षे**=माँगता हूँ। आचार्यों के प्रति सदा मधुर शब्दों का प्रयोग करता हुआ उनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करता हूँ। ३. हे **मरुतः**=प्राणो! **रराणता**=प्रभु में रमण करनेवाले मन से, प्रभु-उपासना में उल्लास प्राप्त करनेवाले मन से तथा **वेद्याभिः**=ज्ञान के योग्य विद्याओं के द्वारा—हमारी ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करके **हेळः**=क्रोध को **निधत्त**=(निकृष्टं धारयत) नीचे धारण करो, अर्थात् प्राणसाधना से हमारा मन उपासना व ज्ञान में लगे और क्रोध को हम अपने से दूर कर सकें। हे प्राणो! आप **अश्वान्**=हमारे इन्द्रियरूप अश्वों को **विमुच्यध्वम्**=विषयों से पृथक् करो।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम (क) मन को प्रभु में रमण करनेवाला बनाएँ, (ख) ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ज्ञान-वृद्धि करें, (ग) क्रोध व घृणा से ऊपर उठें, (घ) इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रद्धा व इच्छापूर्वक किया गया स्तवन

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान्हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद् वृधासः॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **एषः**=यह **वः स्तोमः**=तुम्हारा स्तवन **नमस्वान्**=नमस्वाला है। तुम नम्रतापूर्वक प्रभुस्तवन में प्रवृत्त होते हो। यह **हृदा तष्टः**=हृदय से बनाया गया है। यह स्तवन हृदय के अन्तस्तल से (from the bottom of the heart) स्फुरित हुआ है। **मनसा धायि**=मन से धारण किया गया है। श्रद्धा व प्रबल इच्छा के साथ यह स्तुति की गई है। २. प्रभु कहते हैं कि **देवाः**=हे देववृत्ति के पुरुषो! **मनसा जुषाणाः**=मन से इस स्तवन का

सेवन करते हुए तुम **ईम्**-निश्चय से **उप आयात**-मुझे समीपता से प्राप्त होओ। **यूयम्**=तुम **इत्**=निश्चयपूर्वक **हि**=ही **नमसः वृधासः**=नमन की वृत्ति के बढ़ानेवाले **स्थ**=हो। तुम अधिक और अधिक नमन की वृत्ति को अपने में बढ़ाते हो—इस नमन की वृत्ति द्वारा मेरे समीप आते जाते हो।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष नम्रतापूर्वक प्रभु का स्तवन करते हुए अधिकाधिक प्रभु के समीप आते जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तुति व अधिकाधिक शान्ति

स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा॥ ३॥

१. **स्तुतासः**-(स्तुतमस्यास्तीति स्तुतः) प्रभु का स्तवन करनेवाले **मरुतः**=ये प्राण **नः**=हमें **मृळयन्तु**=सुखी करें। हम प्राणों का संयम करें। प्राणसंयम से चित्त का संयम करके हम प्रभु की ओर झुकाववाले हों। **उत**-और **स्तुतः**=स्तुति किया गया वह **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **शम्भविष्ठः**=हमें अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। २. **नः**=हमारे **कोम्या**=(सोम्या) सौम्यता से सम्पन्न अथवा (काम्यानि—द०) प्रशंसनीय **वनानि**=सम्भजन व उपासन **ऊर्ध्वा सन्तु**-अधिक और अधिक उत्कृष्ट होते चलें। ३. इस प्रकार स्तवन में प्रवृत्त हुए हम लोगों को **विश्वा अहानि**=सब दिन हे **मरुतः**-प्राणो! **जिगीषा**=काम-क्रोधादि को जीतने की इच्छा से **ऊर्ध्वा सन्तु**=उत्कृष्ट होते चलें। जो दिन वासनाओं को जीतने की इच्छा व प्रयत्न से बीतता है, वही दिन हमारे उत्कर्ष का कारण बनता है।

भावार्थ—हमारी स्तवन की वृत्ति बढ़ती चले और हम प्राणसाधना द्वारा वासनाओं को अभिभूत करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पुनः प्रभु के समीप

अस्मादहं तविषादीषमाण इन्द्राद्भिया मरुतो रेजमानः।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन्तान्यारे चकृमा मृळता नः॥ ४॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **अहम्**=मैं **अस्मात्**=इस **तविषात्**=बलवान् व सब गुणों में बढ़े हुए **इन्द्रात्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **ईषमाणः**=(पलायमानः=fly away) दूर होता हुआ **भिया रेजमानः**=भय से काँप उठा हूँ। प्रभु की गोद में रहते हुए मुझे किसी प्रकार का भय नहीं था, प्रभु से दूर हुआ और भयभीत हो उठा। २. अतः अब **युष्मभ्यम्**=तुम्हारे लिए **हव्या**=हव्य पदार्थ **निशितानि आसन्**=तीव्र=संस्कृत किये गये हैं। प्राणशक्ति के वर्धन के लिए मैंने हव्य पदार्थों के ही ग्रहण का निश्चय किया है। हम **तानि**=उन सात्त्विक पदार्थों को ही **आरे चकृम**=अपने समीप करते हैं—उन्हीं का सेवन करते हैं। **नः मृळत**=तुम हमें सुखी करो। हव्य पदार्थों का सेवन करते हुए हम तुम्हारी साधना के द्वारा काम-क्रोध आदि व्यसनों को जीतकर फिर प्रभु के समीप हो जाएँ।

भावार्थ—हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हुए प्राणसाधना के द्वारा पुनः प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शक्ति के साथ ज्ञान

येन॒ माना॑सश्चि॒तय॑न्त उ॒स्रा व्यु॑ष्टिषु॒ शव॑सा॒ शश्व॑तीनाम्।
स नो॑ म॒रुद्भि॑र्वृषभ॒ श्रवो॑ धा उ॒ग्र उ॒ग्रेभि॒: स्थवि॑रः सहो॒दाः॥ ५॥

१. हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **येन**=जिन आपसे **मानासः**=(मान पूजायाम्) पूजा करनेवाले लोग **शश्वतीनां व्युष्टिषु**=सनातनकाल से चली आ रही उषाओं के निकलने पर **शवसा**=शक्ति के साथ **उस्राः**=ज्ञान की रश्मियों को **चितयन्ते**=जाननेवाले होते हैं, **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **श्रवः धाः**=ज्ञान का धारण कीजिए। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति को एकाग्र करके हम ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। यह प्राणसाधना हमें ऊर्ध्वरेता बनाकर शक्तिसम्पन्न करती है और हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है। २. हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **उग्रेभिः**=इन उग्र प्राणों के द्वारा आप हमें भी उत्कृष्ट बनाइए। आप **स्थविरः**=अत्यन्त पुराण पुरुष हैं (सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे) और हम पुत्रों के लिए **सहोदाः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली शक्ति को देनेवाले हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही यह शक्ति प्राप्त होती है। आप उन उग्र प्राणों की साधना के द्वारा मुझे भी उग्र बनाइए।

भावार्थ—उषा होते ही हम प्रभु-पूजन में प्रवृत्त हों। प्रभु हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराएँ। प्राणसाधना के द्वारा प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जो हमें उग्र व शत्रुओं का मर्षण करनेवाला बनाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

क्रोध से दूर (अवयातहेळाः)

त्वं पा॑हीन्द्र॒ सही॑यसो॒ नॄन्भवा॑ म॒रुद्भि॒रव॑यातहेळाः।
सु॒प्र॒के॒तेभि॑: सास॒हिर्दधा॑नो वि॒द्यामे॒षं वृ॒जनं॑ जी॒रदा॑नुम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **सहीयसः**=काम-क्रोधादि का अतिशयेन मर्षण करनेवाले **नॄन्**=मनुष्यों को **पाहि**=रक्षित कीजिए और **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **अवयातहेळाः**=हमसे दूर कर दिया है क्रोध व घृणा को जिसने ऐसे **भव**=होओ। प्राणसाधना के द्वारा आप हमें इस योग्य बनाइए कि हम क्रोध व घृणा से ऊपर उठ जाएँ। **सासहिः**=हमारे शत्रुओं का खूब ही मर्षण करनेवाले आप **सुप्रकेतेभिः**=उत्तम ज्ञानों के द्वारा **दधानः**=हमारा धारण कीजिए। इस ज्ञानाग्नि में हमारे सारे शत्रु भस्म हो जाएँ। हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घ जीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम प्रभु के प्रिय रक्षणीय बनें, ज्ञान प्राप्त करके क्रोध से ऊपर उठें।

विशेष—सूक्त का मुख्य विषय यही है कि हम प्राणसाधना से पवित्र व ज्ञानदीप्त होकर प्रभु के अधिकाधिक प्रिय होते हैं। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१७२] द्विसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराड् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

'सुदानवः, अहिभानवः'

चि॒त्रो वो॑ऽस्तु॒ याम॑श्चि॒त्र ऊ॒ती सु॑दानवः। मरु॑तो॒ अहि॑भानवः॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=तुम्हारा **यामः**=मार्ग **चित्रः अस्तु**=अद्भुत है। वस्तुतः प्राणसाधना

से मनुष्य का शारीर, मानस व बौद्धिक स्तर उन्नति के उस शिखर पर पहुँचता है कि देखनेवालों को आश्चर्य होता है। प्राणसाधना से शरीर के रोग दूर होकर दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। मन से सब वासनाएँ दूर होकर मन:प्रसाद प्राप्त होता है। बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय को समझने के योग्य हो जाती है। २. हे **सुदानवः**=(दाप् लवने) वासनाओं व मलिनताओं को काटनेवाले प्राणो! आपका मार्ग (चित्रः) अद्भुत तो है ही वह **ऊती**-रक्षण के लिए होता है। ये प्राण सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के प्रवेश को रोककर हमारा रक्षण करते हैं। ३. हे प्राणो! आप **अहिभानवः**=अहीन दीप्तिवाले हो। आपकी साधना से रेत:कणों की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि समिद्ध होती है और मनुष्य की ज्ञानदीप्ति चमक उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य अद्भुत उन्नति करनेवाला होता है। ये प्राण बुराइयों का खण्डन करनेवाले हैं और उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

क्या तो समीप और क्या दूर

आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ॥ २॥

१. हे **मरुतः**-प्राणो! आप **सुदानवः**=उत्तमता से वासनारूप शत्रुओं को काटनेवाले हो। **सा**=वह **वः**=आपकी **अञ्जती**=हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करती हुई **शरुः**=वासनाओं को नष्ट करनेवाली शक्ति (शृ हिंसायाम्) **आरे**=हमें समीपता से प्राप्त हो और वह २. **अश्मा**-(महाशनो, महापाप्मा) हमें खा जानेवाला पापरूप शत्रु **यम्**=जिसे **अस्यथ**=आप दूर फेंकते हो, (असु क्षेपणे), **आरे**=हमसे दूर हो, आराद्-(दूरसमीपयोः)-शब्द दूर व समीप का वाचक है। पूर्वार्द्ध में समीप का वाचक है और उत्तरार्द्ध में दूर का। प्राणों की वासनानाशक शक्ति हमें समीपता से प्राप्त हो और वासना हमसे दूर हो।

भावार्थ—प्राण वासनाओं को नष्ट करके जीवन को सद्गुणों से सुशोभित करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

तृणस्कन्द का उत्कृष्ट जीवन

तृणस्कन्दस्य नु विशः परि वृङ्क्त सुदानवः। ऊर्ध्वान्नः कर्त जीवसे॥ ३॥

१. जो व्यक्ति प्रभुदर्शन के कारण इन सांसारिक पदार्थों व भोगों को तृणतुल्य समझकर सब व्यवहार करता है वह 'तृणस्कन्द' कहलाता है (स्कन्द=to go, to move)। हे प्राणो! **नु**=अब इस **तृणस्कन्दस्य**-तृणस्कन्द के **विशः**=शरीर में प्रविष्ट 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **परिवृङ्क्त**=अशुभ गुणों से दूर करो। **सुदानवः**=आप अशुभ का खण्डन करनेवाले हैं। २. अशुभों का खण्डन करके **नः**=हमें **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिए **ऊर्ध्वान् कर्त**-ऊपर उठाइए। हम वासनाओं से ऊपर उठें जीवन के उत्कर्ष का यही तो मार्ग है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जब प्रभुदर्शन होता है, तब मनुष्य संसार के पदार्थों को तुच्छ समझने लगता है। इसकी 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सब पापों से दूर हो जाते हैं।

विशेष—सूक्त के तीनों मन्त्र प्राणसाधना के महान् लाभों का वर्णन करते हैं। इस साधना से ही हम इन्द्रियों को जीतकर 'इन्द्र' बनते हैं। यह इन्द्र ही अगले सूक्त का विषय है—

[१७३] त्रिसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु-अर्चन व वासना-विनाश

गाय॑त्साम॑ नभ॒न्यं१॒ यथा॒ वेरर्चा॑म॒ तद्वा॑वृधा॒नं स्व॑र्वत्।
गावो॑ धे॒नवो॑ ब॒र्हिष्यद॑ब्धा॒ आ यत्स॒द्मानं॑ दि॒व्यं विवा॑सान्॥ १॥

१. मन्त्र का ऋषि 'इन्द्र' **साम गायत्**=उपासना-मन्त्र का गान करता है। यह मन्त्र **नभन्यम्**=(नभ हिंसायाम्) उसकी वासनाओं का हिंसन करनेवाला होता है। यह उसी प्रकार उपासना करता है **यथा वेः**=(वेत्ति) जैसे कि जानता है। जितना और जिन शब्दों को वह जानता और समझता है, उन्हीं शब्दों में उपासना करता है। २. हम भी **अर्चाम**=उस प्रभु का अर्चन करते हैं जो **तत्**=(तनु विस्तारे) सर्वत्र विस्तृत—सर्वव्यापक है, **वावृधानम्**=खूब बढ़ा हुआ है, सब गुणों की चरम सीमा है। **स्वर्वत्**=वे प्रकाशमय व सुखस्वरूप हैं। ३. इस उपासना के होने पर **गावः**=पदार्थों का ज्ञान देनेवाली ये ज्ञानेन्द्रियाँ **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली होती हैं तथा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **अदब्धाः**=अहिंसित होती हैं। ये इन्द्रियाँ वासनाओं से आक्रान्त नहीं होतीं। ४. ऐसा होता तभी है **यत्**=जब कि **सद्मानम्**=सबके हृदयों में आसीन होनेवाले **दिव्यम्**=प्रकाशमय प्रभु की **आ विवासान्**=पूजा करते हैं। प्रभु का निवास सबके हृदयों में है। ये प्रभु हमारे हृदय को प्रकाशमय करते हैं। इस प्रकाशमय हृदय में वासनाओं के लिए स्थान नहीं।

भावार्थ—प्रभु का अर्चन हमें वासनाओं से बचाता है। हमारी इन्द्रियाँ विषयों के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होतीं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मिथुनोपासन (विष्णु+लक्ष्मी)

अर्च॒द् वृषा॒ वृष॑भिः॒ स्वेदु॑हव्यैर्मृ॒गो नाश्नो॒ अति॒ यज्जु॑गु॒र्यात्।
प्र म॑न्द॒युर्म॒नां गू॒र्त होता॒ भर॑ते॒ मर्यो॑ मिथु॒ना यज॑त्रः॥ २॥

१. यह इन्द्र **अर्चत्**=प्रभु का अर्चन करता है। अर्चन के कारण **वृषा**=यह शक्तिशाली बनता है। यह **वृषभिः**=शक्तियों के हेतु से तथा **स्व इदुहव्यैः**=आत्मतत्त्व को दीप्त करनेवाले (स्व=आत्मा, इदु=इन्धक) हव्यों के हेतु से **मृगः**=आत्मान्वेषण करनेवाला बनता है। आत्म-निरीक्षण करता हुआ यह कामादि शत्रुओं को नष्ट करके शक्तिशाली बनता है। इसमें त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति जाग्रत् होती है। यह **न अश्नः**=बहुत खानेवाला नहीं बन जाता, पेटू नहीं बनता **यत्**=क्योंकि यह **अतिजुगुर्यात्**=खूब श्रमशील होता है। प्रभु-भक्त को क्रियाशील तो होना ही चाहिए। २. हे **गूर्त**=(गुरी उद्यमने) उद्यमसम्पन्न इन्द्र! तू **मनाम्**=मननीय देवों का **प्रमन्दयुः**=प्रकर्षेण स्तवन करनेवाला होता है। **होता**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है। ३. यह **यजत्रः मर्यः**=यज्ञशील मनुष्य **मिथुना**=परमात्मा और प्रकृति को **भरते**=अपने में धारण करता है। परमात्मा की उपासना से यह निःश्रेयस को सिद्ध करता है तो प्रकृति की उपासना से इसे अभ्युदय प्राप्त होता है। धन से संसार के कार्य चलते हैं, प्रभु के उपासन से मनुष्य मार्गभ्रष्ट नहीं होता। इस प्रकार जीवन-पथ पर आगे बढ़ता हुआ यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक शक्तिशाली बनता है, आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए हव्य का सेवन करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अन्तःस्थित दूत के सन्देश को सुनना

नक्षद्धोता परि सद्म मिता यन्भरद्गर्भमा शरदः पृथिव्याः।
क्रन्ददश्वो नयमानो रुवद्गौरन्तर्दूतो न रोदसी चरद्वाक्॥ ३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सद्म**=ब्रह्मलोकरूप अपने घर को **नक्षत्**=प्राप्त होता है। अब वह (क) **मिता परियन्**=कर्म को माप-तोलकर करता है। गीता के 'युक्तचेष्टस्य कर्मसु' इन शब्दों को अपने जीवन में अनूदित करता है तथा युक्ताहारविहारी तथा युक्तस्वप्नावबोध पुरुष ही प्रभु को पाता है। प्रभु को वह पाता है जोकि (ख) अपने जीवन के वर्षों के अन्त तक **पृथिव्याः गर्भम्**-पृथिवी के गर्भ को—पृथिवी के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को ही **आभरत्**=अपने भरण-पोषण का साधन बनाता है, वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करता हुआ मांसभोजनों से दूर रहता है। २. यह परिमित आहार-विहारवाला, शाकाहारी पुरुष **क्रन्दद् अश्वः**=प्रभु का आह्वान करनेवाली इन्द्रियोंवाला होता है। यह अपनी इन्द्रियों को—अपना-अपना कर्म उत्तमता से करने के द्वारा, प्रभु के पूजन में लगाता है। **नयमानः**=इस प्रकार अपने को उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले-चलता है। **रुवत् गौः**=वेदवाणियों का (गो) उच्चारण करनेवाला (रु) बनता है। **अन्तः दूतः**=अन्तःस्थित प्रभुरूपी दूतवाला होता है, प्रभु से सन्देश प्राप्त करता है और उस सन्देश के अनुसार कार्य करनेवाला बनता है। इन **रोदसी**=द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर में **वाक् चरत् न**=इसकी वाणी नहीं चलती रहती, अर्थात् बातें ही न बनाते रहकर—शुष्क तर्क-वितर्क में ही समय को नष्ट न करके—यह सन्देशानुसार कार्य को करने में लगता है।

भावार्थ—हम युक्ताहारविहारवाले बनें, वानस्पतिक पदार्थों का ही प्रयोग करें। प्रभु के सन्देश को सुनते हुए उसके अनुसार कार्य में तत्पर हों, उसके विरोध में तर्क-वितर्क न करते रहें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

दीप्तकर्मों द्वारा प्रभु-प्राप्ति

ता कर्माषतरास्मै प्र च्यौत्नानि देवयन्तो भरन्ते।
जुजोषदिन्द्रो दस्मवर्चा नासत्येव सुग्म्यो रथेष्ठाः॥ ४॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ता**=उन **अषतरा**=(अष्=to shine, to receive) दीप्ततर अथवा प्रभु से (more acceptable) अधिक स्वीकरणीय **कर्म**=कर्मों को करें (कुर्मः)। कर्मों के द्वारा ही तो प्रभु का उपासन होता है। जितने हमारे कर्म दीप्त होंगे, उतने ही प्रभु से स्वीकरणीय होंगे। २. **देवयन्तः**=इस देव को प्राप्त करने की कामनावाले **च्यौत्नानि**=धनों के क्षरणों अर्थात् दानों का **प्रभरन्ते**=धारण करते हैं। ये धनों का खूब दान देनेवाले होते हैं। जितना-जितना इन धनों का दान करते जाते हैं, उतना-उतना उसी प्रकार निर्मल होते जाते हैं, जैसे कि काले मेघ जल का क्षरण करके श्वेत हो जाते हैं। ये निर्मल अन्तःकरण पुरुष ही प्रभु को पाते हैं। ३. यह प्रभु-भक्त **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक अपने नियत कर्मों का सेवन करता है। **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, **दस्मवर्चाः**=दर्शनीय तेजवाला होता है, अथवा कामादि शत्रुओं के नाशक तेजवाला होता है। अपने तेज से यह **नासत्या इव**=अश्विनी देवों के समान होता है, प्राणापान की शक्ति से सम्पन्न होता है, **सुग्म्यः**=(ग्मा=earth=शरीर) उत्तम शरीरवालों में भी श्रेष्ठ होता है, अत्यन्त स्वस्थ शरीरवाला होता है, **रथेष्ठाः**=इस शरीररूप रथ का अधिष्ठाता

बनता है। इसके द्वारा अपने लक्ष्यस्थान पर पहुँचनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हमारे कर्म दीप्त हों, हम दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नियन्ता प्रभु (रथेष्ठाः)

तमु ष्टुहीन्द्रं यो ह सत्वा यः शूरो मघवा यो रथेष्ठाः।
प्रतीचश्चिद्योधीयान्वृषण्वान्ववव्रुषश्चित्तमसो विहन्ता॥ ५॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हि**=ही **ह स्तुहि**=स्तुत कर। उस प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। **यः**=जो **उ**=निश्चय से **सत्वा**=बल के पुञ्ज हैं, (सत्त्वम्=बलम्) बल के पुञ्ज होने के कारण **यः शूरः**=जो शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं, **मघवा**=शत्रुओं का हिंसन करके परमैश्वर्यवाले हैं। **यः**=जो **रथेष्ठाः**=हमारे शरीररूप रथों पर नियन्ता के रूप से स्थित हैं 'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। २. **प्रतीचः चित्**=(प्रति अञ्च) हमारे विरोध में आनेवाले कामादि शत्रुओं को **योधीयान्**=युद्ध द्वारा पराजित करनेवाले हैं। हमारे इन शत्रुओं के साथ युद्ध करनेवाले उत्कृष्ट योद्धा हैं, **वृषण्वान्**=शत्रुओं के पराजय द्वारा हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं अथवा हम पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। ३. कामादि शत्रुओं के पराजय के द्वारा **ववव्रुषः चित्**=आवरकभूत भी **तमसः**=अन्धकार के **विहन्ता**=नष्ट करनेवाले हैं। ज्ञान पर आवरण के रूप में होनेवाले अन्धकार के आप नाशक हैं। इस आवरण को दूर करके आप हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का संहार करके हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं, इस प्रकार हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु का विराट् रूप

प्र यदित्था महिना नृभ्यो अस्त्यरं रोदसी कक्ष्ये३ नास्मै।
सं विव्य इन्द्रो वृजनं न भूमा भर्ति स्वधावाँ ओपशमिव द्याम्॥ ६॥

१. **यत्**=जो **इत्था**=इस प्रकार—गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से हमारे शत्रुओं का नाश करके **महिना**=अपनी महिमा से **नृभ्यः**=मनुष्यों के लिए **प्र अस्ति**=(प्र भवति) प्रकृष्ट सत्ता को प्राप्त करानेवाले हैं, स्वर्ग—उत्तम स्थिति में प्राप्त करानेवाले हैं। २. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **कक्ष्ये**=दाएँ-बाएँ पांसे के रूप में **अरं न**=पर्याप्त नहीं हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु को अपने में समा नहीं सकते। ३. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **भूम**=इस पृथिवी को **वृजनं न**=एक गोचरभूमि के रूप में **संविव्ये**=आच्छादित किये हुए हैं। प्रभु गोप हैं, जीव गौएँ हैं। प्रभु ने इनके चरने के लिए इस पृथिवीरूप चरागाह को संवृत किया (ढका) हुआ है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मनुष्य प्रायः चरते ही रहते हैं। ४. वह **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभु **द्याम्**=इस द्युलोक को **ओपशम् इव**=(head-dress) शिरोवस्त्र के समान **भर्ति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—उस विराट् प्रभु को ये द्युलोक व पृथिवीलोक अपने में समा नहीं सकते। पृथिवी उस प्रभु से एक चरागाह के रूप में मनोनीत की गई है तो द्युलोक प्रभु के शिरोवस्त्र के समान है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सज्जनों के शक्तिवर्धक प्रभु

समत्सु त्वा शूर सतामुराणं प्रपथिन्तमं परितंसयध्यै।
सजोषस इन्द्रं मदे क्षोणीः सूरिं चिद्ये अनुमदन्ति वाजैः॥ ७॥

१. हे **शूर**=शत्रु-संहारक प्रभो! **समत्सु**-संग्रामों में **सताम्**=सज्जनों के **उराणम्**=(उरूणि अतिप्रभूतानि बलादीनि कुर्वाणम्—सा०) प्रभूत बलादि को करते हुए **प्रपथिन्तमम्**-प्रकृष्ट मार्गभूत **त्वा**=आपको **परितंसयध्यै**=अपना अवतंस (आभूषण) बनाने के लिए **सजोषसः**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) प्रीतिपूर्वक अपने नियत कर्मों का सेवन करनेवाले होते हैं। जो भी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को प्रेम से करते हैं, वे अपने कर्त्तव्यपालन से प्रभु की सच्ची पूजा कर रहे होते हैं। २. **मदे**-हर्ष-प्राप्ति के निमित्त **क्षोणीः**=मनुष्य **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही (परितंसयध्यै) अपना आभूषण बनाने के लिए यत्नशील होते हैं। वास्तविक आनन्द प्रभु-प्राप्ति में ही है। इस आनन्द का अनुभव वे करते हैं **ये**-जो **वाजैः**=(वज गतौ) अपनी क्रियाओं से उस **सूरिं चित्**=सर्वज्ञ प्रभु को ही **अनुमदन्ति**=(मादयन्ति—सा०) हर्षित करते हैं। जैसे पुत्र श्रेणी में प्रथम स्थान में स्थित होकर पिता को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार हम अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित कर पाते हैं।

भावार्थ—हम सज्जन बनें, प्रभु हमें शक्ति देंगे। उस शक्ति से प्रकृष्ट मार्ग पर चलते हुए हम प्रभु के प्रिय बनेंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन

एवा हि ते शं सवना समुद्र आपो यत्त आसु मदन्ति देवीः।
विश्वा ते अनु जोष्या भूद् गौः सूरीँश्चिद्यदि धिषा वेषि जनान्॥ ८॥

१. हे प्रभो! **एव**-सचमुच **हि**-ही **ते**=आपके **सवना**=यज्ञ **शम्**=शान्ति देनेवाले हैं। हम यज्ञों को आपके निर्देश के अनुसार करते हैं और जीवन में सुख व शान्ति का अनुभव करते हैं। २. **यत्**=जो **समुद्रे**=इस ज्ञान के समुद्र वेदों में (रायः समुद्राँश्चतुरः) **ते आपः**=आपके ज्ञान जल हैं, **आसु**=उन ज्ञान-जलों में **देवीः**=दिव्य वृत्तियोंवाली प्रजाएँ **मदन्ति**-हर्ष का अनुभव करती हैं। **ते**-आपकी यह **विश्वा गौः**=सम्पूर्ण वेदवाणी **अनु**=क्रमशः 'ऋग्यजुः, साम व अथर्व' इस क्रम से **जोष्या**=प्रीतिपूर्वक सेवन करने योग्य **भूत्**=होती है। २. **सूरीन् चित् जनान्**=इन ज्ञानीजनों को भी **यदि वेषि**=यदि आप प्राप्त होते हैं या चाहते हैं तो **धिषा**=(धिष्=ह्लृश ह्यश्ह्लुस्त्र) स्तुतिवचनों के द्वारा ही, अर्थात् जब एक ज्ञानी पुरुष आपका उपासक बनता है तभी आप उसका धारण करनेवाले होते हैं। आपका सच्चा उपासक वही है जो 'सर्वभूतहिते रतः' होता है। वह सब प्राणियों का धारण करता है और आपसे धारणीय होता है।

भावार्थ—यज्ञ हमारे लिए शान्तिकर हों। हम ज्ञानसमुद्र में स्नान का आनन्द लें, औरों का धारण करते हुए प्रभु के सच्चे उपासक बनें और प्रभु से धारणीय हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभुरूप उत्तम मित्रवाले

असाम यथा सुषखाय एन स्वभिष्टयो नरां न शंसैः।
असद्यथा न इन्द्रो वन्दनेष्ठास्तुरो न कर्म नयमान उक्था॥ ९॥

१. **एन**=(आ इन) हे महान् स्वामिन्! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधीश! आप ऐसी कृपा कीजिए **यथा**=जिससे हम **सुषखायः**=आपके उत्तम मित्र **असाम**=हों अथवा आपको पाकर उत्तम मित्रवाले हों। **न**-और (न इति चार्थे) आपकी कृपा से हम **नराम्**=हमें आगे ले-चलनेवाले 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' के **शंसैः**=उपदेशों से **स्वभिष्टयः**= (शोभना-भ्येषणाः) वासनाओं पर प्रबल आक्रमण करनेवाले हों (अभ्येषण=attack) अथवा सदा उत्तम इच्छाओंवाले हों (अभिष्टि=desire)। २. हम इस प्रकार उत्तम इच्छाओंवाले हों कि **यथा**=जिससे **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **वन्दनेष्ठाः असत्**=वन्दन में स्थित होनेवाले हों, हम सदा प्रभु का ही वन्दन करें। **तुरः न**=वे हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले के समान हों (तुर्वी हिंसायाम्)। इन शत्रुओं के संहार के लिए ही हमें **कर्म**=कर्त्तव्य कर्मों को **नयमानः**=प्राप्त कराएँ तथा **उक्था**=स्तोत्रों को प्राप्त कराएँ। हम कर्त्तव्यपालन करनेवाले बनें और सदा प्रभु का स्तवन करें। यही वस्तुतः वासनाओं से बचने का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्रभुरूप मित्रवाले हों। प्रभु हमें कर्त्तव्यकर्मों में प्रेरित करके और स्तोत्रों को प्राप्त कराके वासनाओं के आक्रमण से बचाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मध्यायुवः

विष्पर्धसो नरां न शंसैरस्माकासदिन्द्रो वज्रहस्तः।
मित्रायुवो न पूर्पतिं सुशिष्टौ मध्यायुव उप शिक्षन्ति यज्ञैः॥ १०॥

१. **न**=जिस प्रकार **नराम्**=नेतृत्व करनेवाले माता-पिता आदि के **शंसैः**=शंसनों व उपदेशों से सन्तान **विष्पर्धसः**=विशिष्ट स्पर्धावाले होते हैं, एक-दूसरे के साथ स्पर्धा से उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले होते हैं, उसी प्रकार स्पर्धापूर्वक आगे बढ़नेवाले **अस्माक**=हमारा **वज्रहस्तः**=सदा क्रियाशीलता को हाथ में लिये हुए **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **असत्**=हो, अर्थात् हम प्रभु के शंसनों से आगे बढ़ने की प्रेरणा को प्राप्त हों। २. हम **सुशिष्टौ**=उत्तम शासन के निमित्त **पूः पतिम्**=इस ब्रह्माण्डपुरी के शासक प्रभु को **मित्रायुवः न**=मित्र की भाँति प्राप्त करनेवालों की कामनावालों के समान हों। उस महान् मित्र प्रभु के शासन में **मध्यायुवः**=सदा मध्यमार्ग को अपनानेवाले लोग **यज्ञैः**=यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए **उपशिक्षन्ति**=उस प्रभु को समीपता से प्राप्त कर सकने की इच्छावाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपदेशों से विशिष्ट स्पर्धावाले होकर आगे बढ़ें। मध्यमार्ग में चलते हुए यज्ञात्मक कर्मों से प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

यज्ञशीलता न कि कुटिलता

यज्ञो हि ष्मेन्द्रं कश्चिदृन्धञ्जुहुराणश्चिन्मनसा परियन्।
तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको दीर्घो न सिध्रमा कृणोत्यध्वा॥ ११॥

१. इस संसार में **कश्चित्**=कोई एक **यज्ञः**=यज्ञशील पुरुष (यज्ञः अस्य अस्तीति यज्ञः) **हि ष्म**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **क्रन्धन्**=(to please) प्रीणित करनेवाला होता है। यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाला बनता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। २. इसके विपरीत **जुहुराणः**=कुटिलता करता हुआ **चित्**=निश्चय से **मनसा**=मन से **परियन्**=चारों ओर भटकनेवाला होता है। यह मन में सदा अशान्त रहता है। नाना प्रकार के षड्यन्त्रों को करता हुआ यह मानस शान्ति को प्राप्त नहीं करता। यज्ञशील के लिए तो प्रभु इस प्रकार होते हैं **न**=जैसे कि **तातृषाणम्**=प्यास से व्याकुल पुरुष को **तीर्थे**=घाट पर **अच्छ**=आभिमुख्येन—सामने ही **ओकः**=शरणस्थान प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत **न सिध्रम्**=(not pious or virtuous man) अधार्मिक कुटिल वृत्तिवाले पुरुष को **दीर्घः अध्वा**=यह लम्बा बीहड़ मार्ग **आकृणोति**=(hurt, kill) नष्ट कर डालता है। कुटिल पुरुष भटकता-भटकता ही मर जाता है, उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, न कि कुटिल।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

हविर्मय जीवन की प्रशस्तता

मो षू णं इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीळ्हुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **अत्र**=यहाँ—इस जीवनयज्ञ में **पृत्सु**=उपस्थित होनेवाले संग्रामों में **नः**=हमें **देवैः**=अपनी दिव्यशक्तियों के साथ **मा उ सु**=(त्याक्षीः) निश्चय से छोड़ मत जाइए। आपकी सहायता से ही तो हम इन संग्रामों में विजयी बन पाएँगे। हे **शुष्मन्**=शत्रुशोषक बलवाले प्रभो! **हि स्म**=निश्चयपूर्वक **ते**=आपका **अवयाः अस्ति**=शत्रुओं को दूर करनेवाला वज्र है ही। आप इस वज्र के द्वारा हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए। वस्तुतः 'क्रियाशीलता' ही वह वज्र है, जिसके द्वारा हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट कर पाते हैं। २. **महः चित्**=महान् भी **मीळ्हुषः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **यस्य**=जिन आपकी **यव्या गीः**=बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली (यु मिश्रणामिश्रणयोः) यह वेदवाणी **हविष्मतः मरुतः**=प्रशस्त हविवाले पुरुष का **वन्दते**=स्तवन करती है, अर्थात् वेदवाणी में उसी का प्रशंसन है जिसका कि जीवन दानपूर्वक अदन करनेवाला बना है। वस्तुतः इस हवि के द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है। हविर्मय जीवन ही प्रशस्त जीवन है। इसी से मनुष्य महान् बनता है, सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में ही हम संसार-संग्राम में विजयी बन पाते हैं। हविर्मय जीवन ही उत्तम जीवन है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तुति व मार्गदर्शन

एष स्तोम इन्द्र तुभ्यमस्मे एतेन गातुं हरिवो विदो नः।
आ नो ववृत्याः सुवितायं देव विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारा **एषः स्तोमः**=यह स्तवन **तुभ्यम्**=आपके लिए है। हम आपका ही स्तवन करनेवाले हों। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! (हरि=अश्व), **एतेन**=इस स्तवन के द्वारा **नः**=हमारे लिए **गातुं विदः**=मार्ग को प्राप्त

कराइए, अर्थात् स्तुति से हमें जीवन-मार्ग का ज्ञान हो। 'आप दयालु हैं' इस प्रकार आपकी स्तुति करते हुए हम भी दयालु स्वभाववाले बनें। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **नः**=हमें **सुविताय**=सदा शुभ मार्ग पर चलने के लिए **आववृत्याः**=प्राप्त हों। आपका स्मरण करते हुए ही तो हम शुभ मार्ग पर चलनेवाले होते हैं। हम आपसे **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें मार्ग-दर्शन कराएगा।

विशेष—सूक्त का मूल भाव यही है कि हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमारी अशुभ-वृत्तियों को नष्ट करेगा (१)। इस स्तुति से ही हमें मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा (१३)। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[१७४] चतुःसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वह महान् शासक (राजेन्द्र)

त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन्पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं राजा**=आप ही इस ब्रह्माण्ड के शासक व व्यवस्थापक हो। आप **च**=और ये **देवाः**=जो आपके सूर्यादि देव हैं, उन देवों के साथ आप **नॄन् पाहि**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों का **रक्ष**=रक्षण कीजिए। हे **असुर**=शत्रुओं का निरसन करनेवाले प्रभो! (असु क्षेपणे) **त्वम् अस्मान् पाहि**=आप हमारा रक्षण कीजिए। 'असुर' शब्द का भाव 'असून् राति' व्युत्पत्ति से यह है कि वे प्रभु बलदाता हैं। वस्तुतः बल प्राप्त कराके वे हमें अपना रक्षण कर सकने के योग्य बनाते हैं। २. **त्वम्**=आप **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली हैं, **नः तरुत्रा**=हमें विघ्नों से तारनेवाले हैं, **त्वं सत्यः**=आप सत्यस्वरूप हैं, **वसवानः**=हमें अपनी गोद में आच्छादित करनेवाले, वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं, **सहोदाः**=हमारे लिए सहस् अर्थात् शत्रुओं का मर्षण करनेवाले बल को देनेवाले हों।

भावार्थ—इस संसार-संग्राम में प्रभु हमारे रक्षक हैं। हम उन्नति-पथ पर चलने का निश्चय व प्रयत्न करते हैं (नॄन्) तो प्रभु हमारा रक्षण करते हैं, हमें बल देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कटुभाषण का त्याग

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्।
ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=विश्व के शासक प्रभो! (इन्द्रो विश्वस्य राजति), आप **मृध्रवाचः**=(मृध्=to hurt, to kill) हिंसक (murderous) वाणीवाली **विशः**=प्रजाओं का **दनः**=(अदमयः) दमन करते हैं। **यत्**=क्योंकि यह कटुभाषी **सप्त**=सातों **शारदीः**=(शारदम्=corn, grain) अन्न से परिपोषित **पुरः**= नगरियों को तथा **शर्म**=सब सुख को **दर्त्**=विदीर्ण कर देता है। यह अन्नमयकोश त्वचा के सात आवरणोंवाला है, इसी से यहाँ इसे 'सप्तपुरः' इन शब्दों से स्मरण किया है। ये अन्न का विकार हैं, अतः इन्हें 'शारदी' कहा है। कटु शब्द सातों त्वचाओं का भेदन करके मर्म-पीड़ा कर देता है। कटु शब्दों से सब सुख विनष्ट हो जाता है, अतः कटुभाषी व्यक्ति को दमन

आवश्यक है। २. हे **अनवद्य**-सब अवद्यों—निन्दनीय तत्त्वों से रहित प्रभो! आप **अपः ऋणोः** कर्मों को प्राप्त कराते हैं तथा **अर्णाः**-सब गतियों के कारणभूत रेतःकणों (जलों) को प्राप्त कराते हैं (आपः रेतः)। इन कर्मों व शक्तियों को प्राप्त कराके आप उन लोगों के स्वभाव में परिवर्तन करते हैं और वे कटुभाषण से दूर हो जाते हैं। ३. **यूने**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले **पुरु कुत्साय**=शत्रुओं का खूब ही हिंसन करनेवाले के लिए आप **वृत्रम्**=वासना को **रन्धीः**=विदीर्ण करते हैं। वासना के विनष्ट होने पर कटुभाषण का प्रसङ्ग नहीं रहता।

भावार्थ—हम कटुभाषण से दूर हों। इसके लिए कर्मों में लगे रहें और सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'अवीर-हा'

अजा वृतं इन्द्र शूरपत्नीर्द्यां च येभिः पुरुहूत नूनम्।
रक्षो अग्निमशुषं तूर्वयाणं सिंहो न दमे अपांसि वस्तोः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता, **पुरुहूत**=(पुरु हूतं यस्य) प्रभु का खूब स्तवन करनेवाले जीव! तू **शूरपत्नीः**=शूरों से, वीरों से रक्षित होनेवाली **वृतः**=रक्षा के लिए घिरी हुई वेदिभूमियों को **अज**=जानेवाला हो। इन वेदियों की ओर जानेवाला तू सदा यज्ञशील बन **च**=और उन यज्ञों को तू कर **येभिः**=जिनसे **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **द्याम् अज**=तू स्वर्ग को जाता है। इन यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों ही बड़े सुन्दर बनते हैं। २. तू **दमे**=गृह में **अपांसि**=यज्ञादि कर्मों को **वस्तोः**=(वासयितुम्=कारयितुम्) स्थापित करने के लिए **अग्निम्**=उस अग्नि को जोकि **अशुषम्**=शान्त न होनेवाली तथा **तूर्वयाणम्**=(तूर्वति=हिनस्ति) रोगकृमियों का संहार करनेवाली है, **रक्षः**=सुरक्षित कर। तू उसी प्रकार अग्नि की रक्षा कर **न**=जैसे कि **सिंहः**=शेर अपने आश्रयभूत वन की रक्षा करता है, उस वन में वह हाथी आदि का उपद्रव नहीं होने देता। तू भी अग्नि की रक्षा कर। यह रक्षित अग्नि रोगकृमियों का संहार करके तेरा रक्षण करेगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञ हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाला होगा। रोग-कृमियों के संहार के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञाग्नि को बुझने न दें। हम 'वीर-हा' न बनें। यज्ञाग्नि को बुझने देनेवाला ही 'वीर-हा' है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

उस समान योनि में

शेषन्नु त इन्द्र सस्मिन्योनौ प्रशस्तये पवीरवस्य मह्ना।
सृजदर्णांस्यव यद्युधा गास्तिष्ठद्धरी धृषता मृष्ट वाजान्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष! **पवीरवस्य**=पवित्रीकरण के साधनभूत (पू=पवने) क्रियाशीलतारूप वज्र की **मह्ना**=महिमा से **ते**=तेरे 'मन, बुद्धि, इन्द्रिय'-रूप सब साधन **सस्मिन् योनौ**=उस समान योनि में—सबके मूल उत्पत्तिस्थान ब्रह्म में **नु**=निश्चय से **शेषन्**= निवास (शयन) करते हैं। तेरी इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकती रहतीं। तेरा मन विषयों की इच्छाओं से आन्दोलित नहीं होता रहता तथा तेरी बुद्धि विषयोपार्जन के साधनों को ही नहीं सोचती रहती। क्रियाशीलतारूप वज्र का यही महत्त्व है कि मनुष्य विषय-वासनाओं का विनाश करनेवाला बनकर अपने जीवन को पवित्र बनाये रखता है। इसका झुकाव प्रभु की ओर होता है, न कि प्रकृति

की ओर। इस प्रकार इसका जीवन **प्रशस्तये**=प्रशस्ति के लिए होता है। यह प्रभु का शंसन करनेवाला बनता है। इससे इसका जीवन भी प्रशस्त होता है। २. **यत्**=जब यह **युधा**=युद्ध से **गाः**=गति करता है (गच्छसि—सा०) तब **अर्णांसि**=ज्ञान-जल के समुद्रों को (अर्णस्=the ocean) **अवसृजत्**=उत्पन्न करता है। विषयवासनाओं से संग्राम करता हुआ यह ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करता है और इसका ज्ञान चमक उठता है। ३. यह **हरी**=ज्ञानेन्द्रियरूप व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों पर **तिष्ठत्**=अधिष्ठित होता है। इन्द्रियों को पूर्णतया अपने वश में करता है और **धृषता**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले सामर्थ्य के द्वारा **वाजान्**=अपनी सब शक्तियों व गतियों को **मृष्ट**=शुद्ध कर डालता है। मलिनता का कारण वासना ही है। वासना गई और मलिनता दूर हुई।

भावार्थ—हमारी 'इन्द्रयाँ, मन व बुद्धि' प्रभु में निवास करें। हममें ज्ञानसमुद्रों की सृष्टि हो। वासनाओं को विनष्ट करके हम गतियों व शक्तियों को पवित्र करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु के समीप

वह कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्त्स्यूमन्यू ऋज्रा वातस्याश्वा।
प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीकेऽभि स्पृधो यासिषद्वज्रबाहुः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले इस पुरुष को **स्यूमन्य**=(स्यूमं=Happiness) सुख प्राप्त करानेवाले, **ऋज्रा**=ऋजुगामी, **वातस्य अश्वा**=वायु के घोड़ों को—वायु के समान वेगवाले इन्द्रियाश्वों को **वह**=प्राप्त कराइए। उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराइए **यस्मिन्**=जिसके होने पर **चाकन्**=(कन् दीप्तौ) यह चमक उठे। इसकी शोभा बढ़े, इसका जीवन सुन्दर हो। २. यह **सूरः**=ज्ञानी बनकर—सूर्य के समान ज्ञान से चमकता हुआ होकर **चक्रम्**=अपने शरीर-रथ को **अभीके**=आपके समीप **प्रवृहतात्**=उद्यत करनेवाला हो अर्थात् इस शरीर-रथ से उन्नति-पथ पर आगे और आगे बढ़ता हुआ आपके समीप पहुँचनेवाला हो और **वज्रबाहुः**=हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए **स्पृधः**=संग्राम करते हुए काम-क्रोधादि शत्रुओं के प्रति **अभि यासिषत्**=जानेवाला हो, उनपर आक्रमण करनेवाला हो। इस अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनकर ही तो यह आपके समीप पहुँचेगा। वस्तुतः आपका सतत स्मरण करता हुआ ही यह इन संग्रामों में विजयी भी हो सकेगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम हों। हम अपने शरीर-रथ को प्रभु के समीप पहुँचने का साधन समझें। काम-क्रोधादि को जीतकर प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

मित्रद्रोह व कृपणता से दूर

जघन्वाँ इन्द्र मित्रेरूञ्चोदप्रवृद्धो हरिवो अदाशून्।
प्र ये पश्यन्नर्यमणं सचायोस्त्वया शूर्ता वहमाना अपत्यम्॥ ६॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **चोदप्रवृद्धः**=प्रेरणा से धर्ममार्ग पर बढ़ा हुआ तू **मित्रेरून्**=मित्रों के बाधक—मित्रद्रोहियों को तथा **अदाशून्**=दान न देनेवाले कृपणों को **जघन्वान्**=नष्ट करता है। तू अपने में मित्रद्रोह व कृपणता की वृत्ति को पैदा नहीं होने देता। जिस समय हम प्रभु की प्रेरणा से दूर होते हैं, तभी हममें अधर्म प्रबल होने लगता

है और तभी हम मित्रद्रोह व कृपणता आदि अशुभ वृत्तियोंवाले होते हैं। २. **ये**-जो व्यक्ति **अर्यमणम्**-'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' सब पदार्थों के देनेवाले उस प्रभु को **प्रपश्यन्**-देखते हैं। ३. वे **आयोः**-मनुष्य के **सचा**=सहायभूत होते हैं, सबके साथ मिलकर चलते हैं। प्रभुरूप पिता के पुत्र होने के नाते ये सबके साथ बन्धुत्व अनुभव करते हैं, **त्वया शूर्ताः**=आपसे प्रेरित होते हैं (शूर to make vigorous actions) आपके साथ मिलकर शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले होते हैं, **अपत्यं वहमानाः**=कुल को नष्ट न होने देनेवाले सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला व्यक्ति मित्रद्रोही व कृपण नहीं होता। सबके साथ मिलकर चलता है, प्रभु से प्रेरित होकर शक्तिशाली कार्यों को करता है और उत्तम सन्तानों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दास का भूमि-शयन

रपत्कविरिन्द्रार्कसातौ क्षां दासायोपबर्हणीं कः।
करत्तिस्रो मघवा दानुचित्रा नि दुर्योणे कुयवाचं मृधि श्रेत्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **कविः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी पुरुष **रपत्**=आपका स्तवन करता है। **अर्कसातौ**=अर्चनीय प्रभु-प्राप्ति के निमित्त **दासाय**=जीवन का नाश करनेवाली वृत्तियों के लिए **क्षाम्**=पृथिवी को **उपबर्हणीम्**=शय्या **कः**=करता है। अशुभवृत्तियों को भूमिशायी करके—समाप्त करके ही तो प्रभु-प्राप्ति के योग्य बना जाता है। २. यह **मघवा**=यज्ञशील पुरुष (मघ=मख) **तिस्रः**=असुरों की तीन पुरियों को **दानुचित्रा**=खण्डन से चित्रित **करत्**=करता है। कामादि असुरवृत्तियाँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाती हैं। उस समय इन्द्रियों में बनी इनकी पुरी अयोमयी—लोहवत् दृढ़ कहलाती हैं। इनसे मन में खड़ी की गई पुरी राजत—चाँदी के समान रञ्जन करनेवाली होती है तथा बुद्धि में स्थापित हुई पुरी हिरण्मयी—स्वर्ण के समान उज्ज्वल प्रतीत होती है। यज्ञशील पुरुष इन तीनों के ध्वंस का प्रयत्न करता है। ३. **दुर्योणे मृधि**=वासनाएँ हैं 'योनि' कारण जिनका, उस संग्राम में **कुयवाचम्**=कुत्सित शब्दों को करते हुए इन आसुर भावों को **निश्रेत्**=पूर्णरूप में हिंसित करता है। अशुभ वासनाएँ न हों तो यह युद्ध हो ही नहीं। इसलिए इस युद्ध को 'दुर्योनि' कहा गया है। ये असुर अशुभ वचनों का ही उच्चारण करते हैं—'जगदाहुरनीश्वरम्' ईश्वर है ही नहीं, 'किमन्यत्कामहैतुकम्'—यह संसार केवल मौज के लिए है, 'ईश्वरोऽहम्'—मैं ही ईश्वर हूँ, 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'—मेरे समान और कौन है? इस प्रकार की व्यर्थ की बातें ये करते हैं। इन आसुर भावों को यह स्तोता समाप्त करता है।

भावार्थ—अशुभ वासनाओं को समाप्त करके ही हम प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वासना-संहार

सना ता त इन्द्र नव्या आगुः सहो नभोऽविरणाय पूर्वीः।
भिनत्पुरो न भिदो अदेवीर्ननमो वधरदेवस्य पीयोः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **ता**=वे **नव्या**=स्तुत्यकर्म (नव गतौ, नु स्तुतौ) **आगुः**=हमें प्राप्त हों। आप ही **अविरणाय**=(अविनाशाय—सा०) हमारे अविनाश के लिए **पूर्वीः नभः**=(बह्वीः हिंसाः—सा०) इन विविध हिंसाओं को **सहः**=अभिभूत करते हैं। सब वासनाएँ हमारी हिंसा करनेवाली हैं, इसलिए वे यहाँ 'नभः' शब्द से कही गई हैं (नभ् हिंसायाम्)। इन वासनाओं का विनाश करके प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। २. **न**=जैसे आप **पुरः भिनत्**=आसुर पुरियों का विदारण करते हैं, उसी प्रकार **अदेवीः**=सब अशुभ भावनाओं को **भिदः**=विदीर्ण करते हैं। **अदेवस्य**=इस असुर के जो कि **पीयोः**=हमारा हिंसन करनेवाला है, उसके **वधः**=आयुध को **ननमः**=आप झुका देते हैं। प्रभु-कृपा होती है तो वासना का आयुध भी हम पर प्रभाव नहीं कर पाता। इस आयुध से आक्रान्त न होने पर ही हमारा जीवन पवित्र बना रहता है और हम विनष्ट नहीं होते।

भावार्थ—हमें प्रभु के स्तुत्य कर्म प्राप्त हों। प्रभु-कृपा से असुरों के आयुधों का हम पर आक्रमण न हो, अथवा आक्रमण प्रभावी न हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

समुद्र के पार

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।
प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले प्रभो! **त्वं धुनिः**=आप हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करनेवाले हैं। आप **सीराः न स्रवन्तीः**=नदियों की भाँति निरन्तर बहनेवाले **धुनिमतीः**=काम-क्रोधादि को कम्पित करनेवाले **अपः**=कर्मों को **ऋणोः**=(अगमयः) प्राप्त कराइए। हम आपकी कृपा से स्वभावतः इस प्रकार अपने नियत कर्मों को करनेवाले हों, जैसे नदियाँ स्वाभाविक रूप में बहती चलती हैं। यह निरन्तर कर्मों में लगे रहना हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर हम इन शत्रुओं को कम्पित करनेवाले होते हैं। २. हे **शूर**=हमारी वासनाओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **यत्**=जब **समुद्रम्**=(कामो हि समुद्रः—अनन्तत्वात्) इस कामसमुद्र के **अतिपर्षि**=हमें पार ले-जाते हैं तो **तुर्वशम्**=त्वरा से इनको वश में करनेवाले **यदुम्**=यत्नशील पुरुष को **स्वस्ति**=मङ्गल के लिए **प्रपारया**=प्रकृष्टतया पार ले-जाते हैं। 'अत्रा जहाम अशिवा ये असन्'—सब अशिवों को हम यहाँ इस पार ही छोड़ जाते हैं और 'शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्' परले पार शिवशक्तियों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रभु उसी को इस काम-समुद्र से पार ले-चलते हैं जो 'तुर्वश' (फुर्तीला) व 'यदु' (यत्नशील) बनता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

संग्राम-विजय

त्वमस्माकमिन्द्र विश्वध स्या अवृकतमो नरां नृपाता।
स नो विश्वासां स्पृधां सहोदा विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **विश्वध**=सब प्रकार से

अवृकतमः=(not hurting) हिंसा न करनेवाले **स्याः**-होओ। **नरां नृपाता**-आप नेतृत्व करनेवाले सर्वोत्तम रक्षक नेता हैं। आपके नेतृत्व में हमारी हिंसा नहीं होती। २. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **विश्वासां स्पृधाम्**=(स्पृधः=संग्रामनाम—नि०) सब संग्रामों के **सहोदाः**-बल को देनेवाले हैं। आप हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जिससे हम सब संग्रामों में विजयी हो पाते हैं। हम **इषम्**=प्रेरणा को, प्रेरणा के द्वारा **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा पापवर्जन द्वारा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही हम संग्रामों में विजयी होते हैं।

विशेष—सूक्त का मूलभाव यही है कि हम प्रभु के उपासक बनकर प्रभु से शक्ति प्राप्त करके वासना-संग्राम में विजयी हों। अगले सूक्त में शक्ति की प्राप्ति के लिए सोम-पान का उल्लेख है—

[१७५] पञ्चसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

शक्ति व आनन्द का मूल 'सोम'

मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥ १ ॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले जीव! **पात्रस्य इव ते**=जैसे एक पात्र में सोम (रस) का रक्षण होता है, उसी प्रकार शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम के पात्रभूत तेरे लिए यह सोम **महः**=पूज्य होता है—इसे तू आदर की दृष्टि से देखता है, इसीलिए **अपायि**-यह सोम तुझसे पिया जाता है। इस सोम को तू शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। परिणामतः **मत्सि**=(माद्यसि) तू आनन्द का अनुभव करता है। २. **वृष्णे ते**=शक्तिशाली तेरे लिए यह सोम **मत्सरः**=आनन्द का सञ्चार करनेवाला है, **मदः**=(तर्पयिता) तृप्ति करनेवाला है, **वृषा**=तुझपर सुखों का वर्षण करनेवाला है, **इन्दुः**=(इन्द् to be powerful) तुझे शक्तिशाली बनानेवाला है। यह सोम **वाजी**=(quick) गतिशील बनानेवाला व स्फूर्ति देनेवाला है तथा **सहस्रसातमः**= सहस्रशः ऐश्वर्यों को देनेवाला है।

भावार्थ—हमें शरीर में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही शक्ति व आनन्द तथा सभी ऐश्वर्यों का आधार है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

अमर्त्यता का साधन 'सोम'

आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः।
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाळमर्त्यः ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **ते**=आपका यह सोम **आगन्तु**=प्राप्त हो। यह **मत्सरः**=आनन्द का सञ्चार करनेवाला है, **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाला है, **मदः**=तृप्ति देनेवाला है, **वरेण्यः**=वरणीय है, चाहने योग्य है, **सहावान्**=रोग-कृमिरूप शत्रुओं का मर्षण करनेवाली शक्ति को देनेवाला है, अतएव **सानसिः**=सम्भजनीय है। २. यह सोम **पृतनाषाट्**=रोग-कृमिरूप शत्रु-सैन्य का अभिभव (विनाश) करनेवाला है तथा **अमर्त्यः**=हमें रोगरूप मृत्युओं से न मरने देनेवाला है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होने पर रोगकृमिरूप शत्रुओं को नष्ट करके हमें 'अमर्त्य' बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अव्रत दस्यु का दहन

त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम्।
सहावान्दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा॥ ३॥

१. हे सोम! **त्वं हि**=तू ही **शूरः**=सब रोगरूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है और इस प्रकार **सनिता**=सब ऐश्वर्यों को देनेवाला है। २. हे सोम! तू ही **मनुषः रथम्**=मनुष्य के रथ को **चोदयः**=प्रेरित करता है। शरीररूप रथ की गति का आधार तू ही है। **सहावान्**=गति के विघ्नभूत रोगों के मर्षण की शक्तिवाला तू है। ३. **अव्रतम्**=पुण्य से रहित **दस्युम्**=दस्युवृत्ति को **ओषः**=तू जलानेवाला है। तेरे कारण वे सब अशुभ वृत्तियाँ जो उत्तम क्रियाओं को समाप्त करनेवाली हैं, उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं **न**=जैसे कि **शोचिषा**=अग्नि की ज्वाला से **पात्रम्**=बर्तन जलाया जाता है। जो बर्तन सदा अग्नि पर रखा जाता है, उसका तला जल जाता है। उसी प्रकार सोम 'अव्रत दस्युओं' को जला देता है। ४. सोम रोगों को नष्ट करके शरीर को उत्तम गतिवाला बनाता है, दास्यव वृत्तियों को नष्ट करके मन को पवित्र बनाता है।

भावार्थ—सोम रोगरूप शत्रुओं तथा विनाशकारी अशुभ वृत्तियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

सूर्यचक्र-मोषण (शुष्णासुर का वध)

मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा।
वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः॥ ४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **कवे**=सब ज्ञानों को प्राप्त करनेवाले—तत्त्वज्ञानिन्! तू **ईशानः**=इन्द्रियों का ईश बनता हुआ **ओजसा**=ओजस्विता के हेतु से **चक्रम्**=निरन्तर गतिशील **सूर्यम्**=सूर्य को **मुषाय**=चुरानेवाला हो, अर्थात् तू सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील बन। अपनी गतिशीलता से सूर्य की गति को भी तू पराजित कर दे। सूर्य से गतिशीलता का पाठ पढ़कर इस गतिशीलता में तू उससे भी आगे बढ़ जा। ऐसा होने पर ही तू सूर्य की भाँति ओजस्वी व श्रीसम्पन्न हो जाएगा। २. तू **वातस्य अश्वैः**=वायु के घोड़ों के द्वारा अर्थात् वायु की भाँति निरन्तर गतिशील इन्द्रियाश्वों से **शुष्णाय**=तेरा शोषण करनेवाले इस वासनारूप शत्रु के लिए **कुत्सम्**=हिंसित करनेवाले **वधम्**=आयुध को **वह**=धारण कर। इस क्रियाशीलतारूप वज्र से शुष्णासुर को समाप्त कर डाल। शुष्णासुर को समाप्त करके ही तू ओजस्वी बना रहेगा।

भावार्थ—हम सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील हों। इस गतिशीलता से ही हम वासनारूप शत्रु का पराजय करेंगे व ओजस्वी बनेंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

शुष्मिन्तम, द्युम्निन्तम

शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः।
वृत्रघ्ना वरिवोविदा मंसीष्ठा अश्वसातमः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शुष्णासुर के वध से तू वासनाओं को जीतकर सोमशक्ति का पान कर सकता है और हे जीव! **ते**=तेरा **मदः**=सोमपान-जनित यह मद—उत्साहातिरेक **हि**=निश्चय से **शुष्मिन्तमः**=एकदम शत्रुओं का शोषण करनेवाला है, शत्रु-शोषक बल को तेरे अन्दर पैदा करनेवाला है **उत**=और **क्रतुः**-तेरा कर्म **द्युम्निन्तमः**=अधिक-से-अधिक ज्योति को पैदा करनेवाला है। सोम के रक्षण से उत्पन्न मद शत्रु-शोषक बल देनेवाला है और सोम-रक्षण से उत्पन्न होनेवाली क्रियाशक्ति ज्योति को जन्म देनेवाली है। मद तुझे 'शुष्मिन्तम' बनाता है और क्रतु 'द्युम्निन्तम'। २. इस सोम के रक्षण से **अश्वसातमः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करनेवाला तू उन मद और क्रतु को **मंसीष्ठाः**=अपने जीवन में प्रविष्ट करने देता है जो कि **वृत्रघ्ना**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करनेवाले हैं और **वरिवोविदा**=उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं। मद वृत्रघ्न है तो क्रतु 'वरिवोवित्'।

भावार्थ—वासना को नष्ट करके हम सोम का रक्षण करें; इससे हमें वे मद=उत्साह और क्रतु=कर्मशीलता प्राप्त होंगे जो हमारे जीवन को 'शुष्मिन्तम+द्युम्निन्तम'=शक्ति व ज्ञान का पुञ्ज बनाएँगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्यासे के लिए पानी के समान

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मयइवापो न तृष्यते बभूथ।
तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=क्योंकि आप **पूर्वेभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मयः इव**=कल्याण के समान **बभूथ**=होते हैं। उसी प्रकार कल्याण करनेवाले होते हैं **न**=जैसे कि **तृष्यते**=प्यासे के लिए **आपः**=जल। प्यास से व्याकुल पुरुष के लिए जैसे जल शान्ति देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार स्तोताओं के लिए आप कल्याण करते हैं। २. मैं भी **तां निविदं अनु**=(निविदं-A short vedic text) आपसे दी गई इन ऋचाओं के अनुसार **त्वा जोहवीमि**=आपको पुकारता हूँ। इन ज्ञानवाणियों में निर्दिष्ट मार्ग से आपकी प्रार्थना करता हूँ। आपकी उपासना से हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं के लिए इस प्रकार शान्ति देनेवाले हैं जैसे कि प्यासे के लिए पानी।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त का विषय ही अगले सूक्त में भी चलता है—

[१७६] षट्सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

सोम का शरीर में प्रवेश

मत्सि नो वस्यइष्टय इन्द्रमिन्दो वृषा विश।
ऋघायमाण इन्वसि शत्रुमन्ति न विन्दसि॥ १॥

१. हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! (इन्द्-to be powerful) तू **वस्यः इष्टये**=(वसीयसो धनस्य प्राप्तये—सा०) उत्कृष्ट धन की प्राप्ति के लिए **नः**=हमें **मत्सि**=(मादयस्व) उत्साहयुक्त कर। सोम के रक्षण से मनुष्य शक्ति का अनुभव करता है, उत्साह-सम्पन्न बनकर

श्री को कमानेवाला बनता है। २. हे सोम! तू **वृषा**=शक्तिशाली है व सब सुखों का वर्षण करनेवाला है। तू **इन्द्रं विश**=जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में प्रवेश कर। शरीर में **ऋघायमाणः**=(शत्रून् हिंस्यन्—सा०) सब रोगकृमिरूप शत्रुओं को हिंसित करता हुआ **इन्वसि**=व्याप्त होता है। शरीर में प्रविष्ट होकर यह सोम रोगकृमियों को आक्रान्त करता है। इन कृमियों को नष्ट करके यह सोम हमें नीरोग बनाता है। ३. हे सोम! तू **शत्रुम्**=इन **शातन**=विनाश करनेवाले रोगकृमियों को **अन्ति**=समीप **न विन्दसि**=नहीं प्राप्त करता है, समीप नहीं आने देता है। जहाँ सोम है, वहाँ रोगकृमि नहीं होते।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम नीरोग बनते हैं और उत्साह-सम्पन्न होकर उत्कृष्ट धनों को कमानेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

प्रभु में स्तुतिवाणियों का प्रवेश

तस्मिन्ना वेशया गिरो य एकश्चर्षणीनाम्।
अनु स्वधा यमुप्यते यवं न चर्कृषद् वृषा॥ २॥

१. हे जीव! तू **तस्मिन्**=उस प्रभु में **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **आवेशय**=प्रविष्ट कर, **यः**=जो **चर्षणीनाम्**=द्रष्टाओं में **एकः**=अद्वितीय है। वे प्रभु सर्वप्रमुख द्रष्टा हैं, तू उन्हीं का ध्यान कर। २. **यम् अनु**=तू उस परमात्मा का स्तवन कर जिसके अनुसार **स्वधा उप्यते**=आत्म-धारण-शक्ति का वपन किया जाता है। जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते हैं, उतनी-उतनी ही आत्म-धारण-शक्ति हमें प्राप्त होती है। वस्तुतः **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला वह प्रभु ही **यवं न चर्कृषत्**=यव की भाँति इस स्वधा को हममें उत्पन्न करता है। जैसे किसान खेतों में जौ की कृषि करता है, उसी प्रकार स्तुत हुए-हुए प्रभु हमारे हृदय-क्षेत्रों में स्वधा का वर्षण करते हैं। जैसे 'यव' शरीर के दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करते हैं, उसी प्रकार यह 'स्वधा' मन के दोषों को दूर करके गुणों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु ही स्तुति के योग्य हैं। प्रभु-स्तवन से आत्म-धारण-शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

पाँचों भूमिकाओं के वसु

यस्य विश्वानि हस्तयोः पञ्च क्षितीनां वसु।
स्पाशयस्व यो अस्मध्रुग्दिव्येवाशनिर्जहि ॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **हस्तयोः**=हाथों में **पञ्च क्षितीनाम्**='अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय' इन पाँचों भूमिकाओं के **विश्वानि वसु**=सब धन हैं। अन्नमय का 'तेज', प्राणमय का 'वीर्य', मनोमय का 'बल व ओज', विज्ञानमय का 'मन्यु' तथा आनन्दमय का 'सहस्'—ये सब धन उस प्रभु में निरतिशय रूप में विद्यमान हैं। वे प्रभु तेजादि के पुञ्ज हैं। २. हे प्रभो! इन तेजादि के पुञ्ज आप उस व्यक्ति को **स्पाशयस्व**=बाधित कीजिए **यः**=जो **अस्मध्रुक्**=हमसे द्रोह करनेवाला है। उसे आप इस प्रकार **जहि**=नष्ट कीजिए **इव**=जैसे कि **दिव्या अशनिः**=द्युलोक में होनेवाली विद्युत् किसी भी पदार्थ पर पड़कर उसे नष्ट कर देती है। वस्तुतः सब वसुओं को प्राप्त करके हम सब नाशक तत्त्वों को दूर करने में समर्थ बनें।

भावार्थ—प्रभु पाँचों क्षितियों के वसुओं को धारण करनेवाले हैं। इनके द्वारा वे हमारे द्रोहियों को बाधित करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'असुन्वन् दूणाश' का विनाश

असुन्वन्तं समं जहि दूणाशं यो न ते मयः।
अस्मभ्यमस्य वेदनं दद्धि सूरिश्चिदोहते॥ ४॥

१. **असुन्वन्तम्**=अयज्ञशील **दूणाशम्**=अशुभ कर्मों में धन का नाश करनेवाले **समम्**=सब पुरुषों को (समः=सर्वशब्दपर्यायः) **जहि**=नष्ट कीजिए। उसे नष्ट कीजिए **यः**=जो 'असुन्वन् दूणाश' पुरुष **ते**=आपके लिए **मयः न**=प्रजा में सुख करनेवाला नहीं है, जो आपकी प्राप्ति के उद्देश्य से लोकहित में प्रवृत्त नहीं होता। २. **अस्य वेदनम्**=इस अयज्ञशील के धन को **अस्मभ्यम्**=हम यज्ञशील पुरुषों के लिए **दद्धि**=दीजिए। **सूरिः चित्**=ज्ञानी स्तोता ही **ओहते**=इस धन का ठीक प्रकार से वहन करता है। यह सूरि धनों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही करता है।

भावार्थ—धनों का विनियोग यज्ञादि में ही करना चाहिए। हमें चाहिए कि धनों का व्यर्थ के भोगों में विनाश न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

उपासना-सातत्य

आवो यस्य द्विबर्हसोऽर्केषु सानुषगसत्।
आजाविन्द्रस्येन्दो प्रावो वाजेषु वाजिनम्॥ ५॥

१. हे सोम! **यस्य**-जिस **द्विबर्हसः**=(बृहि वृद्धौ) ज्ञान व बल दोनों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए पुरुष के **अर्केषु**-स्तुतिसाधन मन्त्रों में **सानुषक्**=सातत्य—नैरन्तर्य (निरन्तरता) **असत्**=होता है, आप उसकी **आवः**-रक्षा करते हो। मनुष्य को ज्ञान और बल (ब्रह्म+क्षत्र) दोनों का वर्धन करके 'द्विबर्हस्' बनना है। इसके लिए आवश्यक है कि वह प्रभु-स्मरण से कभी पृथक् न हो। प्रभु-स्मरण से हमारे जीवनों में वासना को स्थान नहीं मिलता। वासना से ऊपर उठने पर ज्ञान और शक्ति दोनों का वर्धन होता है। २. हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! आप **इन्द्रस्य आजौ**=इस इन्द्र के संग्राम में—वासनाओं के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में इस **वाजिनम्**=शक्तिशाली पुरुष को **वाजेषु**=(strength, wealth) शक्तियों व ऐश्वर्यों में **प्रावः**=सुरक्षित करते हो। सोम की कृपा से हम संग्रामों में विजयी बनते हैं और शक्ति व ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु के उपासक बनें। यह उपासना हमें अध्यात्म संग्राम में विजयी बनाकर शक्ति व ऐश्वर्य में स्थापित करेगी।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु को पुकारना

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मयइवापो न तृष्यते बभूथ।
तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

यह मन्त्र १७५।६ पर व्याख्यात है।

विशेष—सारे सूक्त में सोम की महत्ता व लाभों का वर्णन है। प्रस्तुत सूक्त की भाँति अगले सूक्त में भी सोमरक्षण के लाभों का चित्रण है—

[१७७] सप्तसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

चर्षणि, जन, कृष्टि

आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप मद्रिग्युक्त्वा हरी वृषणा याह्यर्वाङ्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभु! आप **आचर्षणिप्राः**=सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषों को सम्यक् पूरण करनेवाले हैं। **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों पर **वृषभः**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **कृष्टीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के जीवन को दीप्त करनेवाले हैं। वे 'चर्षणि' (Seeing, observing) ब्राह्मण-वृत्ति के पुरुष हैं। सूक्ष्मता से तत्त्व का दर्शन करनेवाले ये व्यक्ति ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हैं। प्रभु इनकी कमियों को दूर करते हैं। 'जन' क्षत्रिय हैं। ये अपनी शक्तियों का विकास करते हैं। यह शक्ति-विकास ही जीवन को सुखी बनाता है। 'कृष्टि' वैश्य हैं। ये कृषि आदि श्रमप्रधान कार्यों को करते हुए अपने ऐश्वर्यों का वर्धन करते हैं। २. ये **इन्द्र पुरुहूतः**-बहुतों से पुकारे जाते हैं। वस्तुतः प्रभु के उपासक बनकर ही हम 'चर्षणि, जन व कृष्टि' बन पाते हैं। प्रभु कहते हैं कि **स्तुतः**=(स्तुतमस्यास्तीति) स्तुति करता हुआ, **श्रवस्यन्**=ज्ञान की कामनावाला, **अवसा**=रक्षण के हेतु से **मद्रिक्**=मेरी ओर आनेवाला तू **वृष्णा हरी**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को **युक्त्वा**=शरीर-रथ में जोतकर **अर्वाङ्**=अन्दर—हृदयान्तरिक्ष में **उप आ याहि**=मेरे समीप प्राप्त हो। ३. हमारे जीवन के उत्कर्ष के लिए प्रभु के निर्देश स्पष्ट हैं—(क) हमारी वृत्ति स्तवन की हो (स्तुतः), (ख) हम ज्ञान की रुचिवाले हों (श्रवस्यन्), (ग) प्रभु-प्रवण हों नकि प्रकृति-प्रवण (मद्रिक्), (घ) इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतनेवाले अर्थात् क्रियाशील हों (युक्त्वा हरी वृषणा)। इस मार्ग पर चलते हुए ही हम 'चर्षणि, जन व कृष्टि' बनेंगे।

भावार्थ—हम 'चर्षणि' बनें, प्रभु हमारा पूरण करेंगे। हम 'जन' बनें, प्रभु हमपर सुखों का वर्षण करेंगे। हम 'कृष्टि' बनें, प्रभु हमारे जीवन को दीप्त बनाएँगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शक्तिशाली इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः।
ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे॥ २॥

१. प्रभु जीव से कह रहे हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये**=जो **ते**=तेरे **वृषणः**=शक्तिशाली **वृषभासः**=श्रेष्ठ **ब्रह्मयुजः**=ब्रह्म से तेरा मेल करानेवाले **वृषरथासः**=शक्तिशाली शरीररूप रथवाले **अत्याः**=सतत गतिवाले इन्द्रियाश्व हैं **तान् आतिष्ठ**=उनपर तू स्थित हो, इन इन्द्रियाश्वों का तू अधिष्ठाता बन। इन्द्रियाँ शक्तिशाली व श्रेष्ठ हों। ज्ञान की ओर इनका झुकाव हो। शरीररूप रथ भी दृढ़ हो। ये इन्द्रियाश्व सतत गतिशील हैं, हममें क्रियाशीलता हो। इस प्रकार इन उत्तम इन्द्रियाश्वों के हम अधिष्ठाता हों—ये अश्व हमारे वश में हों। प्रभु कहते हैं कि **तेभिः**=उन इन्द्रियाश्वों से **अर्वाङ् आ याहि**=तू अन्तर्मुख यात्रावाला हो। ३. जीव प्रभु से कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! हम **सोमे सुते**=अपने जीवन में सोम का सवन करने पर **त्वा हवामहे**=तुझे पुकारते हैं। यह सोम का (सवन) शरीर में शक्ति का रक्षण ही हमें इस योग्य

बनाता है कि हम आपको अपने हृदय में आसीन होने के लिए आमन्त्रित करें। इस सोम के रक्षण से ही इन्द्रियाँ शक्तिशाली व श्रेष्ठ बनती हैं। इसी से शरीररूप रथ दृढ़ बनता है। यह सोमरक्षण ही वस्तुतः हमें प्रकृति-प्रवणता से दूर करके प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाएँ। उन इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता बनें। सदा क्रियाशील हों। इन सब बातों के लिए सोम का रक्षण करनेवाले हों। तब हम प्रभु को आमन्त्रित करने के लिए तैयार होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर-रथ से ब्रह्मधाम की ओर

आ तिष्ठ रथं वृषणं वृषा ते सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि।
युक्त्वा वृषभ्यां वृषभ क्षितीनां हरिभ्यां याहि प्रवतोप मद्रिक्॥ ३॥

१. प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **वृषणं रथम्**-इस शक्तिशाली रथ को **आतिष्ठ**=तू अधिष्ठित कर। तू इस रथ का अधिष्ठाता बन। यह रथ पूर्णरूप से तेरे वश में हो। यह रोगों से जीर्ण न हो गया हो। २. यह **वृषा**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाला व तुझपर सब सुखों का वर्षण करनेवाला **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति से ही) **ते**=तेरे लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इस सोम के द्वारा **मधूनि परिषिक्ता**=सब माधुर्यों का तुझमें सेचन हुआ है। यह सोम तेरे मन, वचन व कर्मों में माधुर्य का सञ्चार करनेवाला है। इसके रक्षण से तेरे मन के विचार मधुर ही होते हैं, तेरी वाणी के उच्चार भी मधुर होते हैं और शरीर से तू मधुर ही आचरणवाला बनता है। ३. इस प्रकार **क्षितीणां वृषभ**-हे मनुष्यों में श्रेष्ठ (पुरुषर्षभ)! तू **वृषभ्यां हरिभ्याम्**=शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से **युक्त्वा**=इस शरीर-रथ को युक्त करके इस **प्रवता**=वेगवान् रथ से **मद्रिक्**-मेरे अभिमुख **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त हो। वस्तुतः शरीररूप रथ को दृढ़, स्वाधीन बनाकर, शक्ति के रक्षण द्वारा 'विचार, उच्चार व आचार' सभी को मधुर बनाकर, इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतकर हमें प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में बढ़ना है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है।

भावार्थ—हम शरीर के अधिष्ठाता बनें। सोम का रक्षण करें। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से इस शरीर-रथ को युक्त करके जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग

अयं यज्ञो देवया अयं मियेध इमा ब्रह्माण्ययमिन्द्र सोमः।
स्तीर्णं बर्हिरा तु शक्र प्र याहि पिबा निषद्य वि मुचा हरी इह॥ ४॥

१. **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ **देवयाः**=देवों को प्राप्त करानेवाला है, दिव्य गुणों को प्राप्त कराके यह उस महादेव की ओर ले-जानेवाला है। **अयम्**=यह **मियेधः**=(sacrificial offering) देवयज्ञ की आहुतियाँ हैं। **इमा ब्रह्माणि**=ये स्तोत्र हैं और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम है, अर्थात् हे प्रभो! आपके निर्देशों के अनुसार मैंने (क) दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाले यज्ञात्मक कर्मों को अपनाया है, (ख) अग्निहोत्रादि में आहुतियाँ देकर हविरूप भोजन ही किया है, (ग) स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए, (घ) आपके स्मरण के द्वारा सोम (वीर्य) का शरीर में ही पान (रक्षण) किया है। २. इस प्रकार इन सब कार्यों को करते हुए **बर्हिः**

स्तीर्णम्=मैंने इस वासना-शून्य हृदयरूप आसन को बिछाया है, अतः **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **आ प्रयाहि**=इस हृदय-आसन पर आसीन होने के लिए आइए ही। ३. आप ही इस आसन पर **निषद्य**=आसीन होकर **पिब**=मेरे इस सोम का पान कीजिए। आपको ही इस सोम का रक्षण करना है। आपके हृदय में आसीन होने पर वहाँ काम का प्रवेश असम्भव हो जाता है और इस प्रकार सोम का रक्षण हो पाता है। **इह**=इस जीवन में **हरी**=मेरे इन्द्रियाश्वों को **विमुच**=सब विषय-बन्धनों से मुक्त कीजिए।

भावार्थ—श्रेष्ठ कर्म, अग्निहोत्र, स्तोत्र, सोमरक्षण, वासनाशून्य हृदय—ये प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तवन व प्रभु-प्राप्ति

ओ सुष्टुत इन्द्र याह्यर्वाङुप ब्रह्माणि मान्यस्य कारोः।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुष्टुतः**=उत्तम प्रकार से स्तुति किये गये आप **उ**=निश्चय से **अर्वाङ् आ याहि**=हमें हृदयान्तरिक्ष में प्राप्त होओ। स्तुति करते हुए हम हृदय में आपका दर्शन करने में समर्थ हों। हे प्रभो! **मान्यस्य**=पूजा करनेवालों में उत्तम **कारोः**=क्रियाओं को कुशलता से करनेवाले के **ब्रह्माणि**=स्तवन **उप**-उसे आपके समीप प्राप्त करानेवाले हों। २. हम **अवसा**=रक्षण के हेतु से **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए **वस्तोः**=(वस्तुं, वस+तोसुन्) संसार में उत्तमता से निवास के लिए **विद्याम**=मार्ग को जान पाएँ। आपका स्तवन ही वस्तुतः हमारा मार्गदर्शन करनेवाला हो। हम आपसे **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पापवर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमारा मार्ग-दर्शक हो। मार्ग पर चलते हुए हम प्रभु को याद करें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्रभु-प्राप्ति के साधनों का उल्लेख करता है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१७८] अष्टसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'महयन् काम' का अ-दहन

यद्ध स्या त इन्द्र श्रुष्टिरस्ति यया बभूथ जरितृभ्य ऊती।
मा नः कामं महयन्तमा धग्विश्वा ते अश्यां पर्याप आयोः॥ १॥

१. **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=क्योंकि **ह**=निश्चय से **स्या**=वह **श्रुष्टिः**=(prosperity) समृद्धि **ते अस्ति**=आपकी ही है, **यया**=जिसके द्वारा **जरितृभ्यः**=सब स्तोताओं के लिए आप **ऊती**=रक्षण के लिए **बभूथ**=होते हैं, वे आप **नः**=हमारे **महयन्तं कामम्**=(महतः कुर्वाणम्) वृद्धि के कारणभूत काम (मनोरथ) को **मा आधक्**=भस्म मत कीजिए। हमारे वासनारूप काम को तो नष्ट कीजिए परन्तु उत्कर्ष-प्राप्ति के साधनभूत काम को नष्ट मत कीजिए। २. मैं **ते**=आपकी **विश्वा**=सब **आयोः आपः**=(आप्तव्यानि—सा०) मनुष्य द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तुओं को **परि अश्याम्**=सब प्रकार से प्राप्त करनेवाला बनूँ। इनको प्राप्त करके मैं इस

जीवन में उन्नति करता चलूँ।

भावार्थ—प्रभु की सब समृद्धि स्तोताओं की उन्नति के लिए है। प्रभु-कृपा से हमारी कामना सदा उत्कर्ष के लिए हो। हम उत्कर्ष की साधनभूत वस्तुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

क्रियाशील मैत्र जीवन

न घा राजेन्द्र आ दभन्नो या नु स्वसारा कृणवन्त योनौ।
आपश्चिदस्मै सुतुका अवेषन्गमन्न इन्द्रः सख्या वयश्च॥ २॥

१. **नः**=हमें **घ**=निश्चय से **राजा**=इस विश्व का शासक **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **न आदभत्**=हिंसित न करे। हमें प्रभु नष्ट न करे **या**=जो **नु** निश्चय से **स्वसारा**-(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर सरण करनेवाले अथवा अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले पति-पत्नी **योनौ**=अपने घर में **कृणवन्त**=कार्यों को करते हैं। घर को उत्तम बनाने के लिए कार्यों में प्रवृत्त रहनेवाले पति पत्नी हिंसित नहीं होते। २. **सुतुकाः**=उत्तम वृद्धि के कारणभूत **आपः**=रेतःकण **चित्**=निश्चय से **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अवेषन्**=शरीर में व्याप्त होनेवाले होते हैं। रेतःकणों के शरीर में व्याप्त होने से शरीर नीरोग बनता है तथा बुद्धि तीव्र होकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनती है। ३. **नः**=हमारे लिए **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सख्या**=मित्रताओं को **वयः च**-और उत्तम जीवन को **गमत्**=प्राप्त कराएँ। हम जीवन में (मैत्र) सबके साथ मित्रतावाले हों। ईर्ष्या-द्वेष से भरा हुआ जीवन कोई जीवन नहीं है। सबके प्रति मित्रतावाला जीवन ही सुजीवन है।

भावार्थ—हम अपने घरों में क्रियाशील जीवन बिताते हुए प्रभु से अहिंसित हों, रेतःकणों का रक्षण करें, सबके साथ मित्रता से वर्तें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जेता, श्रोता, प्रभर्ता, उद्यन्ता

जेता नृभिरिन्द्रः पृत्सु शूरः श्रोता हवं नाधमानस्य कारोः।
प्रभर्ता रथं दाशुष उपाक उद्यन्ता गिरो यदि च त्मना भूत्॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **नृभिः**=आगे ले-चलनेवाले प्राणों के द्वारा—इनकी साधना (प्राणायाम) से **जेता**=विजयशील बनता है। **पृत्सु**=संग्रामों में **शूरः**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला होता है। **नाधमानस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूप ऐश्वर्यवाले **कारोः**=कुशल कर्ता की **हवम्**=प्रेरणा को **श्रोता**=सुननेवाला होता है। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनकर उसके अनुसार कार्यों को करनेवाला होता है। २. अपने इस **रथम्**=शरीर-रथ को **दाशुषः**=महान् दाता प्रभु के **उपाके**=समीप **प्रभर्ता**=ले-चलनेवाला बनता है **च**=और **यदि**=यदि **त्मना भूत्**=उस आत्मतत्त्व के साथ होता है—प्रभु के समीप पहुँचने में कुछ समर्थ होता है तो **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **उद्यन्ता**=अपने में उन्नत करता है। वस्तुतः प्रभु से ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है, इसके अन्दर ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है।

भावार्थ—वासनाओं को जीतकर हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, प्रभु के अधिक समीप होते चलें। अन्ततः शरीर-रथ को प्रभु के समीप ले-चलें और प्रभु की ज्ञानवाणियों को सुननेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु-भक्तों के सम्पर्क में

एवा नृभिरिन्द्रः सुश्रवस्या प्रखादः पृक्षो अभि मित्रिणो भूत्।
समर्य इषः स्तवते विवाचि सत्राकरो यजमानस्य शंसः॥ ४॥

१. **एव**=गत मन्त्र के अनुसार 'जेता, श्रोता' आदि बननेवाला पुरुष **नृभिः**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले इन प्राणों के द्वारा—इनकी साधना करता हुआ **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है। प्राणसाधना हमें इन्द्रियों को वश में करने की शक्ति देती है। यह इन्द्र **सुश्रवस्या**=उत्तम ज्ञान की कामना से **पृक्षः**=हविरूप अन्नों को ही **प्रखादः**=प्रकर्षेण खानेवाला होता है। इन हविरूप अन्नों के सेवन से इसकी बुद्धि सात्त्विक बनती है। सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर यह **मित्रिणः अभि**=उस महान् मित्र प्रभु की ओर जानेवाले पुरुषों की ओर **भूत्**=जानेवाला—प्रभु-भक्तों का संग करनेवाला होता है। २. यह **समर्ये**=इस जीवन संग्राम में **इषः स्तवते**=प्रभु-प्रेरणाओं का स्तवन करता है, प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रेरणाओं को प्राप्त करता है, **विवाचि**=विशिष्ट ज्ञान-वाणियों के होने पर **सत्राकरः**=यज्ञों को समन्तात् करनेवाला होता है। वेदोपदिष्ट यज्ञों को करता है और **यजमानस्य**=उस महान् यज्ञकर्ता—यज्ञरूप प्रभु का **शंसः**=स्तवन करनेवाला बनता है। यज्ञों को करता हुआ उन यज्ञों को प्रभु के अर्पण करता है। उन यज्ञों को प्रभु की शक्ति से होता हुआ समझता है। अहंकार न होने से उसके यज्ञ पवित्र बने रहते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर ज्ञान की कामना से सात्त्विक अन्न का ही सेवन करें; ज्ञानपूर्वक यज्ञों को करते हुए उन यज्ञों को प्रभु-शक्ति से होता हुआ जानें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु के सम्पर्क में

त्वया वयं मघवन्निन्द्र शत्रूनभि ष्याम महतो मन्यमानान्।
त्वं त्राता त्वमु नो वृधे भूर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ५॥

१. हे **मघवन्**=उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वयम्**=हम **महतः मन्यमानान्**=अपने को बड़ा माननेवाले, अति प्रबल **शत्रून्**=आसुर भावों को **त्वया**=आपके द्वारा **अभि स्याम**=पराभूत करें। आपकी उपासना ही हमें इन शत्रुओं के पराभव के लिए समर्थ करेगी। २. **त्वं त्राता**=आप ही हमारा रक्षण करनेवाले हैं। **त्वम् उ**=आप ही **नः**=हमारी **वृधे भूः**=वृद्धि के लिए होते हैं। आपकी शक्ति से सम्पन्न बनकर हम आगे बढ़ पाते हैं। ३. हम आपकी **इषम्**=प्रेरणा को, प्रेरणा के द्वारा **वृजनम्**=पाप-वर्जन को तथा पाप-वर्जन के द्वारा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु के साथ मिलकर ही हम प्रबल काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीत पाते हैं। प्रभु ही हमारे रक्षक व वर्धक हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि हम प्रभु-सम्पर्क में रहते हुए उन्नति के कारणभूत 'काम' को दग्ध कर सकें। इस प्रकार 'महयन् काम' को ही अपनानेवाले पति-पत्नी का चित्रण अगले सूक्त में है। पत्नी 'लोपामुद्रा' है—वासनाओं का विलोप करनेवाली (लोपा) व आनन्दमय मनोवृत्तिवाली (मुद्रा)। पति 'अगस्त्य' है—अग—कुटिलता को संहत (विनष्ट) करनेवाला। पहले पत्नी का वाक्य है—

[१७९] एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गृहस्थाश्रम का समय

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥ १॥

१. जीवन को तीन कालों में विभक्त करती हुई लोपामुद्रा कहती है कि **अहम्**=मैंने **पूर्वीः शरदः**=जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में **दोषाः वस्तोः**=दिन-रात तथा **जरयन्तीः उषसः**=आयुष्य को एक-एक दिन करके जीर्ण करती हुई उषाओं में **शश्रमाणा**-खूब श्रम करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम को निभाया है। यह आश्रम वस्तुतः तीव्र तपस्या व श्रम का है—'अलसस्य कुतो विद्या'—आलस्य के साथ तो विद्या का सम्बन्ध है ही नहीं। २. इन प्रारम्भिक वर्षों की तीव्र तपस्या व श्रम के बाद मैं इस समय अपने यौवन में हूँ। समय आएगा कि जब **जरिमा**=जरावस्था **तनूनाम्**=शरीरों की **श्रियम्**=शोभा को **मिनाति**=हिंसित कर देती है, न्यून कर देती है (diminish), अतः **नु**=अब यह यौवन की अवस्था ही वह अवस्था है जबकि **उ**=निश्चय से **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **पत्नीः**=पत्नियों को **अपि जगम्युः**-प्राप्त होते हैं। उन पत्नियों में वे अपने को नया जन्म देते हैं और पुत्ररूप में उत्पन्न होते हैं। 'तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः' इसीलिए तो जाया को जाया कहते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में जिसने समुचित विद्याध्ययन में श्रम किया है, उस युवति कन्या को शक्ति का संचय करनेवाला पुरुष पत्नी के रूप में ग्रहण करके गृहस्थ में प्रवेश करे।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पठन व गृहस्थाश्रम

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः॥ २॥

१. **ये**=जो **चित् हि**=निश्चय से **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले **ऋतसापः**-ऋत से अपना मेल करनेवाले **आसन्**=थे, जिन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम में अपना पालन व पूरण किया, ऋतज्ञान को, वेद के सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, जिन्होंने **देवेभिः साकम्**=ज्ञानी आचार्यों के साथ **ऋतानि अवदन्**=सत्य ज्ञानों का ही उच्चारण किया **ते चित्**=वे भी **अवासुः**=(षोऽन्तकर्मणि) जीवन के अन्त की ओर बढ़ गये—उनका जीवन ढलने को आया, पर **अन्तं नहि आपुः**=ज्ञान के अन्त को प्राप्त नहीं किया। २. ज्ञान के अन्त तक पहुँचकर गृहस्थ बनने का विचार करना तो व्यर्थ ही है, अतः **नु**=अब—पूर्व इसके कि जीवन ढलना आरम्भ हो जाए अर्थात् युवावस्था में ही **उ**=निश्चय से **पत्नीः**=पत्नियाँ **वृषभिः**=शक्तिशाली पतियों के साथ **संजगम्युः**=संगत हों। इस प्रकार मिलकर अपने वंशकर सन्तान को वे जन्म देनेवाले हों।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञानी आचार्यों के साथ ऋत-ज्ञान को प्राप्त करनेवाले युवकों को युवा पत्नियाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रमशील समन्वित जीवन

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव॥ ३॥

१. अब अगस्त्य कहते हैं कि—**न मृषा**=यह असत्य नहीं है **यत्**=कि **श्रान्तम्**=श्रम के द्वारा श्रान्त पुरुष को **देवाः**=सब देव **अवन्ति**=रक्षित करते हैं। 'न ऋते श्रन्तस्य सख्याय देवाः'—जो श्रमशील नहीं देव उसके मित्र नहीं होते। २. इस प्रकार श्रम करते हुए, सब देवों से रक्षित होकर हम पति-पत्नी **इत्**=निश्चय से **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को **अभि अश्नवाव**=(to make oneself master of) जीत लें। श्रम के द्वारा शक्तिशाली बनकर ही हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे। ३. **अत्र**=इस जीवन में हम **शतनीथम्**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **आजिम्**=इस जीवन-संग्राम को **जयाव इत्**=जीतेंगे ही, **यत्**-यदि **सम्यञ्चा**=मिलकर चलनेवाले **मिथुनौ**=हम दोनों **अभ्यजाव**=इन शत्रुओं पर आक्रमण करेंगे। वस्तुतः पति-पत्नी का परस्पर समन्वय जीवन-यात्रा की सफलता के लिए पहली मौलिक बात है। इनका समन्वय न होने पर इनकी शक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं, व्यर्थ ही नहीं एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगी रहती हैं। ऐसे अवसर पर ये क्रोधादि के शिकार हुए रहते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी श्रमशील हों, परस्पर मिलकर चलनेवाले हों तब ये सब शत्रुओं को जीतकर दीर्घजीवी व सफल जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वाञ्छनीय 'काम'

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥ ४॥

१. अगस्त्य कहते हैं कि इस गृहस्थ का मूल 'काम' है। यही काम मनुष्य को अपने में फँसाकर विनष्ट कर डालता है, अतः **मा**=मुझे तो वही **कामः**=काम **आगन्**=प्राप्त हो जो कि **नदस्य**=एक स्तोता का है। प्रभु-स्तवन करनेवाले का काम पवित्र बना रहता है। मुझे **रुधतः**=अपना संयम करनेवाले का काम प्राप्त हो। संयमी पुरुष सन्तानोत्पत्ति के लिए ही इस काम को अपनाता है। यह काम धर्म के विरुद्ध नहीं है। २. यह 'काम' **इतः**=इस लोक के दृष्टिकोण से **आजातः**=उत्पन्न हुआ है, परन्तु केवल लौकिक दृष्टिकोण से न होकर यह **कुतश्चित्**=आँखों से न दीखनेवाले किसी **अमुतः**=परलोक के दृष्टिकोण से भी हुआ है। इस काम का उद्देश्य इस लोक का अभ्युदय ही नहीं है, अपितु परलोक के निःश्रेयस को भी दृष्टि में रखकर यह मुझे प्राप्त हुआ है। ३. इस प्रकार कामात्मा न बने हुए मुझ **वृषणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **लोपामुद्रा**=वासनाओं को लुप्त करनेवाली—प्रसन्न मनोवृत्तिवाली पत्नी **निरिणाति**=निश्चय से प्राप्त होती है। यह मेरे अनुकूल है। मैं कामात्मा नहीं तो यह भी कामासक्ति से ऊपर उठी हुई है। मैं धीर हूँ तो यह भी धीर है। ४. परन्तु कदाचित् पति धीर हो और पत्नी धीर न हो इस प्रकार परस्पर समन्वय न होने पर **धीरम्**=ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पति को **अधीरा**=ज्ञान में रुचि न रखनेवाली, भोगप्रधान वृत्तिवाली पत्नी **श्वसन्तम्**=आहें भरते हुए व अपने भाग्य का ही रोना रोते हुए पति को **धयति**=पी-सा जाती है, उसे शीघ्र ही अशक्त बना देती है। एवं गृहस्थ में पति-पत्नी दोनों का धीर होना आवश्यक है। दोनों धीर हों तो गृहस्थ स्वर्ग बन जाता

है, अन्यथा यह नरक बनकर निरन्तर दुःख और चिन्ताओं का कारण बन जाता है।

भावार्थ—हमारा 'काम' स्तोता व संयमी पुरुष का काम हो। यह अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों के दृष्टिकोण से प्रवृत्त हो। पति-पत्नी दोनों ही धीर हों, ज्ञान की रुचिवाले हों, अन्यथा जीवन एकदम भोगप्रधान बनकर गृहस्थ को नरक सा बना देता है।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः।

सोम का रक्षण

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे ।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळतु पुलुकामो हि मर्त्यः ॥ ५ ॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम कामात्मा ही नहीं बन जाते तो **नु**-अब **इमं सोमम्**=इस सोमशक्ति को **अन्तितः**-प्रभु के सान्निध्य के द्वारा **हृत्सु पीतम्**=हृदय में ही पान किया हुआ **उपब्रुवे**-हम चाहते हैं। हम यही प्रार्थना करते हैं कि हम इस सोमशक्ति को अपने अन्दर ही सुरक्षित रख पाएँ। २. **यत्**-जो **सीम्**=निश्चय से **आगः**=अपराध **चकृम**=हम कर बैठें **तत्**=तो वे प्रभु **सुमृळतु**-हमारे जीवन को सुखी ही करें, क्योंकि **मर्त्यः**-मनुष्य **हि**-निश्चय से **पुलुकामः**-बहुत कामनावाला है। इस 'काम' का जीतना सुगम नहीं होता। इससे अभिभूत होकर हमसे अपराध हो जाए तो प्रभु हमें शक्ति दें कि हम भविष्य में ऐसे अपराधों से ऊपर उठ पाएँ। इस प्रकार वे प्रभु हमारे जीवनों को सुखी करें। ३. जीवन का वास्तविक आनन्द इसी बात पर निर्भर करता है कि हम कितने अंश में वासना को जीतकर अपने अन्दर सोम का पान कर पाये हैं।

भावार्थ—हमारी आराधना यही हो कि हम वासना से ऊपर उठकर सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दोनों वर्णों [ब्रह्म+क्षत्र] का पोषण

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम ॥ ६ ॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कामना को जीकर सोम का पान करनेवाला **अगस्त्यः**=कुटिलता का संहार करनेवाला मनुष्य **खनित्रैः**=कुदालों से **खनमानः**-खोदता है अर्थात् श्रमशील बनता है। इस श्रमशीलता के कारण ही तो वस्तुतः वासनाओं का शिकार नहीं होता। यह अगस्त्य **प्रजाम्**=अपने प्रकृष्ट विकास को, **अपत्यम्**-सन्तान को तथा **बलम्**-बल को **इच्छमानः**=चाहता हुआ होता है। विकास, उत्तम सन्तान व बल—सभी का आधार सोम-रक्षण ही है। २. यह अगस्त्य **ऋषिः**=मन्त्रद्रष्टा, तत्त्वज्ञानी व **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ अपने जीवन में **उभौ वर्णौ**=ब्राह्मण व क्षत्रिय इन दोनों ही वर्णों का **पुपोष**-पोषण करता है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'। मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह 'ऋषि' बनता है तो शरीर के दृष्टिकोण से 'उग्र'। ३. यह अगस्त्य **देवेषु**-देवों के विषय में **सत्याः आशिषः**=उत्तम इच्छाओं को **जगाम**=प्राप्त होता है। यह दिव्य गुणों को प्राप्त करने की ही कामना करता है। इस प्रकार इसकी इच्छाएँ सत्य ही होती हैं, असत्य नहीं।

भावार्थ—कामात्मा ही न बन जाएँ तो हमारे जीवन का उत्तम विकास होता है, हम

तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी बनते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि यौवनावस्था में गृहस्थ में प्रवेश करने पर (१-२) हम श्रमशील बनें (३)। कामात्मा न बनकर स्तोता व संयमी पुरुष के काम को अपनाएँ (४)। सोम का रक्षण करते हुए (५) तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी बनें (६)। ऐसा बनने के लिए प्राणायाम मुख्य साधन है, अतः अगले सूक्त की देवता ये अश्विनौ—प्राणापान ही हैं—

चतुर्विंशोऽनुवाकः

[१८०] अशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उत्तम लोक-प्राप्ति

युवो रजांसि सुयमासो अश्वा रथो यद्वां पर्यर्णांसि दीयत्।
हिरण्यया वां पवयः प्रुषायन्मध्वः पिबन्ता उषसः सचेथे॥ १॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जीवन बनानेवाले पति-पत्नी प्राणसाधना के द्वारा अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए यत्नशील होते हैं, अतः उनके लिए कहते हैं कि **युवोः**=(युवयोः) आप दोनों के **रजांसि**=उत्कृष्ट लोक होते हैं अर्थात् आपको उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति होती है, क्योंकि आपके **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **सुयमासः**=उत्तमता से नियन्त्रित होते हैं। **यत्**=जो **वाम्**=आपका **रथः**=शरीररूप रथ है वह **अर्णांसि परिदीयत्**=ज्ञान जलों की ओर गति करनेवाला होता है, अर्थात् आपका झुकाव ज्ञान की ओर होता है। २. **वाम्**=आपकी **पवयः**=रथ की नेमियाँ **हिरण्यया**=ज्योतिर्मयी हैं और **प्रुषायन्**=(पुष्णन्ति अभिमतम्) इष्ट का पूरण करनेवाली हैं (प्रुष्=to fill) आपका जीवन ज्ञानप्रधान होकर मर्यादित है और इन मर्यादाओं में चलने के कारण इष्ट को प्राप्त करनेवाला है। ३. **मध्वः पिबन्तौ**=ओषधियों के सारभूत मधु अर्थात् सोम (वीर्यशक्ति) का पान करते हुए आप **उषसा सचेथे**=उषाकालों के साथ संगत होते हो। उषाकाल में जागरित होकर अपने नित्यकृत्यों में प्रवृत्त हो जाते हो।

भावार्थ—उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) हम जितेन्द्रिय बनें, (ख) हमारा झुकाव ज्ञान की ओर हो, (ग) जीवन में मर्यादाओं का पालन हो, (घ) सोमशक्ति का रक्षण करें, (ङ) उषाकाल में प्रबुद्ध होकर कार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अत्य, विपत्मा, नर्य, प्रयज्यु

युवमत्यस्याव नक्षथो यद्विपत्मनो नर्यस्य प्रयज्योः।
स्वसा यद्वां विश्वगूर्ती भराति वाजायेट्टे मधुपाविषे च॥ २॥

१. हे अश्विनीदेवो! प्राणापानो! **यत्**=जब **युवम्**=आप दोनों **अत्यस्य**=सतत गमनशील, सदा क्रिया में लगनेवाले, **विपत्मनः**=विशिष्ट मार्गवाले **नर्यस्य**=नरहित में प्रवृत्त **प्रयज्योः**=प्रकृष्ट यज्ञशील पुरुष के इस शरीररूप रथ को **अवनक्षथः**=प्राप्त होते हो तो **यत्**=जो **वाम्**=आपकी यह **विश्वगूर्ती**=सम्पूर्ण ज्ञानों का उद्यमन करनेवाली सब सत्य विद्याओं की प्रतिपादिका **स्वसा**=(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर ले-चलनेवाली वेदवाणी है, वह **भराति**=हमारा भरण करती है, यह हमारी कमियों को दूर करनेवाली होती है। २. वस्तुतः प्राणसाधना के द्वारा ही मनुष्य 'अत्य, विपत्मा, नर्य व प्रयज्यु' बनता है। इस प्राणसाधक को ही वेदज्ञान प्राप्त होता है,

जो वेदज्ञान उसे सब सत्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कराता हुआ प्रभुप्रवण करता है (स्वसा)। हे **मधुपौ**=मेरे ओषधियों के सारभूत सोम (वीर्यशक्ति) को मेरे शरीर में ही रक्षित करनेवाले प्राणापानो! यह आपका उपासक **वाजाय**=शक्ति के लिए **ईट्टे**=उपासना करता है **च**=और **इषे** प्रेरणा की प्राप्ति के लिए आपकी आराधना करता है। प्राणायाम करनेवाला व्यक्ति इस प्राणसाधना के द्वारा शरीर में सोम का पान करता हुआ शरीर को शक्तिसम्पन्न बनाता है और अपने निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुन पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य गतिशील, विशिष्ट मार्ग पर चलनेवाला, नर-हितकारी व यज्ञशील बनता है। इस साधक को वेदज्ञान प्राप्त होता है। यह शरीर में शक्तिशाली व निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अकुटिल, शुचि, यज्ञशील, हविष्मान्

युवं पयं उस्रियायामधत्तं पुक्वमामायामव पूर्व्यं गोः।
अन्तर्यद्वनिनौं वामृतप्सू ह्वारो न शुचिर्यजते हुविष्मान्॥ ३॥

१. हे प्राणापानो! आप ही **गोः**=इस वेदवाणी के **पूर्व्यम्**=सृष्टि के आरम्भ में दिये जानेवाले **पक्वम्**=पूर्ण परिपक्व **पयः**=ज्ञानदुग्ध को हमारी इस **आमायाम्**=अपरिपक्व बुद्धि में **उस्रियायाम्**=(brightness, light) प्रकाश के निमित्त **अवाधत्तम्**=स्थापित करते हो। वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में दिये जाने से '**पूर्व्य**' है, भ्रान्तिशून्य, पूर्ण होने से यह पक्व है। हमारी अपरिपक्व बुद्धि में इसकी स्थापना प्राणसाधना के द्वारा होती है। इसके स्थापित होने पर हमारी बुद्धि प्रकाशित हो उठती है। २. **यत्**=जब **वाम्**=आप दोनों **वनिनः**=उपासक के **अन्तः**=अन्दर **ऋतप्सू**=(One whose form is truth) सत्य स्वरूपवाले होते हो तो वह उपासक न **ह्वारः**= कुटिल नहीं होता—कुटिलता को छोड़कर सरलता को अपनाता है, **शुचिः**=पवित्र होता है, सदा सुपथ से ही धनार्जन करता है 'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः'। **यजते**=यह यज्ञशील होता है, यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है, **हविष्मान्**=उत्तम हविवाला बनता है, सदा त्यागपूर्वक अदनवाला होता है (हु दानादनयोः)। प्राण से जीवन दग्धदोष होकर पवित्र हो जाता है, इसीलिए प्राणापानों को यहाँ 'ऋतप्सु' कहा गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश होता है। हमारे दोषों का दहन होकर हम अकुटिल, पवित्र, यज्ञशील व दानपूर्वक अदन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मधुमान् घर्म

युवं हं घुर्मं मधुमन्तुमत्रयेऽपो न क्षोदोऽवृणीतमेषे।
तद्वां नरावश्विना पश्वइष्टी रथ्येव चक्रा प्रति यन्ति मध्वः॥ ४॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **अत्रये**=(अ+त्रि) काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले के लिए **मधुमन्तं घर्मम्**=माधुर्यवाली शक्ति का (घर्मम्=गर्मी=शक्ति व उत्साह) **अवृणीतम्**=वरण करते हो। प्राणसाधक शक्ति का संयम करके शक्तिशाली तो बनता ही है, इस शक्ति के साथ उसमें माधुर्य भी होता है। प्राणापानो! तुम **इषे**=प्रभु-प्रेरणा की प्राप्ति के लिए

अपः न=कर्मों की भाँति शत्रुओं के **क्षोदः**=(grinding) सम्पेषण (पीसने) का (अवृणीतम्) वरण करते हो। वस्तुतः (सात्त्विक) कर्मों के अनुपात में ही वासनाओं का पेषण होता है। वासनाओं का पेषण होने पर ही प्रभु-प्रेरणा सुनाई पड़ने लगती है। हे **नरौ**=नेतृत्व के देनेवाले, हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **तत्**=वह **पश्वः इष्टिः**=प्रभु-प्राप्ति की कामना तथा **मध्वः**=(इष्टिः)=सोम को सुरक्षित रखने की कामना **रथ्या चक्रा इव**=रथ के दो चक्रों के समान **प्रति यन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। जैसे रथ दो चक्रों से चलता है, उसी प्रकार जीवन का रथ भी दो चक्रों से उन्नति पथ पर बढ़ा करता है। वे दो चक्र 'प्रभु-प्राप्ति व सोमरक्षण की कामना' हैं। ये दोनों कामनाएँ प्राणसाधना की अपेक्षा रखती हैं, उन्नति के लिए दोनों आवश्यक हैं। ये परस्पर सम्बद्ध-सी हैं, क्योंकि प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण साधन होता है। इस सोम की रक्षा से ही उस सोम (प्रभु) की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से माधुर्यवाली शक्ति प्राप्त होती है। क्रियाशीलता के अनुपात में वासनाओं का सम्पेषण होता है। प्रभु-प्राप्ति व सोमरक्षण की कामना हमारे जीवन-रथ के दो चक्रों के समान होती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणापान की देन

आ वां दानाय ववृतीय दस्रा गोरोहेण तौग्र्यो न जिव्रिः।
अपः क्षोणी सचते माहिना वां जूर्णो वामक्षुरंहसो यजत्रा॥ ५॥

१. हे **दस्रा**=मेरे शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपको **दानाय**=उत्तम वस्तुओं के दान के लिए **आववृतीय**=मैं अपने अभिमुख करनेवाला बनूँ। आपको अपने अभिमुख करके मैं आपसे उत्तम दानों को प्राप्त करूँ। सर्वप्रथम आपकी साधना से मैं **गोः ओहेण**=ज्ञान की वाणी के वहन के द्वारा **तौग्र्यः**=(तुग्र्या=water, आपः=रेतः) रेतःकणों को धारण करनेवाला अथवा (तुज् हिंसायाम्) कामादि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होऊँ और **न जिव्रिः**=जीर्णशक्ति न हो जाऊँ। प्राणसाधना का सर्वोत्कृष्ट लाभ यही है कि—(क) हम ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले बनते हैं, (ख) शत्रुओं का संहार कर पाते हैं, (ग) जीर्ण नहीं होते। २. हे प्राणापानो! **वां माहिना**=आपकी महिमा से यह साधक **अपः**=अन्तरिक्षलोक को तथा **क्षोणी**=पृथिवीलोक को **सचते**=अपने में समवेत करता है। शरीर ही पृथिवीलोक है और हृदय अन्तरिक्ष है। इसका शरीर स्वस्थ व दृढ़ होता है तथा हृदयान्तरिक्ष भी व्यापक व उदार वृत्तिवाला होता है। शरीर में पृथिवी की भाँति दृढ़ता होती है, हृदय में जलों की भाँति व्यापकता। जल व्यापक-से हैं, व्यापकता के कारण इनका नाम 'आपः' है (आप् व्याप्तौ)। ३. हे प्राणापानो! **यजत्रा**=आप यष्टव्य व उपासनीय हो। **वाम्**=आपकी उपासना से **जूर्णः**=जीर्णपुरुष भी **अंहसः**=सब कष्टों व पापों से मुक्त होकर **अक्षुः**=व्याप्त जीवनवाला (अश् व्याप्तौ) दीर्घजीवी बनता है। ('असतो मा सद् गमय' की भाँति 'अंहसः' यह पञ्चमी 'छोड़कर' इस अर्थ को दे रही है।)

भावार्थ—प्राणसाधना से वेदज्ञान की प्राप्ति होती है। हम वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं, जीर्णशक्ति नहीं होते, दृढ़ शरीर व उदार हृदय को प्राप्त करते हैं, रोगों से ऊपर उठकर दीर्घजीवी बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

स्वधा+पुरन्धि

नि यद्युवेथे नियुतः सुदानू उप स्वधाभिः सृजथः पुरन्धिम्।
प्रेषद्वेषद्वातो न सूरिरा महे ददे सुव्रतो न वाजम् ॥ ६ ॥

१. हे **सुदानू**=शोभन दानवाले प्राणापानो! गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से उत्तम दानों के देनेवाले प्राणापानो! **यत्**-जब आप **नियुतः**-हमारे इन इन्द्रियाश्वों को **नियुवेथे**-निश्चय से हमारे शरीर-रथ में जोतते हो तो आप **स्वधाभिः** आत्मधारण-शक्तियों के साथ **पुरन्धिम्**-पालक व पूरक बुद्धि को **उपसृजथः**=हममें उत्पन्न करते हो। प्राणसाधना से (क) ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगती हैं, कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में, (ख) उस समय हमारे हृदय आत्मतत्त्व को धारण करने की शक्तिवाले होते हैं, निर्मल हृदयों में हम आत्मा को प्रतिष्ठित करते हैं, (ग) हमारा मस्तिष्क पालक व पूरक बुद्धि से भूषित होता है। इस प्रकार प्राणसाधना से हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि—ये असुरों के अधिष्ठान नहीं बने रहते। इनमें असुरों से बनाये गये अधिष्ठान नष्ट हो जाते हैं। इनमें देवस्थान बन जाते हैं। २. उस समय यह **सूरिः**=ज्ञानी स्तोता **वातः न**-वायु के समान शीघ्रता से कार्य करता हुआ **प्रेषत्**-प्रभु को प्रीणित करता है (प्रीणातेः लेटि रूपम्)। कर्मों से ही तो प्रभु का आराधन होता है। **वेषत्**=(वी गतौ) यह प्रभु की ओर ही चलनेवाला होता है। यह **सुव्रतः न**-एक उत्तम व्रतोंवाले पुरुष की भाँति **महे**=(मह पूजायाम्) महत्त्वपूर्ण जीवन के लिए **वाजम्**-शक्ति व त्याग को (वाज-Sacrifice) **आ ददे**=स्वीकार करता है। शक्तिशाली वा त्यागशील बनकर ही हम प्रभु का पूजन कर पाते हैं, तभी हमारे जीवनों में कुछ महत्त्व प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ स्वकार्य में ठीक से प्रवृत्त होती हैं, हृदय में आत्मा का प्रतिष्ठान होता है, मस्तिष्क बुद्धि से सुभूषित होता है। हम शक्ति व त्याग को अपनाकर जीवन को महत्त्वपूर्ण बना पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रशस्त जीवन

वयं चिद्धि वां जरितारः सत्या विपन्यामहे वि पणिर्हितावान्।
अधा चिद्धि ष्माश्विनावनिन्द्या पाथो हि ष्मा वृषणावन्तिदेवम्॥ ७॥

१. हे **अश्विनौ**-प्राणापानो! **वयम्**-हम **चित् हि**-निश्चय से **वाम्**=आपके **जरितारः**-स्तोता हैं **सत्यः**-हम आपकी कृपा से सत्य जीवनवाले होते हुए **विपन्यामहे**-विशिष्टरूप से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। **विपणिः**-विशिष्टरूप से स्तवन करनेवाला व्यक्ति ही **हितावान्**-निहित ऐश्वर्यवाला होता है। प्राणसाधना से दोष दग्ध होते हैं, हमारा जीवन सत्य होता है और ऐसे जीवनवाले बनकर हम प्रभु का सच्चा स्तवन कर रहे होते हैं। **अध**-अब हे प्राणापानो! आप **चित् हि**=निश्चय से **अनिन्द्या स्म**=अनिन्द्य हैं। प्राणसाधना से सब निन्द्य बातें दूर हो जाती हैं। शरीर के रोग और मन की वासनाएँ इससे नष्ट हो जाती हैं, अतः प्राणसाधना से जीवन अत्यन्त प्रशस्त व सुन्दर बन जाता है। ३. हे **वृषणौ**=हममें शक्ति का सञ्चार करनेवाले प्राणापानो! आप **हि स्म**-निश्चय से **अन्तिदेवम्**-(अन्तिदेवो यस्मात्) जिसके द्वारा देव (प्रभु) की समीपता होती है उस सोम (वीर्य) को शरीर में ही **पाथः**=रक्षित करते हो। इस सोम-रक्षण के द्वारा ही प्राणसाधना के सब लाभ होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन को सत्य बनाती है। हम इससे परमेश्वर के सच्चे उपासक बनते हैं, ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन अनिन्द्य होता है और हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु के अधिकाधिक समीप

युवां चिद्धि ष्माश्विनावनु द्यून्विरुद्रस्य प्रस्रवणस्य सातौ।
अगस्त्यो नरां नृषु प्रशस्तः काराधुनीव चितयत्सहस्रैः॥ ८॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवाम्**=आप **चित् हि**=निश्चय से **प्रस्रवणस्य**=जल-प्रवाह की भाँति स्वभाविकी क्रियावाले **रुद्रस्य**=(रुत् र) सृष्टि के प्रारम्भ में वेद द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान देनेवाले प्रभु की **विसातौ**-विशिष्ट प्राप्ति के निमित्त **अनुद्यून्**-दिनप्रति-दिन **स्म**=होते हो। प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य प्रभु के अधिकाधिक समीप होता जाता है। प्राणसाधना मलों को नष्ट करती है, ज्ञान को दीप्त करती है और विवेकख्याति का कारण बनती है। २. यह साधक **नरां अगस्त्यः**=मनुष्यों में कुटिलता को नष्ट करनेवाला होता है। कुटिलता को नष्ट करके **नृषु प्रशस्तः**=मनुष्यों में प्रशस्त जीवनवाला होता है। यह **काराधुनी इव**=(कारा शब्दः। तस्य धूनितोत्पादयिता इव) शंख द्वारा शब्द उत्पन्न करनेवाले के समान **सहस्रैः**=अपरिमित स्तोत्रों से **चितयत्**=चेतानेवाला होता है। जैसे शंख बजानेवाला प्रातः शंख की ध्वनि द्वारा सबको प्रबुद्ध करता है, उसी प्रकार यह स्तोत्रों के द्वारा सभी को प्रबुद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम निर्मल जीवनवाले होते हुए प्रभु के अधिकाधिक समीप होते चलें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रयीश (रईस)

प्र यद्वहेथे महिना रथस्य प्र स्पन्द्रा याथो मनुषो न होता।
धत्तं सूरिभ्य उत वा स्वश्व्यं नासत्या रयिषाचः स्याम॥ ९॥

१. हे प्राणापानो! **यत्**=क्योंकि आप **रथस्य महिना**=इस शरीर-रथ की महिमा के हेतु से **प्रवहेथे**=इसका प्रकर्षेण वहन करते हो। वस्तुतः आपके कारण ही इस रथ का महत्त्व है। आँख-कानादि में से किसी के न होने पर भी यह रथ चलता है, परन्तु आपके न रहने पर इसके चलने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। **प्रस्पन्द्रा**=इस शरीर-रथ को प्रकृष्ट गति देनेवाले आप **याथः**=उसी प्रकार प्राप्त होते हो **न**=जैसे कि **मनुषः होता**=मनुष्य का होता (ऋत्विज्) आया करता है। यह होता यज्ञ के आरम्भ में आता है और यज्ञ के अन्त तक उपस्थित रहता है। इसी प्रकार आप जीवन-यज्ञ के आरम्भ से ही आते हो। आपके आने पर ही यह यज्ञ आरम्भ होता है। जीवन-यज्ञ की समाप्ति पर ही आप जाते हो। २. **उत**=और हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप ही **वा**=निश्चय से **सूरिभ्यः**=ज्ञानी स्तोताओं के लिए **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्व-समूह को **धत्तम्**=धारण करते हो। इन्द्रियों के सब दोष आपके द्वारा दग्ध कर दिये जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियदोषों को दग्ध करके आप हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम **रयिषाचः**=वास्तविक ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले **स्याम**=हों। आपकी कृपा से इस इष्ट रयि (मोक्ष-साधक-धन) का हमारे साथ समन्वय होता है।

भावार्थ—जीवन-यज्ञ के चलानेवाले प्राणापान हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराके रयि का स्वामी बनाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अरिष्टनेमि' रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम स्तोमैरश्विना सुविताय नव्यम्।
अरिष्टनेमिं परि द्यामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **वाम्**-आपके **तं रथम्**=उस रथ को **वयम्**=हम **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा **हुवेम**=पुकारते हैं, प्रार्थित करते हैं जोकि **सुविताय**=(सु+इताय) उत्तम कर्मों के लिए **नव्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस शरीर-रथ से हम सतत उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। २. जो रथ **अरिष्टनेमिम्**=अहिंसित चक्रवलयवाला है, जिसके अङ्ग सुदृढ़ हैं तथा **द्यां परि इयानम्**=जो रथ प्रकाश की ओर गति कर रहा है, जिस रथ में स्थित होकर हम प्रकाशमय लोक की ओर बढ़ रहे हैं। 'अरिष्टनेमिं' शब्द रथ की दृढ़ता व शक्ति की सूचना देता है तथा 'द्यां परि इयानम्' शब्द प्रकाशमयता का संकेत कर रहे हैं। इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हमें शक्ति व प्रकाश का ही आराधन करना है। यही क्षत्र+ब्रह्म का पोषण है। ३. इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन को व **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हम सुवितवाले हों, न कि दुरितवाले। यह शरीर शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न हो।

विशेष—सूक्त का मुख्य विषय यही है कि प्राणसाधना से हमारा यह शरीररथ दृढ़ व उज्ज्वल हो। अगले सूक्त में भी ऋषि और देवता का अपरिवर्तन इसी विषय के होने की सूचना देता है। इस सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि ये प्रियतम प्राणापान ही जीवन-यज्ञ के प्रशस्त अध्वर्यु हैं—

[१८१] एकाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवनयज्ञ का सञ्चालन

कदु प्रेष्ठाविषां रयीणामध्वर्यन्ता यदुन्निनीथो अपाम्।
अयं वां यज्ञो अकृत प्रशस्तिं वसुधिती अवितारा जनानाम्॥ १॥

१. हे **प्रेष्ठौ**=प्रियतम प्राणापानो! **कत् उ**=वह समय कब होगा **यत्**=जब कि आप **अध्वर्यन्ता**=हमारे जीवन-यज्ञ के चलाने की कामनावाले होते हुए **इषाम् अपां रयीणाम्**=अन्नों, जलों व धनों के **उन्निनीथः**=प्राप्त करानेवाले होओगे? 'इष्' अन्न है तो 'आप्' जल है। प्राणापान हमें शक्तिसम्पन्न करके अन्न-जल को प्राप्त करानेवाले होते हैं तथा जीवन के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधक को चाहिए कि खान-पान को सादा रखे और धन को साधन के रूप में ही प्राप्त करे, धन को जीवन का साध्य न बनाए। ऐसा होने पर ही जीवन-यज्ञ सुन्दरता से चलता है। २. हे प्राणापानो! **अयं यज्ञः**=यह सुन्दरता से चलता हुआ जीवन-यज्ञ **वाम्**=आपकी **प्रशस्तिं अकृत**=प्रशंसा करता है। आपकी शक्ति से सुन्दरता से चलता हुआ जीवन-यज्ञ आपकी प्रशंसा का कारण बन जाता है। इसकी सुन्दरता आपकी महिमा का स्मरण कराती है। ३. आप

ही **वसुधिती**=सब वसुओं—जीवन के लिए आवश्यक सब तत्त्वों के धारण करनेवाले हैं और इन वसुओं के धारण के द्वारा **जनानाम् अवितारा**=लोगों का रक्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणापान जीवन-यज्ञ के अध्वर्यु हैं। ये ही जीवन-यज्ञ को सुन्दरता से चलाते हैं। सब वसुओं को प्राप्त कराके जीवन का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कैसे इन्द्रियाश्व

आ वा॒मश्वा॑सः॒ शुच॑यः पय॒स्पा वात॑रंहसो दि॒व्यासो॒ अत्याः॑।
म॒नो॒जुवो॒ वृष॑णो वी॒तपृ॑ष्ठा॒ एह स्व॒राजो॑ अ॒श्विना॑ वहन्तु॥ २॥

१. हे **अश्विना**-प्राणापानो! **वाम्**=आपके वे **अश्वासः**=इन्द्रियरूप अश्व **इह**=यहाँ—जीवन-यज्ञ में **आवहन्तु**=आपको (वह सब) प्राप्त कराएँ जो कि **शुचयः**=पवित्र हैं, जिनके द्वारा अपवित्र मार्ग से धन नहीं कमाया जाता, **पयस्पाः**-जो रेतःकणरूप जलों का पान करनेवाले हैं, विषयों में न फँसकर जो शक्ति का शरीर में ही रक्षण करनेवाले हैं, **वातरंहसः**=वायु के समान वेगवाले हैं, शक्तिसम्पन्न होने के कारण जिनके वेग में न्यूनता नहीं **दिव्यासः**=जो ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व प्रकाश में विचरण करनेवाले हैं तथा **अत्याः**=कर्मेन्द्रियों के रूप में निरन्तर यज्ञादि कर्मों में गतिवाले हैं (अत सातत्यगमने)। २. प्राणापान ऐसे इन्द्रियाश्वों से हमारे जीवन-यज्ञ में आएँ जो कि **मनोजुवः**=मन के समान वेगवाले हैं, **वृषणः**=शक्तिशाली हैं तथा **वीतपृष्ठाः**=कान्त पृष्ठवाले हैं अर्थात् तेजस्वी हैं और सबसे बड़ी बात यह कि **स्वराजः**=स्वयमेव राजमान हैं, विषयों के पराधीन नहीं हो गये। विषयों के अधीन न होने के कारण ही 'स्व' को, आत्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निर्दोष बनती हैं और ये निर्दोष इन्द्रियाँ हमें आत्मतत्त्व की ओर ले-जाती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

महत्त्वपूर्ण शरीर-रथ

आ वां॒ रथो॒ऽवनि॒र्न प्र॒वत्वा॑न्त्सृ॒प्रव॑न्धुरः सुवि॒ताय॑ गम्याः।
वृष्णः॑ स्थातारा॒ मन॑सो॒ जवी॑यानहंपू॒र्वो य॑ज॒तो धिष्ण्या॒ यः॥ ३॥

१. हे **धिष्ण्या**=शरीर में उन्नत स्थान के योग्य **स्थातारा**=शरीर के अधिष्ठातृरूप प्राणापानो! **वाम्**=आपका **यः**=जो यह **रथः**=शरीररूप रथ है वह **सुविताय**=शोभन आचरण के लिए **आगम्याः**=हमें प्राप्त हो। इस शरीर में प्राणापान का स्थान सबसे उत्कृष्ट है। आँख आदि के चले जाने पर भी यह रथ चलता ही है, परन्तु प्राणापान के चले जाने पर इसके चलने का प्रश्न नहीं रहता। वस्तुतः प्राणापान इसके अधिष्ठाता हैं अर्थात् उनकी क्रिया के ठीक होने पर यह वशीभूत रहता है और विकृत नहीं होता। २. यह रथ **अवनिः न**=इस पृथिवी के समान **प्रवत्वान्**=(प्रवत्=Height, elevation) उत्कर्षवाला है, अर्थात् इसका महत्त्व उतना ही है जितना पृथिवी का। अथवा (प्रवत=गतिकर्मा—नि० २।१४) जो पृथिवी की भाँति प्रशस्त वेगादि गुणवाला है, **सृप्रवन्धुरः**=(वन्धुर=beautiful) बड़ी सुन्दर गतिवाला है, गति से सुन्दर प्रतीत होता है। शरीर क्रियामय हो और सब क्रियाएँ सुन्दर हों। ३. यह शरीर-रथ **वृष्णः मनसः**

जवीयान्-शक्तिशाली मन से भी अधिक वेगवान् है, अर्थात् खूब क्रियाशील हैं, **अहं पूर्वः**=अहं का इसमें मुख्य स्थान है। इसमें सबसे मधुर वस्तु यह 'अहं' ही है। प्राणसाधना के द्वारा इस 'अहं' को ही जीतना है। **यजतः**-यह शरीर-रथ प्रभु के साथ संगतिकरण का साधन है 'यज् संगतिकरणे', इसीलिए यह आदरणीय है 'यज् पूजायाम्'। शरीर को उचित आदर देते हुए इसे स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए और ठीक मार्ग पर चलते हुए हम इसके द्वारा लक्ष्यस्थान पर पहुँचें।

भावार्थ—यह शरीर-रथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राणसाधना के द्वारा इसे वश में करके हम आगे बढ़ेंगे तो अवश्य लक्ष्यस्थान पर पहुँचेंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवन-यज्ञ के प्रवर्तक 'प्राणापान'

इ॒हेह॑ जा॒ता सम॑वावशीताम॒रे॒पसा॑ त॒न्वा॒३॒॑ नाम॑भिः॒ स्वैः।
जि॒ष्णुर्वा॑म॒न्यः सु॒म॑खस्य सू॒रिर्दि॒वो अ॒न्यः सु॒भगः॑ पु॒त्र ऊ॑हे॥ ४॥

१. **इह इह जाता** शरीर में इस-इस स्थान में अर्थात् ऊर्ध्वकाय में प्राण तथा अधरकाय में अपान तुम दोनों विकास को प्राप्त होते हुए **समवावशीताम्**=इस जीवन-यज्ञ को चलाने की कामना करो। इस जीवन-यज्ञ को आप **अरेपसा तन्वा**=दोषशून्य शरीर से तथा **स्वैः नामभिः**=आत्म-सम्बन्धी नामों से पूर्ण करने की कामना करो अर्थात् प्राणापान की साधना से हमारा यह शरीर रोगशून्य हो तथा हमारे चित्त में प्रभु के नामों का स्मरण हो। इस प्रकार स्वस्थ एवं प्रभुपूजा-परायण यह जीवन सचमुच एक सुन्दर यज्ञ ही बन जाएगा। २. **वाम्**- आप दोनों में से **अन्यः**=एक 'प्राण' **जिष्णुः**=रोगों को जीतने की कामनावाला होता है। रोगों को जीतकर यह **सुमखस्य**=उत्तम जीवन यज्ञ का **सूरिः**=प्रेरक होता है। **अन्यः**=दूसरा 'अपान' **दिवः**=प्रकाश का **पुत्रः**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करने व रक्षण करनेवाला **सुभगः**=उत्तम ऐश्वर्यवाला **ऊहे**=जाना जाता है (ऊह्=to be regarded as)। अपान के कार्य के ठीक होने पर मस्तिष्क-कार्य ठीक से होता है। इस प्रकार यह अपान ज्ञान का रक्षक हो जाता है। ज्ञानरूप ऐश्वर्य से यह 'सुभग' कहलाता है। ३. प्राण स्वास्थ्य देता है तो अपान ज्ञान। 'भूरिति प्राणः'-प्राण 'भू' है। 'होना-स्वस्थ बनना' यह प्राण पर निर्भर करता है। 'भुवरित्यपानः'='भुवः' अपान है। 'भुवोऽवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्'-भुवः अर्थात् चिन्तन व ज्ञान अपान पर आश्रित है।

भावार्थ—प्राणापान स्वास्थ्य व ज्ञान देकर जीवन-यज्ञ के प्रवर्तक बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वाज, मन्थन, विघोष

प्र वां॑ निचे॒रुः क॑कु॒हो वशाँ॒ अनु॑ पि॒शङ्ग॑रूपः॒ सद॑नानि॒ गम्याः॑।
हरी॑ अ॒न्यस्य॑ पी॒पय॑न्त॒ वाजै॑र्म॒थ्ना रजां॑स्यश्विना॒ वि घोषैः॑॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों जैसा **प्रनिचेरुः**=प्रकर्षेण गतिवाला **ककुहः**=श्रेष्ठ, **पिशङ्गरूपः**=तेजस्वी रूपवाला यह प्राण **वशान् अनु**-जितना-जितना हम इसे वश कर पाते हैं उतना **सदनानि**=हमारे अधिष्ठानभूत इन कोशों को **गम्याः**=प्राप्त होता है। एक एक कोश को यह निर्दोष बनाता है और उस उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है। २. **अन्यस्य**=दूसरे 'अपान' के ये **हरी**=इन्द्रियाश्व **वाजैः**-शक्तियों से **मथ्ना**=ज्ञान के मन्थन

से तथा **विघोषै:**=विशिष्ट स्तुतियों के उच्चारण से **रजांसि**=सब लोकों को **पीपयन्त**=आप्यायित करते हैं। शक्तियों से शरीररूप पृथिवीलोक को, विशिष्ट स्तुतियों के उच्चारण से हृदयरूप अन्तरिक्षलोक को तथा ज्ञान-मन्थन से मस्तिष्करूप द्युलोक को ये इन्द्रियाश्व आप्यायित करते हैं। ३. प्राण शरीर को तेजस्विता प्रदान करता है और इसे श्रेष्ठ बनाता है। अपान निर्दोषता प्राप्त कराके सर्वाङ्गीण उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्राण हमें तेजस्वी व श्रेष्ठ बनाता है, अपान सब अङ्गों को निर्दोष बनाकर उन्नत करता है।

ऋषि:—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्द:**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवतः।

ज्ञान के प्रवाहों की प्राप्ति

प्र वां शरद्वान्वृषभो न निष्षाट् पूर्वीरिषश्चरति मध्व इष्णन्।
एवैरन्यस्य पीपयन्त वाजैर्वेषन्तीरूर्ध्वा नद्यो न आगुः॥ ६॥

१. हे अश्विनौ! **वाम्**=आपमें से एक (प्राण) **शरद्वान्**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला **वृषभः न**=शक्तिशाली के समान **निष्षाट्**=शत्रुओं का पूर्ण पराभव करनेवाला, **पूर्वी:**=पालन व पूरण करनेवाले **इषः**=अन्नों का **प्रचरति**=प्रकर्षेण सेवन करता है। यह प्राण **मध्वः इष्णन्**=मधुरतम, मधुसदृश, सारभूत पदार्थों की ही इच्छा करता है। प्राण शरीर पर आक्रमण करनेवाले सब रोगकृमियों का पराभव करता है। इस प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए अन्नों व मधु का ही सेवन करना चाहिए। २. **अन्यस्य**=दूसरे अपान की **एवै:**=गतियों से तथा **वाजै:**=शक्तियों से लोग अपने अङ्गों को **पीपयन्त**=आप्यायित करते हैं। इस अपान की क्रिया के ठीक होने पर **वेषन्ती:**=सब विषयों का व्यापन करनेवाली **ऊर्ध्वा:**=उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति की कारणभूत **नद्यः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **नः आगुः**=हमें प्राप्त होती हैं। 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता है। यहाँ वेदवाणियों को नदियों के रूप में चित्रित किया है।

भावार्थ—प्राण हमारे रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करके शक्तिशाली बनाता है। अपान हमें निर्दोष बनाकर तीव्रबुद्धि बनाता है और ज्ञान प्राप्त कराता है।

ऋषि:—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्द:**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवतः।

त्रेधा क्षरन्ती (वेदवाणी)

असर्जि वां स्थविरा वेधसा गीर्बाळ्हे अश्विना त्रेधा क्षरन्ती।
उपस्तुताववतं नाधमानं यामन्नयामञ्छृणुतं हवं मे॥ ७॥

१. हे **वेधसा**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वां बाळ्हे**=आपकी स्थिरता होने पर, हमारे शरीरों में आपका पोषण होने पर **स्थविरा गीः**=यह सनातन वेदवाणी **असर्जि**=हममें निर्मित की जाती है। प्राणापान की साधना से, इनकी क्रियाओं के ठीक होने पर यह वाणी **त्रेधा**=तीन प्रकार से **क्षरन्ती**=मलों का क्षरण करती है। यह शरीर के रोगों को हटाती है, मन की मलिनता को दूर करती है तथा बुद्धि की मन्दता का नाश करती है। २. हे प्राणापानो! **उपस्तुतौ**=स्तुति किये गये आप **नाधमानम्**=याचना करते हुए मेरी **अवतम्**=रक्षा करो। **यामन् अयामन्**=जीवन के जाने और न जाने योग्य प्रत्येक मार्ग में **मे हवम्**=मेरी पुकार को **श्रृणुतम्**=आप सुनो। आपकी आराधना से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें वह ज्ञान की वाणी प्राप्त हो जोकि हमारे शरीर, मन व बुद्धि के मलों का क्षरण करती है।

सूचना—यह वेदवाणी प्रभु का सनातन ज्ञान होने से यहाँ 'स्थविरा' कहलायी है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होने पर हम इसे प्राप्त करते हैं। यह हमारे सब मलों का विध्वंस करती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञान व ध्यान

उत स्या वां रुशतो वप्ससो गीस्त्रिबर्हिषि सदसि पिन्वते नॄन्।
वृषा वां मेघो वृषणा पीपाय गोर्न सेके मनुषो दशस्यन्॥ ८॥

१. **उत**=और **स्या**=वह **वाम्**=हे प्राणापानो! आपकी, आपके द्वारा प्राप्त होनेवाली **रुशतः**=देदीप्यमान **वप्ससः**=(सुरूपस्य—द०) तेजस्वी रूपवाले प्रभु की **गीः**=वाणी **त्रिबर्हिषि**=जिसमें 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को उखाड़ फेंका गया है उस **सदसि**=आत्मा के निवास-स्थान हृदय में **नॄन्**=उन्नतिशील पुरुषों को **पिन्वते**=आप्यायित करती है। प्राणसाधना के द्वारा इस वेदवाणी के अर्थ का प्रकाश होता है। यह वाणी हमें भी प्रभु के अनुरूप 'देदीप्यमान, तेजस्वी रूपवाला' बनाती है। इस वाणी का प्रकाश उस हृदय में होता है जिसमें से 'काम, क्रोध, लोभ' का उन्मूलन कर दिया गया है। यह उन्मूलन प्राणसाधना के द्वारा ही होता है। २. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **वाम्**=आपकी—आपकी साधना द्वारा उत्पन्न होनेवाला **मेघः**=धर्ममेघसमाधि का मेघ **वृषा**=हमपर सुखों का वर्षण करता है और **पीपाय**=हमारा उसी प्रकार आप्यायन करता है **न**=जैसे **गोः**=ज्ञान की वाणियों का **सेके**=सेचन होनेपर **मनुषः**=विचारशील पुरुषों को **दशस्यन्**=यह सब सुखों को देनेवाला होता है। प्राणसाधना से बुद्धि के तीव्र होनेपर ज्ञान प्राप्त होता है और मनुष्य का जीवन सुखी होता है। इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा समाधि की स्थिति में पहुँचने पर अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—मुख्यतया प्राणसाधना के दो लाभ हैं—(क) बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करती है, (ख) चित्तवृत्ति केन्द्रित होकर समाधि के आनन्द की प्राप्ति का साधन बनती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'उषा, अग्नि व अश्विनौ' का आराधन

युवां पूषेवाश्विना पुरन्धिरग्निमुषां न जरते हविष्मान्।
हुवे यद्वां वरिवस्या गृणानो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवाम्**=आपको **पूषा इव**=अपना पोषण करनेवाले की भाँति **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला तथा **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाला **जरते**=स्तुत करता है। आपकी आराधना के द्वारा ही वस्तुतः वह 'पूषा, पुरन्धि व हविष्मान्' बनता है। यह आपकी आराधना उसी प्रकार करता है **न**=जैसे कि **अग्निम्**=अग्नि को आराधित करता है और **उषाम्**=उषाकाल को आराधित करता है। यह प्रातःकाल प्रबुद्ध होकर प्रभु के ध्यान के द्वारा सब अशुभवृत्तियों को दग्ध करने का प्रयत्न करता है, यही उषा का आराधन है। यह अग्निहोत्र करता है, यही अग्नि का आराधन है और प्राणायाम के द्वारा यह प्राणापान का आराधन करता

है। २. **यत्**=जब मैं **वाम्**=आपको **हुवे**=पुकारता हूँ, आपकी आराधना करता हूँ तो **वरिवस्या**=उपासना के द्वारा **गृणानः**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता हूँ। ऐसा होने पर हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर अग्निहोत्र करें। प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना करनेवाले बनें। उपासना द्वारा प्रभुस्तवन करें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१८२] द्व्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धियञ्जिन्वा शुचिव्रता

अभूदिदं वयुनमो षु भूषता रथो वृषण्वान्मदता मनीषिणः।
धियंजिन्वा धिष्ण्या विश्पलावसू दिवो नपाता सुकृते शुचिव्रता॥ १॥

१. हे **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुषो! **मदत**=यह जानकर तुम प्रसन्न होओ कि **इदं वयुनम् अभूत्**-यह प्रज्ञान उत्पन्न हुआ है। **आ उ षु भूषत**=उस प्रभु के स्तवन के लिए अभिमुख होओ। **रथः वृषण्वान्**=तुम्हारा यह शरीररूप रथ शक्तिशाली बना है। मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति जगी है, हृदय में प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बने हो, शरीर दृढ़ हुआ है। इस त्रिविध उन्नति को करके तुम प्रसन्नता का अनुभव करो। २. तुम्हारे ये प्राणापान **धियञ्जिन्वा**=बुद्धियों को प्रीणित करनेवाले हैं, **धिष्ण्या**=स्तुति में उत्तम हैं। इनकी साधना से मनुष्य की चित्तवृत्ति एकाग्र होकर प्रभु की ओर झुकाववाली होती है। **विश्-पला-वसू**=ये प्रजाओं के पालक धनवाले हैं, आवश्यक सब धनों को प्राप्त कराते हैं। हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम सब आवश्यक धनों को प्राप्त कर सकें। **दिवः न पाता**=ये ज्ञान को नष्ट न होने देनेवाले हैं तथा **सुकृते**=उत्तमता से साधना करनेवाले के लिए **शुचिव्रता**=पवित्र व्रतोंवाले हैं। प्राणसाधना से हमारे कर्म भी पवित्र होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर दृढ़ बनता है, हृदय प्रभुस्तवनवाला बनता है, मस्तिष्क ज्ञानवाला होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इन्द्रतमा रथीतमा

इन्द्रतमा हि धिष्ण्या मरुत्तमा दस्रा दंसिष्ठा रथ्या रथीतमा।
पूर्णं रथं वहेथे मध्व आचितं तेन दाश्वांसमुप याथो अश्विना॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **हि**=निश्चय से **इन्द्रतमा**=इन्द्रियों को अधिक-से-अधिक वश में करनेवाले हो। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ स्वाधीन होती हैं, **धिष्ण्या**=आप उत्तम स्तुति के योग्य हो। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होता है और चित्त प्रभुस्तवन में लगता है। **मरुत्तमा**=ये अधिक-से-अधिक मितरावी (मितभाषी) हैं। इन्द्रियाँ ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का गर्व करती हैं और बढ़-बढ़कर बातें करती हैं पर प्राण शान्त हैं, वे गर्व में कुछ बोलते नहीं। प्राणसाधक भी कर्मवीर बनता है, वाग्वीरता को नहीं अपनाता, **दस्रा**=ये हमारे शत्रुओं का उपक्षय

करनेवाले हैं, **दंसिष्ठा**-उत्तम कर्मोंवाले हैं, **रथ्या**-शरीररूप रथ को उत्तम बनाते हैं, **रथीतमा**-नेतृत्व में सर्वोत्तम हैं, हमें लक्ष्यस्थान की ओर ले-चलनेवाले हैं। २. ये प्राणापान **पूर्णं रथम्**-न्यूनता से रहित शरीर-रथ को **वहेथे** मार्ग पर ले-चलते हैं। उस शरीर-रथ को जो कि **मध्वः आचितम्**=ओषधियों की सारभूत सोमशक्ति से व्याप्त है। प्राणापान सोम की ऊर्ध्व गति का कारण बनते हैं। यह सोमशक्ति शरीर में व्याप्त होकर इसे दृढ़ बनाती है। ३. हे प्राणापान! आप **तेन**=उस शरीर-रथ से **दाश्वांसम् उपयाथः**-आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले को प्राप्त होते हो। जो भी प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, उसका यह शरीर रथ पूर्ण होता है और सोमशक्ति से व्याप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय और मितरावी (मितभाषी) बनते हैं। हमारा यह शरीररथ इस प्राणसाधना से दृढ़ व सोम से व्याप्त बनता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

युक्ताहार-विहार के साथ प्राणसाधना

किमत्र॑ दस्रा कृणुथः॒ किमा॑साथे॒ जनो॒ यः कश्चि॒दह॑विर्म॒ही॒यते॑।
अति॑ क्रमिष्टं जु॒रतं॑ प॒णेरसुं॒ ज्योति॒र्विप्रा॑य कृणुतं व॑च॒स्यवे॑॥ ३॥

१. हे **दस्रा**-शत्रुओं के नाशक प्राणापानो! **यः**=जो **कश्चित्**-कोई **जनः**-मनुष्य **अहविः**=हविरहित होकर, त्यागपूर्वक अदन करनेवाला न होता हुआ **महीयते**=(to be glad) सांसारिक आनन्दों का अनुभव करता है, या अपने को महत्त्वपूर्ण मानता है, **अत्र**-इस पुरुष में **किं कृणुथः**-आप क्या करते हो? **किम् आसाथे**-क्यों इसमें आसीन होते हो? अर्थात् त्यागपूर्वक अदन न करनेवाला, खान-पान में आनन्द लेनेवाला, खूब खानेवाला व्यक्ति प्राणसाधना से लाभ प्राप्त नहीं करता। युक्ताहार-विहारवाले के लिए ही प्राणसाधना लाभप्रद होती है। २. **अति क्रमिष्टम्**=ऐसे व्यक्ति को तो आप लाँघ ही जाते हो, **पणेः**-इस वणिक् वृत्तिवाले, अयज्ञशील पुरुष के **असुम्**-प्राण को **जुरतम्**-आप विनष्ट करते हो। यज्ञशील, हवि का सेवन करनेवाला व्यक्ति ही प्राणसाधना से लाभान्वित होता है। आप **विप्राय**-(वि+प्रा) विशेषरूप से औरों का पूरण करनेवाले, **वचस्यवे**-प्रभु के स्तुति वचनों की कामना करनेवाले के लिए **ज्योतिः कृणुतम्**=ज्ञान की ज्योति प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना तभी लाभप्रद होती है जब कि यह युक्ताहार विहार के साथ की जाए। अयज्ञशील, सब-कुछ खा जानेवाले के लिए इसका कुछ लाभ नहीं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

भौंकनेवाले कुत्ते का विनाश

ज॒म्भय॑तम॒भितो॒ राय॑तः॒ शुनो॑ ह॒तं मृधो॑ वि॒दथु॒स्तान्य॑श्विना।
वाचं॑वाचं जरि॒तू र॒त्निनीं॑ कृतमु॒भा शंसं॑ नासत्यावतं॒ मम॑॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **अभितः**=सब ओर से **रायतः**=(रै=to bark at) हम पर भौंकते हुए, हमें मारने के लिए आगे बढ़ते हुए **शुनः**=इन कुत्तों को, लोभ के कारण परस्पर झगड़ने की वृत्तियों को **जम्भयतम्**-नष्ट करो। **मृधः**=हमें नष्ट करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं को **हतम्**=मार दो। हे प्राणापानो! आप **तानि**=उन साधनों को **विदथुः**=जानते हो जिनसे कि इन अशुभ वृत्तियों का संहार होता है। प्राणसाधना से लोभ, काम, क्रोध नष्ट होते हैं। २. हे

नासत्या=सब असत्यों को नष्ट करनेवाले प्राणापानो! आप **जरितुः**=स्तोता की **वाचं वाचम्**=प्रत्येक वाणी को **रत्निनीम्**-रमणीय शब्दोंवाला **कृतम्**-कीजिए। स्तोता की वाणी ऐसी सुन्दर हो मानो रत्नजटित हो। **उभा**=आप दोनों **मम**=मेरे **शंसम्**=शंसन को—प्रभु-स्तवन को **अवतम्**=रक्षित करो। आपकी कृपा से मैं सदा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बना रहूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) लोभ व काम-क्रोध नष्ट होते हैं, (ख) वाणी शुभ शब्दों से रमणीय होती है, (ग) प्रभु-उपासन की वृत्ति बनी रहती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

भवसागर-नौका

युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्।
येन देवत्रा मनसा निरूहथुः सुपप्तनी पेतथुः क्षोदसो महः॥५॥

१. 'तुग्र्या' शब्द का अर्थ जल=water है। यहाँ भवसागर के जल 'विषय' ही हैं। इन विषयों में फँसा हुआ व्यक्ति 'तौग्र्य' है। इस **तौग्र्याय**=तौग्र्य के लिए, इसे भवसागर से तारने के लिए **युवम्**=हे प्राणापानो! आप दोनों **सिन्धुषु**=इस भवसागर के जलों में **एतम्**=इस शरीर को **प्लवम्**=एक बेड़े के रूप में **चक्रथुः**=करते हो, जो बेड़ा **आत्मन्वन्तम्**=प्रशस्त मनवाला है, **पक्षिणम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों-रूप दो पक्षों=पांसोंवाला (भटकाने, पथभ्रष्ट करनेवाले) है। यह बेड़ा तौग्र्य को विषय-जल में डूबने न देता हुआ **कम्**=सुख को देनेवाला है। २. यह वह बेड़ा है **येन**=जिससे **देवत्रा मनसा**=उस परमदेव प्रभु में लगे मन के द्वारा **निरूहथुः**=हे प्राणापानो! आप हमें इस भवसागर से पार करते हो। **सुपप्तनी**=आप दोनों बड़ी उत्तम गतिवाले हो। आप **महः क्षोदसः**=इस महान् विषय-जल से **पेतथुः**=हमें पार करने के लिए गति करते हो (पत् गतौ)।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर एक बेड़ा बन जाता है, जो हमें भवसागर के विषय-जल में डूबने से बचाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वेदरूप नौकाचतुष्टय

अवविद्धं तौग्र्यमप्स्व१न्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिताः पारयन्ति॥६॥

१. **अप्सु अन्तः**=इस भवसागर के विषय-जलों में **अवविद्धम्**=वासनारूप शत्रुओं से बींधकर नीचे गिराये हुए, अतएव गोते खाते हुए **अनारम्भणे**=आश्रय से शून्य **तमसि**=अज्ञान के अन्धकार में **प्रविद्धम्**=वासना के शरों से घायल हुए-हुए **तौग्र्यम्**=तुग्र्य को **जठलस्य**=(जठरवत् धारकस्य—सा०) सारे ब्रह्माण्ड को अपने जठर (पेट) में धारण करनेवाले प्रभु की **चतस्रः नावः**=चारों वेदों के रूप में ज्ञान की चार नौकाएँ **जुष्टाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन की हुईं तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों से **इषिताः**=प्रेरित की हुईं **उत्पारयन्ति**=समुद्र के पार लगानेवाली होती हैं। २. ये ज्ञान की नावें अन्धकार को नष्ट करके वासनाओं को समाप्त कर देती हैं। वासनाओं का विनाश हमें विषय-जल में डूबने से बचा देता है। ये ज्ञान की नावें प्राणापान से प्रेरित होती हैं अर्थात् प्राणसाधना से मलक्षय होकर ज्ञानदीप्ति होती है। इस साधना से बुद्धि

तीव्र होकर सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—प्रभु की वेदरूप ज्ञान की वाणियाँ चार नावें हैं जो हमें संसार-सागर के विषयरूप जलों में डूबने से बचाती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

भवसागर में आश्रयभूत वृक्षरूप प्रभु

कः स्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो यं तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत्।
पर्णा मृगस्य पतरोरिवारभ उदश्विना ऊहथुः श्रोमताय कम्॥ ७॥

१. **मध्ये अर्णसः**=इस भवसागर के जल के मध्य में **स्वित्**=निश्चय से **कः**=वह अनिरुक्त प्रजापति व आनन्दमय प्रभु **वृक्षः निष्ठितः**=आलम्बनभूत वृक्ष के समान निश्चितरूप से स्थित है। **यम्**-यह वह वृक्ष है, जिसको **नाधितः**=संसार के विषयों में फँसने से उपतप्त हुआ-हुआ (नाध=उपतापे) **तौग्र्यः**=(water, आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों का संयम करनेवाला व्यक्ति **पर्यषस्वजत्**=आलिंगन करता है। प्रभु का आश्रय मिलते ही यह तौग्र्य भव-सागर के विषय-जल में डूबने से बच जाता है। २. **इव**=जैसे **पतरोः**=गिरते हुए **मृगस्य**=(शाखामृगस्य) वानर के **आरभे**=आश्रय के लिए **पर्णा**=पत्ते होते हैं, उसी प्रकार **अश्विना**=हे प्राणापानो! आप इस विषयजल में डूबनेवाले मनुष्य को **श्रोमताय**=प्रशस्त कीर्तियुक्त व्यवहार के लिए **कम् उत् ऊहथुः**=उस आनन्दमय प्रभु के समीप प्राप्त कराते हो। ये प्रभु इस तौग्र्य के आश्रय बनते हैं और यह विषय-जलों में डूबने से बच जाता है।

भावार्थ—इस संसार-समुद्र में प्रभु ही आधार बनकर हमें डूबने से बचाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नर व नासत्य

तद्वां नरा नासत्यावनु ष्याद्यद्वां मानास उचथमवोचन्।
अस्मादद्य सदसः सोम्यादा विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ८॥

१. हे **नरा**-हमें उन्नति पथ पर ले-चलनेवाले **नासत्या**=असत्य से रहित प्राणापानो! **तत्**=वह **वाम्**-आपका **उचथम्**=स्तोत्र **अनुष्यात्**=अनुकूल हो **यत्**=जिस **वाम्**=आपके स्तोत्र को **मानासः**=पूजा करनेवाले लोग **अवोचन्**=उच्चारित करते हैं। स्तोत्र की अनुकूलता का भाव यह है कि जैसा स्तवन किया जाए वैसी ही क्रिया हो। यहाँ प्राणापान को नरा कहा है, अतः स्तोता भी नर हो—अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाला हो। प्राणापान को 'नासत्या' शब्द से स्मरण किया है—उपासक भी असत्य से रहित जीवनवाला हो। यही स्तोत्र का अनुकूल होना है कि हम स्तुत्य के अनुसार जीवनवाले बनें। २. **अद्य**=आज हम **अस्मात्**=इस **सदसः**=(सीदति इति) हम सबके हृदयों में आसीन होनेवाले **सोम्यात्**=शान्ति के पुञ्ज उस प्रभु से **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन व शक्ति को तथा **जीरदानुम्**= दीर्घजीवन को **आविद्याम**=सर्वथा प्राप्त करें। इस प्रेरणा व शक्ति को प्राप्त करके ही हम जीवन में 'नर व नासत्य' बन पाएँगे—आगे बढ़नेवाले तथा असत्य से दूर।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करके 'नर व नासत्य' बनें।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि प्राणसाधना से हमारी बुद्धि तीव्र होगी, हम शुचिव्रत बनेंगे (१), नर व नासत्य होंगे (८)। अगले सूक्त के ऋषि-देवता भी ये ही हैं, अतः इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—

[१८३] त्र्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'त्रिवन्धुर, त्रिचक्र, त्रिधातु' रथ

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥ १॥

१. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **तम्**=उस रथ को **युञ्जाथाम्**=तुम ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त करो **यः**=जो रथ **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् है। यह शरीररूप रथ **त्रिवन्धुरः**=सत्त्व, रज और तमरूप तीन बन्धनोंवाला है, **यः**=जो शरीररूप रथ **त्रिचक्रः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीन चक्रोंवाला है। २. **येन**=जिस शरीररूप रथ के द्वारा **सुकृतः**=इस ब्रह्माण्ड को उत्तमता से बनानेवाले प्रभु के **दुरोणम्**=गृह को अर्थात् ब्रह्मलोक को **उपयाथः**=समीपता से प्राप्त होते हो। इस मानव-देहरूप रथ का लक्ष्यस्थान ब्रह्मलोक ही तो है। मानव-जीवन ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही मिलता है। ३. हे प्राणापानो! आप **त्रिधातुना**=वात-पित्त व कफ से धारण किये जानेवाले इस रथ से उसी प्रकार **पतथः**=गति करते हो **न**=जैसे कि **विः**=पक्षी **पर्णैः**=पंखों से। प्राणापान पक्षी हैं तो यह तीन धातुओंवाला रथ उस पक्षी के पंखों का स्थानापन्न है।

भावार्थ—इस शरीररूप रथ के 'सत्त्व, रज व तम' तीन बन्धन हैं; इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि तीन चक्र हैं, वात, पित्त व कफ तीन धातु हैं। इस रथ का लक्ष्यस्थान ब्रह्मलोक है। यह शरीर ब्रह्म-प्राप्ति के लिए मिला है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञ व स्वाध्याय

सुवृद्रथो वर्तते यन्नभि क्षां यत्तिष्ठथः क्रतुमन्तानु पृक्षे।
वपुर्वपुष्या सचतामियं गीर्दिवो दुहित्रोषसा सचेथे॥ २॥

१. हे प्राणापानो! आपका यह **सुवृत्**=शोभनरूप में होनेवाला, अर्थात् जिसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक हैं, वह **रथः**=शरीररूप रथ **क्षाम्**=इस देवयजनी पृथिवी की **अभि**=ओर **यन्**=गति करता हुआ **वर्तते**=है। यह उस समय यज्ञवेदि की ओर गति करता हुआ होता है **यत्**=जब **क्रतुमन्ता**=यज्ञशील आप **पृक्षे**=हवि देने पर अर्थात् दानपूर्वक अदन को अपनाने पर **अनुतिष्ठथः**=अनुकूलता से इस रथ पर अधिष्ठित होते हो। प्राणापान से अधिष्ठित यह शरीर-रथ यज्ञवेदि की ओर चलनेवाला होता है, अर्थात् प्राणसाधना से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है। २. इस प्राणसाधना के होनेपर **वपुष्या**=हमारे शरीर के लिए हितकर **इयं गीः**=यह वेदवाणी **वपुः सचताम्**=हमारे शरीर के साथ समवेत हो। हम इस वेदवाणी को अपनानेवाले हों। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होती है और इस वेदवाणी का अपनाना सरल हो जाता है। ३. हे प्राणापानो! आप **दिवः दुहिता**=ज्ञान का पूरण करनेवाली **उषासा**=उषाओं के साथ **सचेथे**=समवेत होते

हो, अर्थात् प्राणसाधना से हम उषाकाल से ही स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी वृत्ति यज्ञादि उत्तम कर्मों की ओर होती है और हम उषाकाल से ही स्वाध्याय में प्रवृत्त होकर ज्ञान का वर्धन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

व्रत, शक्ति-विस्तार, आत्म-प्राप्ति

आ तिष्ठतं सुवृतं यो रथो वामनु व्रतानि वर्तते हविष्मान्।
येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च॥ ३॥

१. हे **नरा**-हमें आगे ले-चलनेवाले! **नासत्या**=हमें असत्य से दूर करनेवाले प्राणापानो! उस **सुवृतम्**-रथ पर जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग शोभन स्थिति में है **आतिष्ठतम्**=स्थित होओ। **यः**-जो **वाम्**-आपका **रथः**=शरीररूप रथ **हविष्मान्**=हविवाला होता हुआ, सदा दानपूर्वक अदनवाला होता हुआ **व्रतानि अनुवर्तते**-पुण्य कर्मों के अनुकूल वर्तनवाला होता है। प्राणसाधना करने से मनुष्य (क) हवि का सेवन करनेवाला, यज्ञशेष को ही खाने की वृत्तिवाला बनता है और (ख) सदा पुण्य कर्मों में प्रवृत्त होता है। २. हे प्राणापानो! यह वह रथ है **येन**=जिससे **इषयध्यै**=(promote) उन्नति के लिए **वर्तिः याथः**=गृह को प्राप्त होते हो। शरीर में हृदय ही आत्मा का निवास-स्थान है, अतः हृदय ही गृह है। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करके कुछ देर के लिए हम हृदय में ही स्थित होते हैं। यही उन्नति का मार्ग है। यह **तनयाय**-हमारी सब शक्तियों के विस्तार के लिए होता है (तनु विस्तारे) **च**-और **त्मने**-आत्मा की प्राप्ति के लिए होता है। प्रतिदिन प्राणायाम के अनुष्ठान से हम चित्त-वृत्ति का निरोध करके स्व-स्वरूप को देखने का प्रयत्न करें। इसी में विकास है—यही आत्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी वृत्ति शुभ कर्मों की ओर होती है। हम उन्नति के मार्ग पर चलते हुए अपनी शक्तियों का विस्तार कर पाते हैं और आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना आवश्यक है

मा वां वृको मा वृकीरा दधर्षीन्मा परि वर्क्तमुत माति धक्तम्।
अयं वां भागो निहित इयं गीर्दस्राविमे वां निधयो मधूनाम्॥ ४॥

१. हे प्राणापानो! **वाम्**-आपको **वृकः**=अदान व लोभ की वृत्ति **मा आदधर्षीत्**=धर्षित करनेवाली न हो, अर्थात् ऐसा न हो कि किसी बात के लोभ में पड़कर एक व्यक्ति अपनी साधना के लिए समय ही न निकाल सके। **मा वृकीः**-इसी प्रकार लोभ की वृत्तिवाली कोई स्त्री आपका धर्षण करनेवाली न हो, अर्थात् प्रत्येक पुरुष व स्त्री प्राणसाधना के लिए समय अवश्य निकाले, प्राणायाम अवश्य करे। २. हे प्राणापानो! **मा परिवर्क्तम्**=आप हमें छोड़ मत जाओ **उत**=और **मा अतिधक्तम्**=हमें भस्म मत कर दो। 'हम बिल्कुल प्राणायाम न करें' यह भी न हो और प्राणायाम की अति से उष्णता के बहुत बढ़ जाने के द्वारा अपने को भस्म भी न कर लें। धीरे-धीरे प्राणायामों की संख्या बढ़ाएँ। तीन से आरम्भ करके पाँच-छह वर्षों में अस्सी तक इनकी संख्या को पहुँचानेवाले बनें। ३. हे **दस्रौ**=हमारे मलों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **भागः**=अंश **निहितः**=निश्चय से स्थापित किया गया है, अर्थात् हमारे द्वारा

प्राणसाधना के लिए अलग समय निकाल दिया गया है। उस समय को हम इस साधना में ही लगाते हैं। **इयं गीः**=यह आपकी स्तुति-वाणी है। इन वाणियों के द्वारा हम आपका स्तवन करते हैं। **इमे**=ये **मधूनां निधयः**=सोम के कोश **वाम्**=आपके ही हैं। आपकी साधना के द्वारा ही इन सोमों का शरीर में रक्षण होता है। वस्तुतः प्राणसाधना से ही ज्ञान की वाणियाँ हमें प्राप्त होती हैं। इनको समझने के लिए हम इस साधना से ही तीव्रबुद्धि बनते हैं तथा इन्हीं के द्वारा हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—लोभ के कारण हम प्राणसाधना को छोड़ न बैठें। प्राणसाधना का समय निश्चित हो। प्राणसाधना से ही हमारा ज्ञान बढ़ेगा और हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

गोतम, पुरुमीढ, अत्रि

युवां गोतमः पुरुमीळ्हो अत्रिर्दस्रा हवतेऽवसे हविष्मान्।
दिशं न दिष्टामृजूयेव यन्ता मे हवं नासत्योप यातम्॥ ५॥

१. हे **दस्रा**=सब बुराइयों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **युवाम्**-आपको **गोतमः**-प्रशस्त इन्द्रियोंवाला पुरुष **पुरुमीळ्हः**=अपने शरीर में शक्ति का खूब सेचन करनेवाला तथा **अत्रिः**=शरीर, मन व बुद्धि के विकारों से ऊपर उठनेवाला पुरुष **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला बनकर **अवसे**=रक्षण के लिए **हवते**=पुकारता है। वस्तुतः आपकी आराधना से ही वह 'गोतम, पुरुमीढ व अत्रि' बनता है। प्राणसाधना के लिए यह आवश्यक है कि यह हविष्मान् बने, त्यागपूर्वक भोग करनेवाला बने। अतिभोजन के साथ यह प्राणसाधना नहीं चलती। प्राणायाम का लाभ परिमित-आहारवाले को ही होता है। २. हे **नासत्या**=हमारे जीवन से असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **मे हवम् उपयातम्**=मेरी पुकार को आप प्राप्त होओ उसी प्रकार **न**=जैसे कि **दिष्टां दिशम्**=संकेतित दिशा को **ऋजूया इव (एव) यन्ता**=ऋजुमार्ग से जानेवाला प्राप्त होता है। ऋजुमार्ग से जानेवाला जैसे संकेतित दिशा की ओर आता है उसी प्रकार प्राणापान मेरी ओर आनेवाले हों। मैं इन प्राणों की साधना से अपने जीवन को ऋजुमार्ग से ले-चलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से प्रशस्तेन्द्रिय-शक्ति को अपने में सुरक्षित करनेवाले तथा शरीर, मन व बुद्धि के विकारों से ऊपर उठे हुए होंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्धकार से पार—देवयान-मार्ग पर

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! हम **अस्य**=इस **तमसः पारम्**=अन्धकार के पार **अतारिष्म**=तैर जाएँ। प्राणसाधना से हमारी सोमशक्ति ऊर्ध्वगतिवाली होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। इस दीप्त ज्ञानाग्नि के द्वारा हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो। हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तुति-समूह **प्रति अधायि**=प्रतिदिन धारण किया जाए। हम सदा प्राणापान का स्तवन करनेवाले हों। हमारी प्राणसाधना प्रतिदिन नियम से चले। २. **इह**=यहाँ, हमारे जीवनों में **देवयानैः पथिभिः**=देवयान-मार्गों के हेतु से **आयातम्**=आप प्राप्त होओ। प्राणों की साधना हमें देवयान-मार्ग का

पथिक बनाए। हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पापवर्जन व शक्ति को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर अज्ञानान्धकार दूर होता है, मलों के दूर होने से हम देवयान-मार्ग से चलते हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि प्राणायाम से शरीर-रथ निर्दोष बनता है। हमारी प्रवृत्ति यज्ञ व स्वाध्याय की होती है। हम शक्तियों का विस्तार करते हुए आत्मा को प्राप्त करनेवाले (आत्मा के स्वरूप को समझनेवाले) बनते हैं। यह हमें अन्धकार से दूर ले-जाती है। इसके लिए समय न निकाला तो जीवन की बहुत बड़ी भूल होगी। अगले सूक्त का विषय भी यही है।

इति द्वितीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[१८४] चतुरशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दैनिक साधना

ता वामद्य तावपरं हुवेमोच्छन्त्यामुषसि वह्निरुक्थैः।
नासत्या कुह चित्सन्तावर्यो दिवो नपाता सुदास्तराय॥ १॥

१. हे **नासत्या**=असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **ता वाम्**=उन आपको **अद्य हुवेम**=आज पुकारते हैं तथा **तौ**=उन आपको **अपरम्**=अगले दिन भी **उषसि उच्छन्त्याम्**=उषाकाल के उदय होते ही हम उसी प्रकार पुकारते हैं जैसे **वह्निः**=उत्तम कर्मों का वहन करनेवाला **अर्यः**=जितेन्द्रिय पुरुष **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा आराधना करता है। २. हे प्राणापानो! आप **कुह चित् सन्तौ**=शरीर में कहीं भी होते हुए **सुदास्तराय**=उत्तमता से वासनाओं का क्षय करनेवाले के लिए **दिवः नपाता**=ज्ञान के नष्ट न होने देनेवाले होते हो। प्राणसाधना से जहाँ हम प्राणों का निरोध करते हैं, वहीं ये प्राण मलों का क्षय करते हैं। निर्मलता बुद्धि की तीव्रता का कारण बनती है। बुद्धि की तीव्रता से हमारा जीवन ज्ञान की ज्योतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रतिदिन प्रातः प्राणसाधना करनी ही चाहिए। यह मलों को नष्ट करके हमारे ज्ञान को उज्ज्वल करेगी।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना से ज्ञानप्रवणता

अस्मे ऊ षु वृषणा मादयेथामुत्पणीँर्हतमूर्म्या मदन्ता।
श्रुतं मे अच्छोक्तिभिर्मतीनामेष्टा नरा निचेतारा च कर्णैः॥ २॥

१. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **ऊ**=निश्चय से **अस्मे**=हमें **सु**=उत्तमता से **मादयेथाम्**=आनन्दित कीजिए। **ऊर्म्या**=शरीर में सुरक्षित सोम (वीर्य) की तरङ्गों से **मदन्ता**=आनन्द का अनुभव करते हुए **पणीन्**=(पण् स्तुतौ) प्रभु-स्तोताओं को **उत् हतम्**=(हन् गतौ) उत्कर्षेण प्राप्त होओ। इन प्रभु-भक्तों को प्राप्त करके हम अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। इनके समीप प्राप्त होने का उत्साह उन्हीं को होता है जो अपने में सोमशक्ति का रक्षण करते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **मे कर्णैः**=मेरे इन कानों से **मतीनां श्रुतम्**=ज्ञानप्रद वाणियों का श्रवण करो। आप **अच्छोक्तिभिः**=इन निर्मल उक्तियों द्वारा **एष्टा**=(अन्वेष्टारौ) प्रभु का अन्वेषण करनेवाले बनो। **नरा**=आप हमें आगे ले-चलनेवाले हो **च**=और **निचेतारा**=निश्चय से ज्ञान का सञ्चय करनेवाले हो। प्राणसाधक के कान, ज्ञान की वाणियों को सुननेवाले होते हैं। प्राणसाधना इसे ज्ञान की रुचिवाला बना देती है। इस साधना से ये प्रभु के अन्वेष्टा (अन्वेषक अथवा जाननेवाले) बनते हैं और ज्ञान का अधिकाधिक संग्रह करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ज्ञानप्रवण व प्रभु का अन्वेष्टा बनाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

सूर्या का परिणय

श्रिये पूषन्निषुकृतेव देवा नासत्या वहतुं सूर्यायाः ।
वच्यन्ते वां ककुहा अप्सु जाता युगा जूर्णेव वरुणस्य भूरेः ॥ ३ ॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आपसे हमारे शरीरों में स्थापित किये गये ये **देवाः**=प्रकाश प्राप्त करानेवाले **नासत्या**-असत्य को नष्ट करनेवाले प्राणापान **सूर्यायाः वहतुम्**-प्रकाश की देवता इस सूर्या के परिणय को (वहतु-marriage) **इषुकृता इव**-आपकी प्रेरणा के द्वारा करनेवाले हैं (इषु-प्रेरणा) और इस परिणय के द्वारा **श्रिये**-ये हमारी शोभा के लिए होते हैं। प्राणसाधना से अशुद्धियों का नाश होने पर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रेरणा से अन्धकार का नाश होकर हृदयों में प्रकाश-ही प्रकाश हो जाता है। इस प्रकाश का होना ही सूर्या का परिणय कहलाता है। यह हमारी शोभा की वृद्धि का कारण बनता है। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **ककुहाः**-स्तुतियाँ **वच्यन्ते**=उच्चारण की जाती हैं। आपकी ये स्तुतियाँ **अप्सु जाताः**-आपके कर्मों के होने पर ही उत्पन्न हुई हैं। आपके अद्‌भुत कर्मों के कारण आपके स्तवन चलते हैं। आपके ये स्तवन उसी प्रकार चलते हैं **इव**-जिस प्रकार **भूरेः**-पालन व पोषण करनेवाले **वरुणस्य**=सब द्वेषादि मलों का निवारण करनेवाले प्रभु के स्तवन **जूर्णा युगा**=सनातन काल से चले आ रहे हैं। जैसे प्रभु का स्तवन होता है, वैसे ही प्राणापानों का भी होता है। प्रभु की महिमा का तो अन्त है ही नहीं, प्राणापान का भी शरीर में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा ही हमारा सूर्या से परिणय होता है और हमारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान शुद्ध हृदय में प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त कराके सूर्या का हमारे साथ परिणय करते हैं अर्थात् हमारे जीवन को प्रकाशमय करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

मधुर जीवन

अस्मे सा वां माध्वी रातिरस्तु स्तोमं हिनोतं मान्यस्य कारोः ।
अनु यद्वां श्रवस्या सुदानू सुवीर्याय चर्षणयो मदन्ति ॥ ४ ॥

१. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **सा**-वह **माध्वी**-माधुर्य से पूर्ण **रातिः**=दान **अस्मे अस्तु**=हमारे लिए हो। प्राणसाधना से सब अवाञ्छनीय तत्त्व नष्ट होते हैं और जीवन बड़ा सुन्दर बन जाता है। २. **मान्यस्य**=(मान पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले **कारोः**=कुशलता से कार्य करनेवाले के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **हिनोतम्**=(हि वृद्धौ) बढ़ानेवाले होओ। शुद्ध हृदय होकर यह प्रभु का स्तवन करनेवाला बने। इसका स्तवन कुशलता से कर्मों को करने से युक्त हो। यह केवल शाब्दिक स्तुति में ही न पड़ा रहे, कर्मशील बने। ३. हे **सुदानू**=अच्छी प्रकार बुराइयों का खण्डन करनेवाले प्राणापानो! **यत्**-जब **श्रवस्या**-उत्तम ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से **चर्षणयः**=श्रमशील मनुष्य **वाम् अनुमदन्ति**-आपकी साधना के अनुपात में आनन्द का अनुभव करते हैं तो उस समय वे **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के लिए होते हैं। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होने से हम शक्तिसम्पन्न बनते हैं। यही शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है। इस ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हमारा ज्ञान बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन मधुर बनता है, स्तुति की वृत्ति बनती है, शक्ति बढ़ती है और ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तुति व पापवर्जन

एष वां स्तोमो अश्विनावकारि मानेभिर्मघवाना सुवृक्ति।
यातं वर्तिस्तनयाय त्मने चागस्त्ये नासत्या मदन्ता॥ ५॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **मघवाना**=आप सब ऐश्वर्योंवाले हो। शरीर के सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से आप ही परिपूर्ण करते हो। **मानेभिः**=पूजा की वृत्तिवाले पुरुषों से **एषः**=यह **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **सुवृक्ति**=(सुष्ठु पापवर्जनं यथा भवति तथा—सा०) पापवर्जनपूर्वक **अकारि**=किया जाता है। वस्तुतः प्राणों के स्तवन से पापवृत्ति नष्ट होती है। २. **नासत्या**=सब असत्यों से रहित प्राणापानो! आप **अगस्त्ये**=कुटिलता से दूर रहनेवाले इस अगस्त्य में **मदन्ता**=हर्ष का अनुभव करते हुए **वर्तिः यातम्**=इस शरीर-गृह को प्राप्त होओ। इसलिए प्राप्त होओ कि **तनयाय**=शक्तियों का विस्तार हो सके **च**=तथा **त्मने**=आत्मदर्शन हो सके। शक्तियों के विस्तार तथा आत्मदर्शन के लिए आप हमें इस शरीर-गृह में प्राप्त होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) पापवृत्ति नष्ट होती है, (ख) शक्तियों का विस्तार होता है, और अन्ततः (ग) हम आत्मदर्शन के योग्य होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्राणापान की निरन्तर साधना

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

इस मन्त्र की व्याख्या १८३।६ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। प्राणसाधना से पिण्ड में मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर बनते हैं। ब्रह्माण्ड में ये मस्तिष्क व शरीर द्यावापृथिवी हैं। अगले सूक्त में इन द्यावापृथिवी का ही वर्णन है—

[१८५] पञ्चाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

रहस्यमय संसार

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥ १॥

१. **अयोः**=‘इन द्यावापृथिवी में से **कतरा पूर्वा**=कौन-सा तो पहले हुआ, कतरा **अपरा**=कौन-सा पीछे हुआ तथा **कथा जाते**=किस प्रकार इनका निर्माण हुआ’—ये सब बातें हे **कवयः**=ज्ञानी पुरुषो! **कः विवेद**=कौन जानता है? अथवा (कः) वह आनन्दमय प्रभु ही जानता है। ये बातें मनुष्य के ज्ञान से ऊपर की हैं। मनुष्य इन्हें जान नहीं सकता। ‘को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।’ (ऋ० १०।१२९।६) २. मनुष्य तो बस यही देखता है कि ये द्यावापृथिवी **यत्**=जो **ह नाम**=निश्चय से **अहनी**=दिन-रात की भाँति **चक्रिया इव**=चक्रयुक्त-से **विवर्तेते**=विशिष्ट चक्राकार गतिवाले होते हैं तो **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **त्मना**=स्वयं **बिभृतः**=धारण करते हैं अथवा त्मना=उस परमात्मा की अध्यक्षता में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धारण

करते हैं। ब्रह्माण्ड-शकट का एक चक्र द्युलोक है तो दूसरा पृथिवी। इन दो चक्रों की गति से यह शकट गतिमय है।

भावार्थ—संसार की उत्पत्ति के विषय में उत्सुकता की अपेक्षा यह अच्छा है कि हम द्यावापृथिवी के धारण के प्रकार को समझने का यत्न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

द्यावापृथिवी द्वारा विश्वधारण

भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्तं पद्वन्तं गर्भमपदी दधाते ।
नित्यं न सूनुं पित्रोरुपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ २॥

१. ये द्युलोकस्थ पिण्ड व पृथिवीलोक अत्यन्त तीव्र गति में होते हुए भी स्थिर से दीखते हैं (अचरन्ती)। इन द्युलोक व पृथिवीलोक के कोई पाँव नहीं हैं (अपदी)। **अचरन्ती**=अविचल होते हुए, **अपदी**=पाँव से रहित **द्वे**=ये दोनों द्यावापृथिवी **भूरिम्**=बहुत संख्यावाले **चरन्तम्**=गतिशील, **पद्वन्तम्**=पाँवोंवाले **गर्भम्**=अपने अन्दर ठहरे हुए प्राणियों को **दधाते**=धारण करते हैं। ये दो होते हुए बहुतों का धारण कारण करते हैं। अविचलित होते हुए चलनेवालों का धारण करते हैं और बिना पाँववाले पाँववालों का धारण करते हैं। २. उसी प्रकार धारण करते हैं **न**=जैसे कि **पित्रोः उपस्थे**-माता-पिता की गोद में स्थित **नित्यं सूनुम्**=औरस पुत्र को माता-पिता धारण करते हैं। जैसे माता-पिता पुत्र को सुरक्षित करते हैं उसी प्रकार **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभ्वात्**=बड़ी आपत्ति (calamity) से **रक्षतम्**=रक्षित करें।

भावार्थ—द्यावापृथिवी सब प्राणियों के माता-पिता के समान हैं। वे उन्हें आपत्तियों से बचाते हैं। द्यावापृथिवी की सम्मिलित क्रिया से ही अन्नादि का उत्पादन होकर हमारा रक्षण होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

निष्पाप, अक्षीण, प्रकाशमय, नम्र, नीरोग

अनेहो दात्रमदितेरनर्वं हुवे स्वर्वदवधं नमस्वत् ।
तद्रोदसी जनयतं जरित्रे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ३॥

१. **अदितेः**=अदीना देवमाता का (नि० ४।२२) **दात्रम्**=दान **अनेहः**=पाप से रहित है, **अनर्वम्**=क्षीणता से शून्य है, **स्वर्वत्**=प्रकाशमय व स्वर्गलोक को देनेवाला है, **अवधम्**=वध से शून्य है। 'अनर्वम्' शब्द यदि मानस विकारों को न आने देने का संकेत करता है तो 'अवधम्' शरीर के रोगों से शून्य होने का भाव दे रहा है। यह अदिति का दान **नमस्वत्**= नमस्वाला है, प्रभु के प्रति नमन की भावना से युक्त है। २. **तत्**=उस अदीना देवमाता के दान को **रोदसी**=द्यावापृथिवी **जरित्रे**=स्तोता के लिए **जनयतम्**=उत्पन्न करें। द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम 'निष्पाप, अक्षीण, प्रकाशमय, नीरोग व नम्र' बनें। इस प्रकार **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभ्वात्**-बड़ी भारी आपत्ति से **रक्षतम्**=बचाएँ। ब्रह्माण्ड के सब देव हमारे इस प्रकार अनुकूल हों कि हम निष्पाप जीवनवाले हों।

भावार्थ—अदिति हमें निष्पाप, अक्षीण, प्रकाशमय, नीरोग व नम्र बनाए।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—द्यावापृथिव्यौ । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अन्नोत्पत्ति व शीतोष्णादि द्वन्द्व

अतप्यमाने अवसावन्ती अनु ष्याम रोदसी देवपुत्रे।
उभे देवानामुभयेभिरह्नां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ४॥

१. हम **अतप्यमाने**=सन्ताप को न प्राप्त कराती हुई **अवसा अवन्ती**=अन्न के द्वारा रक्षण करती हुई **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **अनु स्याम**=(अनुभवेम) अनुभव करें। द्युलोक से वृष्टि होकर तथा सूर्य-किरणों द्वारा पृथिवी में प्राणदायी तत्त्वों का समावेश होकर पृथिवी से पौष्टिक अन्न का उत्पादन होता है। इस प्रकार द्युलोक व पृथिवीलोक अन्न देनेवाले हैं। २. ये **उभे**=दोनों **देवपुत्रे**=उस महान् देव प्रभु के पुत्र-तुल्य हैं। ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **देवानाम् अह्नाम्**=द्योतमान दिनों के **उभयेभिः**=शीतोष्ण आदि के द्वारा **नः**=हमें **अभ्वात्**=आपत्तियों से **रक्षतम्**=बचाएँ। संसार के व्यवहार सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से ही चलते हैं। उस संसार की भी कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें गर्मी-ही-गर्मी हो और न उसकी जिसमें सर्दी-ही-सर्दी हो। जीवन के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। उष्णता व शीत दोनों ही जीवन के धन हैं, इनके बिना 'निधन'=मृत्यु है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए अन्न उत्पन्न करते हैं और शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों के द्वारा हमारे जीवन का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—द्यावापृथिव्यौ । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

यज्ञगन्ध-व्याप्त द्यावापृथिवी

संगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे।
अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ५॥

१. **संगच्छमाने**=मिलकर गति करते हुए, द्युलोक के सूर्य की किरणों से पृथिवी का जल आकाश में पहुँचता है और फिर वृष्टि होकर पृथिवी पर आता है, इस प्रकार द्युलोक व पृथिवीलोक मिलकर अन्नोत्पादन आदि क्रियाओं को करते हैं। पृथिवी यदि आकाश को जलवाष्प प्राप्त कराती है तो सूर्य-किरणें भी पृथिवी में प्राणशक्ति का आधान करती हैं। इस प्रकार द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों संगत हो रहे हैं। **युवती**=ये नित्य तरुण हैं। 'इनकी शक्तियाँ कभी जीर्ण हो जाएँगी'—ऐसी बात नहीं है। सूर्य का प्रकाश व पृथिवी का अन्नोत्पादन प्रारम्भ से अन्त तक सदा एक-सा चलता है। **समन्ते**=संगत अन्तोंवाले—सुदूर स्थान में आकाश और पृथिवी मिलते प्रतीत होते हैं, वही प्रदेश सामान्य व्यवहार में क्षितिज कहलाता है। ये दोनों **स्वसारा**=आत्मतत्त्व की ओर गतिवाले हैं (स्वं सरतः)। ये दोनों प्रभु की महिमा का वर्णन कर रहे हैं और इस प्रकार हमें प्रभु की ओर ले-चल रहे हैं। **पित्रोः उपस्थे**=माता-पिता की गोद में स्थित **जामी**=बहनों के समान ये परस्पर बन्धुभूत हैं। दोनों एक ही पिता—प्रभु की सन्तान होने से 'जामी' हैं। २. **भुवनस्य नाभिम्**=यज्ञ को (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) अभिजिघ्रन्ती=सूँघते हुए **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभ्वात्**=आपत्ति से **रक्षतम्**=बचाएँ। जब इस पृथिवी पर सब घरों में यज्ञ होते हैं तो उन यज्ञों की गन्ध सर्वत्र व्याप्त होती है। मानो ये द्यावापृथिवी उस यज्ञ की गन्ध को सूँघ रहे हों। ऐसे ये द्यावापृथिवी हमें आपत्तियों से बचाते हैं। यज्ञ 'स्वर्ग की नाव' तो हैं ही, इन यज्ञों के द्वारा द्यावापृथिवी में होनेवाला ऋतुचक्र ठीक

से चलता है और हमारा रक्षण होता है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी यज्ञों की गन्ध से व्याप्त होकर हमारा रक्षण करनेवाले हों। ये यज्ञ ही 'भुवन की नाभि' हैं—केन्द्र हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अवस् व अमृत

उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्री।
दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ६॥

१. **उर्वी**-ये द्युलोक व पृथिवीलोक विशाल हैं, **सद्मनी**-सब प्राणियों के आधारभूत निवास-स्थान हैं, **बृहती**=वृद्धि के कारणभूत हैं, मैं उन्हें **ऋतेन**-यज्ञ के द्वारा **हुवे**-पुकारता हूँ। यज्ञ के द्वारा मैं इनकी आराधना करता हूँ। इन यज्ञों की गन्ध से व्याप्त होकर ही ये द्यावापृथिवी हमारा कल्याण करते हैं। ये द्यावापृथिवी **अवसा**=उत्तम अन्नों के द्वारा **देवानां जनित्री**=देवों को जन्म देनेवाले हैं। हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करके ये हमें देव बनानेवाले हैं। २. **ये**=जो **सुप्रतीके**=उत्तम रूपवाले—दृढ़ता व उग्रतावाले **द्यावापृथिवी**-द्युलोक व पृथिवीलोक हैं ये **अमृतं दधाते**=अमृतत्व का धारण करते हैं, अमृतमय जल को प्राप्त कराते हैं। ये **नः**=हमें **अभ्वात्**=आपत्ति से **रक्षतम्**=बचाएँ।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा द्यावापृथिवी का आराधन करते हैं। ये द्यावापृथिवी हमें उत्तम अन्न व जल के द्वारा रक्षित करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नमस् व भग

उर्वी पृथ्वी बहुले दूरेअन्ते उप ब्रुवे नमसा यज्ञे अस्मिन्।
दधाते ये सुभगे सुप्रतूर्ती द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ७॥

१. **उर्वी**=जो विशाल हैं, **पृथ्वी**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं, **बहुले**=बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं, **दूरेअन्ते**=विप्रकृष्ट अन्तदेशोंवाले हैं, अर्थात् अपार-से हैं—ऐसे इन द्यावापृथिवी को **अस्मिन्**=इस **यज्ञे**=जीवन-यज्ञ में **नमसा**=(नमस्=food) उत्कृष्ट भोजन की प्राप्ति के हेतु से **उपब्रुवे**=स्तुत करता हूँ। द्युलोक व पृथिवीलोक की संगत क्रिया से ही अन्न की प्राप्ति होती है। २. **ये**=जो **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **सुभगे**-उत्तम ऐश्वर्यवाले हैं तथा **सुप्रतूर्ती**=(सुप्रतरणे शोभनदाने—सा०) उत्तम अन्नादि पदार्थों के देनेवाले हैं वे **नः**=हमें **अभ्वात्**=कष्ट से **रक्षतम्**=बचानेवाले हों।

भावार्थ—ये विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक हमें उत्तम ऐश्वर्यों व अन्नों को देनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'देवों, सखा व जास्पति' के विषय में निरपराधता

देवान्वा यच्चकृमा कच्चिदागः सखायं वा सदमिज्जास्पतिं वा।
इयं धीर्भूया अवयानमेषां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ८॥

१. **यत्**=यदि हम **देवान्**-देवताओं के विषय में—'सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु' आदि

देवों के विषय में **कश्चित्**=कोई **वा**=भी **आगः**=अपराध **चकृमः**=कर बैठे हैं। इनके सम्पर्क से दूर रहना, इनका ठीक प्रयोग न करना ही इनके विषय में पाप है। इस पाप का परिणाम मुख्यरूप से शरीर का अस्वास्थ्य है। २. **वा**=अथवा यदि हमने **सखायम्**=सनातन सखा (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया) प्रभु के विषय में कोई अपराध किया है। प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान न करना—प्रभु को भूल जाना ही प्रभु के विषय में पाप है। इसका मुख्यरूप से मन पर प्रभाव होता है। प्रभु के विस्मरण से मन ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध आदि की दुर्भावनाओं से भरा रहता है। ३. **वा**=अथवा **सदम् इत्**=सदा ही **जास्पतिम्**=वेदवाणीरूप जाया के पति—ज्ञानी ब्राह्मण के प्रति अपराध किया है (परीमे गामनेषत्—इस मन्त्रभाग में वेदवाणी के साथ परिणय का उल्लेख है)। जिन्होंने इन वेदवाणी के साथ परिणय किया है वे जास्पति हैं। इनके विषय में अपराध यही है कि इनके सङ्ग से दूर रहना और ज्ञान के प्रति अरुचिवाला होना। इस अपराध से मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है—विचारों के शैथिल्य से आचार-शैथिल्य उत्पन्न होता है। ४. **इयं धीः**=हमारी यह बुद्धि **एषाम्**=इन—देवों, सखीभूत प्रभु व ज्ञानियों के विषय में होनेवाले पापों को **अवयानं भूयाः**=दूर करनेवाली हो और इन अपराधों से ऊपर उठनेवाले **नः**=हमें **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अभ्वात्**=कष्ट से **रक्षतम्**=बचाएँ। पाप का परिणाम ही दुःख होता है। पापों से दूर रहेंगे तो कष्टों से बचेंगे ही।

भावार्थ—हम सूर्यादि देवों के विषय में अपराधी न होते हुए स्वस्थ शरीरवाले हों। प्रभु के विषय में अपराधी न होते हुए निर्मल एवं शान्त मनवाले हों तथा ज्ञानी पुरुषों के विषय में अपराध न करते हुए दीप्त ज्ञानवाले बनें। ऐसे बनकर हम द्यावापृथिवी के रक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ऐश्वर्य का विनियोग दान में

उभा शंसा नर्या मामविष्टामुभे मामूती अवसा सचेताम्।
भूरि चिदर्यः सुदास्तरायेषा मदन्त इषयेम देवाः॥ ९॥

१. **उभा शंसा**=द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों ही स्तुत्य हैं, **नर्या**=दोनों ही नरों का हित करनेवाले हैं। **उभे**=ये दोनों **माम् अविष्टाम्**=मेरा रक्षण करें। **ऊती**=रक्षण करनेवाले ये दोनों **माम्**=मुझे **अवसा**=(food, wealth) रक्षण में उत्तम भोजन तथा ऐश्वर्य से **सचेताम्**=सेवन करनेवाले हों। द्यावापृथिवी की अनुकूलता से मुझे उत्तम भोजन व ऐश्वर्य प्राप्त हो। २. **अर्यः**= (स्तोतारः—सा०) प्रभु का स्तवन करनेवाले हम **सुदास्तराय**=शोभन दातृत्व के लिए—खूब धन दे सकने के लिए **भूरिचित्**=(पूजायाम्) खूब अभिपूजित धन को **इषयेम**=चाहें। **देवाः**=हे देवो! इस धन को प्राप्त करके भी स्वयं **इषा मदन्तः**=सौम्य अन्न से ही आनन्द का अनुभव करें। अनावश्यक, गरिष्ठ, स्वादिष्ठ भोजनों के प्रति आसक्त न हो जाएँ। सब देवों की ऐसी कृपा हमपर बनी रहे कि धन हमें भोजनप्रधान न बना दे। इस धन के कारण हम आस्वाद नगरी के अधिपति ही न बन जाएँ।

भावार्थ—हमें द्यावापृथिवी खूब ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ। यह ऐश्वर्य दान के लिए हो। हमारा अपना भोजन सादा, शुद्ध अन्न ही है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अभिश्राव

ऋतं दिवे तदवोचं पृथिव्या अभिश्रावाय प्रथमं सुमेधाः।
पातामवद्याद्दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः॥ १०॥

१. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला होता हुआ मैं **दिवे**=द्युलोक के लिए **पृथिव्यै**=और इस पृथिवीलोक के लिए **तत् प्रथमं ऋतम् अवोचम्**=उस प्रकृष्ट ऋत का प्रवचन करूँ जिससे कि **अभिश्रावाय**=मैं अभिश्राव के लिए होऊँ। मैं अपराविद्या के द्वारा प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करूँ और पराविद्या मुझे उस अक्षर आत्मतत्त्व का ज्ञान देनेवाली हो। शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है और स्थूल शरीर पृथिवी है। ऋत के पालन से, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से मस्तिष्क व शरीर दोनों ही ठीक रहते हैं। दोनों के ठीक होने पर हमारा ज्ञान बढ़ता है। २. ज्ञानवृद्धि के द्वारा ये द्युलोक व पृथिवीलोक **अभीके**=अध्यात्म-संग्राम में **अवद्यात्**=निन्दनीय **दुरितात्**=पाप से—अशुभ आचरण से **पाताम्**=रक्षित करें। ज्ञान दुरित का ध्वंस करता ही है, ज्ञानाग्नि मलों का दहन करनेवाली है। ३. ये द्युलोक व पृथिवीलोक पिता माता **च**=हमारे पितृ व मातृस्थानापन्न हैं। ये हमें **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **अवताम्**=सुरक्षित करें। माता-पिता जैसे पुत्र का पालन व रक्षण करते हैं, इसी प्रकार ये पृथिवी और द्युलोक हमारा पालन करें।

भावार्थ—ऋत के द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर होते हैं, प्रकृति व आत्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। हम दुरित से बचते हैं और इस प्रकार रक्षित होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उज्ज्वल व दृढ़

इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम्।
भूतं देवानामवमे अवोभिर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ११॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोको! **इदं सत्यं अस्तु**=यह सत्य ही हो **यत्**=जो **इह**=यहाँ **पितः मातः**=हे पितृस्थानापन्न द्युलोक तथा मातृस्थानापन्न पृथिवीलोक! **वाम्**=आपके प्रति **उपब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ। मैं इनसे जो प्रार्थना करता हूँ, वह अवश्य पूर्ण हो। मेरा मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ज्ञान के सूर्य से उज्ज्वल हो और मेरा शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो। २. हे द्यावापृथिवी! आप **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **देवानाम् अवमे भूतम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के (अवतम=अवम) अधिक-से-अधिक रक्षा करनेवाले होओ। इस प्रकार रक्षित होकर हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पापवर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम उज्ज्वल मस्तिष्क व दृढ़ शरीर बनें।

विशेष—सूक्त का केन्द्रभूत विचार यही है कि द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम उन्नत-मस्तिष्क व दृढ़-शरीर होकर लक्ष्य-स्थान की ओर बढ़नेवाले होते हैं। अगले सूक्त में सब देवों की अनुकूलता के लिए ही आराधना है—

[१८६] षडशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञान व बुद्धि की प्राप्ति

आ न इळाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥ १॥

१. **विश्वानरः**=सम्पूर्ण विश्व का नयन करनेवाला (नृ नये), **सविता**=सबका प्रेरक व उत्पादक **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमें **विदथे**=ज्ञान प्राप्त कराने के लिए **इळाभिः**=वेदवाणियों

से **सुशस्ति**=अत्यन्त प्रशस्त प्रकार से **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा मेरे जीवन का प्रणयन करनेवाली हो। उस प्रेरक प्रभु की प्रेरणा से मेरा जीवन प्रकाशमय बने। २. **युवानः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमसे दुरितों को दूर करते हुए और भद्रों को हमारे साथ सम्पृक्त करते हुए हे देवो! **यथा**=जैसे आप **विश्वं जगत्**=सम्पूर्ण जगत् को **मत्सथा**=आनन्दित करते हो, उसी प्रकार **नः अपि**=हमें भी **अभिपित्वे**=जीवनयात्रा में इस संसाररूप सराय में ठहरने के समय (अभिपित्वम्= putting up for the night at an inn) **मनीषा**=(मनीषया) बुद्धि के द्वारा—बुद्धि को प्राप्त कराके आनन्दित करो। बुद्धिपूर्वक व्यवहार करते हुए हम कष्टों से ऊपर उठ सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान की वाणियों से प्राप्त हों। सब देव हमें मनीषी बनाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शत्रुधर्षक शक्ति

आ नो विश्व आस्क्रा गमन्तु देवा मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः।
भुवन्यथा नो विश्वे वृधासः करन्त्सुषाहा विथुरं न शवः॥ २॥

१. **विश्वे देवाः**=सब देव, **मित्र, अर्यमा, वरुणः**=मित्र, अर्यमा और वरुण **सजोषाः**=समान प्रीतिवाले होते हुए और **आस्क्राः**=हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले होते हुए **नः आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। मित्र स्नेह की देवता है। यह हमारे कामरूप शत्रु पर आक्रमण करती है। 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' इस (तै० १।१।२।४) वाक्य के अनुसार अर्यमा दान की देवता है। यह लोभ पर आक्रमण करती है। 'वरुणः' द्वेष निवारण की देवता है, यह क्रोध पर आक्रमण करती है। २. ये 'मित्र, अर्यमा, वरुण' आदि हमें ऐसे प्राप्त हों **यथा**=जिससे ये **विश्वे**=सब **नः**=हमारी **वृधासः**=वृद्धि करनेवाले **भुवत्**=हों। 'मित्र' हमारे काम को नष्ट करके हमें प्रेमवाला बनाता है। 'अर्यमा' हमारे लोभ को नष्ट करके हमें उदार वृत्ति का बनाता है और 'वरुण' हमें द्वेष व क्रोध से ऊपर उठाकर करुणावाला बनाता है। ३. इस प्रकार ये देव हमें **सुषाहा करन्**=शत्रुओं का अभिभव (पराभूत) करनेवाला बनाएँ, **न**=जैसे कि **शवः**=हमारा बल **विथुरम्**=(Demon) आसुरी वृत्तियों को समाप्त करनेवाला हो। देवों की कृपा से हम शक्तिशाली बनें और आसुरी वृत्तियों को पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—स्नेह, उदारता व करुणा आदि दैवी वृत्तियों को प्रबल करते हुए हम आगे बढ़ें। हमारी शक्ति आसुरी वृत्तियों को पराभूत करनेवाली हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सुकीर्ति

प्रेष्ठं वो अतिथिं गृणीषेऽग्निं शस्तिभिस्तुर्वणिः सजोषाः।
असद्यथा नो वरुणः सुकीर्तिरिषश्च पर्षदरिगूर्तः सूरिः॥ ३॥

१. हे देवो! मैं **तुर्वणिः**=(तूर्णवनिः) शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाला **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु-सेवन की वृत्तिवाला **वः**=तुममें **प्रेष्ठम्**=प्रियतम **अतिथिम्**=सतत क्रियाशील **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **शस्तिभिः**=शंसनों के द्वारा **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ। मैं अग्नि का स्तवन करनेवाला बनता हूँ। यह अग्नि देवों में प्रियतम है। सब देवों का हमारे साथ स्नेह है। प्रभु का स्नेह अनन्त है। प्रभु अपने न माननेवाले को भी खान-पान प्राप्त कराते ही हैं—'अमन्तवो मां

न उपक्षियन्ति'। ये प्रभु हमारे कल्याण के लिए निरन्तर क्रियाशील हैं। २. हम इस अग्नि का स्तवन इसलिए करते हैं **यथा**=जिससे यह **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला होता हुआ **नः**-हमारे लिए **सुकीर्तिः**=उत्तम कीर्ति को प्राप्त करानेवाला **असत्**=हो। द्वेष से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति ही यशस्वी होता है **च**-और वह **अरिगूर्तः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के पराजय में **सूरिः**=ज्ञानी प्रभु **इषः पर्षत्**-हमारे लिए सात्त्विक अन्नों का पूरण करे (पूरयेत्)। इन सात्त्विक अन्नों से शुद्ध-हृदय बनकर हम प्रभु-प्रेरणाओं को सुननेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने प्रियतम मित्र-प्रभु का स्तवन करें। वे हमें द्वेषों से ऊपर उठाकर यशस्वी बनाते हैं और हमें सात्त्विक अन्न प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन

उप॑ व॒ एषे॒ नम॑सा जिगी॒षोषासा॒नक्ता॑ सु॒दुघे॑व धे॒नुः।
स॒मा॒ने अह॑न्वि॒मिमा॑नो अ॒र्कं विषु॑रूपे॒ पय॑सि॒ सस्मि॒न्नूध॑न्॥ ४॥

१. हे देवो! मैं **उषासानक्ता**=उषाकाल में व रात्रि के प्रारम्भ में अर्थात् प्रातः-सायं **वः**-आपके **उप**-समीप **नमसा**-नम्रता के साथ **आ इषे**=सर्वथा प्राप्त होता हूँ। आपके समीप मैं **जिगीषा**-अन्तःशत्रुओं को जीतने की कामना से प्राप्त होता हूँ। देवों के उपासन से हमारे जीवनों में दैवी सम्पत्ति का वर्धन होता है। इस उपासन से **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली यह वेदवाणीरूप गौ **सुदुघा इव**=सुगमता से दोहने के योग्य होती है। इसे दोहने से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। २. मैं इस **विषरूपे पयसि**=विविध, उत्तम रूपोंवाले ज्ञानदुग्ध के निमित्त ही **समाने अहन्**=(सम आनयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले दिन में और **सस्मिन् ऊधन्**=(ऊधस् रात्रिनाम—नि० १।७) सब रात्रियों में **अर्कम्**-प्रभु के स्तोत्रों का **विमिमानः**=निर्माण (उच्चारण) करनेवाला होता हूँ। वेदवाणीरूप गौ का ज्ञानदुग्ध विविध रूपोंवाला है, अर्थात् यह वेदवाणी सब आवश्यक ज्ञानों को देनेवाली है। इसके दोहन की क्षमता प्राप्त करने के लिए दिन व रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु-स्मरण आवश्यक है। प्रभु-स्तवन से जीवन पवित्र बना रहता है तथा बुद्धि पर वासनाओं का परदा नहीं पड़ जाता। तीव्र बुद्धि ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रातः-सायं देवों व परमात्मा का आराधन हमारी बुद्धि को पवित्र करता है और उस बुद्धि से हमारा ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वह अक्षीण आधार

उ॒त नोऽहि॑र्बु॒ध्न्यो॒३ मय॑स्कः॒ शिशुं॒ न पि॒प्युषी॑व॒ वेति॒ सिन्धुः॑।
येन॒ नपा॑तम॒पां जु॒नाम॑ मनो॒जुवो॒ वृष॑णो॒ यं वह॑न्ति॥ ५॥

१. **उत**-और **नः**-हमारे लिए **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन आधारवाला—जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कभी क्षीण न होनेवाला आधार है वह प्रभु **मयः कः**=सुख प्रदान करे। वस्तुतः वह **सिन्धुः**=ज्ञान व आनन्द का समुद्रभूत प्रभु **वेति इव**=उसी प्रकार प्राप्त होता ही है (इव=एवार्थे) **न**=जैसे कि **शिशुम्**=एक बालक को **पिप्युषी**=उसका दूध से आप्यायन करनेवाली माता प्राप्त होती है। वे प्रभु हम सबकी माता हैं। वे प्रभु ही ज्ञानदुग्ध से हमारा आप्यायन करते हुए हमें सुखी करते

हैं। २. वे प्रभु हमें सुखी करें **येन**=जिससे हम **अपाम्**=रेत:कणों के **नपातम्**=नष्ट न होने देनेवाले शरीर को **जुनाम**=प्राप्त करते हैं (जुन्=to go)। प्रभु-स्मरण से वासना का विनाश होता है और हम शक्ति का रक्षण कर पाते हैं। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **मनोजुवः**=मन को प्रेरित करनेवाले, न कि मन से प्रेरित होनेवाले **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **वहन्ति**=प्राप्त करते हैं। मन को स्वाधीन करके इष्ट दिशा में ले-चलनेवाले लोग 'मनोजुव' हैं। इन्हें मन इधर-उधर भटकानेवाला नहीं होता। ये मन को प्रेरित करते हैं। प्रभु इनके लिए आनन्द प्रदान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे न क्षीण होनेवाले आधार हैं। वे ही हमारा आप्यायन करते हैं। वे ही हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। चित्तवृत्ति का निरोध करके हम प्रभु को जीवन में धारण करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु का सङ्ग

उत नं ईं त्वष्टा गन्त्वच्छा स्मत्सूरिभिरभिपित्वे सजोषाः।
आ वृत्रहेन्द्रश्चर्षणिप्रास्तुविष्टमो नरां न इह गम्याः॥ ६॥

१. **त्वष्टा**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माता व ज्ञानदीप्त प्रभु (त्वक्षतेः, त्विषतेर्वा) **ईम्**=निश्चय से **नः अच्छ**=हमारी ओर **आगन्तु**=आये अर्थात् हमें प्राप्त हो। २. **उत**=और **अभिपित्वे**=जीवन-यात्रा में संसाररूप सराय में ठहरने के समय **स्मत्सूरिभिः**=(स्मत्=प्राशस्त्ये) प्रशस्त विद्वानों के साथ **सजोषाः**=समान रूप से प्रीतिवाला हो। इस जीवन-यात्रा में हमें विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो—उनके साथ-सङ्ग में हमें रुचि हो तथा हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। २. **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में वह प्रभु **आगम्याः**=प्राप्त हो जो **वृत्रहा**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला है, **चर्षणिप्राः**=श्रमशील पुरुषों का पूरक है और **नरां तुविष्टमः**=हमें आगे ले-चलनेवालों में सर्वमहान् है (नृ नये)। माता-पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्मा—ये पाँच ही हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु इनमें सर्वमहान् हैं। ये प्रभु हमें प्राप्त हों और हमें उन्नतिपथ पर ले-चलें।

भावार्थ—इस जीवन-यात्रा में हमें विद्वानों व प्रभु का सङ्ग प्राप्त हो। यह सङ्ग हमारी सतत उन्नति का कारण बने।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'सुरभिष्टम' प्रभु का स्तवन

उत नं ईं मतयोऽश्वयोगाः शिशुं न गावस्तरुणं रिहन्ति।
तमीं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्त॥ ७॥

१. **ईम्**=निश्चय से **नः**=हमारी **अश्वयोगाः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली (अश् व्याप्तौ) इन्द्रियों से मेलवाली **मतयः**=बुद्धियाँ उस **तरुणम्**=संसार-समुद्र से तारनेवाले प्रभु का **रिहन्ति**=आस्वाद लेती हैं अर्थात् स्तवन करती हैं, उसी प्रकार **न**=जैसेकि **गावः**=गौएँ **शिशुम्**=एक छोटे बच्चे को चाटती हैं। २. **उत**=और **नराम्**=मनुष्यों की **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **ईम्**= निश्चय से **तम्**=उस **सुरभिष्टमम्**=अत्यन्त दीप्त, (shining), सर्वोत्तम मित्र (friendly), सर्वाधिक कीर्तिवाले (famous) प्रभु को **नसन्त**=उसी प्रकार प्राप्त होती हैं **न**=जैसे कि **जनयः**=सन्तानों

को जन्म देनेवाली **पत्नीः**–पत्नियाँ पति को प्राप्त होती हैं। प्रभु का 'सुरभिष्टमं' रूप में स्तवन करती हुई ये वाणियाँ हमें भी 'दीप्त, सर्वमित्र व कीर्तिमय' जीवनवाला बनने की प्रेरणा देती हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ व बुद्धियाँ प्रभु की ओर झुकें। हमारी वाणियाँ उस दीप्त प्रभु का गुणगान करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मरुतः

उत न ईं मरुतो वृद्धसेनाः स्मद्रोदसी समनसः सदन्तु।
पृषदश्वासोऽवनयो न रथा रिशादसो मित्रयुजो न देवाः॥८॥

१. **वृद्धसेना**=बढ़ी हुई शक्तिशाली इन्द्रिय-सेनावाले **मरुतः**=प्राण रोदसी **स्मत्**=(स्मत् सहार्थे) द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर के साथ **समनसः**=समान मनवाले होते हुए **ईम्**=निश्चय से **नः सदन्तु**=हममें आसीन हों। हमारी प्राणशक्ति बढ़ी हुई हो। हमारा मस्तिष्क व शरीर उज्ज्वल व दृढ़ हो। २. **उत**–और **रथाः**=हमारे शरीर-रथ **पृषदश्वासः**=(पृष=to sprinkle) शक्ति से सिक्त (सिंचित) इन्द्रियाश्वोंवाले हों और **अवनयः न**=रक्षक पृथिवी के समान हों। जैसे यह पृथिवी हमारा आधार बनकर हमारा रक्षण करती है, उसी प्रकार ये शरीर-रथ हमारे आधार हों। ३. **देवाः**=सब दिव्यगुण **रिशादसः**=हमारे हिंसक काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश करनेवाले हों तथा **मित्रयुजः न**=उस परम मित्र प्रभु से हमें मिलानेवालों की भाँति हों। देवों के द्वारा हमारा परमात्मा से मेल हो।

भावार्थ—प्राणों के निवास के साथ हममें उत्तम मस्तिष्क व शरीर की स्थिति हो। हमारे शरीर-रथ सशक्त इन्द्रियों से जुते हों। दिव्यगुण हमारा प्रभु से मेल करनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रकाशमय जीवन

प्र नु यदेषां महिना चिकित्रे प्र युञ्जते प्रयुजस्ते सुवृक्ति।
अध यदेषां सुदिने न शरुर्विश्वमेरिणं प्रुषायन्त सेनाः॥९॥

१. **नु**–अब **यत्**=जब **एषाम्**=इन मरुतों—प्राणों की **महिना**=महिमा से **प्रचिकित्रे**=मनुष्य प्रकृष्ट ज्ञानी बनता है, प्राणों की साधना से अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञानवृद्धि होती है तब **ते**=वे **प्रयुजः**=प्राणों के प्रकृष्ट भोग को करनेवाले **सुवृक्ति**=उत्तमता से पापों के वर्जन के द्वारा **प्रयुञ्जते**=प्रभु से अपना मेल करते हैं। २. **अध**=अब **यत्**=जब **एषाम्**=इन व्यक्तियों के जीवनों में वे प्रभु इस प्रकार होते हैं **न**=जैसे कि **सुदिने शरुः**=मेघों के आवरण से रहित दिन अन्धकार को शीर्ण करनेवाला होता है। प्रभु के साथ मेल होने पर सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। ३. **सेनाः**=ये मरुतों की सेनाएँ—अनेक विभागों में विभक्त हुए-हुए प्राण **विश्वम् इरिणम्**=सब ऊषर को **आप्रुषायन्त**=शक्ति से खूब ही सींचनेवाली होती हैं। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर सब अङ्ग इस शक्ति से सिक्त होकर उपजाऊ भूमि के समान हो गये हैं। अशक्त अङ्गों में कोई क्रिया न थी। अब सशक्त होकर वे क्रियाओं से पुष्पित हो उठे हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, प्रभु से मेल होता है, जीवन प्रकाशमय हो जाता है और सब अङ्ग सशक्त होकर क्रियाओं से पुष्पित हो उठते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—विश्वेदेवाः । छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

देवों का अभिमुखीकरण

प्रो अश्विनावर्वसे कृणुध्वं प्र पूषणं स्वतवसो हि सन्ति।
अद्वेषो विष्णुर्वात ऋभुक्षा अच्छा सुम्नाय ववृतीय देवान्॥ १०॥

१. **अश्विनौ**=प्राणापान को **उ**=निश्चय से **अवसे**=रक्षण के लिए **प्रकृणुध्वम्**=खूब ही स्तवन करो। प्राण के सब भेदों का जहाँ विचार होता है वहाँ 'मरुतः' शब्द का प्रयोग होता है। 'प्राण और अपान' का ही मुख्यरूप से संकेत होने पर 'अश्विनौ' शब्द प्रयुक्त होता है। इन प्राणापान का स्तवन यही है कि प्राण की अपान में आहुति दी जाए और अपान की प्राण में। इस प्रकार प्राणायाम करना ही प्राणस्तवन है। **पूषणम्**=पोषण की देवता का **प्र**=प्रकर्षेण स्तवन करो। अङ्ग-प्रत्यङ्गों को पुष्ट करने का हम प्रयत्न करें। ऐसा करनेवाले व्यक्ति—प्राणापान व पूषा के स्तोता लोग **हि**=निश्चय से **स्वतवसः**=आत्मा के बलवाले **सन्ति**=हैं, अर्थात् इनका आत्मिक बल बढ़ता है। २. **अद्वेषः**=यह स्तोता द्वेष से रहित होता है, **विष्णुः**= व्यापक मनोवृत्तिवाला होता है (विष् व्याप्तौ), **वातः**=वायु के समान सतत क्रियाशील होता है, **ऋभुक्षाः**=उस देदीप्यमान (उरु भाति) प्रभु में निवास करनेवाला होता है (क्षि निवासे)। ३. मैं भी **सुम्नाय**=सुख प्राप्ति के लिए **देवान् अच्छ ववृतीय**=सब देवों को अपनी ओर आवृत्त करनेवाला बनूँ। देवों को अपने अभिमुख करके ही मैं जीवन को सुखी बना पाता हूँ।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना करें और अङ्ग-प्रत्यङ्गों को पुष्ट करें। आत्मिक बलवाले होकर हम सब देवों को स्वाभिमुख करें। यही सुख-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—विश्वेदेवाः । छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

देवों की दीप्ति

इयं सा वो अस्मे दीधितिर्यजत्रा अपिप्राणी च सदनी च भूयाः।
नि या देवेषु यतते वसूयुर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ११॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि हम देवों को स्वाभिमुख करें। उन्हीं देवों से प्रार्थना करते हैं कि **इयम्**=यह **सा**=वह **वः**=आपकी **दीधितिः**=दीप्ति **अस्मे**=हमारे लिए **यजत्रा**=संगतिकरण के द्वारा त्राण करनेवाली **अपिप्राणी**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग को प्राणित करनेवाली **च**=और **सदनी**=उत्तम निवासवाली **भूयाः**=हो। २. यह दीप्ति वह है **या**=जो **वसूयुः**=(वसुमती) उत्तम वसुओंवाली होकर **देवेषु**=दिव्यगुणों के निमित्त **नियतते**=निश्चय से यत्नवाली होती है। इस दीप्ति से हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। इन दिव्यगुणों का वर्धन करते हुए हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=शक्ति व पापवर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घ जीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हमें देवों की वह दीप्ति प्राप्त हो जो हमारा त्राण करती है, हमें प्राणित करती है तथा हमारे निवास को उत्तम बनाती है।

विशेष—सूक्त का केन्द्रभूत विचार यह है कि हमारा मन व मस्तिष्क निर्मल व उज्ज्वल हो तथा शरीर भी स्वस्थ हो। इसके लिए अन्न की सात्त्विकता आवश्यक है, अतः अगले सूक्त में इस अन्न (पितु) का ही विषय प्रस्तुत है। अन्न को पितु नाम इसलिए दिया है, क्योंकि यह रक्षक है (पा रक्षणे)। 'ओषधयः' देवता से यह स्पष्ट है कि मांस-भोजन तो सर्वथा परिहरणीय त्याज्य ही है—

[१८७] सप्ताशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—ओषधयः । छन्दः—उष्णिक् । स्वरः—ऋषभः ।

वृत्र का अर्दन

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ १ ॥

१. मैं **नु**=निश्चय से **पितुम्**=उस रक्षक अन्न का **स्तोषम्**=स्तवन करता हूँ जोकि **महः**=(power, light) शक्ति व तेजस्विता को देनेवाला है, जो शक्ति ही है, **धर्माणम्**=जो शरीर का धारण करनेवाला है **तविषीम्**-जो वृद्धि के कारणभूत बलवाला है। अन्न वही ठीक है जो हमें तेजस्वी बनाए, जो हमारा धारण करे और जो हमारे बल को बढ़ाकर हमारी वृद्धि का कारण हो। २. इस अन्न के स्तवन से मनुष्य 'त्रित' बनता है—'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों की शक्ति का विस्तार करनेवाला बनता है (त्रीन् तनोति), अतः मैं उस अन्न का स्तवन करता हूँ **यस्य**=जिसके **वि ओजसा**=विशिष्ट ओज से **त्रितः**='काम-क्रोध-लोभ'—इन तीनों को तैर जानेवाला व्यक्ति (त्रीन् तरति) **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **विपर्वम्**=(विच्छिन्नसन्धिकम्—सा०) एक-एक पर्व को विच्छिन्न करके **अर्दयत्**-हिंसित करता है। वृत्र ही बुद्धि में 'लोभ' के रूप से रहता है, मन में यह 'क्रोध' के रूप में है तथा इन्द्रियों में इसका स्वरूप 'काम' होता है। त्रित इस वृत्र के इन तीनों ही पर्वों को विच्छिन्न कर डालता है। सात्त्विक अन्न उसकी वृत्ति को सात्त्विक बनाता है, सात्त्विक वृत्ति होने पर वृत्र का विनाश होता है।

भावार्थ—हम उन्हीं ओषधि-वनस्पतियों को अपना अन्न बनाएँ जो हमें तेजस्वी, धारक व शक्तिशाली बनाएँ। इस अन्न से ओजस्वी बनकर हम वासनाओं को तैर जाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—ओषधयः । छन्दः—निचृद्गायत्री । स्वरः—षड्जः ।

स्वादु व मधुर अन्न

स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे। अस्माकमविता भव॥ २ ॥

१. हे **पितो**-रक्षक अन्न! **स्वादो**=जो तू स्वादवाला है, हृदय को प्रिय प्रतीत होता है, हृद्य है। **मधो पितो**=हे अन्न! जो तू मधुर है—ओषधियों के सारभूत मधु (शहद) के समान गुणकारी है, ऐसे **त्वा**=तुझे **वयम्**=हम **ववृमहे**=वरण करते हैं। अन्न के चुनाव में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—एक वह रुचिकर हो और दूसरे वह मधु के समान सारभूत हो। जो अन्न रुचिकर न होगा—प्रसन्नतापूर्वक न खाया जाएगा, वह शरीर में उत्तम धातुओं का निर्माण करनेवाला न होकर विष-सा बन जाएगा। सम्भवतः इस प्रकार का अन्न ही दीर्घकाल तक अरुचि से खाये जाने पर कैंसर का कारण बन जाता है। इसी दृष्टिकोण से मनु के ये शब्द स्मरणीय हैं कि—'दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च'—भोजन को देखकर हर्ष व प्रसाद का अनुभव करे। २. हे अन्न! तू **अस्माकम्**=हमारा **अविता**=रक्षण करनेवाला **भव**=हो। रक्षणात्मक (protective) भोजन ही सर्वोत्तम है। ऐसा ही भोजन दीर्घायुष्य का कारण बनता है।

भावार्थ—भोजन रुचिकर व हृद्य होना चाहिए। नीरस भोजन ठीक नहीं है। यह भोजन मधुर होना चाहिए। ओषधियों के सारभूत मधु के समान यह सारवान् हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—ओषधयः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

नीरोगता, निर्द्वेषता

उप॑ नः पित॒वा च॑र शि॒वः शि॒वाभि॑रू॒तिभि॑ः।
म॒यो॒भुर॑द्विषे॒ण्यः सखा॑ सु॒शेवो॒ अद्व॑याः॥ ३॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न तू **शिवः**=कल्याणकर होता हुआ **शिवाभिः ऊतिभिः**=कल्याणकर रक्षणों के साथ **नः**=हमें **उप आचर**=(आगच्छ—सा०) समीपता से प्राप्त हो। हमें अन्न वही प्राप्त हो जो कि कल्याण करनेवाला है। **मयोभूः**=जो शरीर में नीरोगता के द्वारा सुख उत्पन्न करनेवाला तथा **अद्विषेण्यः**=मन में द्वेषादि की राजस वृत्तियों को पैदा न होने देनेवाला है। अन्न वही ठीक है जो कि नीरोगता के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखता है तथा द्वेषादि से रहित करके मन को शान्त करता है। २. ऐसा अन्न वस्तुतः **सखा**=मित्र होता है, मित्रवत् हितकारी होता है, **सुशेवः**=उत्तम सुख देनेवाला होता है, **अद्वयाः**=यह अन्न हमें आधि और व्याधि दोनों से ऊपर उठानेवाला होता है (न द्वयं यस्मात्)।

भावार्थ—अन्न वही ठीक है जोकि शरीर को नीरोग व मन को निर्मल बनाए। राजस अन्न शरीर में रोग पैदा करता है और मन में द्वेषादि वृत्तियों को। सात्त्विक अन्न हमें नीरोग व निर्द्वेष बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—ओषधयः। छन्दः—विराड् गायत्री।। स्वरः—षड्जः।

जीवनप्रद अन्न-रस

तव॒ त्ये पि॑तो॒ रसा॒ रजां॒स्यनु॒ विष्ठि॑ताः। दि॒वि वाता॑इव श्रि॒ताः॥ ४॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न **तव**=तेरे **त्ये**=वे **रसाः**=रस **रजांसि अनुविष्ठिताः**=इस शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में क्रमशः विशेष रूप से स्थित होते हैं। अन्न के ही मध्य अंश से मांस, अस्थि आदि धातुओं का निर्माण होता है। इसके ही सूक्ष्म अंश से बुद्धि का निर्माण होता है। 'रजांसि' शब्द लोकवाचक होता हुआ यहाँ शरीर के सब अङ्गों का प्रतिपादक है। २. ये रस इस प्रकार इन अङ्गों में स्थित होते हैं **इव**=जैसे कि **दिवि**=सारे आकाश में **वाताः श्रिताः**=वायुएँ स्थित होती हैं। ये वायुएँ जीवन का कारण हैं। वायुओं के बिना आकाश मृत-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार इन अन्नों के बिना सब अङ्ग मृत-से हो जाते हैं।

भावार्थ—अन्नों के रस ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों में जीवन का संचार करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—ओषधयः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

देकर, बचे हुए को खाना

तव॒ त्ये पि॑तो॒ दद॑त॒स्तव॑ स्वादि॑ष्ठ॒ ते पि॑तो।
प्र स्वा॒द्मानो॒ रसा॑नां तुवि॒ग्रीवा॑इवेरते॥ ५॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न! **त्ये**=वे व्यक्ति जो कि **तव ददतः**=तेरा दान करते हैं, दानपूर्वक बचे हुए को ही खाते हैं, यज्ञशेष (अमृत) का सेवन करते हैं और २. हे **स्वादिष्ठ पितो**=स्वादुतम अन्न! **तव**=तेरे **रसानाम्**=रसों का **प्रस्वाद्मानः**=प्रकृष्ट स्वाद लेनेवाले, तेरे रसों का प्रसन्नतापूर्वक सेवन करनेवाले **तुविग्रीवा इव ईरते**=प्रवृद्ध गर्दनवालों के समान गति करते हैं। दुर्बलता में गर्दन झुक-सी जाती है। इन अन्न-रसों के सेवन से शक्ति की उत्पत्ति होती है

और गर्दन झुकती नहीं।

भावार्थ—अन्न को हविरूप करके ही खाना चाहिए। देकर बचे हुए को खाना ही ठीक है। 'केवलाघो भवति केवलादी'—अकेला खानेवाला पाप खाता है। यज्ञावशिष्ट एवं सुस्वादु अन्न से शक्तिशाली बनकर हम सीधी गर्दन से गति करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

अन्नमयं हि (सौम्य) मनः

त्वे पि॑तो म॒हानां॑ दे॒वानां॒ मनो॑ हि॒तम्।
अका॑रि॒ चारु॑ के॒तुना॒ तवाहि॒मव॑सावधीत्॥ ६॥

१. हे **पितो**-अन्न **त्वे**-तुझमें **महानाम्**=महिमाशाली **देवानाम्**-देवों का **मनः**=मन **हितम्**= रखा हुआ है, अर्थात् अन्न के सेवन से दिव्य मन प्राप्त होता है। 'जैसा अन्न वैसा मन'—इस उक्ति के अनुसार भोजन से ही मन बनता है। सात्त्विक भोजनों के सेवन से दिव्य मन प्राप्त होता है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की भी शुद्धि होती है। २. इस अन्न के द्वारा **चारु अकारि**=अत्यन्त सुन्दर अन्तःकरण का निर्माण होता है। हे अन्न! **तव**=तेरे **केतुना**=ज्ञान से तथा **अवसा**-रक्षण से तेरा सेवन करनेवाला **अहिम्**=वासनारूप अहि को **अवधीत्**=नष्ट करता है। अन्न से बुद्धि का निर्माण होता है; यह अन्न ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होता है; यह अन्न शरीर को नीरोग बनाता है। नीरोगता व ज्ञान के संगत हो-(मिल) जाने पर वासना स्वतः समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न से दिव्य मन प्राप्त होता है। नीरोगता व ज्ञान की वृद्धि होकर वासना का विनाश होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

मेघ-जल से उत्पन्न अन्न

यद॒दो पि॑तो॒ अज॑गन्वि॒वस्व॒ पर्व॑तानाम्।
अत्रा॑ चिन्नो मधो पि॒तोऽरं॑ भ॒क्षाय॑ गम्याः॥ ७॥

१. हे **पितो**=अन्न! **यत्**=जब तू **विवस्व**=(विवासनवतां विद्युद्रूपप्रकाशनवताम्—सा०) विद्युद्रूप प्रकाशवाले **पर्वतानाम्**=मेघों के **अदः**=उस प्रसिद्ध अमृतजल को **अजगन्**-प्राप्त होता है तो **अत्र**=यहाँ, इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **नः**=हमें **भक्षाय**=खाने के लिए **अरम्**=पर्याप्त **मधो पितो**=हे सारभूत अन्न! तू **गम्याः**=प्राप्त हो। २. मेघ-जल से उत्पन्न अन्न अधिक गुणकारी हैं। मेघजल 'अमृत' है। उससे उत्पन्न अन्न भी अमृत है। मात्रा में यह अन्न सम्भवतः कम होगा, पर गुणों में यह अन्न अत्यन्त उत्कृष्ट है।

भावार्थ—हम मेघजल से उत्पन्न अन्नों का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

जल व वनस्पति

यद॒पामोष॑धीनां परि॒ंशमा॑रि॒शाम॑हे। वाता॑पे॒ पीव॒ इद्भ॑व॥ ८॥

१. **यत्**=जब **अपाम्**=जलों के व **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **परिंशम्**=(परिलेशम्—

सा०) अंश को—मात्रा में प्रयोग को **अरिशामहे**=आस्वादित करते हैं, रुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं तो हे **वातापे**=(वातेन आप्यायते) वायु से आप्यायित होनेवाले शरीर! **इत्**=निश्चय से **पीवः भव**=आप्यायित होनेवाला हो। २. मुख्यतया शरीर का धारण वायु पर निर्भर करता है, अतः शरीर 'वातापि' कहलाता है। इस शरीर के आप्यायन के लिए जल व वनस्पतियों का प्रयोग ही श्रेयस्कर है। इनका प्रयोग भी (उचित) मात्रा में करना ही ठीक है। 'अरिशामहे' शब्द से यह भी स्पष्ट है कि इनका प्रयोग भी आस्वाद के साथ करना है। रुचि से ग्रहण किया हुआ अन्न उत्तम धातुओं का निर्माण करनेवाला होता है।

भावार्थ—जल व ओषधियों के मात्रा में प्रयोग से हम शरीर को आप्यायित करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

गवाशिर, यवाशिर

यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे। वातापे पीव इद्भव॥ ९॥

१. भोजन दो भागों में बँटे हुए हैं—कुछ सौम्य भोजन हैं और कुछ आग्नेय। सौम्य भोजन ही दीर्घजीवन के लिए अधिक उपयुक्त हैं। आग्नेय पदार्थ सामान्यतः औषधरूपेण विनियुक्त होते हैं। हे **सोम**=सौम्य भोजन! **यत्**=जो **ते**=तेरा **गवाशिरः**=गोदुग्ध के साथ परिपक्व किये गये का अथवा **यवाशिरः**=जौ के साथ परिपक्व किये गये का **यजामहे**=हम सेवन करते हैं तो हे **वातापे**=वायु से आप्यायित होनेवाले शरीर! **इत्**=निश्चय से **पीवः**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों में आप्यायित **भव**=हो। २. वनस्पतियों में भी आग्नेय भोजनों की अपेक्षा सौम्य भोजन ही ठीक हैं। सौम्य भोजन भी गोदुग्ध या जौ के साथ परिपक्व किये गये हों तभी ठीक हैं।

भावार्थ—गवाशिर व यवाशिर सौम्य भोजन ही ठीक हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

पीव, वृक्क व उदारथिः

करम्भ ओषधे भव पीवो वृक्क उदारथिः। वातापे पीव इद्भव॥ १०॥

१. हे **करम्भ**=दधिमिश्रित यवसक्तु—जौ के सत्तू (flour-mixed with curds) **ओषधे**=तू दोषों का दहन करनेवाला है। तू **पीवः भव**=हमें आप्यायित करनेवाला हो। तेरे प्रयोग से शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्ट हों। **वृक्कः**=तू व्याधि को दूर करनेवाला हो, **उदारथिः**=(ऊर्ध्वं गमः, इन्द्रियाणामुद्दीपकः—सा०) स्वास्थ्य को उन्नत करनेवाला, इन्द्रियों की शक्ति को दीप्ति करनेवाला हो। २. इस प्रकार हे **वातापे**=वायु से आप्यायित होनेवाले शरीर! तू **इत्**=निश्चय से **पीवः**=आप्यायित अङ्गोंवाला हो।

भावार्थ—दधिमिश्रित जौ के सत्तू का प्रयोग हमें आप्यायित, नीरोग व दीप्त-शक्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

मिलकर भोजन

तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम।
देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम्॥ ११॥

१. हे **पितो**-पालक अन्न! **वयम्**-हम **तं त्वा**=उस तुझे **वचोभिः**=वेदवचनों के द्वारा—वेद निर्दिष्ट मार्ग से सेवन के द्वारा **सुषूदिम**=शरीर से दोषों का क्षरण करनेवाला करें (षूद क्षरणे), उसी प्रकार **न**=जैसे कि **गावः**-गोदुग्धों को तथा **हव्या**-हव्य पदार्थों को। जैसे गोदुग्ध से तथा हव्य पदार्थों के सेवन से मलों का क्षरण होता है, उसी प्रकार पालक अन्न के प्रयोग से हम शरीर-मलों को क्षरित करके नीरोग शरीरवाले बनें। २. उस **त्वा**=तुझे जो तू **देवेभ्यः**-देवताओं के लिए **सधमादम्**=(सह मादयितारम्) साथ ही आनन्दित करनेवाला है। देवलोग मिलकर ही तेरा सेवन करते हैं, अकेले नहीं खाते। वे इस बात को समझते हैं कि—'केवलाघो भवति केवलादी'—अकेला खानेवाला पापी होता है। उस **त्वा**=तुझे हम सेवन करते हैं जो तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सधमादम्**=साथ ही आनन्दित करनेवाला है।

भावार्थ—हम वेद में दी गई प्रभु की आज्ञा के अनुसार दूध व यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करें। ये हमारे मलों का क्षरण करनेवाले होंगे। साथ ही अन्नों का सेवन मिलकर करें, अकेले नहीं।

विशेष—यह सूक्त भोजन के विषय में सब आवश्यक निर्देश करता हुआ हमें सात्त्विक वृत्ति का बनाता है। हमारा जीवन यज्ञिय होता है। यज्ञिय जीवनवाला यह व्यक्ति प्रार्थना करता है कि—

[१८८] अष्टाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

हव्य-प्रापण

समिद्धो अद्य राजसि देवो देवैः सहस्रजित्। दूतो हव्या कविर्वह॥ १॥

१. गत सूक्त के अनुसार सात्त्विक अन्न के सेवन से शुद्ध बने हुए हृदय में **समिद्धः**=दीप्त हुए-हुए प्रभो! आप **अद्य**=आज **राजसि**=मेरे जीवन में दीप्त होते हो। मेरे जीवन की सब क्रियाएँ आपकी सत्ता का प्रतिपादन करती हैं। २. **देवः**-आप प्रकाशमय हैं, दिव्यगुणों के पुञ्ज हैं, **देवैः**-माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों के द्वारा मेरे लिए **सहस्रजित्**=सहस्रशः पदार्थों का विजय करनेवाले हैं, **दूतः**=हमें ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं अथवा तपस्या की अग्नि में तपाकर हमें शुद्ध बनानेवाले हैं (दु: उपतापे), **कविः**=अनन्तप्रज्ञ हैं—सर्वज्ञ हैं। आप हमारे लिए **हव्या वह**=हव्य पदार्थों को प्राप्त कराइए। इन यज्ञिय (हव्य) पदार्थों के प्रयोग से हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु हममें समिद्ध होकर हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं। देवों का सम्पर्क प्राप्त कराके हमें देव बनाते हैं। वे ही हमें सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

ऋत को अपनाने के तीन लाभ

तनूनपादृतं यते मध्वा यज्ञः समज्यते। दधत्सहस्रिणीरिषः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमारे जीवनों में समिद्ध हुए प्रभु **ऋतं यते**=ऋत की ओर चलनेवाले के लिए, यज्ञों को अपनानेवाले के लिए (ऋत=यज्ञ) अथवा प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले के लिए (ऋत=right) **तनूनपात्**=शरीर को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभु ऋत को अपनानेवाले के शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। इसका **यज्ञः**-जीवन-यज्ञ **मध्वाः**=माधुर्य

से **समज्यते**=अलंकृत किया जाता है। स्वास्थ्यादि की प्राप्ति से इसके जीवन में मधुरता बनी रहती है। ३. प्रभु इसके लिए **सहस्त्रिणीः इषः**=सहस्रशः अन्नों को **दधत्**=धारण करते हैं। इसे संसार में अन्न-रस की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—ऋत को अपनाने से (क) हमारा शरीर स्वस्थ होगा, (ख) जीवन मधुर बनेगा और (ग) अन्न की कमी नहीं रहेगी।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

देवों का सम्पर्क व आवश्यक धनों का लाभ

आजुह्वानो न ईड्यो देवाँ आ वक्षि यज्ञियान्। अग्ने सहस्रसा असि॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आजुह्वानः**=आप ही हमसे सदा आहूयमान होते हो, हम सदा आपका ही द्वार खटखटाते हैं। **नः ईड्यः**=आप ही हमारे स्तुत्य हो। २. आप हमें **यज्ञियान् देवान्**=संगतिकरण योग्य देवों को **आवक्षि**=(आ वह) प्राप्त कराइए। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देववृत्ति के बन पाएँ। हे प्रभो! आप **सहस्रसाः**=अपरिमित धनों के दाता **असि**=हैं। सब आवश्यक धनों का हमारे लिए प्रभु ही विजय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रार्थना व स्तवन करें। प्रभु हमें देवों का सम्पर्क प्राप्त कराते हैं और अपरिमित धनों को देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

अग्रगति, वीरता-ओजस्विता

प्राचीनं बर्हिरोजसा सहस्रवीरमस्तृणन्। यत्रादित्या विराजथ॥ ४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-कृपा से देवसम्पर्क को प्राप्त करके **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **सहस्रवीरम्**=सहस्रशः वीर भावनाओं से युक्त **प्राचीनम्**=(प्र अञ्च) अग्रगति की भावनावाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन को **अस्तृणन्**=बिछाते हैं (आच्छादयन्), अर्थात् अपने हृदय को अग्रगति की भावनावाला (प्राचीनम्), वीर भावनाओं से युक्त (सहस्रवीरम्) व ओजस्वी बनाते हैं। २. यह बर्हि वह है **यत्र**=जहाँ **आदित्याः**=हे आदित्यो! **विराजथ**=आप शोभायमान होते हो। आपमें सब गुणों का आधान करनेवाले ये आदित्य हैं। आदित्य गुणों का आधान करते हुए अपने हृदय को वासनाशून्य बनाते हैं। इसी हृदयासन पर तो इन्होंने प्रभु को आसीन करना है।

भावार्थ—हमारा हृदय अग्रगति की भावनावाला, वीरतापूर्ण व ओजस्वी हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

दीप्त इन्द्रियाँ

विराट् सम्राड्विभ्वीः प्रभ्वीर्बह्वीश्च भूयसीश्च याः। दुरो घृतान्यक्षरन्॥ ५॥

१. यह शरीर यज्ञवेदि है। इन्द्रियाँ इस यज्ञभवन के द्वार-स्थानापन्न हैं। ये **दुरः**=इन्द्रिय-द्वार **विराट्**=(विशेषेण राजन्ते) विशिष्टरूप से दीप्तिवाले हैं, **सम्राट्**=मिलकर दीप्तिवाले हैं, अर्थात् सबके-सब इन्द्रिय-द्वार दीप्त हैं, **विभ्वीः**=(विविधं भविष्यः) विविध कार्यों में ये व्यापृत होनेवाले हैं, **प्रभ्वीः**=अपने-अपने कार्य को शक्ति से करनेवाले हैं। २. **बह्वीः**=(बृह वृद्धौ) ये इन्द्रिय-द्वार वृद्धिवाले हैं च+च=और **याः**=जो **भूयसीः**=अत्यन्त वृद्धिवाले हैं, वे इन्द्रिय-द्वार

घृतानि=दीप्तियों को **अक्षरन्**=टपकाते हैं। वस्तुतः जब गत मन्त्र में वर्णित आदित्य अपने जीवन को निर्मल बनाते हैं तो उनकी इन्द्रियाँ तेजस्विता से चमक उठती हैं।

भावार्थ—हमारे सब इन्द्रिय-द्वार तेजस्विता से दीप्त हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

नक्तोषासा=उषासा

सुरुक्मे हि सुपेशसाधि श्रिया विराजतः। उषासावेह सीदताम्॥ ६॥

१. 'नक्तोषासा' के स्थान में यहाँ 'उषासा' पद का प्रयोग है, जैसे सत्यभामा के लिए भामा। ये **उषासा**=रात्रि और दिन **हि**=निश्चय से **सुरुक्मे**-(रुच् दीप्तौ) उत्तम दीप्तिवाले होते हैं, **सुपेशसा**-उत्तम रूपवाले होते हैं, **श्रिया**=शोभा से **अधिविराजतः**-अत्यधिक शोभायमान होते हैं। २. ऐसे ये रात्रि और दिन **इह**=हमारे जीवन में **आसीदताम्**=सर्वथा आसीन हों। हमारे जीवन में दिन व रात्रि दीप्त व सुन्दर रूपवाले हों। प्रत्येक दिन हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता हुआ चमक उठे। प्रत्येक रात्रि हमारी बलवृद्धि का कारण होती हुई हमारे रूप को सुन्दर बनानेवाली हो। दिन ज्ञान के प्रकाश से चमके तो रात्रि शक्तिवर्धन करती हुई रूप-सौन्दर्य का कारण बने।

भावार्थ—दिन व रात हमारे ज्ञान व रूप को बढ़ाते हुए हमें श्रीसम्पन्न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

दिन व रात हमारे जीवन-यज्ञ के होता हों

प्रथमा हि सुवाचसा होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमम्॥ ७॥

१. **प्रथमा**=(प्रथ विस्तारे) ये दिन व रात हमारे लिए शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों। **हि**=निश्चय से **सुवाचसा**=उत्तम वचनों वाले हों—हम दिन व रात्रि दोनों के प्रारम्भ में प्रभु के गुणों का उत्तमता से उच्चारण करनेवाले हों, **होतारा**=ये दोनों हमारे जीवन-यज्ञ के होता हों अथवा हम इनमें दानपूर्वक अदनवाले हों। इस होतृत्व के द्वारा ये **दैव्या**=उस देव की ओर हमें ले-चलनेवाले हों और उस देव की ओर चलते हुए हम **कवी**=क्रान्तदर्शी व क्रान्तप्रज्ञ हों। २. इस प्रकार ये दिन व रात हमारे लिए 'प्रथमा, सुवाचसा, होतारा, दैव्या, कवी' होते हुए **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **यक्षताम्**=(यजताम्) सम्पन्न करनेवाले हों।

भावार्थ—दिन-रात यज्ञमय जीवन बिताते हुए हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें, दोनों समय प्रभु का गुणगान करें, अग्निहोत्र करें, प्रभु की ओर चलनेवाले हों और क्रान्तप्रज्ञ बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

भारती, इडा, सरस्वती

भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये॥ ८॥

१. 'भारत' सूर्य का नाम है, उसकी सम्बन्धिनी भारती द्युलोक की देवता है। 'इळा' भूदेवी है और 'सरस्वती' अन्तरिक्ष की देवता है (सरः वाग्, उदकं वा अस्यास्तीति)। हे **भारति**=द्युलोक देवते! **इळे**=भूदेवि! **सरस्वति**=अन्तरिक्ष देवते! **याः सर्वाः**=जो आप सब हैं, **वः**=(युष्मान्) उनको **उपब्रुवे**=मैं प्रार्थना करता हूँ। २. **ताः**=वे आप सब **नः**=हमें **श्रिये**=शोभा के लिए **चोदयत्**=(प्रेरयत) प्रेरित कीजिए। अध्यात्म में 'मस्तिष्क' द्युलोक है, 'शरीर' पृथिवीलोक है

और 'हृदय' अन्तरिक्षलोक है। मस्तिष्क की देवता आदित्य की भाँति चमकता हुआ ज्ञान है। शरीर की देवता पृथिवी के समान 'दृढ़ता' व 'शक्ति' है। हृदय की दे ता वायु की भाँति 'कर्म का संकल्प' है। 'ज्ञान, शक्ति व कर्मसंकल्प'—ये सब मिलकर हमें श्रीसम्पन्न करें।

भावार्थ—'भारती, इडा व सरस्वती' हमारे जीवन की त्रिलोकी की देवता हों। ये हमारे जीवन को श्रीयुक्त करें। हम इन तीनों देवताओं का आराधन करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

पशुओं की स्फाति का लाभ

त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून्विश्वान्त्समानजे। तेषां नः स्फातिमा यंज॥ ९॥

१. **त्वष्टा**=निर्माता **प्रभुः**=प्रभु **हि**=निश्चय से **रूपाणि**=सब रूपों को **समानजे**=व्यक्त करता है। इन रूपों के द्वारा **विश्वान् पशून्**=सब पशुओं को (समानजे) समलंकृत करता है। २. हे प्रभो! **तेषाम्**=उन पशुओं की **स्फातिम्**=वृद्धि को **नः**=हमारे लिए **आ यज**=सब प्रकार से संगत कीजिए। हमें गवादि पशुधन पर्याप्त संख्या में प्राप्त हो। इन पशुओं का हमारी जीवन-यात्रा में पर्याप्त भाग है। इन्हीं से हमें 'पयः पशूनाम्' दुग्धादि पदार्थ प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए पर्याप्त पशुधन को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

वानस्पतिक भोजन

उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सृज। अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विविध प्रकार से सहायक ये पशु हमें प्राप्त हों, परन्तु 'हमें इनके मांस का प्रयोग नहीं करना है', इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि हे **वनस्पते**=ओषधे! तू **त्मन्या**=स्वयं **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **पाथः**=अन्न को **उपसृज**=समीपता से उत्पन्न कर, अर्थात् देववृत्ति के पुरुष वानस्पतिक भोजन ही करनेवाले हों। २. **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को ही **सिष्वदत्**=आस्वादित करता है। यज्ञिय पवित्र पदार्थों का ही भोजन करता हुआ वह सात्त्विक वृत्तिवाला बनता है।

भावार्थ—मनुष्य का भोजन ओषधि व वनस्पति ही है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

गायत्र का गान

पुरोगा अग्निर्देवानां गायत्रेण समज्यते। स्वाहाकृतीषु रोचते॥ ११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वानस्पतिक भोजन करता हुआ यह **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **देवानां पुरोगाः**=देवों का पुरोगामी बनता है, उन्नति करता हुआ देवों का मुखिया होता है। २. यह **गायत्रेण**=गायत्रीवल्लभ प्रभु से **समज्यते**=अलंकृत जीवनवाला किया जाता है। प्रभु 'गायत्र' हैं—गान करनेवाले का त्राण करते हैं। जो प्रभु का स्तवन करता है, वह स्तोता प्रभु के उस-उस गुण से समलंकृत हो जाता है। ३. **स्वाहाकृतीषु**=स्वाहाकृतियों में, त्याग के कार्यों में यह **रोचते**=दीप्त होता है। जितना-जितना त्याग करता है, उतना-उतना चमकता जाता है, त्याग के अनुपात में दीप्तिवाला होता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ते हुए देवों के मुखिया बनें। इसके लिए प्रभु का स्मरण करें। प्रभु-स्मरण के लिए त्याग की वृत्ति को अपनाएँ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ 'देवों के सम्पर्क से देव बनना' इन शब्दों से होता है (१) और समाप्ति पर 'देवों का अग्रणी बनना' यह कहा गया है (११)। इसका साधन यही है कि हम प्रभु का स्मरण करें, और धन के दास न बन जाएँ। इसी भावना से अगले सूक्त का आरम्भ होता है—

[१८९] एकोननवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शुभ मार्ग से न कि अशुभ से

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य१॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम॥ १॥

१. **अग्ने**=हे अग्रणी परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **सुपथा नय**=उत्तम मार्ग से ले-चलिए। हम कुमार्ग से धन कमाने में प्रवृत्त न हों। अवनति का प्रारम्भ यहीं से होता है कि लोभ में पड़कर हम जैसे-तैसे धन कमाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। धन ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो जाता है और अन्ततः हमारे निधन का कारण होता है। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज, प्रकाशमय प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आप हमारे मनों में आनेवाले अशुभ विचारों को ही समाप्त कर दीजिए। **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता को तथा **एनः**=पाप को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। इस पापवृत्ति से बचने के लिए ही हम **ते**=आपकी **भूयिष्ठाम्**=बहुत अधिक **नमउक्तिम्**=नमन की उक्ति को **विधेम**=करते हैं, निरन्तर आपका स्तवन करते हैं। आपका यह स्तवन हमें पाप से पृथक् रखता है। शुभ मार्ग से ही धन कमाते हुए हम जीवन-यात्रा को शोभा से पूर्ण कर पाते हैं।

भावार्थ—हम शुभ मार्ग से ही धन कमाएँ। प्रभु-स्तवन करते हुए अशुभ की ओर झुकाव से अपने को बचाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

पृथिवी 'पूः' और बहुला 'उर्वी'

अग्ने॒ त्वं पा॑रया॒ नव्यो॑ अ॒स्मान्त्स्व॒स्तिभि॒रति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॑।
पूश्च॑ पृ॒थ्वी बहु॒ला न॑ उ॒र्वी भवा॑ तो॒काय॒ तन॑याय॒ शं योः॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्मान्**=हमें **स्वस्तिभिः**=(सु अस्ति) उत्तम, अभिपूजित मार्गों के द्वारा **विश्वा**=सब **दुर्गाणि**=पापों के **अतिपारया**=पार कीजिए। आप ही हमारे लिए **नव्यः**=स्तुति के योग्य हैं। हम आपका स्तवन करते हैं। आप हमें सब अशुभ वृत्तियों से दूर कीजिए। २. **च**=और आपकी कृपा से सब पापों से ऊपर उठने पर पूः=यह शरीररूप नगरी **पृथ्वी**=विस्तारवाली हो। इसकी सब शक्तियाँ विस्तृत हों—अङ्ग-प्रत्यङ्ग सबल व सशक्त हों। **नः**=हमारे लिए **उर्वी**=पृथिवी भी **बहुला**=बहुत पदार्थों को देनेवाली **भव**=हो, पृथिवी हमारे लिए उर्वरा हो। वस्तुतः विलासमय जीवन से ऊपर उठ जाने पर आध्यात्मिक व आधिभौतिक कष्ट दूर हो जाते हैं। अध्यात्म-कष्टों के दूर होने का संकेत 'पूश्च पृथ्वी' शब्दों से हुआ है और 'बहुला नः उर्वी' इन शब्दों से आधिदैविक कष्टों के दूर होने का। ३. हे प्रभो! आप हमारे **तोकाय**=पुत्रों के लिए तथा **तनयाय**=पौत्रों के लिए **शंयोः**=रोगों के शमन

करनेवाले व भयों का यावन (पार्थक्य) करनेवाले हों। हमारे जीवन की उत्तमता पर ही भावी सन्तति के उत्कृष्ट जीवन का सम्भव हुआ करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें पापों से पृथक् कीजिए जिससे हमारे शरीर सशक्त हों और पृथिवी हमारे लिए भरपूर अन्नों को देनेवाली हो। हमारे पुत्र-पौत्र भी नीरोग व निर्मल जीवनवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

पाप से रोग

अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः।
पुनरस्मभ्यं सुवितायं देव क्षां विश्वेभिरमृतेभिर्यजत्र॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों को **युयोधि**=पृथक् कर दीजिए। **अनग्नित्राः**=अग्नि के द्वारा अपना त्राण न करनेवाले—प्रभु की उपासना व अग्निहोत्र न करनेवाले **कृष्टीः**=मनुष्य ही **अभ्यमन्त**=रोगों से आक्रान्त होते हैं। प्रभु की उपासना व अग्निहोत्र, अर्थात् 'ब्रह्मयज्ञ' और 'देवयज्ञ' नीरोगता देनेवाले हैं। २. **अस्मभ्यं पुनः**=हम जो उपासना व अग्निहोत्र करनेवाले हैं, उनके लिए तो आप हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **सुविताय**=सुवित् के लिए हों। आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए हम सदा दुरित से दूर हों और सुवित को प्राप्त हों। ३. हे **यजत्र**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनेवाले प्रभो! आप **क्षाम्**=हमारे इस निवासस्थानभूत पृथिवीरूप शरीर को **विश्वेभिः अमृतेभिः**=सब अमृततत्त्वों से युक्त कीजिए। हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग नीरोग हों।

भावार्थ—उपासना व यज्ञों को अपनाते हुए हम नीरोग हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

निर्भय जीवन

पाहि नो अग्ने पायुभिरजस्त्रैरुत प्रिये सदन आ शुशुक्वान्।
मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदन्मापरं सहस्वः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमें **अजस्त्रैः**=अनवच्छिन्न, निरन्तर **पायुभिः**=रक्षणों से **पाहि**=रक्षित कीजिए **उत**=और **प्रिये**=नीरोगता के कारण कान्त **सदने**=मेरे शरीर-गृह में आप **आशुशुक्वान्**=चारों ओर दीप्त होओ। प्रभुस्मरण से हमारा शरीर नीरोग हो तथा हम प्रभु के प्रकाश (ज्ञान) से दीप्त हों। २. हे **यविष्ठ**-(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से पृथक् करनेवाले और शुभ से हमारा मेल करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **जरितारम्**=स्तोता को **नूनम्**= निश्चय से आज (इस समय) **भयम्**=भय **मा विदत्**=प्राप्त न हो। तथा हे **सहस्वः**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाले प्रभो! **अपरम्**=आगे आनेवाले समय में भी **मा**—भय मत प्राप्त हो। आपसे रक्षित होने पर हमारा जीवन सुरक्षित हो।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। प्रभु से रक्षित स्तोता का जीवन निर्भय होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

काम-क्रोध-लोभ का शिकार न होना

मा नो अग्नेऽव सृजो अघायाविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै।
मा दत्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन्परा दाः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=सब बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **अघाय**=महापाप्मा 'काम' के लिए **मा अवसृजः**=मत छोड़ दीजिए। हमें उसकी दया पर मत छोड़िए। हम काम के शिकार न हो जाएँ। यह काम हमें विविध पापों में फँसाता है। यह तो है ही 'अघ'। २. **अविष्यवे**=(अविष्यतिरत्तिकर्मा) हमें खा जानेवाले क्रोध के लिए भी मत फेंक दीजिए। हम क्रोध के भी शिकार न हो जाएँ। ये ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध तो हमें भस्म ही कर देते हैं। ३. इस **दुच्छुनायै**-दुष्ट गतिवाले (शुन गतौ) **रिपवे**=लोभरूप शत्रु के लिए भी हमें मत छोड़ दीजिए। लोभ आने पर मनुष्य टेढ़े-मेढ़े मार्गों से धन कमाने लगता है। इन अशुभ गतियों में प्रेरित करनेवाले लोभ के भी हम शिकार न हो जाएँ। ४. **दत्वते**=दाँतोंवाले **दशते**=डसनेवाले क्रोधरूप शत्रु के लिए **नः**=हमें **मा परा दाः**=मत दे डालिए। क्रोध में दाँत कटकटाते हैं, अतः क्रोध को 'दत्वान्' कहा है। साथ ही **अ-दते**=बिना दाँतवाले इस रूप में सुकुमार तथा कोमलता से ही आक्रमण करनेवाले 'पुष्पधन्वा-कुसुमशर' कामदेव के लिए भी हमें मत दे डालिए। हे **सहसावन्**=शत्रुओं का मर्षण करने की शक्तिवाले प्रभो! **रीषते**=हमारी हिंसा करनेवाले इस लोभ के लिए भी हमें मत दे डालिए। ५. यहाँ मन्त्र के पूर्वार्द्ध में काम को 'अघ' कहा है। यह पाप ही पाप है। उत्तरार्द्ध में इसे 'बिना दाँतोंवाला विनाशक' (अदते दशते) कहा है। यह काम 'पुष्पधन्वा' के रूप में चित्रित किया गया है। इसका धनुष व इसके बाण सब फूलों के बने हैं। इसके विपरीत क्रोध 'दत्वते दशते' दाँतोंवाला शत्रु है, इसमें उग्रता है। यह हमें खा ही जाता है (अविष्यवे)। लोभ के कारण सब अशुभ मार्गों का आक्रमण होता है, अतः यह 'दुच्छुनायै' शब्द से याद किया गया है। यह हमारे विनाश का कारण बनता है, अतः 'रीषते' इस रूप में इसका स्मरण हुआ है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और काम, क्रोध व लोभ का शिकार होने से बचें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अपने को शत्रुओं से मुक्त करना

वि घ त्वावाँ ऋतजात यंसद् गृणानो अग्ने तन्वे३ वरूथम्।
विश्वाद्रिरिक्षोरुत वा निनित्सोरभिहुतामसि हि देव विष्पट्॥ ६॥

१. हे **ऋतजात**=(ऋतं जातं यस्मात्) ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभो! (ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत); अथवा ऋत के पालन से हृदय में प्रादुर्भूत होनेवाले (ऋतेन जातः) प्रभो! **गृणानः**=स्तवन करता हुआ व्यक्ति **घ**=निश्चय से **त्वावान्**-आपवाला होकर आपको अपने हृदय में आसीन करके **विश्वाद् रिरिक्षोः**=सब हिंसा करने की इच्छावालों से **उत वा**=तथा **निनित्सोः**=निन्दा करने की इच्छावालों से अपने को **वियंसत्**=विमुक्त करता है। आप उसके **तन्वे**=शरीर के लिए **वरूथम्**=आच्छादक होते हो। आपको आवरण के रूप में प्राप्त करके यह अपना रक्षण कर पाता है। २. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **हि**-ही **अभिहुताम्**=कुटिलता करनेवाले शत्रुओं के **विष्पट् असि**=विशेषरूप से बाधन करनेवाले हैं। हमसे सब कुटिलताओं को आप ही दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ सब नाशक शत्रुओं से अपने को रक्षित कर पाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रपित्व-अभिपित्व

त्वं ताँ अग्न उभयान्वि विद्वान्वेषि प्रपित्वे मनुषो यजत्र।
अभिपित्वे मनवे शास्यो भूर्मर्मृजेन्य उशिग्भिर्नाक्रः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **तान् उभयान्**=उन दोनों प्रकार के दैव तथा आसुर **मानुषः**=मनुष्यों को **विविद्वान्**=अच्छी प्रकार जानते हो। हे **यजत्र**=उपास्य—संगतिकरण-योग्य व सब-कुछ देनेवाले प्रभो! आप दैव पुरुषों के **प्रपित्वे**=प्रातःकाल के लिए और आसुर पुरुषों के लिए **अभिपित्वे**=(close, evening) सायंकाल के लिए **वेषि**=प्राप्त होते हो। दैवपुरुषों का आप उदय करते हो और आसुर पुरुषों का अस्त। २. आप **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **शास्यः भूः**=अनुशासन करनेवाले होते हो। अनुशासन के द्वारा **मर्मृजेन्यः**=आप उसके जीवन को शुद्ध करते हैं। ३. ये प्रभु **उशिग्भिः**=मेधावी पुरुषों से **अक्रः न**=(अक्र=Rampart, fortification) एक प्राकार की भाँति ग्रहण किये जाते हैं। प्रभु प्राकार होते हैं। उनसे रक्षित होकर ये किसी भी शत्रु के आक्रमणीय नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु दैव पुरुषों का उत्थान व आसुर पुरुषों का पराभव करते हैं। प्रभु का उपासक प्रभु को अपना रक्षक प्राकार (चारदीवारी) बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञानदाता प्रभु

अवोचाम निवचनान्यस्मिन्मानस्य सूनुः सहसाने अग्नौ।
वयं सहस्रमृषिभिः सनेम विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ८॥

१. **वयम्**=हम **अस्मिन्**=इस **सहसाने**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **अग्नौ**=अग्रणी प्रभु के विषय में **निवचनानि**=निश्चित स्तुतिवचनों को **अवोचाम**=उच्चारित करते हैं। ये प्रभु **मानस्य**=(मनु अवबोधे) अवबोध व ज्ञान का **सूनुः**—प्रेरक है। इस ज्ञानाग्नि से ही वस्तुतः ये हमारे शत्रुओं को भस्म करते हैं। २. हम **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के द्वारा **सहस्रम्**=सहस्रशः ज्ञानधनों को **सनेम**=प्राप्त करें और **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के निवारण व बल को तथा **जीरदानुम्**= दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु-प्रेरणा द्वारा ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञानियों का सम्पर्क हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण हो।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि प्रभु-स्तवन हमारे पापों को दूर करता है, हमारे ज्ञान का वर्धन करता है। यही विषय अगले सूक्त का भी है। इस सूक्त में 'अग्नि' शब्द से प्रभु का स्मरण था, अब 'बृहस्पति' शब्द से प्रभु-स्मरण करेंगे—

[१९०] नवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देव मनुष्यों का प्रभु-प्रेरणा को सुनना

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः॥ १॥

१. उस **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के पति प्रभु को **अर्कैः**=स्तुतिमन्त्रों से **वर्धय**-बढ़ा। प्रभु का स्तवन करता हुआ तू उसकी महिमा को सबमें फैलानेवाला हो, जो प्रभु **अनर्वाणम्**-(ऊर्व्=to kill) हिंसित न करनेवाले हैं। प्रभु-भक्त प्रभु द्वारा रक्षित होता है, अतः यह आधि व्याधियों से पीड़ित नहीं होता, **वृषभम्**=जो प्रभु शक्तिशाली हैं व सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **मन्द्रजिह्वम्**=आनन्दप्रद वेदवाणीवाले हैं (मादकवाचम्)। प्रभु हृदयस्थरूपेण सदा प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। उस प्रेरणा को सुननेवाले ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करते हैं। **नव्यम्**=(नु स्तुतौ) वे प्रभु स्तुत्य हैं। २. ये प्रभु वे हैं **यस्य**=जिन **नवमानस्य**-स्तुति किये जाते हुए की प्रेरणा को **देवाः मर्ताः**=देव मनुष्य **आशृण्वन्ति**=सदा सुनते हैं। वे सुनते हैं जो कि **गाथान्यः**=अपने को प्रभु-गुणगान में ले-चलते हैं (गाथा+नी) और **सुरुचः**=उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाले होते हैं। मनुष्य दो भागों में बँटे हुए हैं—'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च' दैव और आसुर। इनमें देववृत्ति के पुरुष प्रभु का स्तवन करते हुए तथा स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभु की प्रेरणा को सुन पाते हैं।

भावार्थ—ध्यान व स्वाध्याय से हम प्रभु प्रेरणा को सुनने के योग्य होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ऋत के पालन से प्रभु-दर्शन

तमृत्विया उप वाचः सचन्ते सर्गो न यो देवयतामसर्जि।
बृहस्पतिः स ह्यञ्जो वरांसि विभ्वाभवत्समृते मातरिश्वा॥ २॥

१. **तम्**=उस बृहस्पति को ही **ऋत्वियाः वाचः**=समय समय पर होनेवाली वाणियाँ **उपसचन्ते**=समीपता से प्राप्त होती हैं। देववृत्ति के पुरुष सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। आसुर भाववाले भी कष्ट आने पर प्रभु को ही याद करते हैं। ये प्रभु वे हैं जो कि **देवयताम्**=दिव्य भावनाओं को अपनानेवाले व्यक्तियों के लिए **सर्गः न**=(सर्ग=a horse) अश्व के समान **असर्जि**=बन जाते हैं। ये देवयन् पुरुष इस प्रभुरूप अश्व को प्राप्त करके अपनी जीवनयात्रा को सुगमता से पूर्ण कर पाते हैं। २. इन देवयन् पुरुषों के लिए प्रभु **बृहस्पतिः**=ज्ञान की वाणियों के पति हैं। इनसे वह देवयन् ज्ञानवाणियों को प्राप्त करता है। **सः हि**=वे प्रभु ही **अञ्जः**=ज्ञान के सब प्रकाशों को प्रकट करनेवाले हैं, **वरांसि विभ्वा**=सब वरणीय पदार्थों को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु **मातरिश्वा**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गति व वृद्धिवाले हैं। प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं, सर्वत्र प्रभु की क्रिया दृष्टिगोचर होती है। ३. ये प्रभु **ऋते**=ऋत के होनेपर **समभवत्**=प्रकट होते हैं। प्रभु सर्वत्र हैं, हमारे अन्दर ही विद्यमान हैं, परन्तु उस प्रभु का दर्शन तभी होगा जब कि हम ऋत को अपनाएँगे। (क) ऋत अर्थात् सत्य को अपनानेवाला प्रभु को देखता है, (ख) 'ऋत' अर्थात् यज्ञात्मक-कर्मों में चलनेवाला प्रभु-द्रष्टा बनता है, (ग) 'ऋत' अर्थात् ठीक, प्रत्येक कार्य के ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाला प्रभु-दर्शन का पात्र बनता है।

भावार्थ—सर्वत्र व्याप्त प्रभु का दर्शन देववृत्ति के पुरुष ऋत के पालन द्वारा कर पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तुति, नमस्कार, श्लोक

उपस्तुतिं नमस उद्यतिं च श्लोकं यंसत्सवितेव प्र बाहू।
अस्य क्रत्वाहन्यो३ यो अस्ति मृगो न भीमो अरक्षसस्तुविष्मान्॥ ३॥

१. **उपस्तुतिम्**=उपासना में बैठकर की जाती हुई स्तुति को (उपेत्य क्रियमाणां स्तुतिम्), **नमसः उद्यतिं**=नमस् की उद्यति को (नमस्कार में हाथों के उठाने को) **च**=और **श्लोकम्**=यशोगान को (श्लोकः यशः) **प्र यंसत्**=उपासक प्रभु के लिए देता है। इस उपासक के जीवन में प्रभु का स्तवन, प्रभु का नमस्कार व प्रभु का ही यशोगान चलता है। २. **सविता इव बाहू**-सूर्य के समान इस उपासक की भुजाएँ होती हैं। सूर्य जिस प्रकार अपने किरणरूप हाथों से सर्वत्र प्रकाश व शक्ति का संचार कर रहा है, यह उपासक भी प्रकाश व शक्ति के विस्तार के लिए सतत प्रयत्नशील होता है। ३. **यः**=जो उपासक **अस्य**=अपने उपास्य प्रभु की **क्रत्वा**=(क्रतु=power, ability) शक्ति से—प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर **अहन्यः**=न मारने योग्य **अस्ति**=है। यह उपासक **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला होता है, **न भीमः**=भयंकर नहीं होता, करुणा की वृत्ति के कारण यह औरों को हानि नहीं पहुँचाता। **अरक्षसः**=(न रक्षो यस्मिन्) राक्षसी वृत्ति से रहित होता है और **तुविष्मान्**=बल-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—उपासक के जीवन में प्रभु का स्तवन, उसी को नमस्कार और उसी का यशोगान चलता है। यह प्रकाश और शक्ति का विस्तार करता है। यह आत्मान्वेषण करता हुआ दयालु, राक्षसी वृत्ति से रहित और बल-सम्पन्न होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'यक्षभृत् विचेताः' प्रभु

अस्य श्लोको दिवीयते पृथिव्यामत्यो न यंसद्यक्षभृद्विचेताः।
मृगाणां न हेतयो यन्ति चेमा बृहस्पतेरहिमायाँ अभि द्यून्॥४॥

१. **अस्य**=इस परमात्मा का **श्लोकः**=यश **दिवि**=द्युलोक में तथा **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **ईयते**=गति करता है, व्याप्त होता है (गच्छति, व्याप्नोति—सा०)। ब्रह्माण्ड का एक-एक पदार्थ प्रभु का यशोगान कर रहा है 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'। **अत्यः न**=सतत गमनशील (अत गतौ) आदित्य के समान वे प्रभु हैं 'आदित्यवर्णम्', **यंसत्**=(offer, give, bestow) सब उत्तम पदार्थों को प्रभु प्राप्त कराते हैं, **यक्षभृत्**=(यज=देवपूजा, संगतिकरण, दान) प्रभु के पूजकों, उनसे मेल करनेवालों व उनके प्रति अर्पण करनेवालों को धारण करनेवाले हैं। **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञान को देनेवाले हैं। २. **च**=और **बृहस्पतेः**=ज्ञान की वाणियों के पति प्रभु की **इमाः**=ये ज्ञानवाणियाँ **द्यून्**=(दिवसान्) प्रतिदिन **अहिमायान्**=(अहे इव माया येषाम्) सर्प के समान कुटिलाचारी पुरुषों के **अभि**=प्रति **यन्ति**=जाती हैं। इस प्रकार जाती हैं **न**=जैसे कि **मृगाणाम्**=पशुओं का अन्वेषण करनेवालों के **हेतयः**=आयुध हन्तव्य पशुओं को प्राप्त होते हैं। आयुधों से हन्तव्य पशुओं का विनाश होता है, इसी प्रकार प्रतिदिन प्राप्त होनेवाली प्रभु की ज्ञानवाणियों से इन अहिमाय पुरुषों की मायाविता का विनाश होता है। मायावृत्ति के विनाश से इसका जीवन पवित्र बन जाता है। ज्ञान की वाणियाँ वे आयुध बनती हैं जिनसे कपटी पुरुषरूप पशुओं का विनाश होता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा सर्वत्र प्रकट हो रही है। इस प्रभु की ज्ञानवाणियाँ मायावी पुरुषों की माया का विनाश करके उन्हें पवित्र जीवनवाला बनाती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु को उस्त्रिक समझनेवाले

ये त्वा देवोस्त्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः।
न दूढ्ये अनु ददासि वामं बृहस्पते चयस इत्पियारुम्॥५॥

१. **ये**=जो **पापाः** पापी लोग **पज्राः**=(wealth, rich) अन्याय-मार्ग से धन कमाकर ऐश्वर्यसम्पन्न बने हुए **भद्रं त्वा**=कल्याण करने और सुख देनेवाले आपको हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **उस्त्रिकं मन्यमानाः**=(उस्त्रि=an old ox) बूढ़ा बैल जानते हुए **उपजीवन्ति**=इस संसार में विलासमय जीवन बिताते हैं, जो श्रेयमार्ग को छोड़कर प्रेयमार्ग को अपनाते हैं, परलोक को न मानते हुए केवल इस लोक की मौज का ही ध्यान करते हैं, इन **दूढ्ये**=दुर्बुद्धि पुरुषों में आप **वामम्**=सुन्दर, श्रेयस्कर वस्तुओं को **न अनुददासि**=नहीं देते हैं। २. ये लोग औरों की हिंसा करके भी अपने स्वार्थ को सिद्ध करनेवाले होते हैं। हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **पियारुम्**=इस हिंसक को **इत्**=निश्चय से **चयसे**=(to detest, to hate) प्रेम नहीं करते हो। इसका आप विनाश ही करते हो। इनके भोग ही इनके विनाश का कारण बन जाते हैं। ये लोग 'आत्मा-परमात्मा की चर्चाओं' को व्यर्थ समझते हैं, परमात्मा की उपासना को निरर्थक जानते हैं। ये भोगों को भोगने में लगे रहते हैं और परिणामतः भोगों से भोगे जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को बूढ़ा बैल समझते हुए जो प्रकृति के भोगों को ही सब-कुछ समझते हैं, वे इन भोगों में फँसकर नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सुप्रैता, दुर्नियन्ता

सुप्रैतुः सूयवसो न पन्था दुर्नियन्तुः परिप्रीतो न मित्रः।
अनर्वाणो अभि ये चक्षते नोऽपीवृता अपोर्णुवन्तो अस्थुः॥ ६॥

१. वे प्रभु **सुप्रैतुः**=उत्तम मार्ग से चलनेवाले के लिए **सूयवसः**-उत्तम अन्नवाले **पन्थाः न**=मार्ग के समान होते हैं, अर्थात् शुभ मार्ग से जीवन बितानेवाले के लिए प्रभु कभी अन्नों की कमी नहीं होने देते। २. **दुर्नियन्तुः**=बुराइयों को रोकनेवाले के प्रभु **परिप्रीतः मित्रः न**= सब प्रकार से प्रसन्न मित्र के समान होते हैं। जो भी अपने से बुराइयों को दूर करता है, वह प्रभु को अपने प्रिय मित्र के रूप में प्राप्त करता है। ३. ये जो **अनर्वाणः**=(अर्व्=to kill) किसी की भी हिंसा न करनेवाले हैं, वे **नः**=हमें **अभिचक्षते**=(बोधयन्ति—सा०) अभ्युदय और निःश्रेयस—दोनों के विषय में ज्ञान देते हैं। इस प्रकार 'अपरा व परा' दोनों विद्याओं को प्राप्त कराते हुए ये हमारे ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों कल्याणों को सिद्ध करते हैं। ४. ये व्यक्ति **अपीवृताः**=उस प्रभु से आच्छादित हुए-हुए **अपोर्णुवन्तः**=अपगत आचरणवाले, अज्ञान-अन्धकार से रहित हुए-हुए ज्ञान के प्रकाशों में विचरनेवाले होकर **अस्थुः**=स्थित होते हैं। प्रभु में स्थित हुए-हुए, ज्ञान के प्रकाश से दीप्त ये पुरुष औरों के लिए इस ज्ञान के प्रकाश को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग से चलें, बुराई का नियमन करें, ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नरः, आप (गृध्रः)

सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्त्रवतो रोधचक्राः।
स विद्वाँ उभयं चष्टे अन्तर्बृहस्पतिस्तर आपश्च गृध्रः॥ ७॥

१. **न**=जैसे **अवनयः**=मनुष्य अपने-अपने कर्म के प्रति जाते हैं और **न**=जैसे **स्त्रवतः**=बहती

हुई **रोधचक्राः**=रोधनशील चक्रोंवाली नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को **यन्ति**=जाती हैं, उसी प्रकार **यम्**=जिसको **स्तुभः**=सब स्तुतियाँ **सं** (यन्ति)=सम्यक् प्राप्त होती हैं। **सः विद्वान्**=वह सर्वज्ञ प्रभु **अन्तः**=अन्दर स्थित हुआ **उभयम्**=दोनों चर और अचर पदार्थों को—स्थावर-जङ्गम सब संसार को **चष्टे**=देखता है। अन्दर स्थित हुआ-हुआ वह सबका नियमन करता है। २. **बृहस्पतिः**=बड़े-बड़े आकाशादि लोकों का स्वामी वह प्रभु **आपः**=(आपयति, प्रापयति) इस संसार के विषय-जलों का प्राप्त करानेवाला है **च**=और **तरः**=इनसे तरानेवाला है। ऐहलौकिक उन्नति के लिए ये विषय साधनभूत हैं, अतः आवश्यक हैं, परन्तु पारलौकिक उन्नति के लिए आवश्यक है कि हम इनमें फँसें नहीं। वे प्रभु 'अपः व तरः' बनकर **गृध्रः**=(गृध अभिकांक्षायाम्) हमारी दोनों प्रकार की ही उन्नति की कांक्षा करते हैं। हमें अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—सब स्तुतियाँ प्रभु को प्राप्त होती हैं। ये प्रभु हमें सब विषयों को प्राप्त कराते हैं उनसे तैरने की शक्ति भी देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तुविजातः, तुविष्मान्

एवा महस्तुविजातस्तुविष्मान्बृहस्पतिर्वृषभो धायि देवः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ८॥

१. **एव**=इस प्रकार **महः**=वह महान् प्रभु **तुविजातः**=महान् विकासवाले हैं, **तुविष्मान्**=शक्तिशाली हैं, **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान के पति हैं, **वृषभः**=शक्तिशाली हैं व सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **धायि**=हमारे द्वारा हृदय में धारण किये जाते हैं। २. **स्तुतः सः**=स्तुति किये गये वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **वीरवत्**=वीरता से युक्त तथा **गोमत्**=ज्ञान की वाणियों से युक्त फल को **धातु**=धारण करें। प्रभु-कृपा से हम वीर व ज्ञानी बनें। **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन व शक्ति को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति व ज्ञान के पुञ्ज हैं। वे हमें वीरता व ज्ञान प्राप्त कराएँ।

विशेष—सूक्त का मूलभाव यही है कि हम प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए निरन्तर आगे बढ़ें। ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करते हुए आदर्श बनने का प्रयत्न करें। अब इस मण्डल की समाप्ति पर यह संकेत करते हैं कि जहाँ हम अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करके 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठकर शरीर, मन व बुद्धि को उत्तम बनाएँ, जहाँ जीवन-संघर्ष में सुपथ से धन कमाते हुए जीवन को धन्य बनाने के लिए यत्नशील हों, वहाँ कुछ प्रमादवश सर्पादि से दष्ट होकर मृत्यु का शिकार न हो जाएँ, अतः सर्पादि की चिकित्सा को कहते हैं—

[१९१] एकनवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

द्विविध विषधर

कङ्कतो न कङ्कतोऽथो सतीनकङ्कतः।
द्वाविति प्लुषी इति न्य१दृष्टा अलिप्सत॥ १॥

१. **कङ्कतः**=अल्पविषवाला, **न कङ्कतः**=अल्पविष से विपरीत महाविषवाला **अथो**=और **सतीनकङ्कतः**=(सतीनम्-उदकम्) उदकचारी अल्पविषवाला डुण्डुभादि—इस प्रकार अल्पविष व महाविष भेद से अथवा जलचर व स्थलचर भेद से **द्वौ इति**=दो प्रकार के ये विषैले कृमि **प्लुषी इति**=(प्लुष दाहे) दो प्रकार से दाहकत्ववाले हैं। अल्पविषवालों का दहन भी अल्प है, तीव्रविषवालों के दहन में तीव्रता है। २. इनके अतिरिक्त कितने ही विषकृमि **अदृष्टाः**=अदृश्यमान रूप हैं। इस प्रकार के जो भी विषधर प्राणी हैं वे सब निश्चय से मुझे **नि+अलिप्सत**=विशेषेण लिप्त करते हैं। मेरे सब अङ्ग उनके विष से आवृत हो जाते हैं।

भावार्थ—विषधर प्राणी अल्पविष व महाविष भेद से, जलचर व स्थलचर भेद से अथवा दृष्ट-अदृष्ट भेद से दो प्रकार के हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

चतुर्विध प्रयोग

अदृष्टान्हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती।
अथो अवघ्नती हन्त्यथो पिनष्टि पिंषती॥ २॥

१. **आयती**-विषघ्नी ओषधि विषदष्ट के समीप आती हुई **अदृष्टान्**=अदृश्यमान विषधरों को **हन्ति**=नष्ट करती है **अथो**=और **परायती**=दूर जाती हुई भी अपनी मादकता से **हन्ति**=उन विषधरों का नाश करती है। २. **अथ उ**=और अब **अवघ्नती**=कूटी जाती वह ओषधि **हन्ति**=गन्ध द्वारा विष-प्रभाव को नष्ट करती है **अथो**=और **पिंषती**=पीसी जाती हुई यह ओषधि **पिनष्टि**-उन विषधरों को मानो पीस ही डालती है।

भावार्थ—'आयती, परायती, अवघ्नती, पिंषती' शब्दों से विषघ्नी ओषधि के विविध प्रकारों से प्रयोग का उल्लेख है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—स्वराडुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

शर आदि में रहनेवाले विषधर

शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत।
मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत॥ ३॥

१. **शरासः**=सरकण्डों में रहनेवाले, **कुशरासः**=छोटे-छोटे सरकण्डों में रहनेवाले, **दर्भासः**=डाभ या कुश-घास में रहनेवाले **उत**=और **सैर्याः**=नदी व तालाब के तटों पर उत्पन्न घासों में होनेवाले, **मौञ्जाः**=मूँज में रहनेवाले, **वैरिणाः**=वीरण नामक तृणों में रहनेवाले, **अदृष्टाः**=न दीखनेवाले **सर्वे**=सब विषैले कृमि **साकम्**=उन-उन तृणादि पदार्थों के साथ चिपटे हुए **न्यलिप्सत**-हमारे अङ्गों को विषलिप्त करते हैं।

भावार्थ—घास-फूस व झाड़-झंखाड़ों में फँसे हुए विषैले प्राणी हमें काट लेते हैं और हमारे अङ्गों को विषव्याप्त कर देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

छिपकर रहनेवाले कृमि

नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत।
नि केतवो जनानां न्यदृष्टा अलिप्सत॥ ४॥

१. **गावः**=गौएँ **गोष्ठे**=गोशाला में **नि असदन्**=शान्तभाव से आसीन होती हैं। **मृगासः**=मृग आदि वन्यपशु **नि अविक्षत**=अपने-अपने बिल में घुसे रहते हैं **जनानाम्**=लोगों के **केतवः**=प्रज्ञान **नि**=नीचे अर्थात् नम्रतावाले होते हैं अथवा नम्र पुरुषों में ज्ञानों का निवास होता है। २. इसी प्रकार **अदृष्टाः**=ये अदृष्ट विषधर प्राणी भी **नि अलिप्सत**=हमारे अङ्गों को विषलिप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—अपने-अपने स्थानों में छिपे हुए विषधर जीव हमें काटकर हमारे अङ्गों को विष-व्याप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

अदृष्ट परन्तु विश्वदृष्ट

एत उ त्ये प्रत्यदृश्रन्प्रदोषं तस्कराइव।
अदृष्टा विश्वदृष्टाः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ५॥

१. **एत**=और **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे विषधर कृमि उसी प्रकार **प्रत्यदृश्रन्**=दिखते हैं, **इव**=जैसे **प्रदोषम्**=रात्रि के प्रारम्भ में **तस्कराः**=चोर। चोरों का कार्य अन्धकार में अधिक होता है, इसी प्रकार विषधर कृमि भी अन्धकार में अधिक काटनेवाले होते हैं। २. ये कृमि **अदृष्टाः**=लोगों से दिखते नहीं। लोग इन्हें नहीं देख रहे होते, परन्तु ये **विश्वदृष्टाः**=(विश्वं दृष्टं यैस्ते) सबको देख रहे होते हैं। इसलिए कहते हैं कि **प्रतिबुद्धाः अभूतन**=हे लोगो! खूब सावधान रहो।

भावार्थ—ये विषैले कृमि प्रायः अन्धकार में काट जाते हैं, अतः ऐसे प्रसङ्गों में सावधान रहना चाहिए।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

प्राणियों का परस्पर बन्धुत्व

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम् ॥ ६॥

१. हे सर्पादि कृमियो! **द्यौः**=द्युलोक **वः**=तुम्हारा **पिता**=पिता है, **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=माता है, **सोमः**=चन्द्रमा तुम्हारा **भ्राता**=भाई है तथा **अदितिः**=यह अन्तरिक्ष **स्वसा**=स्वसृस्थानापन्न बहिन है। इस प्रकार तुम्हारा महत्त्व है। २. **अदृष्टाः**=तुम हमसे अदृष्ट हो। अँधेरे के कारण और छुपे हुए होने के कारण हम तुम्हें देख नहीं पाते, परन्तु तुम **विश्वदृष्टाः**=सबको देखनेवाले हो, **तिष्ठत**=तुम अपने-अपने स्थान पर स्थित हो और वहाँ स्थित होते हुए वायुशोधन आदि कार्यों को करते हुए तुम **सु**=अच्छी प्रकार **कम्**=सुख को **इलयता**=हम सबके लिए प्रेरित करनेवाले होओ। ३. वस्तुतः जो द्युलोक हमारा पितृस्थानापन्न है, वही द्युलोक इन सर्पादि का भी पिता है। इसी प्रकार पृथिवी प्राणिमात्र की माता है। चन्द्रमा भाई के समान है और अन्तरिक्ष बहिन के। इस प्रकार इन सर्पादि से भी हमारा बन्धुत्व है। यदि गलती से हमारा हाथ-पाँव इन पर न पड़ जाए तो ये हमें काटते नहीं। इन सब कृमियों की भी इस ब्रह्माण्ड में अपनी-अपनी उपयोगिता है जिसका ज्ञान न होने से ये हमें व्यर्थ व हानिकर दिखने लगते हैं।

भावार्थ—सब प्राणियों के पिता व माता द्युलोक व पृथिवीलोक हैं। इस प्रकार प्राणियों का परस्पर बन्धुत्व है। अपने अपने स्थान में स्थित सभी प्राणी कल्याणकर हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—स्वराडुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

अंस्य, अंग्य, सूचिक व प्रकंकत

ये अंस्या ये अङ्ग्याः सूचीका ये प्रकङ्कताः।
अदृष्टाः किं चनेह वः सर्वे साकं नि जस्यत॥ ७॥

१. **ये**=जो कृमि **अंस्याः**=(अंसगाः) कन्धों के बल सरकनेवाले हैं, ये **अङ्ग्याः**=हन्तारः) जो कन्धों से विनाश करनेवाले हैं अथवा शरीर से नष्ट करनेवाले लूतिका (मकड़ी) आदि कृमि हैं। २. **सूचीकः**=जो सुई के समान पूँछ के बालोंवाले बिच्छू आदि हैं और **ये**=जो **प्रकङ्कताः**=प्रकृष्ट विषवाले, अति तीव्र वेदना देनेवाले बड़े साँप हैं। ३. **अदृष्टाः**=अदृश्यमान **किञ्चन**=जो कुछ सर्पादि का समूह **इह**=यहाँ है **वः**=तुम **सर्वे**=सब **साकम्**=साथ-साथ **नि जस्यत**=हमें छोड़नेवाले होओ। हम तुम्हारे दंश आदि से पीड़ित न हों।

भावार्थ—'अंस्य, अंग्य, सूचीक व प्रकंकत' भेद से शतशः विषकृमि हैं। ये हमें पीड़ित करनेवाले न हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

सूर्यप्रकाश 'विषकृमि-नाशक'

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ८॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **सूर्यः**=सूर्य **उत् एति**=उदय हो रहा है। यह **विश्वदृष्टः**=सबसे देखा जाता है और **अदृष्टहा**=अदृष्ट भी कृमियों का विनाश करनेवाला है। २. यह सूर्य **सर्वान्**=सब **अदृष्टान्**=छिपकर रहनेवाले कृमियों का **जम्भयन्**=संहार करता है **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली सर्पिणी आदि को भी नष्ट करता है।

भावार्थ—विषकृमि सूर्य के प्रकाश में घातक प्रभाव नहीं कर पाते। सामान्यतः ये विषकृमि सूर्य-प्रकाश से बचकर अन्धकारमय बिलों का आश्रय करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

विष का आदान करनेवाला आदित्य

उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥ ९॥

१. **असौ**=वह **सूर्यः**=सूर्य **विश्वानि**=सब विषकृमियों को **पुरु**=खूब **जूर्वन्**=हिंसित करता हुआ **उदपप्तत्**=उदय होता है। यह **आदित्यः**=(आदानात्) विषप्रभावों को अपनी किरणों से खेंच लेनेवाला होने से आदित्य है। २. यह **विश्वदृष्टः**=सम्पूर्ण विश्व से देखा गया सूर्य **पर्वतेभ्यः**=पर्वतवाले प्राणियों के लिए **अदृष्टहा**=अदृष्ट कृमियों को नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य-किरणें विषैले प्रभावों को नष्ट करनेवाली हैं। ये विष को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मयनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

सूर्य में विष का मधु बन जाना

सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ १०॥

१. **सूर्ये**=सूर्य में **विषम्**=विष को **आसजामि**=आसक्त करता हूँ जैसे **सुरावतः**=शराब निकालनेवाले के **गृहे**=घर में **दृतिम्**=चर्मपात्र को। सुरावान् के घर में सुरापात्र बुरा नहीं लगता, इसी प्रकार सूर्यकिरणों में स्थापित विष अशोभन नहीं। सूर्यकिरणें प्राणिशरीर से विष को खेंचकर अपने में स्थापित करती हैं, उनपर विष का घातक प्रभाव नहीं होता। २. **सः**=वह सूर्य—विष का आदान करनेवाला आदित्य **चित् नु**=निश्चय से **न मराति**=इस विष के कारण मरता नहीं। **वयम्**=हम भी **नो मराम**=मरने से बच जाते हैं। **अस्य**=इस विष का **योजनम्**=सम्पर्क **आरे**=हमसे दूर हो जाता है। **हरिष्ठाः**=विष का अपहरण करनेवाली किरणों का अधिष्ठाता (हरि-स्था) यह सूर्य हे विष! **त्वा**=तुझे **मधु चकार**=मधु बना देता है। यही **मधुला**=सूर्यकिरणों में विष को संसक्त कर उसे अमृत बना देना ही मधु को प्राप्त करानेवाली 'मधुविद्या' है।

भावार्थ—सूर्यकिरणों में स्थापित विष विष नहीं रहता, वह अमृत हो जाता है।

सूचना—जिस प्रकार पृथिवी मल को लेकर उसे फिर से अन्न में परिवर्तित कर देती है, उसी प्रकार सूर्य विष को लेकर मधु में परिवर्तित कर देता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

विषहर्त्री कपिञ्जली

इयत्तिका शकुन्तिका सका जघास ते विषम्।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ ११॥

१. **इयत्तिका**=(इयत्तां कुर्वाणा बाला—सा०) छोटी-सी यह **शकुन्तिका**=पक्षिणी कपिञ्जली है। **सका**=(सा) वह **ते**=तेरे **विषम्**=विष को **जघास**=खा जाती है। २. **सा उ**=वह भी **नु चित्**=निश्चय से **न मराति**=नहीं मरती है। **वयम्**=हम भी **नो मराम**=नहीं मरते हैं। **अस्य**=इस विष का **योजनम्**=सम्पर्क **आरे**=हमसे दूर हो जाता है। **हरिष्ठाः**=यह शकुन्तिका भी विष का हरण करनेवालों में विशेष स्थान रखती है (हरि+स्थाः)। हे विष! यह **त्वा**=तुझे मधु **चकार**=मधुर बना देती है। यही **मधुला**=मधुत्व को प्राप्त करानेवाली मधुविद्या है।

भावार्थ—कपिञ्जली विषहर्त्री है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराड् ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

विषहर्त्री विष्पुलिङ्गका

त्रिः सप्त विष्पुलिङ्गका विषस्य पुष्यमक्षन्।
ताश्चिन्नु न मरन्ति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ १२॥

१. **त्रिः सप्त**=तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस प्रकार की **विष्पुलिङ्गका**=विष को खा जानेवाली छोटे पक्षियों (चटकाओं) की जातियाँ हैं। **विषस्य**=विष के **पुष्यम्**=प्रबल अंश को **अक्षन्**=खा जाती हैं। २. **ताः**=वे **नु चित्**=निश्चय से **न मरन्ति**=मरती नहीं। **वयं नो मराम**=हम भी मरने से बच जाते हैं। **अस्य योजनम्**=इस विष का सम्पर्क **आरे**=हमसे दूर हो जाता है। ३. **हरिष्ठाः**=इन विष्पुलिङ्गकाओं का विषहरण करनेवालों में ऊँचा स्थान है। ये **त्वा**=तुझे मधु **चकार**=मधु बना देती हैं। यह विष का मधु बना देना ही **मधुला**=मधु को प्राप्त करानेवाली मधुविद्या है।

भावार्थ—छोटी-छोटी चटिकाएँ विष का हरण करनेवाली हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराडुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

निन्यानवें प्रकार के विषों के निन्यानवें प्रतिकार

नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम्। सर्वासामग्रभं नामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ १३॥

१. **नवानां नवतीनाम्**=निन्यानवें **विषस्य रोपुषीणाम्**=(लोपुषीणाम्) विष का लोप करनेवाली **सर्वासाम्**=सब ओषधियों के **नाम अग्रभम्**=नाम का मैं ग्रहण करता हूँ। इन सब ओषधियों के नाम-रूप को जानकर **अस्य**=इस विष के **योजनम्**=सम्पर्क को **आरे**=मैं दूर करता हूँ। २. **हरिष्ठाः**=विषहरण करनेवालों में इनका विशिष्ट स्थान है। हे विष! **त्वा**=तुझे **मधु चकार**=यह ओषधि मधुर बना देती है। यह विष को मधु में परिवर्तित करके मधु को लानेवाली ही **मधुला**=मधुविद्या है।

भावार्थ—विविध प्रकार के विषकृमियों के दंशों में उपाय भी विविध ही हैं। सम्भवतः निन्यानवें प्रकार के विष हैं और निन्यानवें प्रकार के ही उनके प्रतिबन्धक उपाय हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

विषहर्त्री मयूरी

त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः।
तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव॥ १४॥

१. **त्रिः सप्त**=इक्कीस प्रकार की **मयूर्यः**=मयूर जाति की पक्षिणियाँ हैं और **सप्त**=सात **स्वसारः**=स्वयं सरणशील **अग्रुवः**=गङ्गादि नामवाली नदियाँ हैं (अग्रुः=a river)। स्वयं सरणशील वे नदियाँ हैं जो वर्षा ऋतु में ही न चलकर सदा प्रवाहित रहती हैं। **ताः**=वे **ते**=तेरे **विषम्**=विष को **विजभ्रिरे**=विशेषरूप से हरण करनेवाली हैं, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि **उदकम्**=पानी को **कुम्भिनीः**=कहारिन हरनेवाली होती हैं। २. जैसे सदा प्रवाहशील नदियों के जल का विष पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार मयूरी भी विष का हरण करनेवाली है। सम्भवतः ये मयूरी-जाति के पक्षी इक्कीस प्रकार के हैं।

भावार्थ—मयूरी विषहरण करनेवाली है। इसी प्रकार सदा प्रवाहवाली नदियों का जल विष को दूर करता है।

सूचना—मुर्गी के बच्चों का गुदा-भाग सर्प-काटे स्थान पर बार-बार लगाने से विष को चूस लेता है। क्रमशः इक्कीस मुर्गियों को लगाने से विष का शमन हो जाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

नकुल का पाषाण द्वारा भेदन

इयत्तकः कुषुम्भकस्तकं भिनद्म्यश्मना।
ततो विषं प्र वावृते पराचीरनु संवतः॥ १५॥

१. **इयत्तकः**=कुत्सित इयत्तावाला—अल्पप्रमाण यह **कुषुम्भकः**=नकुल (नेवला) है। **तकम्**=उसको **अश्मना**=पत्थर से **भिनद्मि**=विदीर्ण करता हूँ। २. **ततः**=विदीर्ण करने पर उस नेवले से **संवतः**=संविभागवाली **पराचीः**=दूर-दूर तक जानेवाली इन दिशाओं को **अनु**=लक्ष्य करके **विषं प्रवावृते**=विष प्रवृत्त होता है। यह विष दिशाओं में बह जाता है, मेरी ओर नहीं आता।

भावार्थ—नेवले को पत्थर से विदीर्ण करने पर उसका विष विविध दिशाओं में बह जाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पर्वतीय नकुल का तीव्र विष

कुषुम्भकस्तदब्रवीद् गिरेः प्रवर्तमानकः।
वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्॥ १६॥

१. **गिरेः प्रवर्तमानकः**=पर्वत से शीघ्रता से आता हुआ **कुषुम्भकः**=नकुल **तत् अब्रवीत्**=वह बात कहता है कि **वृश्चिकस्य विषम्**=बिच्छू का विष **अरसम्**=रस-शून्य है। हे **वृश्चिक**=बिच्छू! **ते विषम्**=तेरा विष **अरसम्**=विषरहित है। नेवले के विष के सामने बिच्छू का विष अत्यन्त तुच्छ है। उसके विष में कोई सार प्रतीत नहीं होता।

भावार्थ—नेवले का रस (विष) अत्यन्त तीव्र है। उसकी तुलना में वृश्चिक का विष सारशून्य है।

विशेष—जीवन को जहाँ शारीरिक, मानस व बुद्धि के दृष्टिकोण से उन्नत करना आवश्यक है वहाँ यह भी आवश्यक है कि तनिक-से प्रमाद से विषकृमि से दष्ट होकर हम कहीं अपने जीवन का ही अन्त न कर बैठें। अंधेरे में इधर-उधर हाथ डालने से या घास-फूस में फिरने से या झाड़ी आदि में पैर पड़ने से यह खतरा हो सकता है, अतः इस दृष्टि से अप्रमत्तता भी आवश्यक है।

यहाँ प्रथम मण्डल समाप्त होता है।

॥इति प्रथमं मण्डलम्॥